श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार
सिद्धान्त और प्रयोग

श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार
सिद्धान्त और प्रयोग

दयानन्द भार्गव

Savitri Foundation

First Edition
21 February 2020

ISBN: 978-93-85227-67-7

Published by
Savitri Foundation
875, Sector 17B,
Gurugram, Haryana – 122001
Ph: +91124-4280241
E-Mail: info@savitri.in
Website: http://www.savitri.in

प्रास्ताविक

भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नयी दिल्ली के सम्मुख मैंने "श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार : सिद्धान्त और प्रयोग" शीर्षक से एक परियोजना अब से तीन वर्ष पूर्व मार्च 2016 में प्रस्तुत की थी, जिसे परिषद् ने कृपापूर्वक स्वीकार करके मुझे उस परियोजना पर कार्य करने की सुविधा प्रदान की। तदर्थ परिषद् के विद्वान् अध्यक्ष, सचिव तथा सभी सदस्यों के प्रति सादर आभार।

अब इसे पुस्तक के रूप में प्रकाशित देखकर परिषद् के सभी अधिकारियों तथा सदस्यों को परम संतोष का अनुभव होगा क्योंकि अपने द्वारा प्रायोजित विचारों का प्रचार-प्रसार ही उनका एकमात्र लक्ष्य है जिसकी पूर्ति में प्रस्तुत पुस्तक सहायक सिद्ध हो रही है।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है उस परियोजना के परिणामस्वरूप अपने अध्ययन के निष्कर्ष लिखित रूप में प्रकाशित करने में मुझे हार्दिक आत्म-संतोष का अनुभव हो रहा है। यह परियोजना जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर के माध्यम से प्रेषित की गयी थी। उस विश्वविद्यालय के कुलपति, कुलसचिव, अनुसन्धान केन्द्र के पदाधिकारी तथा विश्वविद्यालय के अन्य पदाधिकारी एवं कर्मचारियों ने दो वर्ष तक पूरा सहयोग दिया। उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जयपुर के अरविन्द आश्रम के प्रबुद्ध अध्यक्ष, सचिव तथा सभी सदस्यों ने मेरे लिये सभी सहायता मुक्तहस्त से वितरित की और मेरे अध्ययन को जीवन्त बनाये रखा। उन सबका तो सहयोग भविष्य में भी बना रहने वाला है। अतः धन्यवाद देकर अभी उऋण नहीं होना चाहता तथापि

सावित्री के विषय में श्री अनुपम रस्तोगी का विशेष मार्गदर्शन उल्लेखनीय है। मेरे अन्य ग्रन्थों के समान ही इस ग्रन्थ के परिष्कार में डॉ. सुबोध चन्द्र शर्मा तथा डॉ. रेणुका राठौड़ का परिश्रम भी प्रत्येक पृष्ठ पर मुखर है। इन सबका आभार। श्री प्रमोद अग्रवाल जी भारतीय विद्या के क्षेत्र में अत्यंत मौलिक अनुसंधान कर रहे हैं। वे सम्पादनकला में अत्यंत निपुण हैं जिसका प्रयोग उन्होंने इस ग्रन्थ को प्रकाशन योग्य बनाने में पूरे मनोयोग से किया है। इसके लिए उनका हृदय से साधुवाद।

सावित्री फाउन्डेशन ने ग्रन्थ के प्रकाशन में रुचि दिखाते हुए इसे वर्तमान रूप दिया; उसके सभी पदाधिकारियों को साधुवाद।

श्री लक्ष्मणसिंह भाटी ने इस शोध परियोजना के कम्पोज करने में, पृष्ठ सज्जा में तथा अन्य सहायता करने में योगदान दिया। तदर्थ उनका धन्यवाद। अब श्री मोहनसिंह नन्दपुरिया ने प्रकाशन से पूर्व इस ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने में अपनी संगणककला की निपुणता का पूरा उपयोग किया है। उनका भी आभार।

परियोजना से अपेक्षित कतिपय महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ

आशा की जाती है इस परियोजना के प्रकाश में आने पर वेदाध्यायी अध्यापक तथा छात्र कर्मकाण्ड के अतिरिक्त दर्शन में भी रुचि लेंगे क्योंकि इस परियोजना में यह रेखाङ्कित हो जायेगा कि वेद में केवल कर्मकाण्ड नहीं है दर्शन भी है। श्री अरविन्द ने यह विस्तार से Secret of the Vedas तथा Hymns to Mystic Fire में प्रतिपादित किया।

दूसरी ओर दर्शन के अध्यापक तथा छात्र वेद के गम्भीर अनुशीलन में प्रवृत्त होंगे क्योंकि श्री अरविन्द ने अपने दर्शन का आधार वेद को बनाया और परम्परागत प्रस्थानत्रयी–उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र–के विवेचन में वेद के विवेचन को भी जोड़ा। परम्परा में भारतीय दर्शन का प्रारम्भ अभी उपनिषद् से ही माना जा रहा है, वेद से नहीं; यद्यपि षड् दर्शन अपने को वैदिक कहते हैं।

हमारी परियोजना में विशेष बल श्री अरविन्द के दर्शन के वैदिक आधार पर है। वेद, उपनिषद् तथा गीता पर भाष्य करते समय श्री अरविन्द ने विद्या-अविद्या,

परा-अपरा विद्या, ज्ञान तथा विज्ञान की उस संश्लिष्ट दृष्टि पर बल दिया जो आज के युग की महती आवश्यकता है तथा जिसे Holistic Apporoach नाम दिया जा रहा है। पूरी आशा है कि आधुनिक समस्याओं के समाधान में यह दृष्टि अभूतपूर्व योगदान देगी।

हमारे अध्ययन में दर्शन के व्यवहार पक्ष के अन्तर्गत योग, शिक्षा, समाज तथा राष्ट्रीयता पर भी श्री अरविन्द की दृष्टि स्पष्ट की गयी है। यह दृष्टि इन विभिन्न अनुशासनों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी--ऐसी आशा है।

श्री अरविन्द का दर्शन अतीत से वर्तमान तक ही नहीं, भविष्य तक भी जाता है। स्पष्ट है कि इससे भारत तथा विश्व को आगे का मार्ग निर्धारण करने में सहायता मिलेगी। यह विशेषता अन्य भारतीय दर्शनों में प्रायः नहीं है। परम्परा हमारा भविष्य कलियुग के माध्यम से अन्धकारमय ही बताती है जबकि श्री अरविन्द उज्ज्वल भविष्य का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

श्री अरविन्द का दर्शन व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि की भी चिन्ता करता है। यह प्रवृत्ति वर्तमान समय के सर्वथा अनुकूल है और भारतीय चिन्तन को समसामयिक बनाने में सहायक है। विस्तार से अरविन्द दर्शन की प्रासङ्गिकता अन्तिम अध्याय में निष्कर्ष के रूप में उजागर की गयी है। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इसी अध्याय में तथा प्रारम्भ के विषय-प्रवेश वाले अध्याय में भी यह विशेष रूप से रेखाङ्कित किया गया है कि श्री अरविन्द के चिन्तन का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। अन्य अध्यायों में भी यथास्थान वैदिक साहित्य के सन्दर्भ तुलना करने हेतु लिये गये हैं।

श्री अरविन्द वेद, उपनिषद् तथा श्री भगवद्गीता के भाष्यों में स्वयं भी बराबर अपने दर्शन का पुट देते रहते हैं। अतः उनके भाष्यों पर लिखते समय मुझे अपने सारे विवेचन में उनके स्वयं के भी हस्ताक्षर मिलते रहे। उनकी पुण्य-स्मृति को शतशः प्रणाम।

—दयानन्द भार्गव

विषय सूचि

प्रास्ताविक v-vii

दर्शन

श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार – विषय-प्रवेश 3

अतिमानस की दृष्टि 26

अनन्त का तर्कः विरोध के परिहार का मार्ग 63

सृष्टि विद्या 77

जगत् का स्वरूप 105

विकासवाद का स्वरूप 117

आत्मा, अहंकार और व्यक्तित्व 128

मनुष्य का विकास 133

मानव एक संक्रमणकालीन जीव 136

आरोहण की प्रक्रिया के विविध स्तर 139

देवगण 157

परम रहस्य 161

अतिमानसिक चेतना 166

दिव्य जीवन 172

योग

योग की प्रस्तावना 193

योग के सहायक 203

पूर्णयोग का स्वरूप 209

साधक का आचरण 221

आध्यात्मिक अनुभव तथा प्रतीकों का रहस्यार्थ 226

पूर्णयोग 233

पूर्णयोग की व्यापकता 244

तीन लक्ष्य 249

पूर्णयोग के तीन आधार 254

मातृशक्ति के तीन रूप 261

आत्म समर्पण 265

प्राण का समर्पण 269

समर्पण की तीन अवस्थायें 273

अहङ्कार कामात्मा 277

अहं तथा कामात्मा 282

आनन्दमय चैत्यपुरुष 288

अभीष्ट नीरव एकान्त नहीं अपितु गतिशील सक्रियता है 293

अपरा प्रकृति और परा प्रकृति 300

प्रकृति का परिष्कार 306

भौतिक प्रकृति का पवित्रीकरण 312

मन का पवित्रीकरण 324

चित्त का पवित्रीकरण 332

कर्मयोग की पूर्णता 336

भक्ति का स्वरूप 339

ज्ञान मार्ग 345

ज्ञान के साधन 350

ज्ञान के प्रकार 354

पूर्णमुक्ति 360

संश्लिष्ट रूपान्तरण 366

संश्लिष्ट पूर्णता 374

ईश्वरीय समय की घड़ी 383

भाष्य साहित्य

श्री अरविन्द के वेदभाष्य की भूमिका 391

ईशोपनिषद् – सर्वव्यापक ईश्वर : जीवन और कर्म 404

आत्म-साक्षात्कार 412

ईश्वर 416

विद्या और अविद्या 420

सम्भूति और असम्भूति 424

सूर्य 426

कर्म और दिव्य मनोरथ 429

विरोधों का परिहार 432

केनोपनिषद् 437

श्रीमद्भगवद्गीता 443

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान 453

आत्मा का स्वरूप 475

श्री सत्प्रेम की दृष्टि में श्री अरविन्द 479

चेतना का साहसिक अभियान 479

रूपांतरण 503

विकास की यात्रा 517

प्राण 519

शिक्षा

शिक्षा 529

समाज

समाज 543

व्यक्ति और समाज 550

सामाजिक विकास 556

सामाजिक विकास के सोपान 560

मार्क्सवाद एवं श्री अरविन्द 567

अध्यात्म साधना और सामाजिक रूपांतरण 575

श्री अरविन्द का योगदान 580

राष्ट्रीयता और अन्ताराष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता और अन्ताराष्ट्रीयता : श्री अरविन्द की दृष्टि 587

उपसंहार

उपसंहार 603

निष्कर्ष 625

दर्शन

श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार
विषय-प्रवेश

मनुष्य जाति की मूल अभीप्सा

श्री अरविन्द ने अपने दर्शन के मुख्य ग्रन्थ 'द लाइफ डिवाइन' का प्रारम्भ मनुष्य जाति के उस मनोरथ से किया है जो अनादि काल से चला आ रहा है। उनके अनुसार यह मनोरथ है– पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन का अवतरण करना। हम इस मनोरथ का संकेत वैदिक संहिताओं में ही पाते हैं। ईशोपनिषद्, जो यजुर्वेद का अन्तिम ४०वां अध्याय भी है, स्पष्ट कहता है कि कर्म से मृत्यु को जीत कर ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति की जा सकती है।[1] मृत्यु पर विजय पाना पृथ्वी की घटना है और अमृतत्व की प्राप्ति दिव्यता है। यहाँ जो बात संकेत में कही गयी है ब्राह्मण ग्रन्थों में वह बात और भी स्पष्ट शब्दों में कह दी गयी है; ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ का उद्देश्य यजमान के शरीर में दिव्यात्मा का आधान करना है अर्थात् यज्ञ शरीर को दिव्य बनाने का साधन है।[2] इतना अवश्य है कि श्री अरविन्द पृथ्वी पर दिव्य जीवन के अवतरण का सामूहिक लक्ष्य रखते हैं जबकि वैदिक साहित्य में वह लक्ष्य व्यक्तिगत स्तर पर ही अधिक बलपूर्वक प्रतिपादित किया गया है।

यदि हम श्री अरविन्द की वेद-व्याख्या पर दृष्टिपात करें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी कि वे वेद में आये अश्व और गौ जैसे शब्दों का द्वि-आयामी अर्थ करते हैं। उनके अनुसार अश्व और गौ पशु तो हैं ही, किन्तु वे शक्ति और प्रकाश के प्रतीक भी हैं। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के पूर्व संस्कृत

विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्रोफेसर एस.पी. सिंह ने श्री अरविन्द के अनुसार वेद के शब्दों के प्रतीकार्थों पर एक पूरा ग्रन्थ ही लिख दिया है।[3] निष्कर्ष यह है कि वेद शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करता है कि उनका वाच्यार्थ अधिभूत को बताये और प्रतीकार्थ अध्यात्म को बताये। अधिभूत और अध्यात्म को जोड़ने का साधन तो अधिदेव है ही। उदाहरणतः इन्द्र शब्द को देखें तो यह अधिभूत में सूर्य को बताता है और अध्यात्म में इन्द्रियों के स्वामी मन का सूचक है, अधिदेव के रूप में इन्द्र एक प्राण है। प्राण ही देव है जो सूर्य में भी है और मन में भी है।[4] वेद की इस द्वि-आयामी प्रतिपादन शैली का आधार ही यह है कि अधिभूत को अध्यात्म से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी शैली को आधार बनाकर श्री अरविन्द ने ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का भाष्य किया है जो वेदों की भाष्य परम्परा में अपनी तरह का अनोखा भाष्य है।

मानव अभीप्सा के पाँच पक्ष

श्री अरविन्द के वेद-भाष्य से यह इङ्गित होता है कि वैदिक ऋषि का यह मनोरथ है कि पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन का अवतरण होना चाहिए। श्री अरविन्द ने ही इस मनोरथ को पाँच प्रकार से अभिव्यक्त किया है— १. अहंकार पूर्ण पाशविक जीवन में दिव्यता का आधान, २. अस्पष्ट मानसिकता का अतिमानस आलोक में रूपान्तरण, ३. त्रिविध ताप के बीच आनन्द का निर्माण, ४. यांत्रिकता के बीच स्वतन्त्रता की स्थापना, ५. मरणशील शरीर में अमर जीवन की खोज और प्राप्ति।[5] श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य जाति प्रारम्भ से ही इन मनोरथों को अपने मन में संजोती रही है। बारम्बार इन मनोरथों पर प्रश्न वाचक चिन्ह भी लगे हैं किन्तु बारम्बार ही वह इन मनोरथों को अपना लक्ष्य भी बनाती रही है। इसका यह अर्थ है ये मनोरथ मनुष्य जाति के मौलिक मनोरथ हैं और इस लिए एक न एक दिन इन मनोरथों की सिद्धि भी होगी।

संघर्ष में से विकास का मार्ग

स्पष्ट है कि स्थूल दृष्टि से ये मनोरथ परस्पर विरोधी तत्त्वों से घिरे हुए दिखाई पड़ते हैं किन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि प्रकृति की कार्यप्रणाली ऐसी है

कि वह परस्पर विरोधी तत्वों के संघर्ष में से ही विकास का मार्ग निकालती है।[6] उनका कहना है कि अस्तित्व की सभी समस्यायें विरोध के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की समस्यायें हैं। सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य की भूमिका में इस विषय पर विस्तार से विचार किया है कि वेद में परस्पर विरोधी वक्तव्यों के बीच किस प्रकार विरोधों का परिहार करके उन वक्तव्यों को सुसंगत बनाया जा सकता है।[7] श्री अरविन्द के अनुसार सभी विरोधों का अन्तिम समाधान तो तब होगा जब मनुष्य सत्य और प्रकाश को खोजेगा नहीं अपितु उन्हें प्राप्त कर लेगा और तब वह सर्वज्ञता के द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर सकेगा।

अतिमानस की अवधारणा और वैदिक साहित्य

पूरा भारतीय दर्शन सत्य के साक्षात्कार करने की प्रक्रिया ही बताता है। परम्परा यह मानती है कि वेद के ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे। यास्क ने यह भी कहा है कि ऐसे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अब नहीं हैं।[8] इसका यह अर्थ होता है कि वैदिक काल में मनुष्य जाति ने एक ऐसे शिखर का स्पर्श किया था जिसका स्पर्श वह बाद में नहीं कर पायी। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री अरविन्द के अनुसार ऐसे अतिमानस जीवन की उपलब्धि अधूरे रूप में कुछ व्यक्तियों को प्राप्त हुई थी तथा भविष्य में वह उपलब्धि पूरी मनुष्य जाति को पूर्ण रूप में प्राप्त हो जायेगी। इसे श्री अरविन्द का विकासवाद कहा जाता है। उनके अनुसार भूत में प्राण का और प्राण में मन का अवतरण इसी विकास का सूचक है। श्री अरविन्द के विकासवाद को वैदिक साहित्य की दृष्टि से देखें तो पञ्चकोष का सिद्धान्त हमारे सम्मुख आता है। जिसे श्री अरविन्द मैटर कहते हैं वह अन्नमय कोष है, जिसे वह लाइफ कहते हैं वह प्राणमय कोष है और माइन्ड मनोमय कोष है। वेद में इन तीन का ही उल्लेख है जिन्हें क्रमशः वाक्, प्राण और मन कहा गया है। किन्तु उपनिषद् में मनोमय कोष के बाद विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष का भी उल्लेख है। श्री किरीटजोशी जी ने एक बार यह कहा था कि श्री अरविन्द के अतिमानस का समकक्ष विज्ञानमय कोष में पड़ा हुआ 'विज्ञान' शब्द है। विज्ञान शब्द की व्याख्या इस रूप में की गयी है कि विज्ञान यज्ञ के मर्म को उद्घाटित करता है। गीता में कहा गया है कि यज्ञ ऐसा कर्म है जो बन्धन में नहीं डालता।[9] इस सारी

परम्परा को एक साथ देखें तो यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक चिन्तकों को एक ऐसे मार्ग का आभास था जिस मार्ग में कर्म तो है किन्तु बन्धन नहीं है।[10] श्री अरविन्द के शब्दों में इसे हम दिव्य जीवन कह सकते हैं। स्वयं गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण ने अपने जन्म और कर्म को दिव्य बताया है।

द्वन्द्वों के बीच द्वन्द्वातीत के माध्यम से सामञ्जस्य

श्री अरविन्द का मानना है कि ऐसे दिव्य जीवन को प्राप्त करना मनुष्य जाति की नियति है क्योंकि प्रकृति विकसनशील है और उसके विकास की कोई सीमा नहीं है।[11] जहाँ तक भारतीय परम्परा का प्रश्न है श्री अरविन्द जिस विकसित अवस्था का संकेत करते हैं वह अवस्था विरोधी तत्त्वों के बीच सामञ्जस्य की अवस्था है। जिन विरोधी तत्त्वों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने की बात है वे मूलतः आठ हैं जो द्वन्द्व के रूप में हैं—

१. मूल द्वन्द्व रस-बल का है।

२. संसार की स्थिति में यही द्वन्द्व अमृत और मृत्यु के रूप में आया है।

३. स्वयम्भू के स्तर पर यही द्वन्द्व स्थिति-गति है।

४. परमेष्ठी के स्तर पर यह स्नेह-तेज का द्वन्द्व है।

५. सूर्य के स्तर पर यह विद्या-अविद्या है।

६. चन्द्रमा के स्तर पर यही द्वन्द्व संभूति-विनाश है।

७. जीव के स्तर पर यह द्वन्द्व ज्ञान और कर्म है।

८. भू-पिण्ड के स्तर पर यही द्वन्द्व देवता और भूत के रूप में प्रकट होता है।[12]

इन द्वन्द्वों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि मृत्यु अर्थात् जागतिक जीवन में ही अमृतत्व की स्थापना भारतीय चिन्तन का उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य को वैशेषिक दर्शन में यह कहकर और भी स्पष्ट कर दिया गया कि धर्म वह है

जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है।[13] इसी लिए उपनिषद् ने कहा कि परा और अपरा दोनों विद्यायें जाननी चाहिए। अपरा विद्या वेद में है जो त्रिगुणात्मक है और परा विद्या वह है जिसके द्वारा अक्षरतत्त्व का ज्ञान होता है।[14] इसी अक्षरतत्त्व के लिए वेद में कहा गया है कि इस अक्षरतत्व में सारे देव प्रतिष्ठित हैं और जो इस अक्षरतत्त्व को नहीं जानता उसका वेद भी कोई कल्याण नहीं कर सकता।[15] अभिप्राय यह है कि श्री अरविन्द के दर्शन का मूल आधार भारतीय चिन्तन है, विशेषकर वैदिक चिन्तन।

गीता का कर्मयोग : प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय

लगता है जैन और बौद्ध परम्परा वेद के इस लक्ष्य से सहमत नहीं है क्योंकि वहाँ अभ्युदय का कोई स्थान नहीं है प्रत्युत अभ्युदय को निःश्रेयस का बाधक माना गया है। इसमें से एक निवृत्तिपरक धारा आयी जिसमें प्रवृत्तिमात्र को बन्धन मान लिया गया और एकमात्र निवृत्ति को ही मोक्ष का साधन बता दिया गया। गीता के कर्मयोग में इस धारणा का निराकरण हुआ और यह माना गया कि एक ऐसा साधन भी है जिसमें कर्म किया जा सकता है किन्तु बन्धन नहीं होता। स्पष्ट है कि कर्म से अभ्युदय होता है और बन्धन न होने पर मोक्ष तो स्वयंसिद्ध है।

भौतिकता से चेतना की यात्रा के विविध सोपान

जहाँ एक ओर जैन और बौद्ध अभ्युदय को नकार रहे थे वहाँ दूसरी ओर चार्वाक दर्शन निःश्रेयस की सत्ता स्वीकार नहीं कर रहा था।[16] श्री अरविन्द यह मानते हैं कि दिव्यता के मनोरथ की सिद्धि को कपोलकल्पित मानना वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है। चार्वाकदर्शन भी आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह यदि प्रत्यक्ष के आगे तक जायेगा तो उसे परोक्ष का भी दर्शन होने लगेगा। वस्तुतः उपनिषदों का कहना है कि यह सब कुछ ही ब्रह्म है। ऐसे में जिसे हम जडभूत कहते हैं वह भी ब्रह्म ही है और चार्वाक या वैज्ञानिक यदि भूत का भी विश्लेषण करेगा तो अन्त में उसे भूत में भी चेतना के दर्शन होने लगेंगे और इस प्रकार भौतिकवाद अध्यात्म से अस्पृष्ट नहीं रह जायेगा। जहाँ तक भूत से चेतन तक की यात्रा है उसके बीच में कई सोपान हैं उदाहरणतः मन और अतिमन के बीच उच्चत्तर मन

है, आलोकित मन है, अन्तर्दृष्टि है और अधिमन है। बीच के इन सोपानों पर ध्यान न देने का परिणाम होता है कि या तो हम भूत को ही सत्य मान लेते हैं और आत्मा को कपोलकल्पित मान लेते हैं अथवा आत्मा को ही सत्य मान लेते हैं और भूत को इन्द्रियों का धोखा मान लेते हैं। इन्हीं दो मान्यताओं के आधार पर भौतिकवाद तथा मायावाद खड़ा हुआ है। श्री अरविन्द ने इन दोनों विचारधाराओं पर दो स्वतन्त्र अध्याय लिखे हैं। पश्चिम के जिन देशों में भौतिकवाद का प्रभाव रहा वहाँ भूतविज्ञान के द्वारा प्रचुर सम्पन्नता प्राप्त कर ली गयी, किन्तु अध्यात्म का स्पर्श नहीं हो पाया। इसके विपरीत पूर्व में अध्यात्म के शिखर को छुआ गया किन्तु भौतिक सम्पन्नता में हम पिछड़ गये। इन दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य का मन अतृप्त रहा जिसके कारण पश्चिम में पूर्व के प्रति आकर्षण बन रहा है और पूर्व पश्चिम की ओर दौड़ रहा है।

भौतिकवाद और मायावाद के बीच देववाद और बौद्धों का विज्ञानवाद भी आता है। देववाद प्राण को ही सत्य मानता है और विज्ञानवाद विचार को ही सत्य मानता है। श्री अरविन्द का कहना है कि तर्क के आधार पर यह दोनों दृष्टियां युक्तिसंगत सिद्ध की जा सकती हैं, किन्तु वास्तविकता में यह तृप्ति प्रदान नहीं कर सकती। वस्तुस्थिति यह है कि जब हम एक समग्र अध्यात्म की दृष्टि से देखते हैं तो इन परस्पर विरोधी धाराओं का उसमें स्वतः ही समावेश हो जाता है।

भौतिकवाद की सीमायें

श्री अरविन्द मानते है कि भौतिकवाद का भी अपना योगदान है। भौतिकवाद ने प्रमाण और तर्क को महत्त्व दिया। यदि तर्क की कसौटी पर न कसा जाये तो अध्यात्म भी भावुकता और संवेगों के कारण व्यामोह पैदा कर सकता है। दर्शन की परम्परा में देखें तो सबसे पहले न्याय-वैशेषिक दर्शन आते हैं जिनमें न्याय प्रमाण शास्त्र है और वैशेषिक प्रमेय शास्त्र है। न्याय ने प्रत्येक पदार्थ को प्रमाण की कसौटी पर कसने की बात की और यह माना कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व, प्रमेयत्व और अभिधेयत्व है। दूसरी ओर वैशेषिक दर्शन ने जिन सात पदार्थों को माना वे सभी भौतिक हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन की यात्रा क्षर पुरुष से चालू होती है जिसमें प्रमाण के आधार पर भौतिक पदार्थों का विश्लेषण किया जाता

है। इस दृष्टि के बिना अध्यात्म रहस्यवाद की अबूझ खाई में खो जाता है। उसके साथ अन्धविश्वास और तर्क विरुद्ध रूढियाँ पनपने लगती है और सत्य लुप्त हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अध्यात्म का साधक अपनी समझ को तर्क और प्रमाण द्वारा अनुशासित रखे ताकि भावुकता के प्रवाह में न बह जाये। श्री अरविन्द ने नास्तिकता का भी यह महत्त्व माना है कि यदि वह ज्ञान की खोज में चलता रहे तो उसे पता चलेगा कि ऐन्द्रिक ज्ञान और उससे उत्पन्न होने वाला तर्क भी अधूरा ही है। आज का विज्ञान शनैः शनैः अनेकता में एकता को खोज पा रहा है। धीरे धीरे यह विज्ञान भी समझ लेगा कि भूत, प्राण और मन एक ही ऊर्जा के तीन रूप हैं और वह ऊर्जा चेतन है जो नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। मनुष्य में यही अभिव्यक्ति की भावना अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति की इच्छा के रूप में प्रकट होती है।

भौतिकवाद का परिणाम

आज चिकित्सा विज्ञान मृत्यु को भौतिक अर्थों में जीतने की बात सोच रहा है। वह भौतिक रूप से मनुष्य को सर्वसमर्थ बनाना चाहता है और उसे यह विश्वास हो रहा है कि मनुष्य जिसे निरन्तर चाहता है उसे प्राप्त भी कर सकता है। व्यवहार जगत् में भी विज्ञान ने मोबाइल फोन जैसे आश्चर्य जनक आविष्कार किये है जहाँ दो मोबाइल फोन के बीच कोई इन्द्रियगोचर साधन न रहने पर भी एक मोबाइल से दूसरे मोबाइल पर न केवल शब्द अपितु लिखित लेख भी पहुँच जाता है। श्री अरविन्द का विश्वास है कि मन की ऐसी शक्ति विकसित हो सकती है जहाँ मोबाइल फोन की भी आवश्यकता न रहे और मन से ही मन तक विचारों का सम्प्रेषण हो सके। किन्तु इतने से भी आध्यात्मिक ज्ञान नहीं हो जायेगा। इसलिए विज्ञान की दृष्टि में तो आत्मा सदा कल्पना ही रहेगी। इसका यह अर्थ है भौतिकवाद पृथ्वी पर दिव्य जीवन की सम्भावना कभी भी नहीं मानेगा। श्री अरविन्द के अनुसार इसका यह परिणाम होगा कि मनुष्य के पास दो विकल्प रहेंगे १. मनुष्य निरन्तर अस्तित्व में से अधिक से अधिक छीनने के लिए संघर्ष करता रहे। २. अथवा लक्ष्यहीन सेवा में जुटा रहे। यदि वह व्यक्ति की सेवा करता रहे तो व्यक्ति भी स्नायुतन्त्र का एक अस्थाई ढाँचा है और यदि

वह मनुष्य जाति की सेवा करता है तो वह भी व्यक्तियों का ही समूह है। श्री अरविन्द ने भौतिकवाद की इस स्थिति को माया ही बताया है क्योंकि इस प्रकार व्यक्ति वर्तमान में होता है किन्तु भविष्य में खो जाता है।

शाङ्कर वेदान्त का परिणाम

संन्यास परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में हम शङ्कराचार्य के अद्वैतवेदान्त को ले सकते हैं। शाङ्करवेदान्त के अनुसार केवल निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है और संसार मिथ्या है। इसके अनुसार त्याग द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और भौतिक जीवन की स्वीकृति अज्ञान का फल है। मौन और निर्गुण आत्मा की स्वीकृति का एक पक्ष यह भी है कि दृश्यमान जगत् को अस्वीकार किया जाये। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव का कोई अस्तित्व नहीं है और फलतः मनुष्य जीवन का भी कोई प्रयोजन नहीं है। यह इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी है कि इसके अनुसार मनुष्य जीवन का कोई अर्थ ही नहीं बनता। श्री अरविन्द ने शाङ्करवेदान्त को संन्यास मार्ग का प्रतिनिधि माना है किन्तु सत्य यह है कि शङ्कर से भी पहले बौद्ध और जैन धर्म में संन्यास का मार्ग बन चुका था। इसलिए नैयायिकों ने शङ्कर को प्रच्छन्नबौद्ध कहा है। उनका अभिप्राय यह है कि संसार को मिथ्या मानना वैदिक नहीं है अपितु अवैदिक है। यह सत्य है कि भारतीय दर्शनों में अभ्युदय और निःश्रेयस के समन्वय की बात की गयी है किन्तु समन्वय का वह स्वर प्रबल नहीं बन पाया और निवृत्ति का स्वर ही मुख्य बनकर रह गया।

अभ्युदय और निःश्रेयस के बीच समन्वय के प्रयत्न

ऐसा नहीं है कि पहले अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को साधने का प्रयत्न न किया गया हो। विशेषकर तन्त्र में यह प्रयत्न किया गया किन्तु तन्त्र एक रहस्य बनकर रह गया और वाममार्ग में ऐसी अनैतिक विधियों का प्रयोग किया गया कि तन्त्र के प्रति भारतीय जनसमाज में अरुचि पैदा हो गयी। दूसरी ओर पतञ्जलि के योगसूत्र में विभूतिपाद के अन्तर्गत यह भी उल्लेख मिलता है कि योग साधना से लौकिक क्षेत्र में भी सफलता मिल सकती है किन्तु साथ ही योग का प्रयोग लौकिक सफलता के लिए निषिद्ध माना गया। कुल मिलाकर आज तंत्र और योग

के अन्तर्गत अलौकिक सिद्धियां प्राप्त कर लेने वाले अनेक सन्त महात्मा अपने चमत्कारों के कारण प्रसिद्ध हैं किन्तु ये चमत्कार जन जीवन में दिव्यता ला पायेंगे ऐसी आशा करना दुराशा मात्र है।

आज भारतीय पटल पर दो प्रकार के प्रयत्न दिखायी देते हैं; एक तो वे सन्त महात्मा हैं जो निःश्रेयस की चर्चा करते हैं और संसार के प्रति वैराग्य का भाव पुष्ट करते हैं। स्पष्ट है कि ये निवृत्ति के एकांगी पक्ष को प्रतिपादित कर रहे हैं। इस मार्ग में जीवन की उपेक्षा हो जाती है, दूसरी ओर कुछ लोग उत्प्रेरक (मोटीवेटर) के रूप में जीवन की सफलता के सूत्र प्रतिपादित करते हैं और उसका आधार अध्यात्म को भी बनाते हैं किन्तु इस प्रकार के लोगों में अभ्युदय और निःश्रेयस के बीच सन्तुलन दिखायी नहीं देता; कुछ अभ्युदय को महत्त्व दे देते हैं और कुछ निःश्रेयस को। एक तीसरी धारा तान्त्रिकों की है जो लोगों के दुःख दूर करने का दावा करते हैं और उन्हें सफलता दिलाने के सूत्र भी बतलाते हैं। किन्तु इन सभी धाराओं में कहीं भी तर्क और प्रमाण से पुष्ट किसी दार्शनिक चिन्तन का आधार दिखायी नहीं देता। इस पृष्ठभूमि में श्री अरविन्द की अतिमानस की अवधारणा आती है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस अथवा पदार्थ और आत्मा के बीच अन्तश्चेतना के आलोक में समन्वय का सुचिन्तित मार्ग प्रदर्शित किया गया है।

अतिमानस की दृष्टि

अतिमानस का अर्थ यह है कि जहाँ हम अपने ऐसे स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं जहाँ न मन जाता है न वाणी,[17] वहाँ हम मन की विभिन्न सोपानों के द्वारा एक वैश्विक चेतना के माध्यम से उस अवस्था का भी अनुभव कर सकते हैं जहाँ आत्मा मौन और निर्विषय ही नहीं है अपितु गतिशील होने के कारण सर्वज्ञ भी है। ऐसा नहीं है कि न कुछ उसका विषय है और न उसका कोई सम्बन्ध है अपितु उसके अनन्त विषय हैं और अनन्त सम्बन्ध हैं। दूसरे शब्दों में उसके अनन्त नाम-रूप हैं। उपनिषदों ने इस स्थिति को इस रूप में कहा है कि जब सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को सब भूतों में देखा जाता है, तब न भय रहता है न घृणा।[18] दूसरे शब्दों में यह सब कुछ ब्रह्म ही है। ऐसी

स्थिति में अतिमानस चेतना में जगत्, माया या भ्रम या स्वप्न नहीं है अपितु ब्रह्म या आत्मा का अभिव्यक्त या विकसित रूप है। स्पष्ट है कि अतिमानस की इस स्थिति का यह चित्रण औपनिषद् मान्यता पर आधृत है। इसके अन्तर्गत पदार्थ आत्मा का शरीर है और आत्मा पदार्थ का सार है। वस्तुतः यह दोनों एक हैं और दोनों वास्तविक हैं।

बीइङ्ग और बिकमिङ्ग का वैदिक स्वरूप

वेदों की शब्दावली में कहें तो अभ्व (बिकमिङ्ग) आभु का ही एक रूप है जो नामरूपात्मक है। (द्रष्टव्य शतपथ ब्राह्मण, ११.२.३.३-४) व्यवहार में इन दोनों का समन्वय दिव्य जीवन को सम्भव बनाता है। मनुष्य का मनोरथ तभी पूर्ण होगा जब वह आभु के साथ अभ्व को भी साध पायेगा। यह सत्य है कि यह अभी तक नहीं हो पाया है किन्तु विकास के क्रम में अतिमानस की एक ऐसी स्थिति बन पायेगी जब यह सम्भव हो जायेगा। श्री अरविन्द के अनुसार शाङ्कर वेदान्त के संन्यास मार्ग में जिस शान्त, मौन और कूटस्थ आत्मा की अवधारणा मिलती है वह अध्यात्म का अन्तिम शिखर नहीं है। अध्यात्म की यात्रा में यह एक पड़ाव मात्र है जिस पड़ाव में व्यक्तिगत मोक्ष ही लक्ष्य बन कर रह जाता है किन्तु मानव जाति के उस मनोरथ की पूर्ति नहीं होती जो पृथ्वी पर सबके लिए दिव्य जीवन की कामना करता है। श्री अरविन्द के अनुसार यदि संन्यास-मार्गी व्यक्तिगत शांति की प्राप्ति के आगे भी गये होते तो उन्हें वास्तविक अद्वैत का परिचय मिलता।

वस्तुतः उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्म गतिशील भी है और स्थिर भी है[19], प्रत्यक् भी है और पराक् भी। पुरुषसूक्त में स्पष्ट उल्लेख है कि उसने भूमि को चारों ओर से भी घेरा है और भूमि से ऊपर भी वह स्थित है।[20] श्री अरविन्द के अनुसार यह ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं— सगुण और निर्गुण। मौन में से ही वह शब्दब्रह्म प्रकट होता है जिसका उल्लेख वेद के वाक्-सूक्त में है।[21] मौन का अर्थ संसार का निराकरण नहीं; मौन संसार का आधार है। तैत्तिरीय उपनिषद् के इस वक्तव्य का कि 'असत् से सत् उत्पन्न हुआ' श्री अरविन्द यह अर्थ करते हैं कि असत् अप्रमेय है जबकि सत् जागतिक है और असत् उसका आधार है। केवल शान्त आत्मा का साक्षात्कार वास्तविक अद्वैत नहीं है क्योंकि उसमें अस्तित्व

को दो भागों में बांट दिया गया है— एक सत्य ब्रह्म और एक मिथ्या माया।[22] यदि वस्तुतः आत्मा ही सत्य है तो सभी कुछ आत्मा होना चाहिए और साथ ही आत्मा का अपने आप को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करने का कोई कारण होना चाहिए। श्री अरविन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि स्वर्ण सत्य है तो स्वर्ण का बना पात्र भी कल्पना नहीं हो सकता।[23] वस्तुतः जगत् सत्य का साकार रूप है।

आत्मा और जगत् का सम्बन्ध

जब वेदान्त में यह कहा गया कि यह 'सब कुछ ब्रह्म है' जो 'एक और अद्वितीय' है तो इन दोनों को एक साथ रखने पर यह स्पष्ट होता है कि पदार्थ भी ब्रह्म ही है और हम पदार्थ को मिथ्या नहीं कह सकते। किन्तु जगत् को मिथ्या मानने वाले शाङ्कर वेदान्त ने पदार्थ को मिथ्या कह कर व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा ही कर ली। श्री अरविन्द के अनुसार असत् और सत् दोनों एक ही सत्य के दो रूप है।[24] इसीलिए श्री कृष्ण ने गीता में अपने को सत् और असत् दोनों बताया है।[25] श्री अरविन्द के अनुसार इस स्थिति का सूचक सच्चिदानन्द शब्द है। उन्होंने अपने दर्शन को वस्तुवादी अद्वैत अथवा समग्र अद्वैत कहा है। उनके अनुसार अतिमानस की स्थिति तक पहुँचने के लिए शान्त आत्मा के अनुभव से आगे जाना होगा और उस समय हमें केवल आत्मा का ही नहीं प्रत्युत जगत् का सत्य भी मिल पायेगा। श्री अरविन्द के अनुसार शङ्कराचार्य आत्मा और जगत् का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं कर पाये। इसलिए उनका दर्शन अपूर्ण है। उनका मानना है कि इस दर्शन में अस्तित्व के प्रश्न का समाधान न दे कर उस प्रश्न को स्वीकार ही नहीं किया गया है। अतः हमें ऐसे दर्शन को खोजना होगा जहाँ आत्मा का जगत् के साथ सम्बन्ध भी बताया जा सके। दूसरे शब्दों में, अनेक अस्तित्वों का एक सत् के साथ सम्बन्ध भी स्थापित किया जा सके।

ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्मसूत्र के इस वक्तव्य से श्री अरविन्द सहमत हैं कि ब्रह्म ही संसार का मूल है[26] और वही इसका आधार भी है। वह ब्रह्म मनुष्य के मन की पहुँच से बाहर है। वह स्वयम्भू है और स्वतः प्रमाण है। उसे एक वस्तु की तरह नहीं जाना जा सकता

किन्तु उसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध बनाकर ही उसे जाना जा सकता है। जब हम विश्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करेंगे तो पता चलेगा कि यह विश्व ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। सत्, चित् और आनन्द के रूप में विश्व आत्मप्रतिष्ठित है। जो कुछ भी दिखायी दे रहा है वह नित्य में से आया है और वह भ्रम नहीं है। वेद के शब्दों में आभु मूलभूत सत्य है और अभ्व उससे प्रादुर्भूत होने वाला सत्य है। आभु स्थिर है किन्तु अभ्व शिव का आनन्दपूर्ण नृत्य है जो ईश्वर को असंख्य शरीरों में प्रदर्शित करता है। रहस्य यह है कि शुद्ध सत् शुद्ध बना रहता है और अभ्व का नृत्य भी चलता रहता है।[27] इस प्रकार अभ्व आभु की सर्जनात्मक प्रकृति का फल है। सच्चिदानन्द विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वव्यापक भी है। अभ्व का आधार आभु ही है। यह आभु एक है। किन्तु इसकी एकता अनन्त है। जिसमें विविधता समाहित है। अनेक में एकता है और एकता में से अनेकता प्रस्फुटित होती है। सत् के रूप में वह उन अनन्त अभिव्यक्तियों का स्रोत है जो उसमें अन्तर्निहित हैं, चित् के रूप में वह संसार का नियन्ता है और आनन्द के रूप में वह सर्जन का प्रेरक है। उसकी अभिव्यक्ति तीन रूपों में होती है– आत्मा, पुरुष और ईश्वर। इन तीन की तीन शक्तियां हैं जो क्रमशः माया, प्रकृति और शक्ति कहलाती हैं। ये एक ही सत्य के तीन रूप हैं जो विश्वोत्तीर्ण को विश्व से जोड़ते हैं।[28] तर्क की दृष्टि से विश्वोत्तीर्ण और विश्व परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। किन्तु अतिमानस ज्ञान में वे दोनों मिलकर पूर्णता के सूचक हैं। श्री अरविन्द का कहना है कि हमारे सीमित तर्क से जो माया दिखती है वह अनन्त की तर्कपद्धति है।[29] सच्चिदानन्द निर्गुण भी है और सगुण भी है। वह निर्वैयक्तिक भी है क्योंकि वह सभी सत्य, शक्ति, बल और अस्तित्व का आधार है और वह वैयक्तिक भी है क्योंकि उसी से सब जीव भाव पैदा हुए है।

सच्चिदानन्द की आत्माभिव्यक्ति

सभी जीव सच्चिदानन्द का अंश हैं इसलिए सबके लिए यह आवश्यक है कि वह सच्चिदानन्द को प्राप्त करें और जगत् को उच्चतम सत्य की अभिव्यक्ति बनायें और अपने आप को दिव्यता के प्रति समर्पित कर दें। सच्चिदानन्द में अनेक रूप धारण करने की क्षमता है। वह माया के द्वारा सत्य के एक रूप को देखकर उस रूप में अपने को प्रकट कर देता है अथवा उस रूप में अपने को छिपा लेता है।

जिस रूप में वह अपने को छिपाता है वह उसके अपने स्वरूप से भिन्न ही नहीं विरुद्ध भी होता है।[30] उसका वह रूप प्रथमतया जड है जो उसके अपने स्वरूप से विरुद्ध है। उस जडता से उठ कर वह पुनः अपने को पाने के लिए शरीर, प्राण और मन के रूप में अभिव्यक्त करता है। अपना गोपन कर लेना और अपने को अभिव्यक्त कर देना चेतना की आनन्दमय क्रीडा है।[31]

चेतना अपने को जड के रूप में छिपाती है और वहाँ से विकास का मार्ग ग्रहण करती है। उच्चतम स्तर पर आत्मा है और निम्नतर स्तर पर जड़ है। आत्माभिव्यक्ति के चार चरण हैं। इनमें तीन सत्, चित् और आनन्द हैं (ये तीनों एक हैं) चौथा तत्व अतिमानस है जो श्री अरविन्द के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। इसे वे ऋतचित् कहते हैं। ऋतचित् की चेतना में मनुष्य एक ओर समग्र को देखता है दूसरी ओर संसार को देखता है और दोनों के बीच सम्बन्ध को भी देखता है।

सच्चिदानन्द से जड तक आने के लिए कालातीत और दिगतीत की स्थिति से उतर कर कालिक और दैशिक सीमा से बँधना होता है।[32] इस प्रकार सच्चिदानन्द अपने को काल और देश में सीमित हुआ देख पाता है। यह उपनिषद् के उस वाक्य का भाष्य है जहाँ ब्रह्म सोचता है कि 'मैं एक हूँ अनेक हो जाऊं'। अतिमानस की स्थिति में व्यक्ति आत्मा का ही नहीं अपितु संसार का भी समग्र ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता है। इसी रूपान्तरित व्यक्तित्व को श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन कहा है। इस दिव्य जीवन की लालसा मनुष्य में सदा से रही है।

मन के चार स्तर

सच्चिदानन्द और अतिमानस ऊर्ध्ववर्ती हैं और पदार्थ, प्राण और मन अधोवर्ती हैं। ऊर्ध्ववर्ती स्वतन्त्र और ज्ञानमय है, अधोवर्ती अज्ञानमय है। यह अज्ञान जड में चरम सीमा पर होता है। अतिमानस और मन के बीच चार सोपान हैं– उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि और अधिमन। उच्चतर मन सत्य को वैचारिक स्तर पर देखता है, आलोकित मन उसका दर्शन करता है, अन्तर्दृष्टि सत्य के विचार, अनुभव और कार्य प्रणाली को जानती है और अधिमन वैश्विक

चेतना है। ये सभी अधोवर्ती चेतनायें हैं क्योंकि ये समग्र ज्ञान की स्थितियाँ नहीं है, यद्यपि इनमें क्रमशः अज्ञान कम होता जाता है अर्थात् उच्चतर मन की अपेक्षा आलोकितमन में, आलोकित मन की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि में और अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा अधिमन में अज्ञान का अंश कम है। शङ्कराचार्य की भाषा में देखें तो समग्र ज्ञान पारमार्थिक है और शेष सभी ज्ञान व्यावहारिक है। जहाँ तक ब्रह्म का सम्बन्ध है वह पारमार्थिक ज्ञान में प्रकट होता है और व्यावहारिक ज्ञान में गुप्त रहता है।

अधिमानस और अतिमानस

अतिमानस के निकटतम अधिमन है जो अतिमानस और मन के बीच की कड़ी है। अतिमन के स्तर पर माया ज्ञान की शक्ति है और उसके नीचे यह अज्ञान की शक्ति बनती है। श्री अरविन्द ने ज्ञान की शक्ति को विद्यामाया और अज्ञान की शक्ति को अविद्यामाया कहा है। विद्यामाया के द्वारा सच्चिदानन्द अतिमानस रूप को प्राप्त करता है जिसमें सत्य का समग्र ज्ञान रहता है। किन्तु संसार की अभिव्यक्ति के लिए अविद्यामाया की आवश्यकता है। अविद्यामाया और विद्यामाया के बीच अधिमन दोनों का समन्वय है। अधिमन को श्री अरविन्द ने विद्या-अविद्या-माया कहा है। ईशोपनिषद् ने इसी स्थिति को विद्या और अविद्या दोनों की उपासना कहा है।[33] अतिमानस में पुरुष और प्रकृति एक हैं अथवा एक ही सत्य के दो रूप हैं किन्तु अधिमन की स्थिति में ये दो स्वतन्त्र दिखाई पड़ते हैं। अतिमानस की स्थिति वेदान्त है, अधिमन की स्थिति सांख्य है और मन की स्थिति वैशेषिक है। श्री अरविन्द के अनुसार अज्ञान ज्ञान का सीमित रूप है। मनुष्य ज्ञान की यह सीमा रागद्वेष के कारण स्वयं बना लेता है। चेतना मन के रूप में, चेतनशक्ति प्राण के रूप में तथा चेतन सत् पदार्थ के रूप में बदल जाते हैं। किन्तु जब मन, प्राण और पदार्थ पृथक् हो जाते हैं तो वे अज्ञान रूप में चले जाते हैं।

अस्तित्व के सात घटकः वेद की सात रश्मियाँ

मन चेतना की गौण शक्ति है जो विभक्त करती है। प्राण चेतनशक्ति की गौण स्थिति है जो आकार प्रदान करती है। सच्चिदानन्द का साकार रूप पदार्थ है।

मन, प्राण तथा पदार्थ के अतिरिक्त एक चौथा तत्व जीव है। वह आनन्द का प्रक्षेपण है। प्राण के बाद इसका विकास होता है। इसके दो स्वरूप हैं एक कामात्मा, दूसरा कामात्मा के पीछे रहने वाला वास्तविक जीव। इस प्रकार सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मन, जीव, प्राण और पदार्थ—अस्तित्व के ये आठ घटक हैं। इनमें जीव को हटा दें तो वे वेद की सात रश्मियाँ हैं जिनकी चर्चा वेद करता है।[34] जीव की स्वीकृति श्री अरविन्द की नवीन कल्पना है। भारतीय दर्शन में आत्मा का उल्लेख मिलता है किन्तु आत्मा तो मन से परे है जबकि जीव मानस है।

सच्चिदानन्द के आत्मसाक्षात्कार का क्रम

सच्चिदानन्द का जो क्रम आत्मगोपन का है उसका विपरीत क्रम आत्मसाक्षात्कार का है। आत्मसाक्षात्कार के तीन क्रम हैं— विस्तार, ऊर्ध्वमुखता और समन्वय। विस्तार का अर्थ है व्यवस्था, तथा अभिव्यक्ति और विवेक की वृद्धि ताकि उसमें से उच्चतर तत्व प्रकट हो सके। ऊर्ध्वमुखता का अर्थ है एक स्तर से दूसरे स्तर तक की यात्रा और समन्वय का अर्थ है— एक स्तर पर जो ग्रहण किया उसे दूसरे स्तर तक ले जाकर समग्र रूपान्तरण करना।[35]

श्री अरविन्द का मानना है कि विकास के क्रम में जिस प्रकार हम पदार्थ से प्राण और प्राण से मन तक आये हैं उसी प्रकार भविष्य में हम मन से अतिमन तक जायेंगे। यह अपरिहार्य है। पदार्थ से प्राण और प्राण से मन तक का विकास वैश्विक स्तर पर हुआ है किन्तु मन से अतिमन तक का विकास मूलतः व्यक्तिगत स्तर पर होगा। इस प्रक्रिया को सम्पूर्ण योग के द्वारा करना होगा।

पुरुषार्थ और कृपा

सम्पूर्ण योग का सार आत्मसमर्पण है जो भक्ति, ज्ञान और कर्म के समन्वय से होता है। साधक व्यक्तिगत स्तर पर पुरुषार्थ करता है किन्तु दिव्य कृपा भी उसकी सहायता करती है। पुरुषार्थ नीचे से ऊपर ले जाता है और दिव्य कृपा का अवतरण ऊपर से नीचे होता है।[36] अतिमानस की स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण, आध्यात्मिक रूपान्तरण और अतिमानस

रूपान्तरण करने होते हैं। तीनों प्रकार के रूपान्तरणों से नये व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सच्चिदानन्द की स्थिति में जो घटित होता है उसे मनुष्य का मन समझ नहीं सकता।[37] किन्तु श्री अरविन्द का प्रयत्न पृथिवी पर अतिमानस के अवतरण का है। पृथिवी पर अतिमन का अवतरण हो चुका है। किन्तु दिव्य जीवन का अवतरण होना शेष है, जिस जीवन में प्रकृति भी आनन्दमय हो जायेगी। उस समय शुद्ध सत्, चित् और आनन्द की अभिव्यक्ति होगी। यद्यपि इस स्थिति का सामान्य वर्णन श्री अरविन्द ने किया है तथापि वस्तुतः यह कैसी होगी यह प्रकृति की विकास की इच्छा पर निर्भर करेगा।[38] यह विकास संघर्ष से नहीं अपितु सामञ्जस्य से होगा।[39] उस स्थिति में हम वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानेंगे और यह जान पायेंगे कि पूर्णता को कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

अतिमानस की कार्यपद्धति

श्री अरविन्द ने बताया कि सच्चिदानन्द के पृथिवी पर अवतरण के साथ विकास की प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जायेगी किन्तु आगे होने वाले विकास का स्वरूप वर्तमान विकास के समान नहीं होगा। तब हम अन्धकार से प्रकाश की ओर नहीं जायेंगे अपितु न्यून प्रकाश से अधिक प्रकाश की ओर जायेंगे। अतिमानस के अवतरण के साथ सत्य युग की स्थापना होगी। इससे पहले भी सामञ्जस्यपूर्ण काल रहे हो सकते हैं किन्तु वे अतिमानस के स्तर पर नहीं थे।[40] अतः वे समाप्त हो गये। अतिमानस के स्तर पर होने वाला सामञ्जस्य कभी समाप्त नहीं होगा। अतिमानस विश्व की सर्जन शक्ति है और इसके साथ सभी धर्मों के स्वप्न पूरे हो जायेंगे।

श्री अरविन्द का मानना है कि विकास का जो क्रम वर्तमान विश्व पर लागू होता है वही क्रम सभी ब्रह्माण्डों पर लागू होता है,[41] क्योंकि सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मन, प्राण और पदार्थ केवल इसी विश्व की विशेषतायें नहीं हैं अपितु सभी सर्जन के अपरिहार्य अंग हैं। उदाहरणतः सत् के बिना शून्य में से सृष्टि नहीं हो सकती। दूसरे सत् में चेतना रहनी चाहिए ताकि वह सृष्टि में सम्बन्धों को व्यवस्थित कर सके। चेतना के बिना सृष्टि अव्यवस्थित होगी। तीसरे क्योंकि चेतना सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है अतः आनन्दित होगी। इस प्रकार सत्, चित्

और आनन्द किसी भी सर्जन की प्रक्रिया के अपरिहार्य अङ्ग हैं। क्योंकि सत्, चित् और आनन्द अनन्त हैं इसलिए अतिमानस के बिना अनन्त आकार उत्पन्न हो जायेंगे जिनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं होगा। इसलिए किसी भी सृष्टि में वह ज्ञान रहना चाहिए जो सम्बन्धों को निश्चित कर सके। इसके अनन्तर मन, प्राण और पदार्थ आते हैं। मन के बिना अनन्त चेतना की सीमा नहीं हो सकती है। अतः सृष्टि नहीं होगी। मन के अनन्तर प्राण और पदार्थ आवश्यक है क्योंकि उनके बिना ऊर्जा विभिन्न चेतना के केन्द्रों में परस्पर आदान प्रदान नहीं कर सकेगी। अतः जहाँ भी सृष्टि है वहाँ सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस तथा मन, प्राण और पदार्थ के सात तन्तु उपस्थित रहेंगे।

श्री अरविन्द का सच्चिदानन्द और वेद की त्रयी

इन सात तन्तुओं पर दृष्टि डालें तो सत्, चित् और आनन्द को हम वेद का प्रतिपाद्य मान सकते हैं। क्योंकि वेद शब्द जिस √विद् धातु से निष्पन्न हुआ है उसके सत्, चित् और आनन्द तीनों ही अर्थ सायणाचार्य ने बताये हैं। जहाँ तक मन, प्राण और पदार्थ का सम्बन्ध है यह वैदिक त्रयी है जिसे क्रमशः मन, प्राण और वाक् कहा गया है। वाक् का सम्बन्ध ऋग्वेद से, मन का सम्बन्ध यजुर्वेद से और प्राण का सम्बन्ध सामवेद से बताया गया है। इस प्रकार श्री अरविन्द के द्वारा जिन सात तन्तुओं की बात की गयी है उसमें अतिमानस उनका अपना योगदान है। दूसरी ओर यदि हम उपनिषदों के पाँच कोषों पर ध्यान दें तो वहाँ वाक् के स्थान पर अन्नमय कोष आता है तथा प्राण और मन के बाद विज्ञानमय कोष है। सम्भवतः यह विज्ञानमय कोष ही श्री अरविन्द का अतिमानस है जिसके बाद आनन्दमय कोष आता है। इस प्रकार श्री अरविन्द के दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्ट ही वैदिक आधार उपलब्ध है।

इस पृष्ठभूमि के अनन्तर हमें श्री अरविन्द के विचारों के अनुसार इस दार्शनिक समस्या पर विचार करना होगा कि सच्चिदानन्द और विश्व के बीच क्या सम्बन्ध है। सच्चिदानन्द को विश्व के रूप में अभिव्यक्त होने की क्या आवश्यकता है। सच्चिदानन्द से विश्व के विकास का क्या क्रम है, सच्चिदानन्द की दृष्टि में सृष्टि का क्या स्वरूप है, अतिमानस दृष्टि से सृष्टि का क्या स्वरूप है। सृष्टि

सच्चिदानन्द का परिणाम है या विवर्त है इत्यादि इत्यादि। इन विषयों पर 'दी लाइफ डिवाइन' में अत्यन्त विस्तार से चर्चा हुई है जिसके आधार पर हम आगे के अध्यायों में विचार करेंगे। इस प्रकार इस प्रथम अध्याय में जिन विषयों का संकेत मात्र हुआ है, उनका आगे उपबृंहण होगा। इस अध्याय से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द के दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का आधार वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

---

1. अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते-यजुर्वेद, ४०.१४
2. एतद्देवेभ्य आत्मानं प्रयच्छति...यज्ञेनैवैतद्देवेभ्य आत्मानं निष्क्रीणीते—शतपथब्राह्मण ११.१.८, १-६
3. प्रो. एस.पी.सिंह, वैदिक सिम्बोलिज्म, नई दिल्ली, २००१
4. इन्द्र के १४ अर्थों के लिये देखें— आचार्य दयानन्द भार्गव, वेदविज्ञानवीथिका पृ. १६८-१६९
5. (i) To know, possess and be the divine being in an animal and egoistic consciousness, (ii) to convert our twilit or obscure physical mentality into the plenary supramental illumination, (iii) to build peace and a self-existent bliss where there is only a stress of transitory satisfactions besieged by physical pain and emotional suffering, (iv) to establish an infinite freedom in a world which presents itself as a group of mechanical necessities, (v) to discover and realize the immortal life in a body subjected to death and constant mutation,—this is offered to us as the manifestation of God in Matter and the goal of Nature in her terrestrial evolution. —*The Life Divine, P.* 4
6. ...But if we take a more deliberate view of the world's workings, that direct appears rather as part of Nature's profoundest method and the seal of her completest sanction.— *The Life Divine, P.* 4
7. तुलनीय —आचार्य दयानन्द भार्गव, अभिनववेदपाठमाला पृ. २१५
8. यास्क, साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः- निरुक्त, १.६

9. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः- गीता ३.९
10. सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि- गीता २.३८
11. As the impulse towards Mind ranges from the more sensitive reactions of Life in the metal and the plant up to its full organisation in man, so in man himself there is the same ascending series, the preparation, if nothing more, of a higher and divine life. —*The Life Diviine, P.* 6
12. अभिनववेदपाठमाला, पृ. ५९४-५९५
13. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः- वैशेषिकसूत्र १.१
14. द्वे विद्ये विदितव्ये—परा चैवापरा चैव अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते- मुण्डकोपनिषद् १.१.४
15. ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् अधिदेवाः विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचाकरिष्यति य एतद्विदुस्त समासते कृऋग्वेद, १.१६४.३९
16. चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते-सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ. ७
17. न वाग्गच्छति न मनो न विद्मः- केनोपनिषद्, १.१.३
18. ...the Upanishad describes as the Self in us becoming all existences; the second on that which is described as seeing all existences in the Self; the third on that which is described as seeing the Self in all existences. The Self becoming all existences is the basis of our oneness with all; the Self containing all existences is the basis of our oneness in difference; the Self inhabiting all is the basis of our individuality in the universal. —*The Life Divine, P.* 166
19. तदेजति तन्नेजति-ईशोपनिषद् (यजुर्वेद, ४०.५)
20. स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्कृऋग्वेद १०.९०
21. ऋग्वेद, १०.१२५
22. The real Monism, the true Adwaita, is that which admits all things as the one Brahman and does not seek to bisect Its existence into two incompatible entities, an eternal Truth and an eternal

Falsehood, Brahman and not-Brahman, Self and not-Self, a real Self and an unreal, yet perpetual Maya —*The life Divine , P.* 35

23. If the gold of which the vessel is made is real, how shall we suppose that the vessel itself is a mirage? —*The life Divine, P.* 36

24. We start, then, with the conception of an omnipresent Reality of which neither the Non Being at the one end nor the universe at the other are negations that annul; they are rather different states of the Reality, obverse and reverse affirmations. —*The Life Divine, P.* 36

25. सदासच्चाहमर्जुन—श्रीमद्भगवद्गीता, ९.१९

26. जन्माद्यस्य यतः—ब्रह्मसूत्र, १.२

27. World-existence is the ecstatic dance of Shiva which multiplies the body of the God numberlessly to the view: it leaves that white existence precisely where and what it was, ever is and ever will be; its sole absolute object is the joy of the dancing. —*The Life Divine, P.* 85

28. ... It is the self-force of that consciousness conceptively creative of all things, Maya; it is Prakriti, Nature or Force made dynamically executive, working out all things under the witnessing eye of the Conscious Being, the Self or Spirit; These three aspects and their powers base and comprise the whole of existence and all Nature and, taken together as a single whole, they reconcile the apparent disparateness and incompatibility of the supra cosmic Transcendence, the cosmic universality and the separativeness of our individual existence; the Absolute, cosmic Nature and ourselves are linked in oneness by this triune aspect of the one Reality. —*The Life Divine, P.* 339-340

29. But the being and action of the Infinite must not be therefore regarded as if it were a magic void of all reason; there is, on the contrary, a greater reason in all the operations of the Infinite, but it is not a mental or intellectual, it is a spiritual and supramental reason there is a logic in it, because there are relations and connections infallibly seen and executed; what is magic to our finite reason is the logic of the Infinite.

30. And the possibility worked out here in the universe of which we are a part, begins from the concealment of Sachchidananda in that which seems to be its own opposite and its self-finding even amid the terms of that opposite. —*The Life Divine P.* 118

31. On the contrary, a play of self-concealing and self-finding is one of the most strenuous joys that conscious being can give to itself, a play of extreme attractiveness. — *The Life Divine, P.* 426

32. Whatever is in its own being, takes form as self-knowledge, as Truth-Consciousness, as Real-Idea, and, that self-knowledge being also self-force, fulfils or realises itself inevitably in Time and Space. —*The Life Divine P.* 154-155

33. विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह—ईशोपनिषद्, १४

34. The Vedic Seers speak of the seven Rays, but also of eight, nine, ten or twelve. —The Life Divine, *P.* 278 *Foot note*

35. A taking up of what has already been evolved into each higher grade as it is reached and a transformation more or less complete so as to admit of a total changed working of the whole being and nature, an integration, must be also part of the process, if the evolution is to be effective. —*The Life Divine, P.* 731

36. There are two powers that alone can effect in their conjunction the great and difficult thing which is the aim of our endeavour, a fixed and unfailing aspiration that calls from below and a supreme Grace from above that answers. —*The Mother with Letter on the Mother P.* 3

37. ...But that knowledge is not expressible to the human mind; its language of light is too undecipherable, the light itself too bright for a consciousness accustomed to the stress and obscurity of the cosmic riddle and too entangled in it to follow the clue or to grasp the secret. —*Letter on Yoga-I, P.* 259

38. What forms it might take would depend upon the will of evolutionary manifestation of the Supernature. —*The Life Divine, P.* 1070.

39. ...It would be no longer an evolution through strife; it would become a harmonious development from stage to stage, from lesser to greater light, from type to higher type of the power and beauty of a self-unfolding existence. —*The Life Divine, P.* 1050

40. It is quite possible that there have been periods of harmony on different levels, not supramental, which were afterwards disturbed— but those could only be a stage or resting place in a world of spiritual evolution out of the Ignorance. —*Letter on Yoga –I*

41. At present, what we have first to see is that the seven or the eight principles we have examined are essential to all cosmic creation and are there, manifested or as yet unmanifested. —*The Life Divine, P.* 279

SUPRAMENTAL

I saw them cross the twilight of an age,
The sun-eyed children of a marvelous dawn,
The great creators with wide brows of calm,

The massive barrier-breakers of the world
And wrestlers with destiny in her lists of will,
The labourers in the quarries of the gods,
The messengers of the Incommunicable,
The architects of immortality.

Even as of old man came behind the beast
This high divine successor surely shall come
Behind man's inefficient mortal pace,
Behind his vain labour, sweat and blood and tears:

He shall know what mortal mind barely durst think,
He shall do what the heart of the mortal could not dare.

—***Savitri pp.*** **343-344**

X X X

In absolute silence sleeps an absolute Power.
Awaking, it can wake the trance-bound soul
And in the ray reveal the parent sun
It can make the world a vessel of Spirit's force,
It can fashion in the clay God's perfect shape.

—***Savitri p.*** **311**

X X X

Her thought is an endless march without a goal.
There is no summit on which she can stand
And see in a single glance the Infinite's whole.

—***Savitri p.*** **252**

अतिमानस की दृष्टि

हमने पहले अध्याय में देखा कि अतिमानस की अवधारणा श्री अरविन्द की अपनी मौलिक है। अतः उस पर थोड़ा विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

ऐन्द्रिक अनुभव और तर्क

ज्ञान के तीन स्रोत हैं– इन्द्रिय, तर्क और अन्तर्दृष्टि। इन तीन स्रोतों के आधार पर तीन ही दृष्टिकोण बनते हैं। प्रथम दृष्टिकोण वह है जो ऐन्द्रिक अनुभव के आधार पर विश्व को समझना चाहता है। दूसरा दृष्टिकोण तर्क के आधार पर विश्व को समझना चाहता है और तीसरा दृष्टिकोण अन्तर्दृष्टि के आधार पर विश्व को जानना चाहता है। श्री अरविन्द के अनुसार दर्शन का उद्देश्य वस्तुओं की यथार्थ वास्तविकता को जानना है ताकि मनुष्य अपने जीवन का विधान और लक्ष्य जानकर पूर्णता की ओर बढ़ सके। इस दृष्टि से श्री अरविन्द ने उपर्युक्त तीनों ही स्रोतों की आलोचना करते हुए उस दृष्टि का भी खण्डन किया है जो अन्तर्दृष्टि के आधार पर कूटस्थ आत्मा अथवा ब्रह्म को ही वास्तविक मानती है और संसार को मिथ्या मानती है। उनके अनुसार अतिमानस की दृष्टि में सब कुछ ब्रह्म है– सर्वं खल्विदं ब्रह्म। अतिमानस दृष्टि में संसार का निषेध नहीं होता किन्तु वह रूपान्तरित होकर अनुभव में आता है –

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चौव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः –श्रीमद्भगवद्गीता ५.१८

इसे ही गीता में **वासुदेवःसर्वमिति**[1] कहा गया है। यही दिव्य परिपूर्णता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अतिमानस दृष्टि चाहिए। इन्द्रियों के अतिरिक्त मन स्वयं भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु वह ज्ञान संसार का एकीकृत ज्ञान नहीं होता। इसलिए उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म इन्द्रियों से अथवा मन से नहीं जाना जा सकता।[2]

ज्ञान का साधनः इन्द्रियाँ तथा शुद्ध तर्क

जहाँ तक तर्क का सम्बन्ध है या तो वह इन्द्रियों के ज्ञान पर आधृत होता है अथवा शुद्ध तर्क के द्वारा भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में यह ज्ञान आभास का ही होता है, वास्तविकता का नहीं।[3] दूसरे शब्दों में यह नामरूपात्मक अभ्व को ही जान सकता है, आभु को नहीं। भौतिक विज्ञान का यही आधार है। इस आधार पर व्यवहार चलता है किन्तु यथार्थ का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता।

शुद्धतर्क की सीमा

शुद्धतर्क इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रारम्भ बिन्दु तो मानता है किन्तु अन्तिम बिन्दु नहीं। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान के पीछे रहने वाले तत्त्व की चर्चा भी करता है। इस दृष्टि के परिणाम स्वरूप या तो संशयवाद का प्रादुर्भाव होता है या किसी बौद्धिक प्रस्थान की स्थापना होती है।[4] कारण यह है कि तर्क परमसत्य को नहीं जान सकता। यह सत्य के किसी एक खण्ड को जानता है[5] किन्तु स्वयं वस्तु को नहीं। इस कारण वह अनेक प्रस्थानों को जन्म देता है। इन सब प्रस्थानों का वैचारिक महत्त्व तो है किन्तु आध्यात्मिक महत्त्व नहीं। अध्यात्म का उद्देश्य वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है और उसके अनुसार जीवन को संचालित करना है ताकि जीवन इहलोक में ही परिपूर्णता को प्राप्त कर सके।

काण्ट ने अपने ग्रन्थ "दी क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन" में यह प्रतिपादित किया है कि शुद्ध तर्क के द्वारा आत्मा, विश्व और ईश्वर के बारे में सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं किन्तु उनका अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए उन सिद्धान्तों को अनुभव की कसौटी पर भी नहीं कसा जा सकता और उनका

खण्डन भी नहीं किया जा सकता।[6] शुद्धतर्क में विरोध नहीं होता इसलिए इसके आधार पर खड़े किये गये सभी प्रस्थान अपनी-अपनी जगह प्रामाणिक होते हैं। द्वादशारनयचक्र नामक जैन ग्रन्थ में यह प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार एक पक्ष का दूसरे पक्ष से तथा दूसरे पक्ष का तीसरे पक्ष से खण्डन किया जा सकता है और इस प्रकार सभी पक्ष खण्डित हो जाते हैं जो कि उपहासास्पद स्थिति है। यह शुद्ध तर्क की स्थिति है। काण्ट के अनुसार शुद्धतर्क के आधार पर स्थापित सभी पक्ष व्यक्तिगत राय भर से अधिक कुछ नहीं हैं। शुद्धतर्क का प्रयोग अपने पक्ष के बचाव में तो किया जा सकता है किन्तु उस पक्ष की स्थापना नहीं हो पाती।[7] विभिन्न पक्षों के बीच जो वाद विवाद होता है वह एक वितण्डा ही है किन्तु यह वितण्डा सदा से चलती आ रही है और सदा चलती रहेगी।[8] इस प्रक्रिया में नये नये सिद्धान्त उत्पन्न होते रहेंगे।

अन्तर्दृष्टि

काण्ट की दृष्टि से यह बात छिपी रह गयी कि तर्क के अलावा अन्तर्दृष्टि से भी सत्य को जाना जा सकता है और यह अन्तर्दृष्टि आध्यात्मिक भी हो सकती है। उसका कहना है कि व्यावहारिक सत्य के अतिरिक्त आध्यात्मिक सत्य प्रमाणित नहीं हो पाता।[9]

बर्गेसौं ने तर्क के विपक्ष में यह कहा है कि वस्तु का यथार्थ स्वरूप तर्क द्वारा इसलिए नहीं जाना जा सकता कि तर्क सदा सापेक्ष है और वह समग्र को ग्रहण नहीं कर सकता। हमारी बुद्धि क्योंकि परिवर्तनशील है अतः वह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकती। पदार्थों का यथार्थ स्वरूप तो अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही जाना जा सकता है। उनका कहना है कि तैरने के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पक्ष को जानने पर भी जान लेने मात्र से व्यवहार में तैरना नहीं आता। इससे यह सिद्ध होता है कि सत्य को जानने के लिए तर्क से ऊपर उठना होगा।[10]

संशयवाद

वस्तुतः संशयवाद और तर्कवाद दोनों में ही पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने का सामर्थ्य नहीं है। कम से कम संशयवाद इस अर्थ में ज्यादा सच्चा है कि वह

अपने असामर्थ्य को स्वीकार करता है। वह मानता है कि शुद्धतर्क इन्द्रियजन्य ज्ञान से आगे ले जाता है। किन्तु वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं दे सकता। शुद्धतर्क से वैचारिक उपलब्धि हो सकती है, किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार वैचारिक उपलब्धि ही दर्शन का अन्तिम उद्देश्य नहीं है।

दर्शन का विषय

हीगल और ब्रेडले जैसे दार्शनिक जो भी कहते हैं उसके सत्यासत्य का निर्णय अनुभव के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसलिए वे कविकल्पना जैसे ही बनकर रह जाते हैं। उससे हमारा मनस्तोष हो सकता है किन्तु यथार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। आपत्ति यह है कि तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त क्योंकि जागतिक नहीं है अतः उनका सत्यापन नहीं किया जा सकता। इसलिए उनका कोई अर्थ नहीं है, जब कि विज्ञान के सभी सिद्धान्त सत्यापित किये जा सकते हैं। अतः वे सार्थक हैं। ऐसे दार्शनिकों का कहना है कि प्रकृति, जीवन, इतिहास और समाज से जुड़े प्रश्न दर्शन के नहीं हैं अपितु भिन्न भिन्न ज्ञान की विधाओं के हैं; तथा मूलतः विज्ञान के हैं जो किन्हीं भी सिद्धान्तों को सत्यापित करके ही स्वीकार करता है। दार्शनिकों के ऐसे तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त, जिनका सत्यापन नहीं हो सकता, सिद्धान्त न होकर काव्यमात्र अथवा कल्पनायें ही हैं।[11] इस मत के अनुसार प्रकृति का विश्लेषण प्राकृतिक विज्ञान का विषय है और जीवन का विश्लेषण जीव विज्ञान का विषय है, न कि दर्शन का।[12]

एक दूसरे मत के अनुसार दर्शन का कार्य भाषा का विश्लेषण करना है। इस मत के अनुसार सामान्य भाषा अस्पष्ट होती है जिसके कारण अनेक प्रकार के मतभेद उत्पन्न होते हैं। अतः दर्शन का कार्य सामान्य भाषा का विश्लेषण करना होना चाहिए। विट्गनस्टाइन के अनुसार दर्शन किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता अपितु केवल सामान्य भाषा की अस्पष्टता दूर करता है। वस्तुतः भाषा का विश्लेषण करने का सिद्धान्त हो या तत्त्वज्ञान के निराकरण का सिद्धान्त हो, दोनों ही हमें कोई विधेयात्मक आधार नहीं देते। अतः अब यह समझा जा रहा है कि भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रस्थान, भिन्न भिन्न दृष्टिकोण हैं जिनमें

कोई भी न एकान्त रूप से सत्य है, न एकान्त रूप से गलत है। स्पष्ट है कि यह निष्कर्ष जैनों के स्याद्वाद के निकट है।

सत्यापन की समस्या

वस्तुतः किसी भी वक्तव्य का सत्यापन तो होना चाहिए किन्तु यह सत्यापन केवल भौतिक अर्थ में ही हो, यह आवश्यक नहीं। श्री अरविन्द का मत है कि आध्यात्मिक अनुभव का भी सभी मनुष्य सत्यापन कर सकते हैं। अतः श्री अरविन्द का निष्कर्ष है कि दर्शन केवल विचारों की क्रीड़ा मात्र नहीं है।[१३] हम जिस सत्य को भी पायें उसका सत्यापन हमारी क्रियाओं द्वारा होना चाहिए, अन्यथा उसका बौद्धिक मूल्य हो सकता है किन्तु कोई जीवन्त मूल्य नहीं। सत्य को जीवन में घटना चाहिए।[१४] अस्तित्व का जैसा स्वभाव है जीवन को उसके अनुसार ढालना होगा। दर्शन की सार्थकता इसमें है कि वह मनुष्य के स्वभाव को, उसके मनोविज्ञान को और संसार और ईश्वर के सम्बन्ध को बताये। किन्तु दर्शन का यह कार्य केवल तर्क के आधार पर नहीं सिद्ध हो सकता। विज्ञान जिन तथ्यों को हमारे सामने रखता है अस्तित्व में उसके अतिरिक्त भी आध्यात्मिक सत्य हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस आध्यात्मिक अथवा परोक्ष सत्य को समझे बिना वस्तुओं की यथार्थता नहीं जानी जा सकती। ब्राह्मणग्रन्थों में बारम्बार कहा गया है कि देवता परोक्ष को पसन्द करते हैं– **परोक्षप्रियाः हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।**[15]

दर्शन और जीवन

श्री अरविन्द का कहना है कि केवल तर्क के आधार पर सत्य को न देखकर आन्तरिक अनुभव का भी सहारा लेना चाहिए।[१६] इसका यह अर्थ है कि हम सत्य को केवल विज्ञान के आधार पर ही नहीं, आन्तरिक अनुभव के आधार पर भी जानेंगे। इसलिए भारतीय दर्शन में जीवन को महत्व दिया गया है। इसीलिए यहाँ दर्शन का धर्म, समाज और दैनन्दिन जीवन पर प्रभाव पड़ा है। यह सत्य है कि भारतीयों ने भी बौद्धिक स्तर पर सत्य को जानना चाहा है किन्तु उसे सर्वोपरि स्थान नहीं दिया।[17] उन्होंने सर्वोपरि स्थान अध्यात्म को दिया है। उपनिषद्

बारम्बार तर्क को अपूर्ण मानते हैं– **नैषा मतिस्तर्केणापनीया।**[18] किन्तु साथ ही वे तर्क का महत्त्व भी स्वीकार करते हैं–**यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।**[19] शङ्कराचार्य का कहना है कि तर्क के द्वारा श्रुति का समर्थन होना चाहिए न कि खण्डन–**श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।**[20] इसका अर्थ यह है कि प्रातिभ ज्ञान मुख्य है, तर्क उसका सहायक है। ऐसा तर्क जो प्रातिभ ज्ञान का विरोधी हो, प्रमाण नहीं है। वस्तुतः शब्द प्रतीक हैं और उनके पीछे अभिप्राय को जानना चाहिए। जैन इसे ही नय कहते हैं–**वक्तुरभिप्रायो नयः।**[21]

भारतीय दर्शन में सत्य को जानने का मार्ग भी बताया गया है। इसलिए भारत के दार्शनिक चिन्तक होने के साथ साथ योगी भी रहे हैं।[22] जो केवल चिन्तन करते रहे उनका सम्मान तो भारत में हुआ किन्तु उन्हें ऋषि नहीं माना गया। जो चिन्तन को व्यवहार में नहीं घटा पाये ऐसे प्रस्थान समाप्त हो गये। इसके विपरीत पश्चिम में चिन्तन को ही सर्वोपरि मान लिया गया है।[23] जहाँ तक यूनान का सम्बन्ध है, यूनानी दार्शनिक नैतिकता और सौन्दर्य पर विचार करते हैं, अध्यात्म पर नहीं। पश्चिम में हीगल और ब्रेडले तर्क के आधार पर पूर्ण की खोज करते रहे। किन्तु श्री अरविन्द भारत के अद्वैतवादियों की तरह आध्यात्मिक आधार पर वस्तुओं के यथार्थ को खोजने के पक्ष में हैं।

अनुभव और दर्शन

यह सच है कि सत्य का अनुभव करने के बाद उसके दार्शनिकीकरण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि हम उसे दूसरे को समझाना चाहें तब दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। स्वयं श्री अरविन्द व्यक्तिगत रूप से ही सत्य को जानकर सन्तुष्ट नहीं थे वे उसे दूसरों को भी सम्प्रेषित करना चाहते थे। उनका कहना है कि व्यक्ति समष्टि का हिस्सा है और व्यक्तिगत मुक्ति ही जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। यदि हम अपनी स्वतन्त्रता चाहते हैं तो उसमें दूसरों की स्वतन्त्रता भी समाहित है। अतः हमारा लक्ष्य सत्य का सार्वभौमिकीकरण होना चाहिए। अतः जो मन के धरातल पर जी रहे हैं उन तक भी उस सत्य को पहुँचाना हमारा कर्त्तव्य है। श्री अरविन्द का कहना है कि भारत में हम पुराने वक्तव्यों को ही

बारम्बार कहते रहे हैं किन्तु चिन्तन की सीमा को आगे बढ़ाने के लिए नये उपक्रम कम ही कर पाये।

अन्तर्दृष्टि का स्वरूप

इन्द्रियजन्य अनुभव और तर्क के अतिरिक्त ज्ञान की प्राप्ति का एक तीसरा साधन अन्तर्दृष्टि है। अन्तर्दृष्टि का अर्थ सामान्यतः आध्यात्मिक अनुभव होता है। किन्तु क्योंकि आध्यात्मिक अनुभव भी अनेक प्रकार का हो सकता है, इसलिए इसके आधार पर अनेक प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोणों का निर्माण किया जा सकता है।

अन्तर्दृष्टि, ज्ञाता और ज्ञेय के बीच तादात्म्य द्वारा होने वाला ज्ञान है।[24] सामान्य जीवन में यह तादात्म्य कर्म के रूप में प्रकट होता है। किन्तु अन्तश्चेतना के स्तर पर यह ज्ञान का रूप ले लेता है। उस समय कर्म समाप्त हो जाता है। इसे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि कह सकते हैं।[25] वस्तुतः अन्तर्दृष्टि शब्द स्वयं में अस्पष्ट है। अन्तर्दृष्टि का अर्थ तादात्म्य के द्वारा जानना है। यह प्राणिक स्तर पर अथवा मानसिक स्तर पर अथवा आध्यात्मिक स्तर पर भी हो सकता है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि प्राणिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक होती है। क्योंकि मन के परे भी कई स्तर हैं। इसलिए इन सब स्तरों पर रहने वाली अन्तर्दृष्टि भी भिन्न भिन्न हो सकती है।

वस्तुतः ज्ञान चार प्रकार से होता है— १. तादात्म्य के द्वारा, २. सीधे घनिष्ठ सम्बन्ध के द्वारा, ३. सीधे भेदात्मक सम्बन्ध के द्वारा और ४. पूर्णतः भेदात्मक परोक्ष सम्बन्ध के द्वारा।[26] हमें अपने अस्तित्व का और अपने विचार, अनुभव और मनोकामनाओं का ज्ञान तादात्म्य के द्वारा ही होता है। विचार, अनुभव और मनोकामनाओं का ज्ञान होते समय हम अपने एक अंश की उनके साथ एकात्मता कर लेते हैं किन्तु हमारा दूसरा अंश अलग बना रहता है। किन्तु संसार के ज्ञान के लिए हमारा ज्ञेय के साथ सम्बन्ध सीधा नहीं होता; इन्द्रियों के द्वारा जो बाह्य वस्तु हम तक आती है, मन उसका विश्लेषण करता है।

श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक अनुभव को अन्तर्दृष्टि कहना पूर्णतः उचित नहीं है। किन्तु अन्तर्दृष्टि शब्द के अतिरिक्त हमारे पास कोई इससे अधिक

उपयुक्त शब्द भी नहीं है। वस्तुतः भाषा के सम्बन्ध में यह कठिनाई है।[27] प्रोफेसर आर.डी. रानाडे ने इस कठिनाई की ओर ध्यान दिलाते हुए यह कहा है कि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है और हम अन्तर्दृष्टि जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं।[28]

श्री अरविन्द की अतिमानस की अवधारणा का मूल्यांकन करने के लिए अन्तर्दृष्टि की अवधारणा के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि विज्ञान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को स्वीकार नहीं करता और इसलिए वह आत्मा को भी स्वीकार नहीं करता। उसका मानना है कि किसी भी अनुभव को तर्क के द्वारा सत्यापित होना चाहिए। श्री अरविन्द का कहना है कि यह दृष्टि अहंकार-केन्द्रित है अथवा अहंकार के द्वारा प्रेरित एक भ्रम है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि सामान्य मनुष्य का अनुभव और सामर्थ्य ही सर्वोपरि है और तदतिरिक्त असाधारण अनुभव का कोई अस्तित्व नहीं है।[29] श्री अरविन्द के अनुसार यह सत्य है कि किसी भी सत्य को अनुभव के द्वारा सत्यापित किया जा सकना चाहिए। किन्तु इसके लिए इस पद्धति से गुजरना होगा जिस पद्धति से वह अनुभव होता है। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में भी एक पद्धति है जिसके अनुसार परीक्षण किया जा सकता है और वैज्ञानिक सत्य को सत्यापित किया जा सकता है। उसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में भी परीक्षण और सत्यापित करने की एक पद्धति है। यदि उस पद्धति का पालन किया जाये तो आध्यात्मिक अनुभव भी सत्यापित किये जा सकते हैं। यह कहना सत्य नहीं है कि भौतिक मानदण्डों के अतिरिक्त और सभी मानदण्ड भ्रान्त हैं। भ्रम की सम्भावना तो भौतिक क्षेत्र में भी रहती है। भ्रम के भय से अध्यात्म के क्षेत्र में उतरने से डरना उचित नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में भी तर्कसंगत मानदण्ड स्थापित किये जाने चाहिए।

अध्यात्म का प्रथम सोपानः शून्य तथा शून्यवाद की अपूर्णता

जैसे ही आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, वैसे ही प्रथम अनुभव शून्य का हो सकता है अर्थात् एक ऐसा अनुभव जिसमें कुछ भी ज्ञेय नहीं है। बौद्ध इसी अनुभव की बात करते हैं। स्पष्ट है कि यह अनुभव निषेधात्मक है। इसके अनुसार शून्य ही अन्तिम सत्य है।[30] इस शून्यवाद का प्रतिपादन नागार्जुन ने

किया। यह बौद्धों का माध्यमिक प्रस्थान है। श्री अरविन्द के अनुसार शून्यवाद हमें किसी भी चीज का ज्ञान प्रदान नहीं करता। यह शून्यवाद का अनुभव साधक को तब होता है जब वह मन को नियंत्रित कर लेता है और आत्मा की ओर बढ़ता है। किन्तु यह अनुभव बीच की एक कड़ी ही है और यह इस अर्थ में अपूर्ण है कि इसके द्वारा संसार के सम्बन्ध में हमें कोई भी ज्ञान नहीं होता और न यह ही ज्ञान होता है कि संसार और शून्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है। मन के परे जाने से पहले किसी भी साधक को संसार का ज्ञान होता ही है। अतः दार्शनिक को यह बताना होगा कि संसार का उस ज्ञान से क्या सम्बन्ध है जो ज्ञान मन से परे जाने पर होता है। यह सत्य है कि मन से परे जाने पर उसे संसार दिखायी नहीं देता। किन्तु यह ज्ञान एक बीच का सोपान ही है और अन्तिम नहीं। शून्य और जगत् के बीच सम्बन्ध न बता पाना शून्यवाद की कमजोरी है।

अतः शून्य के आधार पर कोई दार्शनिक प्रस्थान खड़ा नहीं किया जा सकता अथवा यह कहा जा सकता है कि संसार का अनुभव और शून्य का अनुभव दोनों पृथक् पृथक् हैं। किन्तु यह कहने का कोई आधार नहीं बनता कि संसार का अनुभव भ्रम है और शून्य का अनुभव ही सत्य है। शून्यवाद बौद्ध दर्शन की एक शाखा है। जहाँ तक महात्मा बुद्ध का प्रश्न है वे स्वयं किसी भी तत्त्व की चर्चा से बचते रहे और उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर ही सारी व्याख्यायें दी क्योंकि उनका उद्देश्य व्यावहारिक था। वस्तुतः शून्यवाद इस दृष्टि से अपूर्ण है कि वह किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं देता और न ही इसमें कोई आकर्षण है। श्री अरविन्द का मत है कि बुद्ध ने जिस अनात्मवाद के आधार पर जीव की सत्ता का निराकरण किया उस जीव की सत्ता को अद्वैतवादी भी नहीं मानता। इस प्रकार बुद्ध और शङ्कर दोनों ही संसार की सत्ता का निराकरण करते हैं।

अध्यात्म का द्वितीय सोपानः आनन्द

अद्वैत वेदान्त बौद्धों के शून्यवाद से आगे जाकर आनन्दपूर्ण स्थिति का वर्णन करता है।[३१] अद्वैत वेदान्त में दो प्रकार की सम्भावनायें हैं। प्रथम सम्भावना यह है कि साधक शान्त, मौन और असीम का अनुभव करे। दूसरी सम्भावना यह है कि वह अनन्त शक्ति, प्रकाश और आनन्द का अनुभव करे। प्रथम स्थिति में

कूटस्थता रहती है। द्वितीय स्थिति में कूटस्थता के साथ गतिशीलता भी रहती है। इस द्वितीय स्थिति में उच्चतर मन, आलोकित मन और अधिमन की स्थिति से होते हुए साधक अतिमानस स्तर तक पहुँचता है। सारांश यह है कि एक स्थिति कूटस्थता की है और दूसरी स्थिति वह है जहाँ कूटस्थता के साथ गतिशीलता भी है—**तदेजति तन्नैजति।**[३२] इन दो के आधार पर दो दार्शनिक धारायें बनती हैं।

प्रथम धारा शाङ्कर वेदान्त

प्रथम धारा के अनुसार परब्रह्म निराकार, निर्गुण और निष्क्रिय है। संसार केवल माया है। यह निर्वाण की स्थिति है। इसमें एक ओर निष्क्रिय ब्रह्म है और दूसरी ओर समष्टिगत माया है जिन दो का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ब्रह्म स्वयं निर्गुण है इसलिए उससे नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता। वह निष्क्रिय है। इसलिए भी उससे जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म और जगत् के बीच का सम्बन्ध माया के द्वारा समझा जा सकता है। इस दृष्टि में विश्व हमारे मन का प्रक्षेपण मात्र है। दूसरे शब्दों में आभु से अभ्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म में सर्जन की शक्ति भी नहीं हो सकती। शून्यवाद और मायावाद में इतना अन्तर है कि मायावाद में जगत् का आधार ब्रह्म है, शून्यवाद में जगत् का कोई आधार नहीं है। जहाँ तक माया का सम्बन्ध है वह सदसदनिर्वचनीय है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते है कि जगत् पूर्णतः असत् है; गौडपाद के अनुसार तो संसार उत्पन्न ही नहीं हुआ। इस सिद्धान्त को अजातवाद कहा जाता है। इस प्रकार तीन सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं— शून्यवाद, मायावाद तथा अजातवाद। बुद्ध शून्यवादी है, शङ्कर मायावादी तथा गौडपाद अजातवादी। इन तीनों ही सिद्धान्तों के बारे में श्री अरविन्द का मानना है कि ये संसार और अन्तिम सत्य के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। इनके द्वारा अस्तित्व की समस्या का समाधान तो नहीं होता किन्तु संसार का अस्तित्व ही नकार दिया जाता है। इस मत में बन्ध और मोक्ष भी वास्तविक नहीं हैं, केवल प्रतीतिमात्र हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना भी कठिन है कि आध्यात्मिक अनुभव भी कहीं भ्रम तो नहीं है। इस प्रकार शून्यवाद, मायावाद और अजातवाद समस्या का समाधान न करके समस्या से पलायन ही कर जाते हैं। उपनिषद् एक ऐसी स्थिति की खोज

में है जहाँ एक के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है— **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।**[33] स्पष्ट है कि यहाँ सर्व की स्वीकृति है न कि निषेध। ऐसा अनुभव अतिमानस की स्थिति में ही हो सकता है।

अतिमानसवाद में संसार और ब्रह्म का सम्बन्ध

अतः कूटस्थ आत्मा का अनुभव समस्या का समाधान नहीं है। अतिमानसवाद से ही संसार और ब्रह्म का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। यह सत्य है कि मायावाद का अनुभव आध्यात्मिक आधार पर खड़ा है किन्तु वह स्वयं में एक मानसिक संरचना ही है। यह तो स्पष्ट है कि कूटस्थ ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए गौडपाद ने तो अजातवाद का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार संसार की उत्पत्ति हुई ही नहीं। ऐसा शून्यवाद दर्शन एक ओर है जो आत्मा की स्थिति को मानता ही नहीं और दूसरी ओर वह प्रत्ययवादी शाङ्कर वेदान्त है, जो संसार की स्थिति को नहीं मानता। वस्तुस्थिति यह है कि न आत्मा की सत्ता को नकारा जा सकता है क्योंकि उसका अनुभव समाधि की स्थिति में होता है और न संसार को नकारा जा सकता है क्योंकि उसका अनुभव भी दैनन्दिन व्यवहार में होता है। आँख बन्द करने पर यदि प्रकाश दिखना बन्द हो जाता है तो प्रकाश का निराकरण नहीं किया जा सकता। इसलिए संसार और आत्मा के बीच दोनों को ही सत्य मानते हुए दोनों का सम्बन्ध समझना होगा। श्री अरविन्द के अनुसार दर्शन का प्रयोजन आध्यात्मिक अनुभव के साथ-साथ पदार्थों के यथार्थ स्वरूपों को जानना भी है। अतः पदार्थ को नकार देने से दर्शन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

अतिमन की कार्यप्रणाली

इस पृष्ठभूमि में ही हमें श्री अरविन्द के अतिमानस के सिद्धान्त को समझना होगा। जिसके अनुसार आत्मा और संसार का सम्बन्ध समझा जा सकता है। आत्मा अन्तिम सत्य है किन्तु यह सब कुछ भी ब्रह्मरूप ही है। शङ्कराचार्य के अनुसार संसार ब्रह्म पर मानसिक रूप से अध्यारोपित किया जाता है। भौतिकतावादी इसे दूसरे रूप में कहते हैं—(i) वे जड़ भूत को मूल मानते हैं और

प्राण तथा मन को उससे ही उत्पन्न मानते हैं। (ii) प्राणवादी प्राण से एक ओर मन की उत्पत्ति मानते हैं दूसरी ओर भूत की उत्पत्ति। (iii) योगाचार मन को अन्तिम सत्य मानता है। इन सभी दर्शनों में ब्रह्म, प्राण अथवा मन को एक सत्य मानकर शेष अस्तित्व की उसी से उत्पत्ति मानी गयी है। किन्तु उस एक तत्त्व और शेष अस्तित्व के सम्बन्ध को अनुभव के आधार पर व्याख्यायित न करके कल्पना के आधार पर व्याख्यायित किया गया है। यही इस दृष्टि की अपूर्णता है। श्री अरविन्द का कहना है कि आत्मा और संसार के बीच का सम्बन्ध भी अनुभव के आधार पर स्थापित किया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में **जीवन का अर्थ केवल आत्मसाक्षात्कार नहीं रहेगा अपितु जीवन की दिव्यता भी उद्देश्य बनेगी।** अतिमानस के स्तर पर इस बात को समझा जा सकता है। क्योंकि वहाँ संसार और आत्मा के बीच का सम्बन्ध भी अनुभव किया जा सकता है। इस दृष्टि में संसार सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति है।

श्री अरविन्द के अनुसार कूटस्थ आत्मा और अतिमानस के बीच चार सोपान हैं—उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि और अधिमन। इन चारों में चेतना का क्रमशः परिष्कार होता है। उच्चतर मन सत्य को विचार के स्तर पर जानता है। वह तर्क से ऊपर उठ कर स्वतः सिद्ध चेतना की ओर बढने लगता है। आलोकित मन सत्य का दर्शन करता है। उच्चतर मन सत्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है जबकि आलोकित मन स्वयं सत्य को ही पकड़ लेता है। अन्तर्दृष्टि में साधक दिव्यता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और सत्य के अधिक निकट होता है। इस प्रकार वह क्रमशः वैश्विक चेतना के निकट आता है किन्तु वस्तुतः वैश्विक चेतना अधिमन की स्थिति में प्रकट होती है। अधिमन की स्थिति में व्यक्ति विराट् पुरुष बन जाता है जहाँ वह वैश्विक अस्तित्व, वैश्विक चेतना, वैश्विक आनन्द और वैश्विक शक्ति का ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार उच्चतर मन, आलोकित मन और अन्तर्दृष्टि अधिमन तक पहुँचने की सीढियाँ है। इनमें अधिमन के आधार पर ही कोई दार्शनिक प्रस्थान बन सकता है। क्योंकि अधिमन वस्तुओं के मूल सत्य को तो जान लेता है किन्तु उनके बीच समन्वय स्थापित नहीं कर सकता अर्थात् वह सत्य के भिन्न भिन्न पक्षों को पृथक् पृथक् ही जानता है। सत्य के सभी पक्षों को समन्वित रूप में जानने का

कार्य अतिमानस का है। अधिमन के स्तर पर भिन्न भिन्न पक्ष जाने जाते हैं। उदाहरणतः निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म को जानने पर दो भिन्न भिन्न दर्शन खड़े हो सकते हैं। किन्तु यह कहना कठिन होता है कि उन दोनों में सत्य कौनसा है। इस प्रकार अधिमन के स्तर पर अनेक दर्शन और धर्म खड़े हो सकते हैं जो परस्पर विपरीत या विरोधी भी हो सकते हैं। परिणामस्वरूप अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सकता। इस कारण व्यामोह बढ़ता रहता है।[34]

अतिमानस स्तर पर आत्मा और संसार के बीच का सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध वास्तविक है न कि मानसिक कल्पना। तर्क के द्वारा उस सत्य को अभिव्यक्त किया जा सकता है किन्तु सत्य का निर्माण तर्क के द्वारा नहीं हो सकता। अधिमन के द्वारा सत्य को अलग अलग देखा जाता है इसलिए वहाँ अनेक दर्शनों की सम्भावना रहती है। अधिमन, मन और अतिमन के बीच का सम्बन्ध सूत्र है। हम पहले कह चुके हैं अतिमानस में विद्या है, मन में अविद्या है, अधिमन में विद्या अविद्या दोनों हैं। अधिमन को उपनिषद् की भाषा में हिरण्यगर्भ या प्रजापति या विराट् या ब्रह्मा कहा जा सकता है।

अतिमानस स्तर पर आत्मा अन्तिम सत्य है किन्तु उसका संसार के साथ अन्तःसम्बन्ध है। अतिमानस स्तर पर अस्तित्व के सारे स्तर अखण्ड हो जाते हैं। यह जड को देख पाता है जहाँ से विकास प्रारम्भ होता है किन्तु साथ ही जड में छिपे हुए चैतन्य को भी देख पाता है जो जड में से क्रमशः विकसित होता है। इसलिए यह वस्तुतः अद्वैत दर्शन है। इस दर्शन में एक का अनेक रूप में अभिव्यक्त हो जाना सप्रयोजन है। यह अतिमानस ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का आधार है। इस दृष्टि से अतिमानस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक ईश्वर है। इसके आधार पर मनुष्य को दिव्यता प्राप्त हो सकती है। इसमें विश्व का निराकरण नहीं है अपितु उदात्तीकरण है। इसी प्रकार इसमें जीव का निराकरण नहीं है प्रत्युत जीव के भेद का निराकरण है जिसके द्वारा जीव अपना दिव्यता से सम्बन्ध जोड़ लेता है।

मदर की दृष्टि में अतिमानस

अतिमानस की अवधारणा श्री अरविन्द के दर्शन की मौलिकता है और इसलिए इस विषय पर मदर ने भी विशेष प्रकाश डाला है। अतिमानस के सम्बन्ध में मदर

के विचारों को सात आठ भागों में बाँट सकते हैं, सबसे पहले अतिमानस चेतना पर विचार करते समय मदर ने कहा है कि यदि आन्तरिक रूप से पूर्ण सन्तुलन होता है और शरीर की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देना पड़ता तो शरीर स्वतः पूर्ण रूप से ठीक काम करता है। वस्तुतः शरीर के रुग्ण होने का कारण चेतना की संकीर्णता है जो विभक्त कर देती है। यदि इस चेतना को सर्वत्र अविभक्त रूप से काम करने दिया जाये तो दिव्य कृपा से सब कुछ ठीक रहता है। किन्तु मनुष्य यदि अहंकार-केन्द्रित जीवन जिये तो सब कुछ गड़बड़ा जाता है। श्री अरविन्द ने इसे 'वृद्ध या पुराना मनुष्य' कहा है।

यह प्रश्न रहता है कि क्या पृथ्वी पर अतिमानस सृष्टि हो सकती है? उत्तर यह है कि विकास और रूपांतरण के द्वारा अतिमानस शक्तियाँ अभिव्यक्त की जा सकती हैं किन्तु उनका मूल मनुष्य में होगा। पूर्ण रूपांतरण हो जाने पर भी और शरीर के अवयवों की शक्ति के केन्द्रों में परिवर्तित हो जाने पर भी मानव स्पर्श बना रहेगा। यह रूपांतरण प्रकृति की सामान्य प्रक्रिया के बिना ही होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति में यह रूपांतरण किस प्रकार होगा?

शरीर और प्राण के बाद मन का विकास कैसे हुआ—यह हम नहीं जानते। इसी प्रकार अतिमानस की सृष्टि कैसे होगी—यह कहना कठिन है। किन्तु इतना निश्चित है कि अतिमानस मनुष्य में इतनी शक्ति होगी कि वह विजातीय तत्त्वों को न आने दे।

अत्यन्त पूर्ण व्यक्ति भी अपनी-अपनी विशेषता बनाये रखेंगे, किन्तु इस विशेषता का आधार उचित अनुचित के बीच का भेद नहीं होगा क्योंकि अपने स्थान पर सब ही उचित कार्य करेंगे। अभिप्राय यह है कि मनुष्य उचित और अनुचित के बीच उलझन में नहीं पड़ेगा अपितु स्वतः ही उचित को जान लेगा और उचित ही करेगा। इस पृष्ठभूमि में सब अपना-अपना भिन्न-भिन्न कार्य करेंगे न कि एक जैसा। वर्तमान में हम जिन चीजों को नहीं जान पा रहे अतिमानस स्थिति में उन्हें स्वतः ही जान लेंगे। अज्ञान के स्थान पर ज्ञान और निर्बलता के स्थान पर शक्ति होगी। अतिमानस मनुष्य इस स्थिति से बचा रहेगा कि वह कृतकृत्य हो गया है और अब से कुछ भी करना शेष नहीं है। उसकी प्रगति होती रहेगी किन्तु यह प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक होगी न कि अज्ञान की।

वर्तमान में थोड़ा सा भी विघ्न मन को विचलित कर देता है। अतिमानस स्थिति में यह नहीं होगा। परमसत्ता के साथ तादात्म्य होने के कारण पूर्ण समता का भाव बना रहेगा। यह समता प्रयत्नपूर्वक नहीं होगी अपितु सहज होगी। मनुष्य बाहरी परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं करेगा अपितु साक्षिभाव रखेगा किन्तु यह साक्षिभाव सबका एक जैसा नहीं होगा।

अतिमानसिकता का अवतरण केवल कल्पना नहीं है अपितु एक सत्य है। एक दिन सबको उसका आभास हो जायेगा। इसका घटित होना निश्चित है। इसके प्रभाव से मनुष्य पाशविकता से मुक्त हो जायेगा। आज हम इस स्थिति का अनुमान उसी प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार पशु मनुष्य की स्थिति का अनुमान नहीं कर सकता। पूर्ण समता का भाव तथा ज्ञान की निश्चितता अतिमानस स्थिति का प्रमाण बनती हैं। ये दोनों घटनायें हर परिस्थिति में स्वतः बनी रहेंगी। इनमें कोई अपवाद नहीं होगा। ये दोनों स्थितियाँ मन के स्तर पर नहीं होती हैं।

पृथ्वी पर अतिमानस को दूसरे पिण्डों के प्रभाव से बचाने के लिए अतिमानस की शक्ति काम करेगी। सन्तुलन, आलोक, आनन्द और सौन्दर्य का भाव आने से पहिले इस शक्ति का भाव प्रकट होगा जो ज्ञान, सत्य, प्रेम और लयबद्धता पर आधृत होगा। यह अहंकार के अभाव और समर्पण के भाव से पैदा होगा। यह ध्यान देने की बात है कि अतिमानस की शक्ति इतनी अधिक है कि असंतुलित व्यक्ति इसे सहन नहीं कर सकता। इसलिए साधक को अपने आपको तटस्थ भाव से खुला छोड़ देना चाहिये, अतिमानस शक्ति को बलपूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा प्रयत्न खतरनाक अहंकार का सूचक है। साधक अपने आप को पूर्णतः समर्पित कर दे किन्तु कुछ प्राप्त करने की इच्छा न करे। जब कुछ गड़बड़ी होती है तो शक्ति के कारण नहीं अपितु आकांक्षा, अहंकार, अज्ञान और पात्रता की कमजोरी के कारण होती है।

साम्यभाव के अभाव और अहंकार के कारण अतिमानस घटित नहीं हो सकता। साम्यभाव, बौद्धिक और मानसिक स्तर साध लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन शारीरिक स्तर पर। साधक को पहले तो अपने को बृहत् बना कर असीम

तक ले जाना है ताकि अतिमानस चेतना के स्तर पर आ सके। अतिमानस चेतना परम की चेतना है। यह चेतना केवल सगुण को ही नहीं निर्गुण को भी अपने में समाहित कर लेती है। इस प्रकार साधक को अपने आपको आभु और अभ्व दोनों के साथ तादात्म्य बनाना होता है।

विकास के क्रम में जब हम आगे बढ़ते है तो हर युग के प्रारम्भ होने पर एक नई सोपान का निर्माण होता है जिसके द्वारा हमारी चेतना एक नई स्थिति को प्राप्त करती है। जब हम भौतिक चेतना से मुक्त हो जाते हैं तो उस सोपान को भी छोड़ देते हैं। जब हम एक सोपान को भी छोड़ देते हैं और दूसरी सोपान पर जाते हैं तब पुरानी सोपान से भी सम्पर्क बनाये रखते है और दो सोपानों के बीच एक शून्य अन्तराल नहीं आता। अतिमानस स्पन्दन का अर्थ सघन अभीप्सा है। यह दिव्य स्पन्दन है। यह इतना सघन है कि स्थिति ही प्रतीत होती है। सृष्टि की यही प्रक्रिया है। प्रारम्भ में पूर्णता की स्थिति होती है किन्तु वह अचेतन है। वह अपूर्णता के बीच में से गुजर कर चेतनपूर्णता तक जाती है।

सम्पूर्ण सृष्टि को दिव्यता के अभिव्यक्त होने की इच्छा होनी चाहिये। तथाकथित गलतियाँ भी उस दिव्यता को प्राप्त करने का ही साधन बनती हैं। दिव्यता का अर्थ वह नहीं है जो हम समझते हैं कि ऐसा हो और ऐसा नहीं। अतिमानस का अर्थ है कि सृष्टि उच्चतर शक्ति के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाती है। हम इसे दिव्य कहते हैं किन्तु वस्तुतः यह पदार्थ की संवेदनशीलता है। हम सामान्यतः यह समझते हैं कि जो दिखाई नहीं देता या जिसका अनुभव नहीं होता है वह वस्तुतः है ही नहीं और ठोस चीजें वस्तुतः हैं। किन्तु अतिमानस शक्ति भौतिक न होने पर भी पार्थिव पदार्थों से अधिक शक्तिशाली होती है।

वस्तुतः अहंकार का विसर्जन एक अनिवार्य शर्त है। दिव्य चेतना को अहंकार का स्थान लेना चाहिये। इसे श्री अरविन्द ने अतिमानस कहा है। इसे दिव्य कहने से यह भ्रम होता है कि यह ईश्वर है। किन्तु वस्तुतः यह अतिमानस सृष्टि का अवतरण है जो काल्पनिक नहीं है अपितु पूर्णतः भौतिक शक्ति है किन्तु इसके लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता नहीं है।

दर्शन का प्रयोजन

ध्यातव्य है कि श्री अरविन्द के अनुसार दर्शन का प्रयोजन अस्तित्व के यथार्थ स्वरूप को जानना है ताकि मनुष्य अपने अस्तित्व के नियम और लक्ष्य को जानकर पूर्णता के सिद्धान्तों को समझ सके। अतिमानस अनुभव में आत्मा परम सत्य के रूप में प्रकट होती है। इस स्थिति में परम सत्य से संसार का सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है। उपनिषदों के शब्दों में इसे **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** कह सकते हैं। इस प्रतीति के तीन पक्ष हैं—१. सब को आत्म रूप में देखना, २. सबको आत्मा में देखना, ३. आत्मा को सब में देखना।[35] इन तीन में प्रथम में आत्मा को ही सर्वव्यापक कहा गया है, दूसरे में पूरे अस्तित्व का आत्मा में दर्शन करने की बात है और तीसरी स्थिति आत्मा को पूरे अस्तित्व में देखने की बात है। श्री अरविन्द के अनुसार इसके तीन पक्ष हैं— भेद में एकता, अनेक में एक तथा भेद में अभेद अथवा व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि।

परिणाम और विवर्त

अतिमानस दृष्टि से सच्चिदानन्द कूटस्थ और निर्गुण नहीं हैं अपितु उसमें अनन्त गुण और अनन्त शक्ति है। संसार सच्चिदानन्द की आत्माभिव्यक्ति है। सच्चिदानन्द में अनन्त सत्य की सम्भावनायें हैं। संसार उन सम्भावनाओं में से एक है। अतिमानस दृष्टिकोण के दो पक्ष हैं—(1) सच्चिदानन्द का दृष्टिकोण और (2) संसार का दृष्टिकोण। अतिमानस दृष्टि में संसार और सच्चिदानन्द के बीच अन्तर्याम सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इसलिए इन दोनों ही पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। (1) सच्चिदानन्द के अतिमानस दृष्टिकोण से संसार केवल एक विचार है जिसकी व्यक्तिनिष्ठ सत्ता है, वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं। इसलिए वह सच्चिदानन्द की दृष्टि से विवर्त है (2) किन्तु संसार के अतिमानस दृष्टिकोण से संसार सच्चिदानन्द का अभिव्यक्त रूप है और इसलिए वह सच्चिदानन्द का परिणाम है। अभिप्राय यह है कि संसार की स्थिति दो प्रकार से है; वह विवर्त भी है और परिणाम भी। यदि इसे विवर्त मानें तो प्रत्ययवाद फलित होता है और परिणाम मानें तो वस्तुवाद परिणत होता है। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु परिपूरक हैं। इन दोनों ही दृष्टिकोणों के मानने पर संसार के सत्य का संश्लिष्ट ज्ञान हो सकता है किन्तु बौद्धिक स्तर पर यह सम्भव नहीं है।

गौडपाद के अजातवाद की अपूर्णता

सच्चिदानन्द के दृष्टिकोण से सच्चिदानन्द की ओर से विश्व का कभी उद्‌भव हुआ ही नहीं किन्तु अतिमानस स्थिति में सच्चिदानन्द के दृष्टिकोण से संसार का अस्तित्व है। अतिमानस से ऊपर सत्, चित्, तप और आनन्द हैं। ये चारों अतिमानस और सच्चिदानन्द के बीच की स्थितियाँ हैं। अतिमानस की स्थिति 'भेद में तादात्म्य' मानती है किन्तु सत्, चित्, तप और आनन्द की स्थिति 'एक में तादात्म्य' की स्थिति है। सच्चिदानन्द की स्थिति में अविभाज्य एकता का ज्ञान होता है, अतिमानस की स्थिति में 'भेद में तादात्म्य' अथवा 'अनेक में एक' का ज्ञान होता है। सच्चिदानन्द में भेद लुप्त हो जाता है और केवल सच्चिदानन्द ही रह जाता है। दूसरे शब्दों में सच्चिदानन्द को ही सच्चिदानन्द का बोध होता है। यह स्थिति ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से परे की है किन्तु अतिमानस ज्ञान में संसार की चेतना भी बनी रहती है जबकि सच्चिदानन्द की स्थिति में संसार का आभास नहीं रहता, इसलिए इस दृष्टिकोण से गौडपाद का अजातवाद ही सिद्ध होता है जिसमें न प्रलय है, न जन्म, न बन्ध, न साधक, न मोक्ष[36]। वस्तुतः तो इस स्थिति में संसार का ज्ञान ही नहीं होता इसलिए यह कहना भी सम्भव नहीं है कि संसार का जन्म नहीं हुआ। इस स्थिति में संसार के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, केवल मौन रहा जा सकता है। यह कहना कि संसार का उद्‌भव नहीं हुआ केवल इसलिए है कि दूसरे दार्शनिकों का खण्डन किया जा सके जो संसार का उद्‌भव मानते हैं। श्री अरविन्द का मानना है कि इस स्थिति में दर्शन का कार्य अधूरा रह जायेगा क्योंकि संसार के सम्बन्ध में कोई वक्तव्य दिया ही नहीं जा सकेगा। इसलिए श्री अरविन्द अजातवाद के दर्शन को अपूर्ण मानते हैं क्योंकि उनके लिए दर्शन का प्रयोजन अस्तित्व के सत्य को जानना है। इसलिए अतिमानस अनुभव ही वास्तविक दृष्टि दे सकता है। अतिमानस की स्थिति में ही संसार की प्रतीति हो सकती है।

निष्कर्ष यह है कि अतिमानस दृष्टि से सब कुछ ब्रह्म है इसी आधार पर सच्चा दर्शन खड़ा हो सकता है। अतिमानस दृष्टि के दो पक्ष हैं— सच्चिदानन्द की दृष्टि से संसार विवर्त है किन्तु संसार की दृष्टि से संसार परिणाम है।

शाङ्कर वेदान्त की अपूर्णता

शङ्कराचार्य अन्तर्दृष्टि के आधार पर ब्रह्म को कूटस्थ मानते हैं। इनके अनुसार सत्य की खोज ही एक मात्र लक्ष्य है किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य की परिपूर्णता भी दर्शन का लक्ष्य है। यह शङ्कराचार्य और श्री अरविन्द के बीच मुख्य भेद है। शङ्कराचार्य अथवा गौडपाद के लिए मनुष्य का दैवीकरण दर्शन का लक्ष्य है ही नहीं। इसलिए वे संसार को मिथ्या घोषित कर देते हैं। सच्चिदानन्द के साक्षात्कार के बाद मानव दिव्य हो सकता है। किन्तु लक्ष्य सच्चिदानन्द का साक्षात्कार ही है, मनुष्य का दैवीकरण नहीं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के द्वारा यजमान में दिव्यता का आधान ही मुख्य माना गया है। इस तरह देखें तो श्री अरविन्द ने शङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिपादित सच्चिदानन्द का साक्षात्कार और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित, मनुष्य में दिव्यता का आधान दोनों को ही जीवन का लक्ष्य माना है। **इस प्रकार वे पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का समन्वय कर रहे हैं।** इतना अवश्य है कि पूर्व मीमांसा मरणोपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति को मुख्य लक्ष्य बनाती है जबकि श्री अरविन्द के अनुसार मुख्य लक्ष्य पृथिवी पर ही दिव्यता का अवतरण करना है। वस्तुतः श्री अरविन्द ने सच्चिदानन्द के साक्षात्कार को पृथिवी पर दिव्यता के अवतरण का साधन माना है; मुख्य साध्य तो पृथिवी पर दिव्यता का अवतरण ही है। इसलिए वे **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** को महत्त्व देते हैं **एकमेवाद्वितीयम्** को नहीं। एकमेवाद्वितीयम् का पक्ष ब्रह्म को कूटस्थ मानने का आधार बनता है। विद्वानों का मत है कि श्री अरविन्द की दृष्टि हीगल से मेल खाती है जिसके अनुसार 'पूर्ण' पूर्ण होते हुए भी अनेक सम्भावनाओं से युक्त है और जिन सम्भावनाओं में से एक सम्भावना विश्व को अभिव्यक्त करने की है।

विधि और निषेध, परस्पर परिपूरक

ब्रह्माण्ड का आधार परब्रह्म है जिसे कभी सत् और कभी सत् और असत् से परे तथा कभी अप्रमेय कह दिया जाता है। यह पूर्ण और अनन्त होने के कारण अचिन्त्य है। यद्यपि इसे वस्तु की तरह नहीं जाना जा सकता तथापि यह स्वयं-प्रकाश है। हम पूर्ण को मन के धरातल पर कभी विश्वव्यापी या विश्वोत्तीर्ण,

कभी वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक, कभी सत् या असत्, कभी सगुण या निर्गुण, कभी चेतन या अचेतन, कभी आनन्दपूर्ण या आनन्दरहित, कभी पुरुष या प्रकृति के रूप में देखते हैं। किन्तु इनमें से कोई भी पूर्ण को पूरी तरह लक्षित नहीं कर सकता। उसे मौन के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए शास्त्रों ने इसे कभी 'नेति नेति' के रूप में और कभी 'इति इति' के रूप में अभिव्यक्त किया है। श्री अरविन्द के अनुसार निर्गुण और सगुण, परिमित और अपरिमित, सोपाधिक और निरुपाधिक परस्पर विरोधी नहीं प्रत्युत परिपूरक हैं। शून्य का अर्थ रिक्तता नहीं है किन्तु शक्तिमत्तता है। इसी प्रकार निर्गुण का अर्थ भी खालीपन नहीं है अपितु 'सब' कुछ है। असत् भी अवास्तविक नहीं है। **वस्तुतः निषेध से विधि की अपूर्णता प्रकट होती है। ये दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। अतिमानस ज्ञान में ये एक दूसरे की व्याख्या बन जाते हैं।** आपाततः प्रतीत होने वाला विरोध गहराई में जाने पर विलीन हो जाता है। उदाहरणतः आभु और अभ्व दोनों ही पूर्ण को जानने के लिए आवश्यक है। **जब हम निषेध करते हैं तो मानो विधि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित सत्य की सीमा की ओर संकेत करते हैं।**

जब हम पूर्ण को अप्रमेय बताते हैं तो उसका एक अर्थ तो यह होता है कि वह इन्द्रियों से अथवा बुद्धि से नहीं जाना जा सकताय उसे अन्तर्दृष्टि से ही जाना जा सकता है। दूसरी ओर अन्तर्दृष्टि से भी उसकी गतिमत्ता की गहराई को नहीं नापा जा सकता। कारण यह है कि यद्यपि जो कुछ भी है वह परब्रह्म ही है किन्तु जो उपकरण हमारे पास हैं परब्रह्म उनसे पूर्व में उपस्थित है इसलिए वह उनके द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसलिए हम अनन्त को जान नहीं सकते किन्तु स्वयं अनन्त हो सकते हैं। इसलिए उपनिषद् कहता है—**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**[37] इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म को ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत में रहते हुए नहीं जाना जा सकता।

आभु और अभ्व

ब्रह्म अपने आप को आभु और अभ्व के रूप में अभिव्यक्त करता है। आभु उसका कूटस्थ पक्ष है, अभ्व उसके विश्व के रूप में अभिव्यक्ति है जिसे शिव का नृत्य कहा जा सकता है। आभु में विविधता समाहित है यह एक है, यह वैयक्तिक

है और निर्वैयक्तिक भी— शुद्ध सत् के रूप में यह निर्वैयक्तिक है, किन्तु सभी जीव उसका रूप हैं इसलिए वह वैयक्तिक है। सच्चिदानन्द उसका स्वरूप है। सच्चिदानन्द परात्पर का प्रथम अभिव्यक्त रूप है। इसे वैदिक परम्परा में पुरुष कह सकते हैं— **पुरुष एवेदं सर्वम्।**[38] यह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वव्यापक भी है— **त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।** यह 'सहस्रशीर्षा' 'सहस्रपाद्' है। यह विश्व का मूल है, आधार है और सब में ओतप्रोत है। परात्पर श्री अरविन्द के शब्दों में परब्रह्म है और सच्चिदानन्द ब्रह्म है। परब्रह्म विश्वोत्तीर्ण है, और शब्दातीत है। किन्तु ब्रह्म विश्वोत्तीर्ण भी है और सर्वव्यापक भी है।

सत्, चित् और आनन्द

सच्चिदानन्द के तीन पक्ष, सत्, चित् और आनन्द, परस्पर अविच्छिन्न हैं अर्थात् उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता अर्थात् सत् चित् है और चित् आनन्द है। यही तीनों निम्न स्तर पर आकर क्रमशः भूत, प्राण और मन बन जाते हैं। जहाँ ये एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं किन्तु इनकी यह पृथक्ता आभास मात्र है, क्योंकि वह मन को दिखायी देती है किन्तु सच्चिदानन्द को नहीं। भूत सत् है जो चित् और आनन्द से विच्छिन्न होकर रहता है। प्राण और मन चित् हैं जो आनन्द से पृथक् हैं। इनकी इस पृथक्ता के कारण ही अज्ञान और दुःख है।

सच्चिदानन्द का सत् अनन्त, देशकालानवच्छिन्न, अप्रमेय तथा पूर्ण है। इसका न आदि है न अन्त। जब हम इस सत् पर विचार करते हैं तो देश और काल नहीं रहता। देश और काल अस्तित्व को समझने का हमारा तरीका है। वस्तुतः सत् अनन्त है इसलिए वह सबके जोड़ से भी अधिक है। इसी से सब आकार, गुण और परिमाण निकलते हैं किन्तु स्वयं यह उनका जोड़ मात्र नहीं है। शुद्ध सत् और संसार का सम्बन्ध 'भेद के बीच तादात्म्य' का सम्बन्ध है।

सच्चिदानन्द

सच्चिदानन्द निर्गुण और निर्विषय नहीं है। यह नाम रूप से रहित भी नहीं है। संसार इसी की अभिव्यक्ति है अथवा सच्चिदानन्द ही संसार के रूप में व्यक्त हुआ है। इसलिए संसार उतना ही सत्य है जितना सत्य सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द

में जो चित्-शक्ति है वही विश्व का सर्जन करती है। यह चेतना अपने आप को पिण्ड और ब्रह्माण्ड के रूप में क्रमिक तथा व्यवस्थित रूप देती है। यही अतिमन, मन, प्राण और भूत बन जाती है। चित् के दो रूप है— चित् और चित्-शक्ति। चित् आत्मावबोध रूप है और चित् शक्ति उसकी आत्मशक्ति है। चित् आलोकित है, चित्-शक्ति क्रियाशील है। चित्-शक्ति के द्वारा अभ्व अर्थात् नाम रूप का जन्म होता है। दूसरे शब्दों में चित् ज्ञानशक्ति है और उसकी शक्ति क्रियाशक्ति है। अनन्त इच्छाशक्ति है। सच्चिदानन्द का चित् और चित्-शक्ति रूप ही माया है, वैश्विक चेतना ही सच्चिदानन्द की सर्जन शक्ति है।

माया और परिमितीकरण

श्री अरविन्द के अनुसार सर्जन के लिए तीन आवश्यकतायें हैं—अनन्त विविधता, सचेत परिमितीकरण और आत्मगोपन। शक्ति के रूप में माया असीम है। हमारी तर्कबुद्धि सीमित है किन्तु सच्चिदानन्द के अनन्त की अपेक्षा यह सम्भव है कि माया किसी एक नियम से बँधी न होने पर भी और एक होने पर भी अनेकों के रूप में अभिव्यक्त हो सके। यह विश्वोत्तीर्ण होने पर भी वैश्विक है।

किन्तु माया के लिए भी सर्जन करने के लिए परिमितीकरण आवश्यक है ताकि विश्व व्यवस्थित रह सके और जितना आवश्यक है उतना ही अभिव्यक्त हो, शेष अवरुद्ध रहे।[39] यह परिमितीकरण व्यष्टि को जन्म देता है, इसके बिना व्यष्टि का जन्म नहीं हो सकता। यह सृष्टि अतिमानस होगी, ज्ञानपूर्ण होगी जिसमें अज्ञान का स्थान नहीं होगा। परिमितीकरण का परिणाम अज्ञान नहीं है। **असीम के पास सीमित हो जाने की भी शक्ति है। यही 'अनन्त का तर्क' है जिसे हमारा सीमित तर्क नहीं समझ सकता।** परिमित होने की शक्ति के द्वारा अतिमानस सृष्टि होती है। यह सृष्टि आत्मगोपन कर सकती है। यह आत्मगोपन अतिचेतन रूप में भी हो सकता है और अचेतन रूप में भी। अचेतन रूप में वह दिखायी नहीं देता यद्यपि उपस्थित रहता है।

आवश्यक नहीं है कि आत्मगोपन पूर्णरूप से ही हो। यह विशेष या व्यष्टि के स्तर पर भी हो सकता है। तब इसे अपने अस्तित्व का दूसरों से पृथक् रूप में

अनुभव होता है। दूसरे शब्दों में उस समय निर्गुण पृष्ठभूमि में रहता है और दूसरा रूप गुणों से आवृत्त रहता है। इस प्रकार माया परिमितीकरण, विविधता और आत्मगोपन के द्वारा सृष्टि का निर्माण करती है। किन्तु माया के साथ चेतना मानसिक, प्राणिक और भौतिक रूप में भी सदा बनी रहती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के पाँच तत्त्व पदार्थों का निर्माण करते हैं किन्तु ये पाँच तत्त्व मूल शक्ति का ही विकार हैं। दूसरी ओर हमारी पाँच इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ग्रहण करती हैं। यह प्रक्रिया एक स्पन्दन के द्वारा दूसरे स्पन्दन को ग्रहण करने की प्रक्रिया है जैसा कि गीता में कहा है—**गुणा गुणेषु वर्तन्ते।**[40] यही संसार का रूप है।

चेतना के विविध रूप

चेतना अथवा संज्ञा सभी स्तरों पर विद्यमान है। पाषाण आदि में यह प्रकट नहीं है अतः इसे असंज्ञ कहा जाता है। वनस्पति अन्तः संज्ञ है क्योंकि वहाँ ज्ञान अन्दर तो रहता है किन्तु बाहर प्रकट नहीं हो पाता और प्राणियों में यह प्रकट हो जाता है इसलिए इसे बहिःसंज्ञ कहा जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार जागृत अवस्था में ही चेतना को मानना सर्वथा गलत है; मन के ऊपर अतिचेतन और मन के नीचे अचेतन अवस्था में भी चेतना सर्वत्र रहती है। इसीलिए चेतना को जागृत अवस्था में ही मानना ठीक नहीं है। मन के नीचे यह प्राण और पदार्थ में अचेतन रूप में रहती है और मन से ऊपर यह अतिचेतन रूप में रहती है।[41] इसलिए माया जड़ नहीं है अपितु चेतन शक्ति है अथवा सच्चिदानन्द की शक्ति है जो ऋत-चित् के अनुसार संसार का सर्जन करती है। ऋत-चित् का अर्थ है—सत्य की चेतना।

यद्यपि माया का अंश सब में बराबर नहीं है तथापि अपने आप में माया समान रूप में रहती है।[42] समष्टि और व्यष्टि में अन्तर मन करता है किन्तु यह अन्तर एक भ्रम है। जैसा गीता ने कहा है ब्रह्म समान है—**समं ब्रह्म।**[43] क्योंकि ब्रह्म के खण्ड नहीं हो सकते अतः एक में सब समाये हैं। गुण और परिमाण में भेद हो सकता है लेकिन ब्रह्म सब में समान रूप से है, क्योंकि ब्रह्म अखण्ड है। वह

सब में समान रूप से व्याप्त है। श्री अरविन्द का कहना है कि शक्तिशाली को बलवान् बनाना और निर्बल को अशक्त बनाना दोनों समान हैं; ऐसा नहीं है कि शक्तिशाली को बलवान् बनाना माया के लिए अधिक महत्त्व का है और निर्बल को अशक्त बनाना माया के लिए कम महत्त्व का है। चित् शक्ति सर्वत्र एक जैसी ही है।[44] किन्तु यह अपने आप को भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवस्थित करती है।

सभी सप्रयोजन हैं, निरर्थक कुछ भी नहीं

इसका एक पक्ष यह भी है कि सजीव या निर्जीव कुछ भी निष्प्रयोजन नहीं है और न व्यर्थ है। किन्तु मन अपने हिसाब से कुछ चीजों को इसलिए व्यर्थ मान लेता है कि उनसे उसके किसी स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती है।[45] इसलिए उसकी दृष्टि में हमारी बहुत सारी क्रियायें भी व्यर्थ है। किन्तु वैश्विक दृष्टि से सभी चीजों का प्रयोजन है और सभी आवश्यक हैं। सबको उपयोगितावाद की तराजू पर तोलना ठीक नहीं है।

अस्तित्व और चित् शक्ति

अस्तित्व में चित्-शक्ति अन्तर्निहित है। वस्तुतः ये दोनों पृथक् नहीं हैं। शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता। शक्ति कभी सक्रिय हो सकती है, कभी निष्क्रिय। किन्तु अपनी निष्क्रिय अवस्था में भी उसका अस्तित्व बना रहता है। चेतना में अपने को अभिव्यक्त करने या अव्यक्त रहने का सामर्थ्य है। इसलिए यह कभी व्यक्त होती है और कभी अव्यक्त। प्रलय और सृष्टि का क्रम चलता रहता है। यह समाप्त हो जाती है और फिर प्रारम्भ हो जाती है। यह सच्चिदानन्द से ही उद्भूत होती है और सच्चिदानन्द में ही लीन हो जाती है।

श्री अरविन्द के अनुसार चित्-शक्ति मातृशक्ति है। वही सर्जन करती है और वही संसार का संचालन करती है। उसकी चार शक्तियाँ हैं—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। प्रकृति की गति को समझना असम्भव है। हम केवल उसकी तीन स्थितियों के सम्बन्ध में सचेत हो सकते हैं—विश्वोत्तीर्ण, वैश्विक और व्यष्टिगत। महाशक्ति के रूप में माया पदार्थों को जन्म देती है और

उन्हें सहारा देती है और वही माया व्यष्टि के रूप में जीव और प्रकृति के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है।

माया विश्वोत्तीर्ण रूप में सर्वशक्तियुक्त है। उसे उन सब स्वरूपों का ज्ञान है जो उसमें छिपे हैं। अनन्त के रहस्यों को वह पुरुष और प्रकृति के द्वैत में प्रकट कर देती है। प्रकृति उसका बाह्य रूप है। यह सृष्टि उसकी लीला है। महाशक्ति के सर्जन की प्रक्रिया के कुछ सोपान हैं जो सत्यलोक, चैतन्यलोक, तपोलोक और आनन्दलोक के रूप में प्रकट होते हैं। इसके बाद ऋत-चित् का अतिमानस सर्जन आता है। इसके अनन्तर मन, प्राण और भूत का संसार है जिसमें अज्ञान है क्योंकि वे अपने स्रोत चेतना से पृथक् हो गये हैं। महाशक्ति सत् या लक्ष्य की ओर प्रेरित करती है। वह मन, प्राण और पदार्थ तथा अतिमानस के बीच अधिमन के रूप में रहती है। यह संसार उसके नाटक के लिए एक रंगमंच के समान है।

आनन्दः सृष्टि के निर्माण का प्रयोजन

सत् और चित् के बाद आनन्द का क्रम आता है। सत् अनन्त है, देशकालानवच्छिन्न है और सारी सृष्टि का स्रोत है। चित् सर्जक है जो ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के द्वारा अनन्त सम्भावनाओं में से कुछ सम्भावनाओं का चयन कर लेता है और क्रियाशक्ति द्वारा उस सम्भावना के अनुसार अपने को अभिव्यक्त कर लेता है। अब विचारणीय बिन्दु यह है कि संसार की सृष्टि क्यों हुई। जहाँ तक सच्चिदानन्द का सम्बन्ध है वह पूर्ण है और अनन्त है। इसलिए उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। उसकी शक्ति भी उसे सृष्टि बनाने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। उसे अभिव्यक्त होने या अभिव्यक्त न होने की स्वतन्त्रता है। अतः सृष्टि के निर्माण का एक ही प्रयोजन हो सकता है—आनन्द। यह लीला है। लीला में बाध्यता नहीं होती, स्वतन्त्रता होती है। इसलिए तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—**आनन्दात् ह्येमानि भूतानि जायन्ते।** श्री अरविन्द ने इस आनन्द के अनेक रूप माने हैं—बालक का आनन्द, कवि का आनन्द, अभिनेता का आनन्द, जो सभी सदा युवा रहते हैं और कभी समाप्त नहीं होते। इनमें वही क्रीडा है, वही खिलाड़ी है और वही खेल का मैदान है।[46] ऐसा आनन्द सच्चिदानन्द का है।

जैसे सत् अनन्त है वैसे आनन्द भी अनन्त है। वस्तुतः सत् और आनन्द दोनों एक ही हैं इसलिए सच्चिदानन्द में न दुःख है न पाप है। सीमित में ही दुःख है क्योंकि उसकी चेतना और शक्ति अनन्त नहीं है। सच्चिदानन्द का आनन्द स्थिति और गति दोनों में अनन्त है। श्री अरविन्द का कहना है कि सत् का एक आनन्द है और आनन्द के कारण ही सत् का अस्तित्व है।[47] यह आनन्द सच्चिदानन्द का आत्मगोपन और आत्मप्राप्ति का आनन्द है। सच्चिदानन्द अपने को पदार्थ में छुपा लेता है और फिर प्राण, मन और अतिमानस के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। यह विकास का क्रम है।

सच्चिदानन्द अपने मूल रूप में भी है और संसार के रूप में भी है। यह प्राण, मन, उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि, अधिमन और अतिमन जैसे सभी रूपों में रहता है। क्योंकि अतिमन में ही सर्जन की शक्ति है इसलिए वही विकास को भी क्रियान्वित करता है। अतिमन अपने मूल रूप में शुद्ध रहता है किन्तु जब वह विकास के क्रम में आता है तब वह मन, प्राण और भूत को भी अपने साथ लिये रहता है। इस कारण मन, प्राण और भूत का भी अतिमानसिकीकरण हो जाता है। अर्थात् यह अतिमन मानव स्वभाव से जुड़ा रहता है।

माया के तीन पक्ष

आनन्द सच्चिदानन्द की इच्छाशक्ति है जिसके कारण नाम और रूप का जन्म होता है। इस प्रकार इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति माया के तीन पक्ष हैं। श्री अरविन्द ने इस सम्बन्ध में बाईबल के इस कथन का विश्लेषण किया है कि ईश्वर ने कहा कि 'प्रकाश हो जाये और प्रकाश हो गया।' श्री अरविन्द का कहना है कि ईश्वर ने कहा 'प्रकाश हो जाये', यह उसकी ज्ञान शक्ति है जिसके द्वारा वह अनन्त सम्भावनाओं में से प्रकाश का चयन करता है। 'प्रकाश हो गया' से उसकी क्रियाशक्ति प्रकट होती है। 'प्रकाश हो जाये' के द्वारा ईश्वर की इच्छाशक्ति भी अभिव्यक्त होती है।[48] प्रकाश अनन्त सम्भावनाओं में से एक सम्भावना है। इस प्रकार सर्जन में इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति तीनों काम कर रही हैं।

यह तीनों शक्तियाँ माया की हैं। **माया का बाह्य रूप प्रकृति है जो पुरुष के विपरीत है। यदि हम माया के आन्तरिक रूप पर ध्यान दें तो वह पुरुष के साथ जुड़ी हुई है, यह माया है।** चेतना की शक्ति के रूप में वह ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति है। इच्छाशक्ति के द्वारा सच्चिदानन्द आत्माभिव्यक्ति की इच्छा करता है, ज्ञानशक्ति के द्वारा वह अनन्त सत्य की सम्भावनाओं में से आत्माभिव्यक्ति के लिए किसी एक सम्भावना को चुनता है और क्रिया शक्ति के द्वारा वह उस सम्भावना को अभिव्यक्त कर देता है। वस्तुतः ये तीनों कार्य हमारे मन को तीन दिखायी देते हैं क्योंकि मन समग्र को खण्ड खण्ड करके देखता है किन्तु सच्चिदानन्द के लिए ये तीनों एक ही है। हमारा मन आभु और अभ्व में, चेतना में और शक्ति में तथा मनोरथ में और आनन्द में भेद करता है किन्तु सच्चिदानन्द के लिए सत् चित् है और चित् आनन्द है।

यदि उपनिषद् पर ध्यान दें तो वहाँ कहा गया है—**एकोऽहं बहु स्याम्।** यह इच्छाशक्ति है। उसने अपने में अनेकों को देखा, यह ज्ञानशक्ति है और वह अनेक हो गया, यह क्रियाशक्ति है। इस प्रकार उपनिषद् में भी सृष्टि की वही प्रक्रिया अपनायी गयी है जो प्रक्रिया श्री अरविन्द ने बतायी है।

पाप और दुःख की समस्या

प्रश्न यह है कि सच्चिदानन्द यदि आनन्द रूप है तो उससे उत्पन्न होने वाले संसार में कष्ट, दुःख और पाप क्यों हैं। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि प्रथम तो संसार में दुःख की अपेक्षा सुख बहुत अधिक है। दुःख की अवस्था उस सुख को अस्थायी रूप में आवृत कर लेती है और दुःख हमें इसलिए अधिक सघन प्रतीत होता है क्योंकि वह हमारी सामान्य स्थिति नहीं है।[49] किन्तु फिर भी हमें यह तो देखना ही है कि सच्चिदानन्द से थोड़ा सा भी दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि दुःख हमारे पापों का नाश करने के लिए आता है। क्योंकि तब यह समस्या होगी कि ऐसा मानने पर ईश्वर करुणालु नहीं रहता; वह पापों को क्षमा नहीं करता अपितु दण्डित करता है। यह कहना कि दुःख पाप का दण्ड है इस प्रश्न को जन्म देता है कि पाप है

ही क्यों?[50] इसलिए बुद्ध ने तो ईश्वर के अस्तित्व से ही इन्कार कर दिया। श्री अरविन्द का कहना है कि वस्तु स्थिति यह है कि ईश्वर सृष्टि के बाहर नहीं है अपितु सारा संसार ही ईश्वर है। ऐसा मानने पर भी यह कहना होगा कि ईश्वर या तो सर्वशक्तिमान् नहीं है या दयालु नहीं है कि वह सब प्राणियों के अन्दर रह कर पाप या दुःख को जन्म दे रहा है। अनीश्वरवादी यही उभयतो पाश उपस्थित करते हैं।

नैतिकता की सीमा

श्री अरविन्द का कहना है यह प्रश्न नैतिकता से जुड़ा है। नैतिकता का प्रश्न द्वैत पर खड़ा है, जहाँ हम विभक्त दृष्टि अपनाते हैं। किन्तु अस्तित्व अविभक्त है और जब हम अस्तित्व पर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि अस्तित्व में नैतिकता नहीं है।[51] अस्तित्व कुछ नियमों से अपना काम करता है जो अपने में छुपे हुए मनोरथ के द्वारा उत्पन्न करता है, पालन करता है और नष्ट कर देता है। इन नियमों में नैतिकता काम नहीं करती। व्यवहार में भी देखते हैं कि शेर यदि शिकार करता है अथवा तूफान यदि विनाश कर देता है या आग जला देती है तो हम इन्हें दोषी करार नहीं देते और न ही तूफान, आग या शेर में कोई प्रायश्चित का भाव उत्पन्न होता है। सामान्य प्राणियों में भी दुःख की प्रतीति है किन्तु प्रायः पाप की प्रतीति नहीं। जीवन की रक्षा के लिए किये गये सभी कर्म, न पाप हैं न पुण्य। उनमें पाप या पुण्य का आरोपण मन करता है। जो मनुष्य के विकास में सहायक हो, उसे हम पुण्य कहते हैं और जो बाधक हो, उसे हम पाप कहते हैं। मन के स्तर के अतिरिक्त पाप, पुण्य कहीं नहीं है। इसलिए सच्चिदानन्द के लिए न पाप है, न दुःख क्योंकि वहाँ मन के स्तर पर कार्य नहीं हो रहा है।

अभिप्राय यह है कि अस्तित्व में कहीं नैतिकता नहीं है किन्तु मनुष्य अपनी दृष्टि से सब में नैतिकता पढ़ने का प्रयत्न करता है और इसलिए उसका ज्ञान यथार्थ और पूर्ण नहीं हो पाता। नैतिकता विकास के क्रम में एक सोपान है। जड में नैतिकता बिल्कुल काम नहीं कर रही, पशु में जीवन का संचालन नैतिकता से भी निम्न स्तर द्वारा हो रहा है। मनुष्य इस अर्थ में अनैतिक है कि वह अपने लिए तो

दुःख नहीं चाहता किन्तु दूसरों को दुःख देता है। श्री अरविन्द का कहना यह है कि जिस प्रकार एक स्तर नैतिकता से नीचे है उसी प्रकार एक स्तर नैतिकता के ऊपर भी हो सकता है।[52] सच्चिदानन्द का निम्न स्तरीय सामञ्जस्य से उच्च स्तरीय सामञ्जस्य की ओर जाने का प्रयत्न नैतिकता के द्वारा होता है। किन्तु उस उच्च स्तरीय सामञ्जस्य पर पहुँच जाने के बाद नैतिकता की न कोई आवश्यकता रहती है और न सम्भावना क्योंकि उस स्थिति में विरोधी गुणों का विलय हो जाता है।

इस प्रकार मानसिक स्तर पर ही पाप, पुण्य का प्रश्न होता है। मन विभक्त कर देता है और इसलिए वह अपने को दूसरों से भिन्न समझता है और अस्तित्व की एकता को नहीं जान पाता। इसलिए उसका चिन्तन अहम्-केन्द्रित रहता है। वह संसार में होने वाली घटनाओं को यथार्थ रूप में न देखकर इस रूप में देखता है कि उन घटनाओं का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उसका सारा चिन्तन स्वार्थ-केन्द्रित होता है और वह इसी आधार पर घटनाओं पर निर्णय लेता है और सत्य को तोड़-मरोड़ कर देखता है। इसलिए उसे सत्य का ज्ञान नहीं हो पाता और इसी कारण जीवन में संघर्ष की स्थिति बनती है। जिसे हम गलत समझते हैं, वह भी विकास के लिए आवश्यक है।[53] मनुष्य जैसे ही मन से अतिमन की ओर जाता है वैसे ही पाप का भाव नष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दों में पाप प्रकृति के विकास के क्रम में एक सापेक्ष स्थिति है जो मन के स्तर पर रहती है, सच्चिदानन्द के स्तर पर नहीं। जैसे ही अज्ञान जाता है वैसे ही वह लुप्त हो जाती है। अतः पाप जैसी कोई स्थायी या निरपेक्ष चीज नहीं है।[54] ब्रेडले ने इसीलिए नैतिकता को एक आभास मात्र माना है न कि वास्तविकता। वस्तुतः अज्ञान भी आभास मात्र है, वास्तविक नहीं।

इस अर्थ में देखें तो पाप और पुण्य को आभासमात्र मानना उस स्थिति के बहुत निकट है जिस स्थिति में शङ्कराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा है। शङ्कराचार्य जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं पारमार्थिक सत्ता नहीं और श्री अरविन्द भी पाप, पुण्य की व्यावहारिक सत्ता ही मान रहे है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करते हुए यह कहा जा सकता है कि पापपुण्यात्मक जगत् की व्यावहारिक सत्ता है पारमार्थिक सत्ता नहीं। जिसे शङ्कराचार्य पारमार्थिक सत्ता कहते हैं उसे ही श्री अरविन्द अतिमानस स्थिति कह रहे हैं।

इस प्रकार हमारे प्रबन्ध का प्रथम खण्ड सम्पन्न हो रहा है। उचित होगा कि श्री अरविन्द के दर्शन की प्रमुख मौलिक अवधारणाओं का यहाँ सङ्केत कर दिया जाये—

1. श्री अरविन्द का दर्शन अतीतोन्मुख न होकर भविष्योन्मुख है।

2. इस दर्शन में शरीर, मन और बुद्धि की भी परिपूर्णता की चिन्ता है, केवल आत्मा की पूर्णता की चर्चा नहीं है।

3. मनुष्य जाति विकासोन्मुख है, न कि ह्रासोन्मुख। हम आदिमकाल से निकलकर तर्कयुग में आये हैं। किन्तु यह युग भी हमारी समस्याओं का समाधान नहीं कर पाया। यह समाधान आगामी काल में अध्यात्म द्वारा होगा।

4. भविष्य में अध्यात्म केवल कुछ गिने चुने व्यक्तियों तक सीमित न रहकर पूरी मानव प्रजाति तक प्रभावी होगा जो विकास का एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

5. अध्यात्म में मनुष्य सत्य की चेतना, ऋतचित् में जियेगा, न कि तर्क-वितर्क की छाया में।

6. अध्यात्म केवल व्यक्ति की ही नहीं समष्टि की समस्याओं का भी समाधान देगा।

७. उपर्युक्त अध्यात्म-युग के अवतरण में हम अपनी साधना से सहायक सिद्ध हो सकते हैं। उसी साधना का विवरण श्री अरविन्द के ग्रन्थ Synthesis of Yoga में है जिसका विवरण हम अब आगे द्वितीय खण्ड में देगें।

1. वासुदेवः सर्वमिति—श्रीमद्भगवद्गीता, ७.१९
2. The truth of things always escapes beyond the sense.—*The Life Divine, P.* 71 अपि चकृकठोपनिषद् ,२.१.१
3. This rational action is incapable of knowing what is, it only knows what appears to be, it has no plummet by which it can sound the depths of being, it can only survey the field of becoming. —*The Life Divine, P.* 66-67
4. Any seeking of the supreme Truth through intellect alone must end either in Agnosticism of this kind or else in some intellectual system or mind-constructed formula. —*Letters on Yoga-I, P.* 351
5. But the intellect is incapable of knowing the supreme Truth; it can only range about seeking for Truth and catching fragmentary representations of it, not the thing itself, and trying to piece them together.—*Letters on Yoga-I, P.* 351
6. Kant's Critique of Pure Reason, Norman Kemp Smith द्वारा अनूदित, Abridged Edition, Macmillian Britain, Reprint 1952, P. 215.
7. उपरिवत् पृष्ठ २३३
8. उपरिवत् पृष्ठ १५ (प्राक्कथन)
9. उपरिवत् पृष्ठ १५५
10. Henri Bergson Creative Evolution, P. 204 (Macmillian London, Reprint 1949).
11. Rudolf Carmap: Philosophy & Logical Syntax, "Readings in Twentieth-Century Philosophy", में प्रकाशित सम्पादन William P. Alston, Univ. Of Michigan, & by George Nakhnikian, Wayne State Univ., 1963, P. 453-4.
12. उपरिवत् पृष्ठ ४५५
13. But it is on the fundamental realities that the processes depend: our own process of life, its aim and method, should be in accordance with the truth of being that we see; otherwise our metaphysical truth can be only a play of the intellect without any dynamic importance. —*The Life Divine, P.* 693

14. Truth of being must govern truth of life; it cannot be that the two have no relation or interdependence. —*The Life Divine, P.* 693

15. परोक्षप्रिया वै देवाः—गोपथब्राह्मण, १.२.२१

16. But from the spiritual view-point truth of existence is to be found by intuition and inner experience and not only by the reason and by scientific observation. — *The Renaissance in India, P.* 36

17. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।—वात्स्यायन भाष्य, न्यायसूत्र १.१.१

18. नैषा तर्केण मतिरापनेया—कठोपनिषद्, १.२.९

19. यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः— मनुस्मृति, १२.१०६

20. श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्—शङ्कराचार्य

21. जवइया वयण वहा तावइया चेव होंति णयवाया—सन्मतिप्रकरण, ३.४९

22. Each philosophical founder (as also those who continued his work or school) has been a metaphysical thinker doubled with a Yogi. —*Letters on Yoga-I,* 353

23. Thought, intellect, the logical reason came to be regarded more and more as the highest means and even the highest end; in philosophy, Thought is the be-all and the end-all. —*Letters on Yoga-I, P.* 253

24. Intuitional knowledge is that which is common between them and the foundation of intuitional knowledge is conscious or effective identity between that which knows and that which is known; it is that state of common self-existence in which the knower and the known are one through knowledge. —*The Life Divine, P* 72

25. In the superconscient, on the contrary, Light being the law and the principle, the intuition manifests itself in its true nature as knowledge emerging out of conscious identity, and effectivity of action is rather the accompaniment or necessary consequent and no longer masks as the primary fact. —*The Life Divine, P.* 72

26. (i) A knowledge by identity, (ii) a knowledge by intimate direct contact, (iii) a knowledge by separative direct contact, (iv) a wholly separative knowledge by indirect contact are the four cognitive methods of Nature. —*The Life Divine, P.* 544

27. तुलनीय—In truth, it is a makeshift and inadequate to the connotation demanded of it.—*The Life Divine, P. 548 Foot Note*

28. Prof. R.D. Ranade: 'A constructive Survey of Upanisadic Philosophy', P. 340-1.

29. In its extreme, this claim of the individual to be the judge of everything is an egoistic illusion, a superstition of the physical mind. —*The Life Divine, P.* 676.

30. तुलनीय —*The Life Divine, P.* 1065

31. Delight of being, Ānanda, is the eternal truth of the union of this conscious being and its conscious force whether absorbed in itself or else deployed in the inseparable duality of its two aspects. —*synthesis of Yoga, P.* 435

32. तदेजति तन्नैजति—ईशोपनिषद् , ५

33. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति—मुण्डकोपनिषद्, १.१.४

34. ...Mental knowledge can never arrive at a final solution of anything, for the aspects of Existence as distributed by Overmind are numberless and one can go on multiplying philosophies and religions for ever. —*Letter on Yoga-I, P.* 138-139

35. The first is based upon that self-knowledge which, in our human realization of the Divine, the Upanishad describes as the Self in us becoming all existences; the second on that which is described as seeing all existences in the Self; the third on that which is described as seeing the Self in all existences. —*The Life Divine, P.*166

36. गौडपाद, माण्डूक्यकारिका, २.३०

37. ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, मुण्डकोपनिषद्, ३.२.९।

38. पुरुष एवेदं सर्वम्।

39. ...It must be able to limit its action so as to base a given world or universe and to keep it in its own order, harmony, self-building: for the creation of a universe necessitates a special determination of the Infinite Consciousness to preside over that world and

a holding back of all that is not needed for that movement. —*The Life Divine, P.* 357-358

40. गुणा गुणेषु वर्तन्ते। —श्रीमद्भगवद्गीता

41. It is no longer synonymous with mentality but indicates a self-aware force of existence of which mentality is a middle term; below mentality it sinks into vital and material movements which are for us subconscient; above, it rises into the supramental which is for us the superconscient. —*The Life Divine, P.* 65-96

42. This mighty energy is an equal and impartial mother, **samam brahma**, in the great term of the Gita, and its intensity and force of movement is the same in the formation and upholding of a system of suns and the organisation of the life of an ant-hill.—The Life Divine,P. 79

43. समं ब्रह्म —श्रीमद्भगवद्गीता, ५१९

44. The force of strength that goes to make the strong man is no way greater than the force of weakness that goes to make the weak. —*The Life Divine, P.* 79

45. ...But obviously this is an objection based on the limitations of our human intellect which seeks to impose its own particular rationality, good enough for limited human ends, on the general operations of the World-Force. —*The Life Divine, P.* 96

46. Again if we look at World-Existence rather in its relation to the self-delight of eternally existent being, we may regard, describe and realise it as Lila, the play, the child's joy, the poet's joy, the actor's joy, the mechanician's joy of the Soul of things eternally young, perpetually inexhaustible, creating and re-creating Himself in Himself for the sheer bliss of that self-creation, of that self-representation,—Himself the play, Himself the player, Himself the playground. —*The Life Divine, P.* 111

47. In everything that is, dwells the conscious force and it exists and is what it is by virtue of that conscious force; so also in everything that is there is the delight of existence and it exists and is what it is by virtue of that delight. —*The Life Divine, P.* 99-100

48. But when we say, “God said, Let there be Light”, we assume the act of a power of consciousness which determines light out of everything else that is not light; and when we say “and there was Light” we presume a directing faculty, an active power corresponding to the original perceptive power, which brings out the phenomenon and, working out Light according to the line of the original perception, prevents it from being overpowered by all the infinite possibilities that are other than itself. — *The Life Divine, P.* 123

49. But for that very reason the lesser sum of pain affects us more intensely and often looms larger than the greater sum of pleasure; precisely because the latter is normal, we do not treasure it, hardly even observe it unless it intensifies into some acuter form of itself, into a wave of happiness, a crest of joy or ecstasy. —*The Life Divine, P.* 100

50. If we say that pain is a trial and an ordeal, we do not solve the moral problem, we arrive at an immoral or nonmoral God,—an excellent world-mechanist perhaps, a cunning psychologist, but not a God of Good and of Love whom we can worship, only a God of Might to whose law we must submit or whose caprice we may hope to propitiate. —*The Life Divne, P.* 101

51. We have to recognise, if we thus view the whole, not limiting ourselves to the human difficulty and the human standpoint, that we do not live in an ethical world. —*The Life Divine, P.* 103

52. And just as all below us is infra-ethical, so there may be that above us whither we shall eventually arrive, which is supra-ethical, has no need of ethics. —*The Life Divine, P.* 104

53. ...Nature accepts them because they are necessary circumstances of the evolution, necessary for the growth of the divided being; they are products of ignorance, supported by an ignorant consciousness that finds itself on division, by an ignorant will that works through division, by an ignorant delight of existence that takes the joy of division. —*The Life Divine, P.* 647

54. There can therefore be no absolute of falsehood, no absolute of evil; these things are a by-product of the world-movement: the sombre flowers of falsehood and suffering and evil have their root in the black soil of the Inconscient. —*The Life Divine, P*. 620

LOGIC

An inconclusive play is Reason's toil.
Each strong idea can use her as its tool;
Accepting every brief she pleads her case.
Open to every thought, she cannot know.

—***Savitri p.*** 252

X X X

For not by Reason was creation made
And not by Reason can the Truth be seen

—***Savitri p.*** 256

X X X

All here is a mystery of contraries:
Darkness a magic of self-hidden Light,
Suffering some secret rapture's tragic mask
And death an instrument of perpetual life.

—***Savitri p.*** 600

अनन्त का तर्कः विरोध के परिहार का मार्ग

आत्मा, पुरुष और ईश्वर

जहाँ तक सच्चिदानन्द से सृष्टि के उद्‌भव का प्रश्न है सच्चिदानन्द अपने आप को तीन रूपों में प्रकट करता है—आत्मा, पुरुष और ईश्वर। ये तीन क्रमशः माया, प्रकृति और शक्ति के रूप में अपना कार्य करते हैं।[1] माया आत्मा की शक्ति है जो चीजों की कल्पना करती है; प्रकृति पुरुष की शक्ति है जो पुरुष की साक्षी में गति लाती है और शक्ति ईश्वर की चेतना का बल है जो कल्पना भी करता है और सर्जन भी करता है। सच्चिदानन्द ही इन तीनों का आधार है। ये तीनों व्यष्टि और समष्टि के बीच सेतु बनते हैं।

आत्मा

आत्मा, व्यष्टि और समष्टि के अतिरिक्त विश्वोत्तीर्ण रूप में भी अनुभव की जा सकती है। व्यष्टि के रूप में वह मुमुक्षु है, समष्टि के रूप में वह कूटस्थ है और विश्वात्तीर्ण रूप में वह प्रकृति से परे है।

आत्मा का प्रथम अनुभव कूटस्थ रूप में होता है जहाँ न शब्द है न गति है। यह मायातीत है, यही निर्गुण ब्रह्म है, किन्तु सगुण ब्रह्म गतिशील है। इस प्रकार ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। दोनों ही रूप में वह निर्वैयक्तिक है। इसलिए गतिशील होते हुए भी वह बन्धन में नहीं आता, वह स्वतन्त्र ही रहता है।

सच्चिदानन्द पुरुष रूप में प्रकृति के सभी कार्यों का कर्ता और भोक्ता है। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा निर्वैयक्तिक है किन्तु पुरुष प्रकृति से जुड़ा होने के

कारण वैयक्तिक भी है और निर्वैयक्तिक भी। पुरुष प्रकृति को चेतना प्रदान करता है और प्रकृति की क्रियायें पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हैं। पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध से ही जीव क्रीडा कर सकते हैं। जब पुरुष शरीर धारण करता है तब वह प्रकृति के आधीन हो जाता है। यह अज्ञान की स्थिति है। किन्तु जब पुरुष साक्षी भाव में आता है तो उसका यह स्वतन्त्रता की ओर उठाया गया पहला चरण होता है। प्रकृति से विच्छिन्न होकर ही वह अपने आपको जान सकता है। तब वह कर्मों के आधीन नहीं रहता अपितु कर्मों का स्वामी बन जाता है। उस समय उसके सामने तीन विकल्प होते हैंः या तो वह प्रकृति को अपना कार्य करने दे, या मौन में चला जाये अथवा अतिमानस स्थिति में आकर प्रकृति का रूपान्तरण कर दे। किसी भी स्थिति में वह प्रकृति का दास न रहकर प्रकृति का स्वामी बन जाता है।

पुरुष और प्रकृति

श्री अरविन्द के अनुसार सांख्य के पुरुष और प्रकृति व्यवहार की दृष्टि से किये गये विभाजन हैं। यह विभाजन मौलिक नहीं हैं। जैसे जैसे चेतना ऊपर उठती है वैसे वैसे पुरुष और प्रकृति का भेद समाप्त हो जाता है। भाव यह है कि पुरुष और प्रकृति का भेद केवल आभास मात्र है। वस्तुतः प्रकृति पुरुष की शक्ति है। द्वैत की स्थिति में पुरुष प्रकृति का नियन्ता है। आत्मा भौतिक स्तर पर पदार्थ का रूप लेती है, जैविक स्तर पर प्राण का रूप लेती है, मानसिक स्तर पर मन बन जाती है और अतिमानस स्तर पर अतिमन बन जाती है तथा पराप्रकृति के रूप में शुद्ध सत् या सच्चिदानन्द बनती है। सशरीरी रूप में पुरुष जीव है जो अहंकार अथवा कामना के द्वारा अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाता, किन्तु कामना से प्रेरित होकर क्रियाओं को आधार प्रदान करता है।

प्रकृति पर पूर्ण स्वामित्व की स्थिति में पुरुष ईश्वर कहलाता है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। वह सृष्टि का निर्माण करता है, वह समस्त ऊर्जाओं का नियन्ता है, वह जड और चित् दोनों को जानता है, वह अन्तर्यामी के रूप में हृदय में स्थित है, वह सब कार्यों का स्वामी है। सारे भोगों को भोगता है, सभी जीव उसके भिन्न भिन्न रूप हैं, वह सबका माता, पिता और सखा है। श्री

अरविन्द का कहना है कि सामान्यतः ईश्वर को एक सीमित रूप में देखा जाता है किन्तु ईश्वर में सगुण और निर्गुण दोनों का संयोग है।

वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक

वस्तुतः व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व हमारे मन के द्वारा किये गये विभाजन हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक जगत् निर्वैयक्तिक है। इसी प्रकार सत्, चेतना, आनन्द, शक्ति भी हमें निर्वैयक्तिक प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत सीमित शक्तियाँ हमें वैयक्तिक प्रतीत होती हैं। किन्तु वस्तुतः इन दोनों के पीछे सच्चिदानन्द है। अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं है जब तक कोई सत्तावान् न हो और न चेतना का कोई अर्थ है जब तक कोई चेतन न हो और आनन्द का भी भोक्ता के बिना कोई अर्थ नहीं है।[2] इस प्रकार निर्वैयक्तिक ही वैयक्तिक रूप में प्रकट होता है। और इन दोनों के बीच कोई मौलिक भेद नहीं है।

सच्चिदानन्द ईश्वर के रूप में संसार का शासक है किन्तु वह मनुष्य की तरह मन के द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। वह सभी पदार्थों के सत्य को जानता है। वह प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण भी कर सकता है; इसलिए वह यांत्रिक नहीं है। वह अपनी अनन्त चेतना के अनुसार ही कार्य करता है। **उसका तर्क अनन्त का तर्क है, सान्त तर्क नहीं। हमें इसी आधार पर उसकी कार्यप्रणाली को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।**[3]

ईश्वर और जीव

जहाँ तक जीव और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न है, इन दोनों के बीच तादात्म्य है क्योंकि जीव भी ईश्वर के समान दिव्य है। **जीव ईश्वर पर निर्भर करता है क्योंकि ईश्वर सच्चिदानन्द का मूल रूप है। किन्तु यह निर्भरता हमें प्रकट नहीं होती क्योंकि हम अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं।** अध्यात्म में अतिमानस स्तर पर यह निर्भरता समझी जा सकती है।

हमारा मन विभाजन करके देखता है इसलिए चीजों पर परस्पर विरोध नजर आता है। हम ईश्वर के ऊपर निर्भर भी हैं और हमारा उससे तादात्म्य सम्बन्ध

भी है। यह दोनों बातें परस्पर विरोधी दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु अतिमानस स्तर पर ये विरोधी नहीं हैं। वस्तुतः निर्भरता तादात्म्य के साक्षात्कार का द्वार है।[4] इसी प्रकार आत्मा और माया, पुरुष और प्रकृति तथा ईश्वर और शक्ति परस्पर विरोधी दिखायी दे सकते हैं किन्तु उनमें विरोध नहीं है। आत्मा सबका आधार है, पुरुष अनुभव करता है और ईश्वर शासन करता है और इस प्रकार ये तीनों मिलकर कार्य करते हैं।

अनन्त का तर्क

सत् के रूप में आत्मा, पुरुष और ईश्वर सत् के तीन पक्ष हैं और चित् के रूप में चित् के माया, प्रकृति और शक्ति तीन रूप हैं। अतिमानस की स्थिति में इस बात को समझा जा सकता है कि सभी कुछ ब्रह्म है किन्तु तर्क के स्तर पर ये परस्पर विरोधी बातें नजर आती हैं कि पूर्ण अपूर्ण कैसे बन जाता है अथवा कूटस्थ गतिशील कैसे बन जाता है, एक अनेक कैसे बन जाता है, निर्वैयक्तिक व्यक्ति कैसे बन जाता है, आभु अभ्व को कैसे जन्म दे देता है, निर्गुण सगुण कैसे हो सकता है, चेतन शक्ति कूटस्थ होते हुए गतिशील कैसे हो सकती है। ये सब तर्क के लिए समझ से बाहर की बात है। किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार क्योंकि सच्चिदानन्द अनन्त है इसलिए उसकी कार्यप्रणाली भी अनन्त के अनुरूप है। **ऐसा मानना तर्कविरुद्ध होगा कि सान्त अनन्त को नाप सकता है या अल्पज्ञ सर्वज्ञ को समझ सकता है। हमारा तर्क शरीर, प्राण और मन के अनुभवों पर टिका है। इन अपूर्ण अनुभवों के आधार पर हम कुछ नियम बनाते हैं और उन्हें सार्वभौम समझ लेते हैं। जो उन नियमों के विरुद्ध हो उन्हें हम असंगत मानते हैं। किन्तु जो मापदण्ड अस्तित्व के एक स्तर के लिए उपयुक्त हैं वे सभी स्तरों के लिए उपयुक्त नहीं होते।**[5] एक स्तर पर भी नियम एक सीमित रूप में ही लागू होते हैं। इसलिए देश और काल की सीमा में जो नियम बनते हैं वे देशकालानवच्छिन्न पर लागू नहीं होते।[6] वस्तुतः वे अनन्त काल और अनन्त देश पर भी सर्वत्र लागू नहीं हो सकते। इसलिए हम तर्क से ऊपर के जीवन को भी नहीं समझ सकते। उसे समझने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिए जो बुद्धि के पास नहीं है। तर्कातीत को समझना और भी कठिन है। आत्मा तर्कातीत है अतः उसे समझना बुद्धि के लिए

सम्भव नहीं, उसके लिए अन्तर्दृष्टि चाहिए, जहाँ बुद्धि और मन शान्त हो जाते हैं और अतिमानस की स्थिति में आ जाते हैं। अतिमानस ही अनेक की एक में अभिव्यक्ति को देख पाता है। इस स्थिति को समझने के लिए सामान्य तर्क से बड़ा तर्क चाहिए। यह अधिक विशाल, सूक्ष्म और जटिल है। वह उन समस्त तथ्यों को देख पाता है जो हमारी बुद्धि नहीं देख सकती। तर्क हमारे सतही चेतना का उपकरण है जिसके पास थोड़ा सा उपरितल का ज्ञान है और सीमित दृष्टि है। इसके अतिरिक्त तर्क हमें साक्षात् अनुभव भी नहीं दे सकता। तर्क के द्वारा जो स्पष्ट नहीं है वह सच्चिदानन्द के लिए स्वतः सिद्ध है। उसके पास पूर्ण सत्य का ज्ञान है। इसलिए सच्चिदानन्द की सभी गतिविधि हमारे सीमित तर्क के अनुसार हो, ऐसा नहीं है। वह हमारी नैतिक अवधारणाओं के अनुकूल भी सदा नहीं होता। जो हमें तर्कविरुद्ध और अनैतिक लगता है उसे सच्चिदानन्द की चित् -शक्ति सम्पूर्ण के लिए हितकर मानकर कर सकती है।[7] कुछ तथ्यों के आधार पर लिया गया निर्णय अधिक तथ्यों के आधार पर लिये गये निर्णयों के सामने कोई अर्थ नहीं रखता। अनन्त के तर्क अवसर के अनुसार अपना कार्य करते हैं इसलिए वे संकीर्ण और सीमित अर्थ में निर्धारित नहीं हैं। अतः सच्चिदानन्द के क्रियाकलापों को हम अपने तर्क के आधार पर नहीं समझ सकते। हमारे लिए जो असम्भव है वह सच्चिदानन्द के लिए सामान्य है। विरोध के नियम पर सच्चिदानन्द का स्वरूप और कर्म खरा नहीं उतरेगा। अनन्त और सान्त, कूटस्थ और गति, एक और अनेक, सगुण और निर्गुण, विश्वोत्तीर्ण और विश्वव्यापक इत्यादि तत्व परस्पर विरोधी हैं। किन्तु सच्चिदानन्द के लिए अपने को अभिव्यक्त करने के लिए गतिमान्, अनेक, सगुण और विश्वव्यापक होना पड़ता है। अतः वे सच्चिदानन्द के लिए असम्भव नहीं हैं। अस्तित्व में दोनों विरोधी एक दूसरे में समाये रहते हैं और एक दूसरे को बाधा पहुँचाने की जगह सहायता पहुँचाते हैं। जब हम निषेध करते हैं तो वह विधिवाक्यों का अधूरापन बताता है, न कि विधिवाक्यों का खण्डन करता है। इस प्रकार जब हम कहते हैं कि निर्गुण सगुण के रूप में अभिव्यक्त होता है तब उसका यह अर्थ है कि वह सब कुछ सगुण तो है ही किन्तु उसके अतिरिक्त भी वह है। इस प्रकार सगुण और निर्गुण एक दूसरे के परिपूरक हैं। इसी प्रकार सगुण को निर्गुण कहा जाता है तो उसका यह अर्थ

नहीं है कि वह शून्य है अपितु उसका यह अर्थ है कि उसमें सारी सम्भावनायें अन्तर्निहित हैं। **इस प्रकार एक वक्तव्य अपने विरोधी वक्तव्य के द्वारा कटता नहीं है अपितु व्याख्यायित होता है।** इसलिए वस्तुतः हम किसी पदार्थ को ठीक से तब ही जान सकते हैं जब उसमें रहने वाले दो विरोधी गुणों को एक साथ जान लें।

अभिप्राय यह है कि हमें सच्चिदानन्द की क्रियाशीलता को अपने सीमित मन अथवा शुद्ध तर्क के द्वारा जानने का उपक्रम करते हुए यह नहीं कहना चाहिए कि जो अनिर्वचनीय है वह अभिधेय कैसे हो सकता है अथवा अनन्त सान्त कैसे हो सकता है और इसलिये सीमित संसार एक स्वप्न अथवा भ्रम है। यदि हम परात्पर को संसार के रूप में अभिव्यक्त होने को न समझ पायें तो इसका अर्थ यह नहीं है कि परात्पर संसार के रूप में अभिव्यक्त हो ही नहीं सकता। सच्चिदानन्द की चेतना हमारी मानसिक चेतना से भिन्न है और उसकी गतिमत्ता को हमें अपने तर्क की कसौटी पर न कसकर अतिमानस के तर्क के आधार पर ही समझना होगा। 'अनन्त के तर्क' में इसमें कोई कठिनाई नहीं है कि परात्पर विश्वोत्तीर्ण भी बना रहे और संसार के रूप में अभिव्यक्त हो जाये। वह निरुपाधिक रहते हुए भी सोपाधिक हो सकता है। श्री अरविन्द ने इस बात पर बारम्बार बल दिया है कि अनन्त की चेतना हमारी चेतना से भिन्न है।[8] *हमारा बौद्धिक तर्क शब्द और विचारों पर आधृत है जबकि अनन्त का तर्क तथ्यों पर आधृत है।* इस कारण बुद्धि समग्र को ग्रहण नहीं कर सकती। समग्र में अंश एक दूसरे से जुड़े रहकर एक दूसरे के परिपूरक बन जाते हैं। बुद्धि समग्र और अंशों के बीच का सम्बन्ध भी नहीं समझ सकती क्योंकि उसके लिए समग्र और अंश एक दूसरे से पृथक् हैं। दूसरे शब्दों में असीम को सीमित नहीं जान सकता। उसका सारा प्रयत्न अन्धगज न्याय की तरह होगा जिसमें अन्धे हाथी के किसी एक अंग को छूकर उसे पूरा हाथी मान लेते हैं। एक अंश का ज्ञान भी व्यवहार की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है किन्तु अंश को समग्र नहीं माना जा सकता। समग्र को अंशों का समूह मानना भी पूरा ज्ञान नहीं है क्योंकि समग्र अंशों के समूह की अपेक्षा भी बड़ा हो सकता है, क्योंकि वह विश्वोत्तीर्ण से जुड़ा हुआ है; केवल समग्र को जानना भी अधूरा ही ज्ञान है क्योंकि अंशों का भी अपना महत्त्व है।

विरोध का नियम और तर्क

परमार्थ में तो विरोध का नियम काम करता ही नहीं है, किन्तु व्यवहार में भी जो विरोधी दिखायी देते हैं उन पक्षों में से एक को स्वीकार करना और दूसरे का निराकरण करना उचित नहीं है। वस्तुतः सभी पदार्थों में विशेष और सामान्य दोनों रहते हैं। विशेष उसे दूसरों से पृथक् करता है और सामान्य उसे दूसरों से जोड़ता है। विशेष और सामान्य दोनों से परे वस्तुओं का एक सार रूप भी है।[9] वस्तुतः संसार के सभी पदार्थ एक ही ऊर्जा के भिन्न भिन्न रूप हैं। यदि हम उस ऊर्जा को समझ लेते हैं तो किसी भी पदार्थ को दूसरे पदार्थ में बदल सकते हैं। वैदिक परम्परा में इसे सूर्यविज्ञान कहा गया है।

वनस्पति, पशु और मन व्यवहार की दृष्टि से अलग अलग हैं। किन्तु यदि हम गहराई में जाकर देखें तो वनस्पति पशु बनने की प्रक्रिया में है, पशु मनुष्य बनने की प्रक्रिया में है और मनुष्य देव बनने की प्रक्रिया में है। इसका कारण यह है कि ये सब पृथक् होते हुए भी मूलतः एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियां है।

व्यवहार में भी देखने में आता है कि पदार्थों में विरोधी धर्म रहते हैं। कोई भी पदार्थ न पूर्णतः सुन्दर होता है, न पूर्णतः कुरूप होता है। उसकी सुन्दरता भी सापेक्ष है और कुरूपता भी सापेक्ष है। अस्तित्व इसी प्रकार के विरोधों से बना है। विरोध का केवल इतना ही अर्थ है कि जो पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है कोई दूसरा पदार्थ उसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नहीं हो सकता। इस अर्थ में घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है तथा पट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है। इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। किन्तु मूलतः वे दोनों ही पार्थिव हैं अर्थात् जिस प्रकार के परमाणुओं से घट बना है उसी प्रकार के परमाणुओं से पट बना है। इसलिए वे दोनों एक दूसरे में बदल सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से एक स्तर पर भेद आवश्यक है जिसका आधार देश और काल है। किन्तु जैसे जैसे हम सूक्ष्म में जाते हैं, भेद विलीन होता जाता है। व्यवहार में भेद की दृष्टि से एक वस्तु का कार्य दूसरी वस्तु से नहीं किया जा सकता। किन्तु परमार्थ की दृष्टि से दो वस्तुएं मूलतः एक ही होने के कारण एक दूसरे की विरोधी नहीं बल्कि परिपूरक सिद्ध होती हैं। परात्पर में सारे विरोध विलीन

हो जाते हैं—**परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति**[10] किन्तु अभिव्यक्त रूप में वे सापेक्ष रूप से एक दूसरे से भिन्न भी रहते हैं और अभिन्न भी। यह दृष्टि जैनों के अनेकान्त के निकट है। पूर्वमीमांसा, जो जगत् को सत्य मानती है, भी अनेकान्तवादी है।

श्री अरविन्द के दर्शन में इस दृष्टि का यह उपयोग है कि हम कूटस्थ ब्रह्म और गतिशील संसार के बीच सम्बन्ध को समझ सकते हैं। यदि हम विरोध की दृष्टि से विश्लेषण करेंगे तो या तो कूटस्थ को सत्य मानेंगे और गतिशील को मिथ्या या भ्रम मानेंगे जैसा कि शाङ्कर वेदान्त में किया गया है या फिर गतिशील को सत्य मानेंगे और कूटस्थ को मिथ्या मानेंगे जैसा कि बौद्धदर्शन में किया गया है। **श्री अरविन्द के अनुसार जिस विरोध की बात यह दोनों दर्शन करते हैं वह विरोध शाब्दिक और वैचारिक है, वास्तविक नहीं।**[11]

निर्गुण और सगुण

हमारे तर्क के अनुसार परात्पर अनिर्वचनीय है और निर्गुण है। इसलिए वह नाम और रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि यदि सब कुछ ब्रह्म है तो नाम और रूप भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं, वे ब्रह्म से ही उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म पर ही टिके हैं। जब निर्गुण और सगुण के इस विरोध पर हम दृष्टि डालते हैं तो हमारे पास इन दोनों में से किसी एक को अवास्तविक मानने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं बचता। वस्तुस्थिति यह है कि निर्गुणता का निषेधात्मक अर्थ नहीं है अपितु यह अर्थ है कि वह किसी भी रूप में सगुण होने के लिए स्वतंत्र है; उसके लिए यह सीमा नहीं है कि वह अमुक रूप में ही सगुण बनेगा; निर्गुण में सभी गुण समाहित हैं। निराकार में सभी आकार समाहित हैं। इसी प्रकार निराकार होने का यह अर्थ है कि वह कोई भी आकार धारण कर सकता है; उसके आकार धारण करने के प्रकारों की कोई सीमा नहीं है। शक्ति की अनन्तता का यह अर्थ है कि उसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं है, वह सर्वथा स्वतन्त्र है। **जब हम परात्पर या सच्चिदानन्द को रूप धारण करने के लिए असमर्थ मानते हैं तो एक प्रकार से हम उसके अनन्त सामर्थ्य का ही निषेध कर देते हैं।**

एक और अनेक

श्री अरविन्द ने एक और अनेक के बीच विरोध का परिहार किया है। उनका कहना है कि हम 'एक' को गणित की भाषा में सोचते हैं, जिसमें कुछ जोड़कर या जिसका विभाजन करके दो बन सकते हैं। किन्तु परात्पर का एकत्व गणित का सीमित एकत्व नहीं है। वह अनन्त और मूलभूत एकत्व है जिसमें सौ, हजार या अरब-खरब कुछ भी रह सकते हैं।[12] कोई भी संख्या उस एकत्व से बाहर नहीं जा सकती। इस प्रकार परात्पर के एकत्व की कोई सीमा नहीं है। वह अनन्त 'अनेक ' हो सकता है। उसकी अनन्तता का यही अभिप्राय है कि उसके अनेक विविध रूप बन सकते हैं। दूसरे हम कभी कभी अनेकों के समूह को एक कह देते हैं किन्तु परात्पर का एकत्व अंशों के समूह से अधिक है। इस प्रकार परात्पर के एकत्व का अनेकत्व से कोई विरोध नहीं है।

एक अनेक होते हुए भी एक ही रहता है। सान्तों के बीच जो भेद है वह वास्तविक नहीं है। अनन्त सान्त के रूप में अभिव्यक्त होने पर भी अनन्त ही रहता है। सृष्टि के द्वारा अनन्त में कुछ जुड़ नहीं जाता। वह सृष्टि के बाद भी जितना था उतना ही रहता है, क्योंकि वह सान्तों का समूह नहीं है। वह सब कुछ है और उसके अतिरिक्त भी है। वह एक का ही अनेक रूप है। यदि वह वस्तुतः अनेक हो जायेगा तो उसका एकत्व समाप्त हो जायेगा। अतः एक और अनेक के बीच का विरोध केवल शाब्दिक है, वास्तविक नहीं।

मौन और गतिमत्ता

इसी प्रकार अनन्त का मौन अनन्त की गतिमत्ता का आधार है। हमारे सीमित तर्क की दृष्टि से मौन और गतिमत्ता में विरोध है। किन्तु अनन्त की दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे के अविभाज्य परिपूरक हैं। यदि परात्पर केवल मौन और कूटस्थ है तो इसका यह अर्थ होगा कि वह शक्तिहीन है। ऐसे परात्पर को सोचा भी नहीं जा सकता। अनन्त शक्ति में अनन्त गतिमत्ता होनी चाहिए। किन्तु उसका आधार कूटस्थता है। वह मौन अनेक ऊर्जाओं को प्रक्षिप्त करता है किन्तु स्वयं अविचलित रहता है। क्योंकि वह उन ऊर्जाओं के अधीन नहीं है।

निराकार और साकार

इसी प्रकार निराकार होने का यह अर्थ नहीं है कि आकार धारण करने की शक्ति नहीं है अपितु निराकारता में से अनन्त आकार धारण करने की सम्भावना प्रकट होती है। यदि ऐसा न हो तो या तो एक ही आकार होगा अथवा सब आकारों का एक समूह होगा। वस्तुतः अध्यात्म का एक आवश्यक अङ्ग निराकारता है। सभी सीमित पदार्थ उसी की शक्ति हैं, उसी के आकार हैं। क्योंकि वह निराकार और नाम रहित है इसलिए उसमें से अनन्त नाम और रूप उत्पन्न हो सकते हैं। निराकार अपने को आकार और रूप में अभिव्यक्त करता है। यह साकार ही सत् की शक्ति को और गुणों को नाम और रूप में अभिव्यक्त करता है।

अनन्त और सान्त

इसी प्रकार अनन्त और सान्त में भी कोई विरोध नहीं है। ये दोनों ही सत् के स्वरूप हैं। ये दोनों एक दूसरे से विरोधी के रूप में स्थित नहीं है। किन्तु जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और ताप दोनों एक साथ रहते हैं उसी प्रकार ये दोनों एक साथ रहते है। सान्त अनन्त का ही पक्ष है। कोई भी सान्त स्वयं में नहीं रह सकता वह अनन्त में ही रहता है क्योंकि वह मूल रूप से अनन्त के साथ तदात्मक है। सान्त अनन्त का एक भाग नहीं है। जैसे घटाकाश महाकाश से मूलतः भिन्न नहीं है किन्तु घट की दीवारों से घिरा होने के कारण भिन्न प्रतीत होता है। सभी घटाकाश महाकाश से अभिन्न है। जब हम पदार्थों पर दृष्टि डालते है तो वे सभी पदार्थ अलग अलग होते हुए भी एक ही प्रक्रिया के परिणाम दिखायी दते हैं। इसे गीता ने **अविभक्तं विभक्तेषु** कहा है।[13] इसे ही बृहदारण्यकोपनिषद् में **पूर्णमिदं पूर्णमदः** कहा गया है।

कूटस्थता और विविधता

परात्पर जब अनेक रूप धारण करता है तो उसकी कूटस्थता समाप्त नहीं हो जाती। उसकी कूटस्थता ऐसी एकरूप नहीं है जो विविधता उत्पन्न न कर सके। एक ही आत्मा अपने आपको कीट-पतंग, पक्षी-पशु और मनुष्य के रूप में

अभिव्यक्त करती है किन्तु वह स्वयं एकरूप आत्मा ही रहती है। यदि ऐसा न हो तो प्रकृति में होने वाली सभी अभिव्यक्तियां आपस में जुड़ी न रह पायेंगी और एक अव्यवस्थित रूप में खण्ड खण्ड हो जायेंगी क्योंकि उन सबको एक सूत्र में जोड़ने वाला कोई तत्त्व नहीं रहेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक अनेक हो जाता है और अनेकता को एकत्त्व जोड़े रहता है। क्योंकि एक और अनेक अनन्त के ही दोनों आधारभूत पक्ष हैं।

माया सच्चिदानन्द की शक्ति है जो किसी एक क्रिया से नहीं बँधी है। यह एक होते हुए भी बहुपक्षीय है जिसकी कोई सीमा नहीं है। वह अनेक रूप धारण कर सकती है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने अनन्त के तर्क के आधार पर विरोधों का परिहार किया है और इसी आधार पर हम सच्चिदानन्द के स्वरूप को समझ सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि इस अवधारणा का मूल गौडपाद और शङ्कर में भी है किन्तु इसका विस्तार पूर्ण विश्लेषण करने का श्रेय श्री अरविन्द को जाता है।

इतना अवश्य ध्यातत्व है कि जिस प्रकार जैन अनेकान्त के आधार पर विरोधों के बावजूद पदार्थ को सत्य मानता है उसी प्रकार श्री अरविन्द भी विरोधों के बावजूद संसार को सत्य मानते हैं किन्तु शङ्कराचार्य अनेकान्त का भी खण्डन करते हैं और उसी आधार पर संसार की सत्यता का भी निषेध करते हैं; वे संसार की केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं, पारमार्थिक सत्ता नहीं।

---

1. One Being, one Reality as Self bases, supports, informs, as Purusha or Conscious Being experiences, as Ishwara wills, governs and possesses its world of manifestation created and kept in motion and action by its own Consciousness-Force or Self-Power,Maya, Prakriti, Shakti. —*The Life Divine, P.* 372

2. If we look at things from a larger point of view, we might say that what is impersonal is only a power of the PersoN% existence itself has no meaning without an Existent, consciousness has no standing-place if there is none who is conscious, delight is useless

and invalid without an enjoyer, love can have no foundation or fulfilment if there is no lover, all-power must be otiose if there is not an Almighty. —*The Life Divine, P.* 367-368

3. Our view of the divine government of the world or of the secret of its action is either incurably anthropomorphic or else incurably mechanical; both the anthropomorphism and mechanism have their elements of truth, but they are only a side, an aspect, and the real truth is that the world is governed by the One in all and over all who is infinite in his consciousness and it is according to the law and logic of an infinite consciousness that we ought to understand the significance and building and movement of the universe. —*The Life Divine, P.* 369

   This dependence is not contradictory of the Identity, but is itself the door to the realisation of the Identity. —*The Life Divine, P.* 373-374

4. But there are different orders of the reality and the conceptions, measures, standards suitable to one need not be applicable to another order. —*The Life Divine, P.* 342

5. The Self-existent is the Infinite and its way of being and of action must be the way of the Infinite, but our consciousness is limited, our reason built upon things finite: it is irrational to suppose that a finite consciousness and reason can be a measure of the Infinite; this smallness cannot judge that Immensity; this poverty bound to a limited use of its scanty means cannot conceive the opulent management of those riches; an ignorant half-knowledge cannot follow the motions of an All-Knowledge. —*The Life Divine, P.* 341-342

6. It is evident that such a Consciousness and Will need not act in harmony with the conclusions of our limited reason or according to a procedure familiar to it and approved of by our constructed notions or in subjection to an ethical reason working for a limited and fragmentary good; it might and does admit things deemed by our reason irrational and unethical because that was necessary for the final and total Good and for the working out of a cosmic purpose. —*The Life Divine, P.* 344-345

7. The consciousness of infinite Existence is other than our mind-consciousness and sense-consciousness, greater and more capacious, for it includes them as minor terms of its workings, and the logic of infinite Existence is other than our intellectual logic. —*The Life Divine, P.* 393

8. There is an essentiality of things, a commonalty of things, an individuality of things; the commonalty and individuality are true and eternal powers of the essentiality: that transcends them both, but the three together and not one by itself are the eternal terms of existence. —*The Life Divine, P.* 396, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.१९

9. If we look from this view-point of a larger more plastic reason, taking account of the logic of the Infinite, at the difficulties which meet our intelligence when it tries to conceive the absolute and omnipresent Reality, we shall see that the whole difficulty is verbal and conceptual and not real.—*The Life Divine, P.* 347 अपिच—उभयं वैतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च—शतपथब्राह्मण, ६.५३.७

10. —परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति, मुण्डकोपनिषद्, ३.२.७

11. The Life Divine, P. 347-359

12. It is thinking in the terms of the mathematical finite unit which is sole in limitation, the one which is less than two and can become two only by division and fragmentation or by addition and multiplication; but this is an infinite Oneness, it is the essential and infinite Oneness which can contain the hundred and the thousand and the million and billion and trillion.—*The Life Divine, P.* 350

13. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्—श्रीमद्भगवद्गीता, १३.१६ ।

BEFORE CREATION

A Vastness brooded free from sense of Space,
An Everlastingness cut off from Time;
A strange sublime inalterable Peace
Silent rejected from it world and soul.

It had no kinship with the universe:
There was no act, no movement in its Vast:
Life's question met by its silence died on her lips,
The world's effort ceased convicted of ignorance
Finding no sanction of supernal Light:

There was no mind there with its need to know,
There was no heart there with its need to love.

All person perished in its namelessness.

There was no second, it had no partner or peer;
Only itself was real to itself.

A pure existence safe from thought and mood,
A consciousness of unshared immortal bliss,
It dwelt aloof in its bare infinite,
One and unique, unutterably sole.

A Being formless, featureless and mute
That knew itself by its own timeless self,
Aware for ever in its motionless depths,
Uncreating, uncreated and unborn,
The One by whom all live, who lives by none,
An immeasurable luminous secrecy
Guarded by the veils of the Unmanifest,
Above the changing cosmic interlude
Abode supreme, immutably the same,

A silent Cause occult, impenetrable,—
Infinite, eternal, unthinkable, alone.

—***Savitri pp.*** 308-309

सृष्टि विद्या

वेद में सृष्टि-विचार

वेद का केन्द्र बिन्दु यह विचार विमर्श है कि सृष्टि का उद्‌भव कैसे हुआ। दार्शनिक दृष्टि से वेद के कुछ सूक्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं – नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त इत्यादि। इन सभी सूक्तों में यह विचार किया गया है कि सृष्टि का उद्‌भव कैसे हुआ। श्री अरविन्द ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया और यह पाया कि सृष्टि का उद्‌भव सच्चिदानन्द से हुआ। किन्तु सच्चिदानन्द चेतन है, उससे जड़ का उद्‌भव कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि क्योंकि चेतन से सीधा जड का जन्म नहीं हो सकता, इसलिए सच्चिदानन्द और जड जगत् के बीच कुछ क्रमिक सोपान हैं जिनके माध्यम से सच्चिदानन्द जड जगत् तक आया। संक्षेप में वे सोपान तीन हैं–अतिमानस, अधिमानस और मानस। श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि विद्या पर विचार करते समय इन तीनों सोपानों पर विचार करना होगा।

सच्चिदानन्द

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि वैदिक परम्परा में भी वेद से सृष्टि का उद्‌भव माना गया है और वेद सच्चिदानन्द है। **यद्यपि वैदिक परम्परा में अतिमानस, अधिमानस और मानस शब्द का प्रयोग नहीं किन्तु श्वोवसीयस् मन और अव्ययमन का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्वोवसीयस् मन अतिमानस है और अव्ययमन अधिमानस है तथा मानस तो मन है ही**। इसे निश्चय पूर्वक तो नहीं

कहा जा सकता कि यह तुलना प्रामाणिक है क्योंकि श्री अरविन्द ने स्वयं ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है किन्तु यह तुलना का बिन्दु विद्वानों के लिए विचारणीय अवश्य है।

अतिमानस

सर्वप्रथम अतिमानस को लें। यह तो स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के अनुसार सच्चिदानन्द ही परम सत् है और वही सृष्टि का आदिस्रोत है। वही अवतरण के क्रम में जड तक पहुँचता है। किन्तु इस यात्रा में वह अतिमानस, अधिमानस, अन्तर्दृष्टि, आलोकित मन, उच्चतरमन, मन, जीव तथा प्राण से होते हुए भूत तक पहुँचता है। इस क्रम में अवतरण का प्रतिपादन श्री अरविन्द की अपनी मौलिकता है। हमें यह देखना है कि इस क्रम में जिन सोपानों का उल्लेख है उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है। संक्षेप में कहें तो अतिमानस स्रष्टा है जिसका प्रथम सर्जन अधिमानस है जो मन को जन्म देता है। **यह मन ही प्राण और भूत के साथ मिलकर मन, प्राण और वाक् की वह त्रयी बनता है जिसका उल्लेख वेद में बारम्बार है। वेद में मन, प्राण और वाक् को आत्मा कहा गया है जबकि श्री अरविन्द इसके लिए 'साइकी' शब्द का प्रयोग करते हैं जो चैत्य पुरुष का वाचक है।**

सृष्टि : सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति

क्योंकि सच्चिदानन्द ही एक मात्र सत् है—एकमेवाद्वितीयम्, अतः यह सृष्टि कुछ और नहीं है अपितु केवल सच्चिदानन्द की ही आत्माभिव्यक्ति हो सकती है। इस सम्बन्ध में इस अवधारणा को इस रूप में कहा जा सकता है कि जैसे कवि, कलाकार या संगीतकार कुछ नया उत्पन्न न करके अपने अन्दर अव्यक्त रूप में उपस्थित एक सम्भावना को ही अभिव्यक्त करता है अथवा जैसे एक विचारक अपने में छिपी हुई विषवस्तु पदार्थ को ही आकार देता है किन्तु ऐसा करते समय वह स्वयं अपने स्वरूप को यथावत् बनाये रखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द आत्माभिव्यक्ति के द्वारा सृष्टि को उत्पन्न करते हुए भी अपने ही रूप में बना रहता है।[1] स्वयं वेद में इसीलिए ईश्वर को कवि कहा है और सृष्टि को काव्य

कहा है। एक अन्य रूपक द्वारा भी इसी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए नटराज की कल्पना की गयी है। जिस प्रकार नटराज और उसका नृत्य दो अलग चीजें नहीं हैं। इसी प्रकार स्रष्टा और सृष्टि दो अलग चीजें नहीं हैं। उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि स्रष्टा सृष्टि को बनाकर स्वयं उस में प्रविष्ट हो गया– **तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।** यही अद्वैत का आधार है।

सच्चिदानन्द अपना जड के रूप में आत्म-गोपन कर लेता है। यह प्रक्रिया एक क्रम में होती है। जिसका एक नियम है।[2] सत्, चित् और शक्ति एकाकार हैं। सार्वभौम चेतना में अनन्त अस्तित्व में उपस्थित एक सत्य का ज्ञान रहता है और वह उसी सत्य के अनुसार अपनी शक्ति को सर्जन में लगाती है।[3] इसके लिए सच्चिदानन्द को प्रथम तो उस सत्य का दर्शन करना होता है और फिर उस सत्य के अनुसार चेतना की शक्ति को संसार के निर्माण में लगाना होता है। किन्तु इन दोनों के बीच सच्चिदानन्द को एक ऐसी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है कि संसार का निर्माण एक व्यवस्थित रूप में हो, न कि एक अव्यवस्थित रूप में।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया

स्पष्ट है कि सच्चिदानन्द में चेतना है और चेतना की शक्ति है। चेतना में ज्ञानशक्ति रहती है और चेतना की शक्ति में क्रियाशक्ति रहती है। सच्चिदानन्द के आनन्द में रहने वाली ज्ञानशक्ति में इच्छाशक्ति अन्तर्निहित है। इस प्रकार ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति को जन्म देती है, इच्छाशक्ति क्रियाशक्ति को जन्म देती है और संसार का उद्‌भव हो जाता है– **ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या क्रिया भवेत्।** माया के कार्य करने का यही क्रम है।

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है सच्चिदानन्द देश और काल से परे है जबकि संसार देश और काल से अवच्छिन्न है। अतः सच्चिदानन्द से सीधा संसार उत्पन्न नहीं हो सकता। सच्चिदानन्द अद्वैत है और चित्-घन है, संसार विविध है और विभक्त है। अतः सच्चिदानन्द से संसार की सीधी उत्पत्ति न मानकर यह उत्पत्ति जिस माध्यम से होती है उस माध्यम का नाम अतिमानस है। इस अतिमानस में ही यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ–**एकोऽहं बहु स्याम।** इसी कामना का उल्लेख नासदीय सूक्त में मन के प्रथम बीज रूप में हुआ है–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। यह मन हमारे उस मन से भिन्न है जो केवल प्रतीयमान वस्तुओं को देखता/जानता है।[3]

विद्या, विद्या-अविद्या, अविद्या

माया के तीन रूप हैं— विद्या, विद्या-अविद्या तथा अविद्या। विद्या माया अतिमन की है, विद्या-अविद्या अधिमन की है और अविद्या हमारे मन की है। सच्चिदानन्द में अस्तित्व अपने मूल रूप में अद्वैत रूप में रहता है। अतिमन के स्तर पर वह विद्या माया के द्वारा खण्ड में अखण्ड को और अखण्ड में खण्ड को देख लेता है। इसके अनन्तर अविद्या माया के द्वारा वह अखण्ड में खण्डों को पृथक् पृथक् रूप में देखता है और तब संसार उत्पन्न हो जाता है। विद्या-अविद्या माया का सम्बन्ध अधिमन से है।

ऋतचित्

अतिमानस की स्थिति को श्री अरविन्द ने वेद के शब्दों में ऋतचित् कहा है। इस अवस्था में सच्चिदानन्द को सत्य अथवा विश्व के विचार की प्रतीति रहती है। इस प्रतीति को ही ऋतचित् कहा गया है। अतिमानस को ही वस्तुतः ऋत की चेतना कहना चाहिए। स्वयं श्री अरविन्द ने यह माना है कि ऋतचित् शब्द उन्होंने ऋग्वेद से लिया है।[5] इस प्रकार वे मानते हैं कि परोक्ष रूप में अतिमानस का उल्लेख वेद में है। **वे सत्य को अस्तित्व का सार मानते हैं और ऋत को उस सत्य का व्यवस्थित रूप।** उनका मानना है कि इस ऋत और सत्य की चेतना बृहत् के उस स्तर पर ही हो सकती है जो अतिमानस है।

ईश्वर

क्योंकि अतिमानस सर्जक है इसलिए उसमें इच्छा और ज्ञान को सक्रिय होना चाहिए; दूसरे शब्दों में ज्ञान और इच्छा को एक शक्ति के रूप में प्रकट होना चाहिए। यह सक्रिय इच्छा और ज्ञान ही देश और काल का विस्तार कर सकते हैं। यह दोनों सर्वव्यापक हैं और अनन्त हैं। दूसरे शब्दों में सर्जक के रूप में अतिमन ईश्वर है। इसलिए वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। वह सर्वव्यापक है

क्योंकि जो भी आकार उत्पन्न होते हैं वह उसी की चेतना के रूप हैं जो उसकी गति से उत्पन्न होते हैं; वह सर्वज्ञ है क्योंकि उसी की चेतना में सब कुछ वर्तमान है; वह सर्वशक्तिमान् है क्योंकि उसकी चेतना सशक्त है।[6]

अतिमन का विवरण

अतिमन सृष्टि का प्रारम्भ है और यही सृष्टि का अन्त भी है। यह अद्वैत में से सृष्टि के रूप में विविधता को प्रकट करता है, किन्तु उस विविधता में अपने आपको खो नहीं देता। सच्चिदानन्द के स्तर पर जो सत्, चित् और आनन्द अविभक्त रूप में रहते हैं उन्हें यह बिना विभक्त किये विविक्त कर लेता है। इस अतिमानस के कारण ही पृथिवी पर दिव्य जीवन की सम्भावना है क्योंकि इसके कारण हम सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कर सकते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर कहा अतिमानस ऋतचित् है। इसलिए वह हमारी सामान्य मन की चेतना से भिन्न है। **प्रथमतः** अतिमन का ज्ञान तादात्म्य के द्वारा होता है जबकि हमारे मन का ज्ञान विभाजन के द्वारा होता है। **दूसरे** शब्दों में अतिमन में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं है। किन्तु मन में यह त्रिपुटी है। दूसरे अतिमन में जो भी विचार आता है उसमें उसे साकार रूप देने की क्षमता है। हमारे मन में यह क्षमता नहीं है। **तीसरे** अतिमन में ज्ञान और इच्छा में कोई दूरी नहीं है जबकि मन में ज्ञान और इच्छा पृथक् पृथक् हैं। क्योंकि मन ज्ञान को इच्छा के द्वारा जब साकार रूप देना चाहता है तो वह साकार रूप मन से बाहर होता है, इसलिए यह सम्भव है जिस इच्छा को मन पूरा करना चाहे वह पूरी न हो। **चौथे** अतिमन में एक विचार का दूसरे विचार से और एक इच्छा का दूसरी इच्छा से संघर्ष नहीं होता क्योंकि उसका रूप बृहत् है जिसमें सभी विचार और इच्छायें हैं जिनमें से किसी एक विचार या इच्छा को वह प्रकट करता है और दूसरे विचार या इच्छा को प्रकट नहीं करता। किन्तु मन के स्तर पर विचार और इच्छाओं में परस्पर संघर्ष होता रहता है।

अतिमन के कार्य दो भागों में बँटें हैं एक तो वह सर्वव्यापक है, दूसरे वह प्रक्षेपण कर सकता है। सर्वव्यापक के रूप में वह सम है किन्तु प्रक्षेपण की स्थिति में

उसकी चेतना विषम हो जाती है। सम रूप में उसकी चेतना अविभक्त है किन्तु वह उस रूप में अविभक्त नहीं है जिस रूप में वह सच्चिदानन्द में अविभक्त है क्योंकि उसका अविभक्त रूप विभाजन को जन्म दे देता है।

सर्वव्यापक के रूप में अतिमन की दृष्टि सार्वभौम रहती है। उसका ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ होता है, पदार्थनिष्ठ नहीं। वहाँ देश और काल का भान नहीं होता। यह विश्व में सर्वत्र व्यवस्था बनाता है। इसके बिना अनन्त शक्तिमान् की शक्ति व्यवस्थित नहीं हो सकती। अतिमन के कारण ही विश्व एक नियम के अनुसार संचालित होता है। उसकी सभी गति उस नियम के द्वारा निर्धारित है।

सर्जन के लिए काल में क्रमिकता और देश में विभाजन आवश्यक है। अतिमन के लिए देश और काल परस्पर जुड़े हुए हैं इसलिए उसकी कार्यविधि सामञ्जस्यपूर्ण है, जबकि मन के स्तर पर घटनाओं में संघर्ष होता रहता है क्योंकि मन एक ही समय और स्थान को देख पाता है जबकि अतिमन काल के पूरे विस्तार और देश के फैलाव को एक साथ देख लेता है।[7]

अतिमन सर्वत्र अन्तर्यामी के रूप में उपस्थित रहता है और माया के द्वारा सारे अस्तित्व को यंत्रारूढ की भाँति संचालित करता है।[8] सर्वव्यापक के रूप में अतिमन अविभक्त है किन्तु उसकी अविभक्तता सच्चिदानन्द की अविभक्तता के समान एकान्तिक नहीं है। दूसरे शब्दों में अतिमन विविधता के सार को अपने में समाहित रखता है। उसके लिए एक और अनेक दोनों एक ही अस्तित्व के रूप हैं।[9] १. ब्रह्म सर्वत्र है, २. सभी कुछ ब्रह्म में है और ३. सभी कुछ ब्रह्म है— यह अतिमानस की सर्वव्यापकता का त्रिविध रूप है।[10]

विभाजन

अतिमानस का दूसरा काम विभाजन का है। यह विभाजन प्रक्षेपण के रूप में होता है। सर्वव्यापक के रूप में अतिमन समरूप में है किन्तु प्रक्षेपण करते समय उसकी चेतना विषम हो जाती है। इस अवस्था में ज्ञाता की चेतना स्थिर बनी रहती है किन्तु उसके साथ ही उसकी शक्ति का प्रक्षेपण होता रहता है। यही

सापेक्ष विश्व की सृष्टि का आधार बनता है। तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय अथवा भोक्ता, भोग और भोग्य अथवा आत्मा, माया और कर्म के बीच भेद उत्पन्न हो जाता है। इस गतिविधि को देखने वाला पुरुष अनेक रूपों में प्रकट होता है— **पुरुष एवेदं सर्वम्।** इस स्थिति का वर्णन वेद के पुरुष सूक्त में तथा गीता के विराट् दर्शन में विस्तार से मिलता है। यही वेद का पुरुषमेध यज्ञ है जहाँ पुरुष अनेक भागों में विभक्त होता है। मानों पुरुष अपनी शक्ति के साथ सभी रूपों में व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार एकता पर अनेकता आधृत रहती है।

अतिमानस के तीन रूप

अतिमानस के तीन रूप हैं। प्रथम रूप में एकता है, दूसरे रूप में एक में अनेक और अनेकों में एक की अभिव्यक्ति है तथा तीसरे रूप में अनेकता का विकास है। अनेकता के विकसित रूप में हम पृथक् अहंकार को पाते हैं जो अज्ञान से उत्पन्न होता है। ईशोपनिषद् में इस स्थिति को इस रूप में कहा गया है कि जो सब सर्वभूतों को अपने में देखता है और अपने में सर्वभूतों को देखता है वह निर्भय हो जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते

सच्चिदानन्द में विश्व नित्य रूप में स्थित है। इसका प्रथम परिवर्तन अतिमानस के सर्वव्यापक रूप में होता है। यहाँ 'एक' ही है; अभी व्यष्टि का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। इस स्थिति में चित् और चित् शक्ति में अथवा आत्मा और पदार्थ में भेद नहीं होता। यह अतिमानस का प्रथम रूप है। अतिमानस के दूसरे रूप में चेतना पृथक् रहती है और वह गति की साक्षी बनी रहती है। साक्षी के रूप में वह समान रहती है किन्तु गति के रूप में वह भेद करती है। अतिमानस के प्रथम और द्वितीय रूप में यह अन्तर है कि प्रथम रूप में दिव्य आत्मा आत्मा के समस्त रूपों को अपना ही स्वरूप समझती है तथापि उनके साथ अलग अलग सम्बन्ध भी स्थापित करती है और प्रत्येक के साथ दूसरों को भी जोड़े रहती है जबकि दूसरे रूप में दिव्य आत्मा अपने अस्तित्व के साथ आत्मा के स्वरूप और

आत्मा की गति को एक ही रूप में देखती है तथा चेतना के प्रति जागरूकता के द्वारा एक के साथ जुड़ी भी रहती है और साथ ही अपनी क्रिया के द्वारा व्यक्तिगत गति को भी सहारा देती है। अतिमानस के इस दूसरे रूप में भी अभी अनेक 'एक' ही बने रहते हैं।[11]

अतिमानस की तृतीय स्थिति में और भी परिवर्तन आता है जबकि दिव्य आत्मा अपने आप को गति से जोड़ लेती है अर्थात् इस स्थिति में एकता में द्वैत आ जाता है किन्तु फिर भी अभी अज्ञान का प्रवेश नहीं होता क्योंकि अभी 'एकता के बिना शुद्ध द्वैत' नहीं आता। अभी तक दिव्य आत्मा मोह में नहीं पड़ती और इसलिए एकत्व का बोध बना रहता है। अभी वह अपने आप को स्वतन्त्र नहीं समझती। अभिप्राय यह है कि अतिमानस की तीनों ही स्थितियों में ज्ञान बना रहता है; यद्यपि आनन्द का स्तर कम होता जाता है किन्तु अज्ञान का प्रवेश अभी नहीं होता।

वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक

वस्तुतः अतिमानस के दो रूप हैं—वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक। निर्वैयक्तिक अतिमानस जन्म-मरण से मुक्त है, वह अमृत और ज्ञान में लीन है, उसमें राग द्वेष नहीं है, वह सदा परात्पर से जुड़ा है और उसे यह भान है कि वह परात्पर की अभिव्यक्ति है। उसके तीन स्वरूप युगपत् हैं। उसका आनन्द स्व का आनन्द है, किन्तु वह दूसरों के साथ सम्पर्क का आनन्द भी भोगता है। उसमें ज्ञान, इच्छा और आनन्द एक रूप हैं। मृत्यु उसके लिए केवल विश्राम है।

इसके विपरीत जो जीवात्मा अज्ञान से अतिमानस की स्थिति में आ जाता है, वह अज्ञान की सीमा को तो पार कर लेता है और इस प्रकार यद्यपि वह ईश्वर का अंश होता है किन्तु वह मानव परिस्थिति की सीमा में ही रहता है। यद्यपि वह भी प्रकाश, शक्ति और आनन्द का भोग करता है और इस रूप में अतिमानस के निर्वैयक्तिक स्वरूप से भिन्न नहीं होता तथापि उसका व्यष्टिभाव बना रहता है। संक्षेप में उसका निर्वैयक्तिक स्वरूप से परिमाण का अन्तर होता है, गुणवत्ता का नहीं। डॉ. आर.डी. रानाडे ने इसे चतुर्दशी के चन्द्रमा तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा अथवा २३ कैरेट स्वर्ण और २४ कैरेट स्वर्ण का अन्तर बताया है।[12]

द्वैत और अद्वैत

अतिमानस की तृतीय स्थिति अद्वैत में द्वैत के आनन्द की है किन्तु यह स्थिति शुद्ध द्वैत की नहीं है। अभी उसका द्वैत वास्तविक नहीं है क्योंकि एकत्व अभी लुप्त नहीं हुआ है। दूसरी ओर अज्ञान के बिना मन, प्राण और भूत की त्रयी का जन्म नहीं हो सकता और यह द्वैत की स्थिति में ही सम्भव है। यह द्वैत की स्थिति अज्ञान की स्थिति है जो मन का स्वभाव है। मन विभक्त करता है और अनन्त को सान्त बना देता है। यही परिमितिकरण है जो माया का कार्य है। यही अविद्या है। सच्चिदानन्द की माया विद्या स्वरूप है। मन की माया अविद्या स्वरूप है। जब चेतना आंशिक ज्ञान और आंशिक क्रिया में लीन होती है तब अज्ञान का जन्म होता है।[13] **चेतना की शक्ति के चार रूप हैं उसका सार रूप सच्चिदानन्द में है, संश्लिष्ट रूप अतिमन में है, विविध रूप अधिमन में है और विभक्त रूप मन में है। मन में रहने वाला विभक्त रूप ही अज्ञान है।** ज्ञान में अपने आप को सीमित कर देने की शक्ति है और इसी शक्ति के द्वारा विभक्त रूप का जन्म होता है। यही अज्ञान है। मन के स्तर पर मनुष्य अन्तरात्मा को नहीं जानता और सतही कार्यों में लगा रहता है। दूसरे वह वर्तमान में रहता है; उसे भूत और भविष्य का ज्ञान नहीं होता, तीसरे उसे वर्तमान जीवन का भी एक ही अंश प्रतीति में आता है और वह शेष अंश को भूला रहता है। चौथे वह अपने कर्म में आसक्त होने के कारण राग और द्वेष में फंसा रहता है।

अज्ञान के सात स्तर

जीव के अपने आप को पूरी तरह विस्मृत कर देने की स्थिति मन और प्राण के स्तर पर अधूरी है किन्तु भूत के स्तर पर वह पूरी है। भूत की स्थिति पूरी तरह आत्म-विस्मृति अथवा जडता की स्थिति है। **अज्ञान के सात स्तर हैं। प्रथम स्तर परात्पर के ज्ञान के अभाव का है। दूसरा स्तर देश और काल से परे आत्मा के ज्ञान के अभाव का है, तीसरा स्तर अहंकार का है जहाँ सार्वभौम आत्मा के ज्ञान का अभाव रहता है, चौथा अज्ञान जीव के ज्ञान के अभाव का अज्ञान है, पांचवां अज्ञान अवचेतन के ज्ञान का अभाव है, छठा अज्ञान अपनी संरचना के सम्बन्ध में है, सातवां अज्ञान व्यावहारिक है जिसके कारण हम गलतियाँ करते हैं और**

इच्छाओं के जाल में फंस कर सुख दुःख भोगते हैं। मनुष्य की चेतना सभी प्रकार के अज्ञानों से मुक्त होकर व्यापक ज्ञान प्राप्त करना चाहती है।

सात प्रकार के अज्ञानों का निवारण तब होता है जब अतिमानस के स्तर पर परात्पर का ज्ञान होता है, देश और ज्ञान से परे कूटस्थ आत्मा का ज्ञान होता है। वैश्विक आत्मा का ज्ञान, जीवात्मा का ज्ञान तथा अवचेतन का ज्ञान ये सभी तो अज्ञान को दूर करते ही हैं, मन, प्राण और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान हमें विचार, इच्छा और भावना का समुचित उपयोग भी सिखाता है।

स्पष्ट है कि अज्ञान के बिना संसार की अभिव्यक्ति का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। सच्चिदानन्द अपना आत्मगोपन जड के रूप में करके फिर उसे मन, प्राण और शरीर के रूप में स्वयं ढूँढता है और इस प्रकार वह अपने को नये सिरे से उपलब्ध करता है।[14] इस प्रकार अज्ञान आवश्यक है जिसे सार्वभौम ज्ञान ने अपनी इच्छा से अपने ऊपर आरोपित किया है।[15] इस प्रकार अज्ञान एक भूल नहीं है अपितु एक सार्थक अवतरण है। श्री अरविन्द का कहना है, 'अज्ञान एक दिव्य अवसर है कि पूर्ण आनन्द को अपने अनेक रूपों में पाया जा सके, कि अनन्त अस्तित्व को प्राप्त करने की सम्भावना हो सके जो अन्य किसी परिस्थिति में नहीं हो सकती, कि भौतिक जगत् में जन्म लेने वाली आत्मा को यह कार्य सौंपा गया है कि वह भूत में दिव्यता के मन्दिर का निर्माण कर सके।'[16]

अज्ञान की आवश्यकता

इस प्रकार अज्ञान सच्चिदानन्द के जगत् के रूप में अभिव्यक्त करने की आवश्यकता की पूर्ति के लिये उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि जगत् के रूप में अभिव्यक्त होने का कार्य सच्चिदानन्द अथवा अतिमानस के स्तर पर नहीं हो सकता क्योंकि सच्चिदानन्द अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्द है और अतिमानस अनन्त, प्रकाश और शक्ति या ज्ञान है जिसमें अनेकता में एकता बनी रहती है। दोनों ही स्थितियों में आत्म-चेतना बनी रहती है जो मन के स्तर पर पृष्ठभूमि में चली जाती है और तब मन भेद करता है। अतिमन अनेकता

में एकता देखता है किन्तु मन शुद्ध अनेकता को ही देखता है। मन के स्तर पर एकता निर्मित अवश्य होती है क्योंकि उसके पीछे अतिमन रहता है। जब तक अतिमन के स्तर पर अनेकता में रहने वाली एकता का भान बना रहेगा तब तक अज्ञान का जन्म नहीं हो सकता। एक प्रकार से अतिमानस और मानस के बीच एक आवरण आ जाता है तभी अज्ञान होता है।[17] श्री अरविन्द इस आवरण को ईशोपनिषद् के हिरण्यमय पात्र के रूप में विवेचित करते है।[18] इस आवरण के कारण मन अज्ञान में चला जाता है और तब वह अनेकता में एकता की जगह अनेकता को ही देख पाता है और एकता का केवल कृत्रिम रूप में निर्माण करता है। इस प्रकार अविद्या का जन्म होता है और अतिमन तथा मन के बीच अधिमन आ जाता है जिसे श्री अरविन्द ने हिरण्यगर्भ कहा है।

चेतना के घनीभूत रूप की शक्ति से अज्ञान को ज्ञान में बदला जा सकता है, आवरण को हटाया जा सकता है और आत्मदर्शन किया जा सकता है। जहाँ तक अज्ञान का सम्बन्ध है, अज्ञान चित्-शक्ति की निर्बलता का सूचक नहीं है अपितु उसकी स्वयं को सीमित कर लेने की क्षमता का सूचक है।[19] संसार की अभिव्यक्ति सच्चिदानन्द की लीला है जिसके लिए आत्मशक्ति में अपने आप को सीमित कर लेने की क्षमता का होना आवश्यक है। इस प्रकार विद्या और अविद्या, ज्ञान और अज्ञान एक दूसरे के परिपूरक हैं; अविद्या से संसार उत्पन्न होता है और विद्या से संसार लीन हो जाता है।[20] इतना अवश्य है कि अज्ञान ज्ञान पर निर्भर है और स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि ज्ञान ही अपने सीमित रूप में अज्ञान बनता है।

अज्ञान के सम्बन्ध में **प्रथम** तो यह जानना चाहिए कि अज्ञान मन के स्तर पर है और सच्चिदानन्द के स्तर पर नहीं। इसलिए वह मौलिक नहीं है। **दूसरे** क्योंकि अज्ञान चित्-शक्ति के विशेषीकरण अथवा घनीभूत होने के कारण उत्पन्न होता है इसलिए वह चित्-शक्ति का स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह चित्-शक्ति की आंशिक गति से सतही रूप में उत्पन्न होता है। **तीसरे** वह मनुष्य के मन से उत्पन्न होने के कारण जागतिक अथवा व्यावहारिक है। **चौथे** वह व्यवहार में काम आने के कारण व्यावहारिक स्तर पर तो है किन्तु पारमार्थिक स्तर पर नहीं है।[21] वह यात्रा में उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। इसलिए वह अनादि अनन्त नहीं है।[22]

ज्ञान-अज्ञान : अधिमन

हमने देखा अतिमन और मन के बीच अधिमन का योगदान अवतरण के समय तर्क की दृष्टि से आवश्यक है और आरोहण के समय व्यवहार की दृष्टि से अपरिहार्य है।[23] अतिमन ज्ञान की स्थिति है और मन अज्ञान की स्थिति है। अधिमन इन दोनों के बीच ज्ञान-अज्ञान की स्थिति है।[24] अतिमन अज्ञान में उतरते समय अधिमन को मानों अपना प्रतिनिधि बनाता है। वह अपनी सारी शक्तियों को और सच्चिदानन्द के स्वरूप को एक स्वर्णिम आवरण के द्वारा अधिमन तक पहुँचाता है। अधिमन को वस्तुओं के संश्लिष्ट रूप का भान तो रहता है, किन्तु अपनी गतिशील क्रिया के द्वारा वह किसी एक पक्ष के लेकर स्वयं की सृष्टि का निर्माण करता है।[25]

उदाहरणतः पुरुष और प्रकृति अतिमन के स्तर पर एक ही सत्य के दो पक्ष हैं, किन्तु अधिमन इन दोनों को स्वतन्त्र मानता है। पहला पक्ष वेदान्त का है, दूसरा सांख्य दर्शन का। इसी प्रकार एक और अनेक तथा दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य निर्व्यक्तित्व को अधिमन अलग अलग रूप में प्रस्तुत करता है। तथापि अधिमन के स्तर पर भी अन्तर्निहित एकता का आधार बना रहता है। वह अनेक देवों का निर्माण करता है जो अपने अपने संसार को बनाते हैं। इस प्रकार अधिमन अस्तित्व की अनेक सम्भावनाओं को प्रकट करता है जो परस्पर एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं।[26]

अधिमन के स्तर पर परस्पर विपरीत प्रतीत होने वाले पक्ष विपरीत न रहकर परस्पर पूरक हो जाते हैं।[27] स्पष्ट है कि यह स्थिति अनेकान्त की है। जैन परम्परा में आचार्य युग में अनेकान्त आया किन्तु उससे पूर्व आगम युग में उस स्थिति का भी उल्लेख है जहाँ तर्क काम नहीं करता—**तक्का तत्थ न विज्जइ।**[28] आगम का यह वक्तव्य अतिमानस स्तर का है जबकि अनेकान्त का सिद्धान्त अधिमन के स्तर का है। अधिमन तर्क और इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विश्व को भिन्न भिन्न भागों में बाँट कर उन्हें परस्पर जोड़ता है। इस प्रकार उसकी दृष्टि वैश्विक है और वह सभी भेदों के परस्पर विरोध का परिहार करता है।[29] **अतः अधिमन की दृष्टि में अपने अपने दृष्टिकोण से सभी दर्शन प्रामाणिक है किन्तु**

मन के लिए वे सब एक दूसरे के विरोधी है। मन के स्तर पर हम उन दर्शनों के बीच एक दूसरे के खण्डन करने की प्रवृत्ति पाते हैं जिसके द्वारा अपने ही दर्शन को सर्वोच्च सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

अधिमन एक प्रकार से अतिमन का ही निम्नस्तरीय रूप है। इसलिए अधिमन के स्तर पर अन्तर्निहित एकता का भान बना रहता है और इसीलिए परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। अधिमन के स्तर पर सामञ्जस्य बना रहता है। वहाँ अनेकता रहते हुए भी सर्वसमावेशी दृष्टि रहती है। यद्यपि वहाँ संश्लेष नहीं होता किन्तु सार्वभौमिकता बनी रहती है। उसकी दृष्टि व्यावहारिक सत्य पर होती है और पारमार्थिक सत्य यदा कदा ही अभिव्यक्त हो पाता है।

अधिमन के कारण ही अज्ञान का जन्म होता है क्योंकि उसमें विद्या और अविद्या दोनों रहती हैं। अधिमन का भेद करने का कार्य जड पर जाकर पूरा होता है जहाँ पूरी तरह अज्ञान रहता है। यह अज्ञान उस तुच्छ्य पर जाकर समाप्त होता है जिसका उल्लेख नासदीय सूक्त में यह कहकर किया गया है कि तुच्छ्य के द्वारा आभु ढका हुआ था **तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्**।[30] 'तुच्छ्येन' शब्द का प्रयोग स्वयं श्री अरविन्द ने किया है।[31] उनके अनुसार अधिमन अज्ञान का प्रथम जन्मदाता है।[32]

अधिमन जब समष्टिगत अज्ञान की ओर जाता है तो चित्-शक्ति मन को अधिमन से पृथक् कर देती है। अधिमन और अतिमन के बीच आवरण पारदर्शी अथवा झीना था। किन्तु मन और अधिमन के बीच का आवरण घना हो जाता है। इसलिए मन अधिमन की दृष्टि को भी नहीं समझ पाता। अन्तर्दृष्टि, आलोकित मन और उच्चतर मन के माध्यम से मन अधिमन से पृथक् हो जाता है और उसी रूप में कार्य करता है। मन के स्तर पर समग्र का निर्माण कृत्रिम रूप में किया जाता है न कि संश्लिष्ट दृष्टि के रूप में। इसका यह अर्थ नहीं है कि मन पूर्णतः अज्ञान में रहता है। वस्तुतः इसका ज्ञान आंशिक होता है। वह प्राण के माध्यम से जड़ तक पहुँचता है जहाँ ज्ञान लुप्त हो जाता है। वहाँ केवल शक्ति और व्यक्ति रहता है और चेतना अन्धी नींद में खो जाती है। वहाँ से चेतना पुनः जागना प्रारम्भ करती है और उसका विकास होता है।

निष्कर्ष यह है कि अतिमन प्रथम स्रष्टा है और अधिमन उसके अधीन रहने वाला दूसरा स्रष्टा है। अतिमन से विद्यामय सर्जन होता है और अधिमन से अज्ञानमय सर्जन होता है। इस रूप में अधिमन को हिरण्यगर्भ कहा जा सकता है[33] जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ— **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।**[34] यहीं से आगे मन, प्राण और भूत की त्रयी का जन्म होता है।

मन

मन, प्राण, जीव और जडभूत निम्न स्तर की सृष्टि है जो अज्ञान से उत्पन्न होती है। उच्चस्तर पर अतिमन, चित्-शक्ति, सत् और आनन्द है। अतिमन के अधीन मन है जो एकता को भूल कर भेद ही करता है किन्तु जिसमें पुनः अतिमन तक पहुँचने की शक्ति है। प्राण चित्-शक्ति के आधीन है जो विभाजन के आधार पर कार्य करता है। जडभूत सच्चिदानन्द के सत् के अधीन है और जीव सच्चिदानन्द के आनन्द के अधीन हैं।[35]

मन, प्राण और जडभूत का समष्टि रूप भी है और व्यष्टिरूप भी। यह सत्य के अवतरण वाले स्वरूप हैं। मनुष्य में इनके साथ आत्मा जुड़ जाती है और तब जीवात्मा का निर्माण होता है। जिस प्रकार मन, प्राण और जड़भूत के दो पक्ष हैं—समष्टि और व्यष्टि, उसी प्रकार जीवात्मा के भी दो रूप हैं— कामात्मा और चैत्यपुरुष। जीवात्मा अवचेतन में नहीं रहता अपितु हृदय में रहता है।

मन वस्तुतः चेतन है जो अविभक्त में से सीमित पदार्थों को पैदा करता है।[36] मन पदार्थ के साथ व्यवहार करने के लिए उसे समग्र से तोड़कर स्वतन्त्र मान कर चलता है। व्यवहार के लिए ऐसा करना आवश्यक है। यह मन का वैशिष्ट्य है। मन की यह प्रवृत्ति वैचारिक तथा भावना के दोनों स्तरों पर कार्य करती है। मन खण्ड को ही अखण्ड मानकर चलता है इसलिए वह गणित के स्तर पर कार्य करता है। यदि वह वस्तुतः अखण्ड पर जाना चाहेगा तो उसकी गति अवरुद्ध हो जायेगी। यदि मन कभी अनन्त को जानता हुआ सा प्रतीत होता है तो वह केवल आभास ही है, वास्तविकता नहीं। वह धुंधले रूप में निराकार बृहत् को देख पाता है किन्तु देशातीत अनन्त को नहीं। वह जैसे ही अनन्त को जानना चाहता है

वैसे ही सीमित करने की प्रकृति उसे पुनः आकार और शब्दों में ले आती है।[37] अतः मन अनन्त को कभी नहीं जान सकता जब तक कि वह अतिमानस तक न पहुँचे। इसके लिए उसे समर्पण करना होता है।[38]

मन अविद्या-माया का परिणाम है जो सच्चिदानन्द के अवतरण के क्रम में उत्पन्न होता है। चेतना जब आंशिक ज्ञान या आंशिक क्रिया में खो जाती है तो आत्मा का एकता का ज्ञान लुप्त हो जाता है और वह अपने आपको नितान्त पृथक् समझने लगती है। अविद्या के कारण मन की क्रियायें अतिमन की क्रिया से पृथक् हो जाती है। तब वह विशेष को ही देख पाता है, सामान्य को नहीं। सच्चिदानन्द के लिए अपने आपको सम्बन्धों और प्रतिक्रियाओं के रूप में प्रकट करने के लिए मन आवश्यक है। मन के कारण चेतना के पृथक् पृथक् केन्द्र बन जाते हैं, जो सम्बन्धों और प्रतिक्रियाओं के संसार को जन्म देते हैं। मन ही अनन्त को सान्त के रूप में बाँटता है और इसलिए यह अज्ञान का स्वरूप है।

अतिमन की तृतीय अवस्थिति से मन का जन्म होता है और तब प्रत्येक जीव अतिमन की चेतना को खो देता है और वह देश और काल से बंधकर पदार्थों को देखता है। वह क्षण, क्षेत्र, आकार और गति से सीमित होने के कारण अशेष से वंचित हो जाता है। वह काल, शक्ति और पदार्थ की अविभक्तता को खो देता है। वह यह भी भूल जाता है कि एक ही मन भिन्न भिन्न दृष्टियों को ग्रहण करने के कारण अनेक में बदल जाता है, एक ही प्राण अनेक क्रियाओं के कारण अनेक हो जाता है तथा सारे शरीर और आकार एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न रूप हैं।[39] जब मनुष्य अपने को शरीर समझ लेता है तो यह अज्ञान और भी गहरा हो जाता है।

वस्तुतः मन सत्य को ही गलत रूप में प्रस्तुत करता है और अज्ञान कोई ऐसी नयी चीज उत्पन्न नहीं करता है जो नितान्त मिथ्या हो। जैसे अतिमन और मन के बीच का आवरण हट जाता है, हम अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में देखने लगते हैं और यह पाते हैं कि जिसे मन सत्य समझता था वह सत्य का विकृत रूप था। जगत् का स्रष्टा तो अतिमन ही है किन्तु मन उसका एक पक्षीय और संकीर्ण रूप देखता है न कि कोई दूसरा नया संसार बनाता है। परिणाम

स्वरूप जीवात्मा स्वयं को 'एक' का ही रूप समझने के स्थान पर स्वयं को ही पृथक् मान बैठता है। यही मन की मूलभूत भूल है; शेष सभी भूलें इसी का परिणाम है। मन के स्तर पर जीवात्मा पदार्थों को उस रूप में ही देखता है जिस रूप में वे प्रतीति में आते हैं और शेष को भूल जाने के कारण भ्रमित हो जाता है। क्योंकि सभी चीजें परस्पर जुड़ी हुई हैं और इसलिए एक अंश का भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण को जानना आवश्यक है। इसलिए हमारे सभी ज्ञान भ्रान्त रहते हैं। इसी कारण हम भोग में आनन्द लेते हैं और कष्ट पाते हैं।[40]

किन्तु मन क्योंकि कुछ नया पैदा नहीं करता है, केवल सत्य को विकृत करता है, इसलिए वह नितान्त भ्रान्त नहीं है। वह खण्डों को सच्चिदानन्द की क्रीडा का निमित्त मानने की अपेक्षा अविद्या में रहकर खण्डों को विभक्त करता रहता है।[41] किन्तु मन जैसे ही अतिमन की ओर जाता है वह गौण और निमित्त हो जाता है और भ्रम से सत्य की ओर चलने लगता है। तब दुःख आनन्द में बदलने लगते हैं; सुख और दुःख केवल संवेदना मात्र बनकर रह जाते हैं। मृत्यु अमृत में बदल जाती है क्योंकि जीवन और मृत्यु अमृतत्व की ओर यात्रा का ही अंग बन जाते हैं।

वेद की त्रयी में मन, प्राण और शरीर का उल्लेख है। श्री अरविन्द इस त्रयी के अतिरिक्त जीव अथवा जीवात्मा का भी उल्लेख करते हैं उनका कहना है कि हम सब में एक दिव्य का अंश भी है जो जन्म और मृत्यु के चक्र के बीच में से भी बना रहता है। इसके दो रूप हैं एक जीवात्मा है जो हमारा अपना स्वरूप है और जिसका ज्ञान हमें उस समय होता है जिस समय हम अपने आप को पहचान लेते हैं। इसका दूसरा स्वरूप शरीर, प्राण और मन के पीछे रहने वाला वह है जो इन तीनों को सहारा देता है। जीवात्मा जन्म नहीं लेता क्योंकि उसका विकास के क्रम में अवतरण नहीं होता।

जीव

आत्मा व्यष्टि के रूप में एक जीव का निर्माण करती है। वह जीव जब तक जीवात्मा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित न कर ले और जब तक सभी दिव्य

सम्भावनाओं को वास्तविक रूप न दे दे, तब तक वह जीव जन्म और मृत्यु में निरन्तर घूमता रहता है। यह जीव आत्मा का प्रतिनिधि है। आत्मा में समस्त दिव्य सम्भावनायें रहती हैं। जीव उस आत्मा का प्रतिनिधि है और चेतन है। यह आत्मा के सभी गुणों का अपने में आधान नहीं करता किन्तु जो कुछ शाश्वत है उसे देश और काल में बाँध कर व्यष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार जीव आत्मा का प्रतिनिधि है और विकास के क्रम में केन्द्रस्थानीय है। यह अन्तर्ज्योति है। आत्मा इससे भिन्न है। यह मन, प्राण और शरीर को सहारा देता है और उनका साक्षी है। इसमें समस्त दिव्य सम्भावनायें निहित रहती हैं। आध्यात्मिक अनुभव इसकी शक्ति है। यह सत्य को शुद्धतम रूप में जानता है।[42] यह सत्य, शिव और सुन्दर, प्रेम और सामञ्जस्य जैसी सम्भावनाओं की ओर हमें ले जाता है और वे हमारी आवश्यकतायें बन जाती हैं। यह भक्ति की स्थिति है।

यह जीव मन, प्राण और शरीर के पीछे आवृत्त रहता है, साधना के द्वारा ही यह हमारे सम्मुख आता है। इसका साक्षात् करने पर व्यक्ति, 'भक्त हो जाता है, आत्म समर्पण कर देता है, उसकी सभी प्रवृत्तियाँ ईश्वरोन्मुख हो जाती है, वह दिव्य, सत्य, शिव और सुन्दर की ओर मुड़ जाता है, मिथ्या, पाप, कुरूप और असंगत का निराकरण कर देता है और प्रेम और सहानुभूति के द्वारा सम्पूर्ण अस्तित्व से जुड़ जाता है और आत्मा के साथ दिव्य-सत्य को ग्रहण कर लेता है।'[43]

इसी जीव के भी दो स्वरूप हैं। ऊपरी तौर पर यह कामात्मा है जो प्राण के स्तर पर इच्छाओं की पूर्त्ति को तथा मानसिक स्तर पर शक्ति, ज्ञान और सुख को चाहता है। दूसरी ओर मन, प्राण और शरीर के पीछे वह जीव है जिसकी शक्ति प्रकाश, प्रेम और सुख है। सूक्ष्म मन, सूक्ष्म प्राण और सूक्ष्म भूत क्रमशः सार्वभौम मन के ज्ञान को, सार्वभौम प्राण के बल को और सार्वभौम भूत की शक्ति को ग्रहण करते हैं जबकि जीव सार्वभौम आत्मा के सार्वभौम आनन्द को ग्रहण करता है किन्तु कामात्मा अहंकार के कारण इस आनन्द को ग्रहण नहीं कर पाता, अपितु कामात्मता के कारण आनन्द (अथवा रस) सुख, दुःख और उदासीनता के तीन भागों में बँटकर विकृत हो जाता है।[44]

व्यक्ति का अतिमानस रूपान्तरण हो सके इसके लिए मन, प्राण और शरीर का जैविक स्तर पर रूपान्तरण आवश्यक है। मनुष्य अपनी सच्ची आत्मा से अनभिज्ञ

है और कामात्मा को ही अपनी सच्ची आत्मा मान लेता है। साधना के द्वारा जब सच्ची आत्मा प्रकट होती है तो वह कामात्मा के स्थान पर मन, प्राण और शरीर को अनुशासित करती है और तब व्यक्ति का अतिमानसिक रूपान्तरण होता है जो कि मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य है।

जीव का रूपान्तरण हुए बिना भी आध्यात्मिक रूपान्तरण हो तो सकता है किन्तु उस स्थिति में व्यक्ति अन्दर से आध्यात्मिक होने पर भी बाहर से प्रकृति के आधीन बना रहेगा और यद्यपि उसके अन्दर सब कुछ आलोकित होगा किन्तु बाहर से उसकी प्रकृति असंगत होगी[45] अतः बाहर से या तो वह जडवत् हो जायेगा और परस्थिति से संचालित होगा या बालवत्, उन्मत्तवत् या पिशाचवत् भी हो सकता है। अतः जीव का रूपान्तरण भी इष्ट ही है।

प्राण

मन और जीव के अनन्तर प्राण पर विचार करना आवश्यक है। प्राण सार्वभौम शक्ति का रूप है किन्तु वह अज्ञानमय है। सार्वभौम ऊर्जा भिन्न भिन्न आकार ग्रहण करती है और इसलिए मृत्यु और जीवन में परस्पर विरोध नहीं है। क्योंकि जीवन में पदार्थ का क्षरण, पुनर्नवीकरण और स्वरूप का परिवर्तन होता रहता है अतः मृत्यु जीवन के परिवर्तन की आवश्यकता और अनुभव की विशेषता के कारण होने वाला परिवर्तन मात्र है अथवा यह कहना चाहिए कि मृत्यु जीवन की ही एक प्रक्रिया है।

सार्वभौम प्राण एक ही है और उसका भौतिक स्वरूप केवल बाह्य रूप है। यह वस्तुतः नित्य और अविनाशी है। यदि सम्पूर्ण विश्व का बाहरी स्वरूप नष्ट भी हो जाये तो भी प्राण बना रहेगा और या तो नये विश्व का निर्माण कर देगा अथवा विश्राम की स्थिति में बना रहेगा। इस स्थिति का वर्णन नासदीय सूक्त में 'अवात स्वधा' के रूप में किया गया है। श्वास लेना अथवा इच्छा करना इत्यादि सर्वव्यापक प्राण नहीं है, प्राण भिन्न है और श्वास आदि प्राण की प्रक्रिया है न कि प्राण। इसलिए योगी बिना श्वास प्रश्वास के भी अपने शरीर को बनाये रह सकता है। अतः श्वास-प्रश्वास प्राण की अनिवार्य शर्त नहीं है।

प्राण का मन के स्तर पर सार्वभौम प्राण से सम्बन्ध छूट जाता है और इस कारण आत्मा अपने स्वरूप से अपरिचित रहती है। ऐसी स्थिति में आत्मा विश्व की महाक्रिया का केवल उतना ही अंश ग्रहण कर पाती है जितने अंश का उसकी व्यक्तिगत चेतना से सम्बन्ध होता है। इसलिए प्राण भी आत्मा के इसी रूप के कारण मन में कैद हो जाता है और व्यक्तिगत क्रिया तक ही सीमित हो जाता है। इस कारण उसकी तीन सीमायें बन जाती है– मृत्यु, असामर्थ्य और इच्छा।

जैसा कि पहले कहा गया है, जहाँ तक मृत्यु का सम्बन्ध है वह जीवन की एक प्रक्रिया है, न कि जीवन का अन्त। शरीर का समाप्त होना तीन कारणों से आवश्यक होता है– **प्रथम** तो जब शरीर दूसरे जीवन से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाये, तब मृत्यु होती है। **दूसरे** बाहर से आहार ग्रहण न कर सकने की स्थिति में मृत्यु होती है और **तीसरे** अधिकाधिक अनुभव करने की आवश्यकता से नया शरीर धारण करना आवश्यक हो जाता है।

इसी प्रकार जीवन की क्रियाओं में व्यक्तिगत स्तर पर सीमित सामर्थ्य सीमित हो जाती है और सर्वशक्तिमत्ता नहीं रहती। एक ओर तो व्यक्ति को उसके चारों ओर फैली हुई व्यक्तिगत शक्तियों से भी संघर्ष करना पड़ता है दूसरी ओर उसकी इच्छा और सार्वभौम इच्छा के बीच भी संघर्ष रहता है। यह असामर्थ्य का कारण बनता है। इस असामर्थ्य के कारण ही इच्छा उत्पन्न होती है और व्यक्ति परिग्रह इक्ट्ठा करना चाहता है। इसके लिए वह पर्यावरण से परिग्रह एकत्र करता है। वह दूसरों के जीवन से उनका परिग्रह लेता है और दूसरे भी उसके जीवन से परिग्रह ग्रहण करते हैं और इस प्रकार जीवो जीवस्य भोजनं का सिद्धान्त लागू हो जाता है। जब तक जीव अनन्त के साथ न जुड़ जाये तब तक उसकी इच्छा बनी रहती है। किन्तु अनन्त से जुड़ने पर उसकी इच्छा अनन्त की इच्छा में विलीन हो जाती है।

प्राण जड से लेकर अति चेतना तक चार स्तरों से गुजरता है भौतिक, प्राणिक, मानसिक और अतिमानसिक। भौतिक स्तर पर भौतिक शक्ति की मूक प्रेरणा काम करती है, प्राणिक स्तर पर परिग्रह वृत्ति काम करती है, मानसिक स्तर पर प्रेम रहता है और अतिमानस स्तर पर एकत्व का बोध होता है। भौतिक स्तर पर जीव पर के आधीन हो जाता है। प्राणिक स्तर पर जीव और पर दोनों को

ग्रहण करने का भाव रहता है। मानसिक स्तर पर प्रेम के द्वारा जीव और पर के बीच सामञ्जस्य बन जाता है; किन्तु इस स्तर पर भी भेद बना रहता है जबकि अतिमानस स्तर पर स्व और पर का भेद पूरी तरह समाप्त हो जाता है।

सामञ्जस्य

स्व और पर के बीच एकता और सामञ्जस्य स्थापित करना जीवन की प्रमुख समस्या है किन्तु इस समस्या का समाधान मन के स्तर पर नहीं हो सकता क्योंकि मन चेतना और शक्ति को बाँट देता है जिसके कारण अनेक समस्यायें पैदा होती है। इस समस्या का समाधान करने के लिए प्रथम तो अपने अवचेतन को जानना होता है, दूसरे अपने साथियों को जानना होता है और तीसरे प्राण तथा शरीर, तथा प्राण और मन के बीच होने वाले संघर्ष को समाप्त करना होता है। यह तीनों कार्य अतिमानस स्तर पर ही हो सकते हैं क्योंकि वहाँ चेतना और शक्ति 'अनेकता में एकता' के रूप में रहती हैं। अतिमानस स्तर पर व्यक्ति व्यक्ति के रूप में भी रहता है और एक दूसरे के अन्दर भी रहता है, एक ही चेतना की शक्ति अनेक मनों में अपना कार्य करती है, एक ही सुख की शक्ति अनेक जीवों में अपना कार्य करती है और एक ही आनन्द अनेक हृदयों को प्रफुल्लित करता है।

पदार्थ

सच्चिदानन्द का सत् रूप पदार्थ बन जाता है। सच्चिदानन्द की दृष्टि से तो वह भी आत्मा का ही एक रूप है अर्थात् ब्रह्म ही है। वस्तुतः तो पदार्थ से आत्मा तक सभी सोपान ब्रह्म के ही रूप हैं।[46] इन सोपानों का अन्तर केवल वैचारिक है, वास्तविक नहीं। मन क्योंकि बहुलता उत्पन्न करना चाहता है अतः वह विभाजन के द्वारा पदार्थ के स्तर पर पूर्ण पृथक्ता उत्पन्न कर देता है। यह पदार्थ का स्थूल रूप है जो मन को स्थिर रूप में प्रतीति में आता है। पदार्थ का सूक्ष्म रूप तो शुद्ध चेतना की ही प्रतीति में आता है। सच्चिदानन्द का सत् शुद्ध और अविभक्त है, किन्तु अवतरण की स्थिति में यह विभक्त हो जाता है। ऐसा मन के कारण होता है जो अनेकता पैदा करना चाहता है जो विभाजन के बिना नहीं हो सकती। पदार्थ के कारण जीव शरीर, प्राण और मन की सीमा में बँध जाता है

और उसे एकत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। अतः वह कष्ट में पड़ता है। पदार्थ में अज्ञान, आलस्य और विभाजन के तीन तत्व हैं, जिनके कारण जीवन को मृत्यु, इच्छा और सीमाओं का बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। इसके कारण मन को कभी सत्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता और प्राण तथा मन असंतोष की स्थिति में रहते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि संसार से दूर हट कर आत्मा के आनन्द में ही लीन रहना एक मात्र मार्ग है।

किन्तु श्री अरविन्द का मत है कि यह दृष्टि ठीक नहीं है क्योंकि इसमें यह मान लिया जाता है कि पदार्थ अर्थात् शरीर का रूपान्तरण नहीं हो सकता और संसार एक भ्रम है किन्तु अतिमानस स्तर पर पता चलता है कि संसार भ्रम नहीं है और शरीर के रूपान्तरण की सम्भावना है। वस्तुतः संसार को छोड़कर आत्मानन्द में लीन रहने की धारणा में इस बात की उपेक्षा कर दी गयी है कि आत्मा और पदार्थ के बीच अनेक सोपान हैं और पदार्थ केवल जड़ ही नहीं है। उसकी जडता अवतरण के क्रम में अन्तिम स्थिति अवश्य है, किन्तु इस स्थिति से आरोहण के क्रम में वह पुनः शुद्ध सत् तक पहुँच सकता है। वस्तुतः पदार्थ सच्चिदानन्द के सत् स्वरूप का ही प्रतिनिधि है।[47]

---

1. As the poet, artist or musician when he creates does really nothing but develop some potentiality in his unmanifested self into a form of manifestation and as the thinker, statesman, mechanist only bring out into a shape of things that which lay hidden in themselves, was themselves, is still themselves when it is cast into form, so is it with the world and the Eternal. All creation or becoming is nothing but this self-manifestation. —*The Life Divine, P.* 120

2. ...this Law when we analyse it, seems to resolve itself into an equilibrium of the play of forces and a determination of that play into fixed lines of working by the accident of development and the habit of past realised energy. —*The Life Divine, P.* 122

3. It is then a self-determining power in universal consciousness, a capacity in self-awareness of infinite existence to perceive a certain Truth in itself and direct its force of creation along the line of that Truth, which has presided over the cosmic manifestation. —*The Life Divine, P.* 123

4. ...it is a principle superior to mentality and exists, acts and proceeds in the fundamental truth and unity of things and not like the mind in their appearances and phenomenal divisions. —*The Life Divine, P.* 153

5. I take the phrase from the Rig Veda,—ṛta-cit, which means the consciousness of essential truth of being (satyam), of ordered truth of active being (ṛtam) and the vast self-awareness (bṛhat) in which alone this consciousness is possible. —*The Life Divine, P.* 125 *(footnote)*

6. ...He must obviously be omnipresent, omniscient, omnipotent. Omnipresent, for all forms are forms of His conscious being created by its force of movement in its own extension as Space and Time; omniscient, for all things exist in His conscious being, are formed by it and possessed by it; omnipotent, for this all-possessing consciousness is also an all-possessing Force and all-informing Will. —*The Life Divine, P.* 155

7. To see things steadily and see them whole is not possible to the mind; but it is the very nature of the transcendent Supermind. —*The Life Divnie, P.* 145

8. श्रीमद्भगवद्गीता, १८,६१

9. ...an equable extension, one in oneness, one in multiplicity, one in all conditions and verywhere. Here the All and the One are the same existence; —*The Life Divine, P.* 148

10. "Brahman is in all things, all things are in Brahman, all things are Brahman" is the triple formula of the comprehensive Supermind —*The Life Divine, P.* 149

11. If our purified mind were to reflect this secondary poise of Supermind, our soul could support and occupy its individual existence and yet even there realise itself as the One that has become all, inhabits all, contains all, enjoying even in its

particular modification its unity with God and its fellows. —*The Life Divine, P.* 157

12. R.D. Ranade: Pathway to God in Hindi Literature, PP. 197-8

13. Ignorance can only come about as a subordinate phenomenon by some concentration of consciousness absorbed in a part knowledge or a part action of the being and excluding the rest from its awareness. —*The Life Divine, P.* 602

14. It is to find himself in the apparent opposites of his being and his nature that descends into the material Nescience and puts on its phenomenal ignorance as a superficial mask in which he hides himself from his own conscious energy, leaving it self-forgetful and absorbed in its works and forms. It is in those forms that the slowly awaking soul has to accept the phenomenal action of an ignorance which is really knowledge awaking progressively out of the original nescience, and it is in the new conditions created by these workings that it has to rediscover itself and divinely transform by that light the life which is thus laboring to fulfil the purpose of its descent into the Inconscience. Not to return as speedily as may be to heavens where perfect light and joy are eternal or to the supracosmic bliss is the object of this cosmic cycle, nor merely to repeat a purposeless round in a long unsatisfactory groove of ignorance seeking for knowledge and never finding it perfectly,—in that case the ignorance would be either an inexplicable blunder of the All-conscient or a painful and purposeless Necessity equally inexplicable,—but to realize the Ananda of the Self in other conditions than the supracosmic, in cosmic being, and to find its heaven of joy and light even in the oppositions offered by the terms of an embodied material existence, by struggle therefore towards the joy of self-discovery, would seem to be the true object of the birth of the soul in the human body and of the labour of the human race in the series of its cycles. —*The Life Divine, P.* 612-613

15. The Ignorance is a necessary, though quite subordinate term which the universal Knowledge has imposed on itself —*The Life Divine, P.* 613

16. To find and embody the All-Delight in an intense summary of its manifoldness, to achieve a possibility of the infinite Existence which could not be achieved in other conditions, to create out of Matter a temple of the Divinity would seem to be the task imposed on the spirit born into the material universe. —*The Life Divine, P.* 613

17. If by any chance this supporting sense of unity could be drawn back,—it is possessed by mind not in its own separate right, but because it has the supermind behind it, because it reflects the light of the supermind of which it is a derivative and secondary power,—if a veil could fall between mind and supermind shutting off the light of the Truth or letting it come through only in rays diffused, scattered, reflected but with distortion and division, then the phenomenon of the Ignorance would intervene. —*The Life Divine, P.* 614 Compare ईशोपनिषद्, 15-16—हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्

18. Such a veil exists, says the Upanishad, constituted by the action of Mind itself: it is in Overmind a golden lid which hides the face of the supramental Truth but reflects its image; in Mind it becomes a more opaque and smoky-luminous coverture. —*The Life Divine, P.* 614

19. All conscious self-limitation is a power for its special purpose, not a weakness; all concentration is a force of conscious being, not a disability. —*The Life Divine, P.* 616

20. Knowledge and Ignorance will then be, not two irreconcilable principles, one creative of world-existence, the other intolerant and destructive of it, but two coexistent powers both present in the universe itself, diversely operating in the conduct of its processes but one in their essence and able to pass by a natural transmutation into each other. —*The Life Divine, P.* 515-16

21. The ignorance is effective within the bounds of that movement and valid for its purposes, but phenomenal, partial, superficial, not essentially real, not integral. —*The Life Divine, P.* 611

22. K.R.S. Iyenger: Sri Aurobindo, P. 248

23. For the involutionary transition this intervention is a logical imperative, for the evolutionary it is a practical necessity. —*The Life Divine, P.* 287

24. On Yoga II, Tome I, P. 265

25. It takes each Aspect or Power and gives to it an independent action in which it acquires a full separate importance and is able to work out, we might say, its own world of creation. —*The Life Divine, P.* 293

26. In its power of origination and in the process of its executive dynamis Overmind is an organiser of many potentialities of Existence, each affirming its separate reality but all capable of linking themselves together in many different but simultaneous ways. —*The Life Divine, P.* 297

27. What to the mental reason are irreconcilable differences present themselves to the Overmind intelligence as coexistent correlatives; what to the mental reason are contraries are to the Overmind intelligence complementaries. —*The Life Divine P.* 296

28. Compare Anekānta Theory of the Jainas.

29. Overmind Consciousness is global in its cognition and can hold any number of seemingly fundamental differences together in a reconciling vision. —*The Life Divine, P.* 295

30. Compare नासदीय सूक्त

31. . ...inevitable descent, facilis descensus, which Consciousness, once it admits the separative principle, follows till it enters by obscuring infinitesimal fragmentation, tucchyena, into the material Inconscience —*The Life Divine, P.* 299

32. For Supermind transmits to Overmind all its realities, but leaves it to formulate them in amovement and according to an awareness of things which is still a vision of Truth and yet at the same time a first parent of the Ignorance. —*The Life Divine, P.* 293

33. R.D. Ranade: Constructive Survey of Upaniṣadic Philosophy P. 187

34. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे—

35. And we have concluded that this fourth human principle is a projection and an action of the third divine principle of infinite Bliss —*The Life Divine, P.* 278

36. Mind in its essence is a consciousness which measures, limits, cuts out forms of things from the indivisible whole and contains them as if each were a separate integer. —*The Life Divine, P.* 173

37. The moment it tries to deal with that, to possess it, at once the inalienable tendency to delimitation comes in and the Mind finds itself again handling images, forms and words. —*The Life Divine, P.* 174

38. The possession of the Infinite cannot come except by an ascent to those supramental planes, nor the knowledge of it except by an inert submission of Mind to the descending messages of the Truth-conscious Reality. —*The Life Divine, P.* 174

39. It has thus lost the truth of the indivisibility of Time, the indivisibility of Force and Substance. It has lost sight even of the obvious fact that all minds are one Mind taking many standpoints, all lives one Life developing many currents of activity, all body and form one substance of Force and Consciousness concentrating into many apparent stabilities of force and consciousness —*The Life Divine, P.* 179

40. Similarly our will, ignorant of the rest of the all-will, must fall into error of working and a greater or less degree of incapacity and impotence; the soul's self-delight and delight of things, ignoring the all-bliss and by defect of will and knowledge unable to master its world, must fall into incapacity of possessive delight and therefore into suffering. —*The Life Divine, P.* 183

41. It is the result of Mind viewing things in the division it makes, avidyāyām antre instead of viewing itself and its divisions as instrumentation and phenomenon of the play of the truth of Sachchidananda. —*The Life Divine, P.* 183

42. On Yoga II, Tome I, P. 309

43. ... it is immediately, intimately, directly aware of truth of being and truth of nature; it is deeply conscious of truth and good and beauty because truth and good and beauty are akin to its own native character, forms of something that is inherent in its own substance. —*The Life Divine, P.* 925

44. On Yoga II, Tome I, P. 299

45. It is the desire-soul that by its wrong reception of life becomes the cause of a triple misinterpretation of the rasa, the delight in things, so that, instead of figuring the pure essential joy of being, it comes rendered unequally into the three terms of pleasure, pain and indifference. —*The Life Divine, P.* 235

46. A very usual result is that one is divided into two parts of being, the spiritual within, the natural without; in one there is the divine realisation seated in a perfect inner freedom, but the natural part goes on with the old action of Nature, continues by a mechanical movement of past energies her already transmitted impulse. Even, if there is an entire dissolution of the limited person and the old ego-centric order, the outer nature may become the field of an apparent incoherence, although all within is luminous with the Self. Thus we become out wardly inert and inactive moved by circumstance or forces but not self-mobile (jadavat) even though the consciousness is enlightetened within, or as a child thought within is planary self-knowledge (bālavat) or as one inconsequent in thought and impulse though within is an utter calm and serenity (unmattavat), or as the wild or disordered soul though inwardly there is the purity and poise of the spririt (piśācavat) —*The Life Divine, P.* 243

47. ...all Matter as well as all Life, Mind and Supermind are only modes of the Brahman —*The Life Divine, P.* 256

PURPOSE OF THIS WORLD

To free the self is but one radiant pace;
Here to fulfil himself was God's desire.

—Savitri p. 312

X X X

Amid the cosmic workings of the Gods
It marked her the centre of a wide-drawn scheme,
Dreamed in the passion of her far-seeing spirit
To mould humanity into God's own shape
And lead this great blind struggling world to light
Or a new world discover or create.

—Savitri p. 386

X X X

Nature shall live to manifest secret God,
The Spirit shall take up the human play,
This earthly life become the life divine.

—Savitri p. 710

MAYA (ILLUSION)

But Maya is a veil of the Absolute;
A Truth occult has made this mighty world:

—Savitri p. 600

X X X

Perhaps the world is an error of our sight,
A trick repeated in each flash of sense,
An unreal mind hallucinates the soul
With a stress-vision of false reality,
Or a dance of Maya veils the void Unborn.

—Savitri p. 519

जगत् का स्वरूप

गौडपाद, शङ्कर और श्री अरविन्द

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अद्वैत के इतिहास में हमें दो प्राचीन मत मिलते हैं- गौडपाद का अजातवाद और शङ्कराचार्य का मायावाद। श्री अरविन्द ने इन दोनों मतों की आलोचना की है और वस्तुवादी अद्वैत की स्थापना की है। श्री अरविन्द ने यह माना है कि गौडपाद और शङ्कर का उद्देश्य केवल आध्यात्मिक है और सृष्टिविद्या का विवेचन करना नहीं। सृष्टिविद्या के अन्तर्गत केवल अवतरण ही नहीं आरोहण भी होता है। इसी दृष्टि में से श्री अरविन्द का विकासवाद का सिद्धान्त विकसित हुआ। गौडपाद और शङ्कर यह विचार नहीं करते कि ब्रह्म से सृष्टि कैसे बनी क्योंकि यह विचार करने से न इच्छायें समाप्त हो पाती हैं और न कष्ट दूर हो पाता है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये गौडपाद और शङ्कराचार्य ने आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया किन्तु श्री अरविन्द ने संसार में दिव्य जीवन की सम्भावना की भी व्याख्या की। उनके अनुसार केवल अवतरण ही नहीं है, आरोहण भी है। गौडपाद और शङ्कर साधक को संसार से हटाकर आत्मा की ओर ले जाना चाहते हैं। किन्तु श्री अरविन्द संसार का भी दिव्य जीवन के रूप में रूपान्तरण चाहते हैं।

प्रथम बात तो यह है कि गौडपाद और शङ्कराचार्य के अनुसार साधक निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचता है, जहाँ नाम और रूप नहीं है, किन्तु अतिमानस स्तर का स्पर्श नहीं करता जहाँ स्थिति के साथ गति भी है। इस स्थिति का वर्णन उपनिषद् करता है— **तदेजति तन्नैजति**। इसमें गति के पक्ष को छोड़ देने पर ब्रह्म से जगत्

की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं बन सकती। ऐसी स्थिति में शङ्कराचार्य जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता मानते हैं, पारमार्थिक सत्ता नहीं। दूसरी ओर गौडपाद जगत् को पूर्णतः भ्रम मानते हैं, जिसका कभी जन्म ही नहीं हुआ।

गौडपाद के अनुसार क्योंकि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ इसलिए ब्रह्म से जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म निर्गुण है उससे जगत् उत्पन्न हो ही नहीं सकता। श्री अरविन्द के अनुसार यह समस्या का समाधान नहीं है, अपितु समस्या से पलायन कर जाना है। यदि यह मान भी लिया जाये कि जगत् नहीं है तो भी जगत् का भ्रम तो है ही और यह प्रश्न तो रहेगा ही कि यह भ्रम क्यों है और इसका ब्रह्म से तथा हमसे क्या सम्बन्ध है।

जगत् मिथ्या नहीं

गौडपाद की अपेक्षा शङ्कराचार्य ब्रह्म और जगत् के बीच के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जगत् की व्यावहारिक सत्ता को तर्क से समझा जा सकता है किन्तु इस व्यावहारिक सत्ता के पीछे एक पारमार्थिक सत्ता है जिसे केवल अन्तर्दृष्टि से ही समझा जा सकता है, तर्क द्वारा नहीं। अतः तर्क की दृष्टि से जगत् की सत्ता वास्तविक है किन्तु वस्तुतः जगत् सत् नहीं है। ऐसी स्थिति में शङ्कराचार्य तर्कातीत चेतना की स्थिति को सत् मानते हैं किन्तु जगत् को ब्रह्म पर माया के द्वारा अध्यारोपित मानते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि जगत् सत्य भी है और असत्य भी है; वह कालिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है। श्री अरविन्द का मत है कि यह सदसदनिर्वचनीयता जीव अथवा ईश्वर पर भी लागू होती है जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हो सकते हैं किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य हैं। जीव तो माया का आवरण हटने पर ब्रह्म में लीन हो जाता है किन्तु माया, ईश्वर और जगत् नित्य हैं और सदा बने रहते हैं।

श्री अरविन्द का कहना है कि एक ओर ब्रह्म और दूसरी ओर मन के बीच एक अतिमानस की स्थिति है जिसकी ओर श्री शङ्कराचार्य ने ध्यान नहीं दिया और इस कारण जगत् को मिथ्या मान लिया। अतिमानस की दृष्टि में जीव सच्चिदानन्द

का स्वरूप है न कि मिथ्या। वस्तुतः मिथ्या वह अहंकार का भाव है जो प्रकृति की क्रियाओं को हम में आरोपित कर देता है।[1] इसी प्रकार दृश्यमान जगत् भी केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य नहीं है। यह सत्य है कि जगत् का आधार ब्रह्म है किन्तु इस कारण जगत् को असत्य नहीं कहा जा सकता। अतिमानस स्तर पर जब हम कूटस्थ ब्रह्म के ऊपर अनुभव करते हैं तब यह पाते हैं कि ब्रह्म केवल स्थित ही नहीं है, गतिशील भी है और यह जगत् उसकी आत्माभिव्यक्ति है।

जहाँ तक उपनिषद् के मृत्तिका और घट के उदाहरण का सम्बन्ध है वहाँ तक श्री अरविन्द का मत है कि मृत्तिका से उत्पन्न होने के कारण घट वास्तविक है न कि मिथ्या। यह सत्य है[2] कि घट मृत्तिका में लीन हो जाता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जब वह था तब मिथ्या था। शाङ्कर मत में जो आदि में भी नहीं है और अन्त में भी नहीं है उसे मध्य में भी नहीं माना जा सकता। घट प्रारम्भ से पहले भी नहीं था और अन्त के बाद भी नहीं रहा। अतः घट प्रारम्भ और अन्त के मध्य में भी नहीं है। श्री अरविन्द इस मत से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि जगत् मूल सत् तो नहीं है; मूल सत् तो ब्रह्म ही है किन्तु जगत् मूल सत् पर निर्भर होने के बावजूद सत् ही है, असत् नहीं है।[3]

गति-स्थिति दोनों सत्य

वस्तु स्थिति यह है कि ब्रह्म केवल स्थिति ही नहीं है अपितु गतिशील भी है और इन दोनों से अतीत भी है। जहाँ तक अनुभव का सम्बन्ध है अतिमानस के स्तर पर यह अनुभव किया जा सकता है कि ब्रह्म स्थित और गतिशील दोनों है। जहाँ तक तर्क का सम्बन्ध है आभु में अभ्व सन्निहित है और उस सन्निहित अभ्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति भी आभु में है।[4] इस प्रकार सत् में स्थिति और गति दोनों हैं और सत् इन दोनों से अतीत भी है। श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक गति को स्थिति का आधार चाहिए इसलिए गति और स्थिति दोनों युगपद् रहती हैं।[5] यह कहना भी ठीक नहीं है कि सत् से जो प्रकट होगा वह माया होगा। इसके विपरीत सत् से प्रकट होने वाला भी सत् ही होना चाहिए।[6] जब हम यह कहते हैं कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तब जगत् को भी ब्रह्म ही होना चाहिए और सत् ही होना चाहिए।[7] जब सब कुछ ब्रह्म है तो जो कुछ भी है वह सत् ही होना

चाहिए। यह सत्य है कि जगत् देश और काल की सीमा में निरन्तर बदल रहा है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सत् नहीं है या उसका सत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः जगत् निरन्तर विकसनशील अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति काल की सीमा में है और उसकी है जिसे हमारी चेतना पूर्णतः देख नहीं पाती है।[8] इसलिए इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि 'वह है भी और वह नहीं भी है।'[9] किन्तु यह मानना होगा कि यह सत् से बना है और इसके सभी रूप सत् हैं।[10] दूसरे शब्दों में सभी सान्त अनन्त के भाग हैं। अतिमानस की स्थिति में इस सत्य को देखा जा सकता है।

यदि यह कहा जाये कि ब्रह्म को आत्माभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं के लिए सदा ही अभिव्यक्त है तो फिर उसे माया द्वारा जगत् भी रचने की आवश्यकता नहीं है तो[11] यह सत्य है कि ब्रह्म को किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है और वह किसी भी चीज के लिए बाध्य नहीं है। वह कालातीत स्थिति में स्वयं के लिए प्रकट ही है किन्तु काल की सीमा में भी वह अपने आप को अभिव्यक्त करता है। श्री अरविन्द ने इस विषय का विस्तार से वर्णन किया है कि काल और कालातीत दोनों ही स्थितियों में ब्रह्म सत्य है।

मिथ्या तो केवल यह है कि हम अपने आप को ब्रह्म से पृथक् मानते हैं और सान्त को अनन्तनिरपेक्ष सत्य मान लेते हैं। ऐसा मानना व्यवहार की दृष्टि से आवश्यक भी है और इसलिए सीमित तर्क और सीमित अनुभव के आधार पर वह ठीक ही है।[12] किन्तु जैसे ही हम सीमित चेतना से ब्रह्म-चेतना में आते हैं वैसे ही हम अपने आपको ब्रह्म से भिन्न नहीं पाते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सान्त वास्तविक नहीं है। क्योंकि सान्त की अभिव्यक्ति काल की सीमा में होती है इसलिए वह अस्थायी होते हैं किन्तु वे जिसकी अभिव्यक्ति हैं वह स्थायी है।[13] यदि जगत् का आधार सत् न होता तो उसे असत् कहा जा सकता था और यदि वह काल्पनिक होता तो एक बार समाप्त हो जाने के बाद दुबारा वैसा ही न बनता किन्तु जगत् बारबार प्रलय के अनन्तर फिर वैसा ही बन जाता है— **यथापूर्वमकल्पयत्**। उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है किन्तु इसके विपरीत मायावादियों का कहना है कि ब्रह्म के जान

लेने पर सब कुछ असत् हो जाता है। मायावादियों का यह कथन स्पष्ट रूप से उपनिषद् के विरुद्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि जो मूल सत् है उसी से यह तूल सत् पैदा हुआ है और यह हमारे मन का प्रक्षेपण नहीं है। इतना अवश्य है कि हम इस तूल सत्य को तर्क और इन्द्रियों के माध्यम से ही समझते हैं और तदनुसार ही व्यवहार भी करते हैं। व्यवहार में आने वाले पदार्थ सदसद् हैं। किन्तु स्वयं जगत् सत् है।

श्री अरविन्द एक उदाहरण देते हैं कि हमारी इन्द्रियों को पृथिवी चपटी नजर आती है और हम उसके अनुसार ही व्यवहार भी करते हैं किन्तु पृथिवी चपटी है नहीं। इसलिए विज्ञान को इसे गोल ही मानना होता है। इस प्रकार पृथिवी के सम्बन्ध में दोनों ही बातें सत्य हैं। इसी प्रकार हम अखण्ड को न देख पाने के कारण उस खण्ड के अनुसार ही व्यवहार करते हैं जो खण्ड हमारी प्रतीति में आता है। किन्तु अतिमानस के स्तर पर हम अखण्ड को देख पाते हैं और तब एक भिन्न प्रकार की अधिक सूक्ष्म सत्ता का अनुभव होता है। उस स्थिति में सान्त तर्क के द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह पूर्ण न होकर आंशिक ही रह जाता है। इसलिए उसे सत् भी कहा जा सकता है और असत् भी। वस्तुतः सान्तता अनन्त की एक शक्ति है।[14]

अतिमानस की मध्यवर्ती शृंखला की उपेक्षा करने के कारण शङ्कराचार्य को जगत् मिथ्या प्रतीत होता है। अतिमानस स्वयं सच्चिदानन्द का गतिशील रूप है जो देशकाल से अतीत सत्य को देश और काल की सीमा में देखता है।[15] इसे ही श्री अरविन्द ने ऋतचित् कहा है।

श्री अरविन्द ने शङ्कराचार्य के जगत् को स्वप्नवत् मानने के सिद्धान्त की भी समीक्षा की है। इस सम्बन्ध में इनका कहना है कि स्वप्नावस्था का सत्य भिन्न है और जाग्रदवस्था का सत्य भिन्न है। इसलिए एक अवस्था का सत्य दूसरी अवस्था में लुप्त हो जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मिथ्या है। इसी प्रकार यदि समाधि में जगत् की प्रतीति नहीं होती तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह असत् है। वह उत्थान की अवस्था में प्रतीति में आता है और उस अवस्था में सत् ही है। योगदर्शन में भी समाधि की स्थिति में चित्तवृत्ति के निरोध

हो जाने पर जगत् की प्रतीति का निषेध किया गया है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं माना गया कि जगत् असत् है।

श्री अरविन्द ने यह इङ्गित भी किया है कि स्वप्न अस्थिर और असङ्गत हैं। इसलिए उनकी प्रकृति भिन्न है किन्तु उनका अपना महत्त्व है और वे जाग्रदवस्था के पदार्थों को भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार सुषुप्ति में भी हमारी चेतना का एक दूसरा स्तर काम कर रहा होता है इसका यह अर्थ है कि चेतना के भिन्न भिन्न स्तरों पर हमें भिन्न भिन्न प्रतीति होती है किन्तु इनमें से किसी भी एक प्रतीति को सत् और शेष प्रतीतियों को असत् मानना उचित नहीं है। मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि स्वप्न भी निरर्थक नहीं है और उनका भी अपना एक महत्त्व है।[16]

जाग्रदवस्था में हम चेतन मन को जान रहे होते हैं, स्वप्नावस्था में हम अवचेतन मन को जान रहे होते हैं और सुषुप्ति में हमारा अचेतन मन काम कर रहा होता है। यदि हम अन्तर्मुख होकर देख सकें तो हम सुषुप्ति में भी होने वाली क्रियाओं को जान सकेंगे। यदि हम स्वप्नावस्था में भी जागरूक बने रह सकें तो हम उस अवस्था में उन समाधानों को खोज पायेंगे जो सामान्यतः जाग्रदवस्था में नहीं मिल पाते। वस्तुतः स्वप्न में हमारे व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष प्रकट होते हैं। ऐसी स्थिति में स्वप्नों को विशुद्ध रूप में असत् नहीं कहा जा सकता। इसलिए जगत् को स्वप्नवत् मानकर असत् सिद्ध करना युक्तिसङ्गत नहीं है।[17]

प्रतिबिम्बवाद का खण्डन

श्री अरविन्द ने एक और अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान दिलाया कि जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म में ऐसा कुछ नहीं है जिसका प्रतिबिम्ब बन सके।[18] शङ्कराचार्य ने जगत् को भ्रम बताया है। यह भ्रम दो प्रकार का है। प्रथम भ्रम तो मन से उत्पन्न होता है जैसे सांप को रस्सी समझ लिया जाये और दूसरा भ्रम इन्द्रियों के कारण उत्पन्न होता है जैसा कि मृगतृष्णा में होता है जब हम इन्द्रियों के धोखे के कारण रेत को जल समझ लेते हैं। दोनों ही स्थितियों में जो वस्तुतः है उस पर उसका अध्यारोपण किया जाता है जो वस्तुतः

नहीं है। शङ्कराचार्य का कहना है कि इसी प्रकार हम ब्रह्म पर जो है उस जगत् का अध्यारोपण कर लेते हैं जो वस्तुतः नहीं है। इस पर श्री अरविन्द का कहना है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में हम जिसका अध्यारोपण करते हैं वह वस्तुतः वहाँ भले ही नहीं है किन्तु अन्यत्र अवश्य है। किन्तु जो है ही नहीं उसका अध्यारोपण नहीं हो सकता। यदि जगत् है ही नहीं उसका अध्यारोपण भी नहीं हो सकता। सर्प कहीं तो है जिसका अध्यारोपण रस्सी में किया जाता है या जल कहीं तो है जिसका अध्यारोपण रेत में किया जाता है। किन्तु शङ्कराचार्य तो जगत् को कहीं भी नहीं मानते। इसलिए शङ्कराचार्य के मायावाद की सिद्धि उनके द्वारा दिये गये भ्रम के उदाहरणों से नहीं होती। रस्सी में सर्प के भ्रम वाले उदाहरण में वस्तुतः दोनों ही सत्य हैं किन्तु दोनों एक दूसरे से उत्पन्न नहीं हुए और इसलिए यदि इस उदाहरण को देखें तो फिर ब्रह्म और जगत् में कोई सम्बन्ध नहीं होगा और यह सिद्ध नहीं होगा कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ।

वस्तुतः भ्रम में दो पदार्थों के बीच गलत सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाता है न कि एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का जन्म जो कि वस्तुतः होता ही नहीं। प्रश्न यह होता है कि क्या मन एक सर्जक शक्ति है अथवा स्वयं ही माया का हिस्सा है। वस्तुतः मन जड और चेतना के बीच की कड़ी है। यह भौतिक जगत् से पदार्थों को ग्रहण करता है और उनमें रहने वाली सम्भावनाओं में से कुछ सम्भावनाओं को चुन लेता है। इन चुनी हुई सम्भावनाओं में से कुछ के साथ यह वस्तुनिष्ठ पदार्थों की तरह व्यवहार न करके उन्हें अपनी कल्पनाओं में संजोता है तथा कुछ सम्भावनाओं को वस्तुनिष्ठ रूप दे देता है। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार मन देखता भी है और पदार्थों का उपयोग भी करता है किन्तु वह पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता। क्योंकि मन का ज्ञान सीमित है इसलिए वह गलती भी कर सकता है। जब वह पदार्थों के साथ व्यवहार करता है तो उसका व्यवहार गलत हो सकता है और जब वह सम्भावनाओं के साथ व्यवहार करता है तब भी वह गलती कर सकता है और सत्य को गलत रूप में प्रस्तुत कर सकता है। किन्तु मन कोई नई चीज पैदा नहीं करता। अतः उसकी तुलना माया से नहीं की जा सकती जो वैश्विक भ्रम पैदा करती है।

सत्कार्यवाद

विज्ञान में देखें तो मन की सहायता से पदार्थों से जो नया सर्जन होता है वह वास्तविक होता है न कि भ्रमात्मक। मन किसी भी पदार्थ से वही पैदा करता है जिसके सर्जन की सम्भावना उस पदार्थ में है। (सांख्य के सत्कार्यवाद का यही आधार है।) इसलिए उन्हें भ्रम नहीं कहा जा सकता और इसलिए मन का सर्जन मायात्मक नहीं है। क्योंकि माया से जिस जगत् के उत्पन्न होने की बात शङ्कराचार्य करते हैं उनके अनुसार उस जगत् के उत्पन्न होने की सम्भावना ब्रह्म में अन्तर्निहित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है और निर्गुण में सगुण भ्रम भी सम्भव नहीं। मन जो कल्पना करता है उसे भी भ्रम नहीं मानता है। बहुत सारी उसकी कल्पनायें सत्य सिद्ध हो जाती हैं जैसे हवा में उड़ने की कल्पना विमान द्वारा सत्य सिद्ध हो गयी। इसलिए सभी कल्पनायें सम्भव हैं, जिनमें से कुछ वास्तविक रूप धारण कर लेती हैं और कुछ केवल कल्पना रह जाती हैं। इसलिए मन की कल्पनायें भ्रम नहीं हैं। उदाहरणतः मन जब मत्स्यांगना की कल्पना करता है तो वह उन दो पदार्थों को परस्पर जोड़ता है जो वास्तविक हैं किन्तु वर्तमान स्थिति में जिनके जुड़ने की सम्भावना नहीं है। सारांश यह है कि मन शून्य में से कुछ पैदा नहीं करता। उसके भ्रम अज्ञान से पैदा होते हैं। वह जानना चाहता है और कभी कभी गलत भी जान लेता है। किन्तु वह गलत चीजों का निर्माण नहीं करता। दूसरे शब्दों में मन अल्पज्ञ है वह कुछ जानता है कुछ नहीं जानता। इसलिए गलती कर सकता है। किन्तु वह अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ने में समर्थ है और अपनी सीमाओं को तोड़ सकता है और अन्त में सत्य को जान सकता है।[20]

---

1. It is nothing fundamentally real in itself but only a practical construction of our consciousness devised to centralise the activities of Nature in us —The Life Divine P. 382 But this analogy can tell more convincingly the other way; for the pot is real by right of its being made out of the substance of earth which is real. —*The Life Divine, P.* 473

2. it is not an illusion and, even when it is dissolved into the original earth, its past existence cannot be thought to have been unreal or an illusion. ...'It only passes out of manifestation into non-manifestation.' —*The Life Divine, P.* 473

3. It is perfectly rational to suppose that the eternal status of being of the Reality contains in it an eternal force of being, and this dynamis must necessarily carry in itself a power of action and movement, a kinesis —*The Life Divine, P.* 475

4. There is no reason either why they should not be simultaneous; on the contrary, simultaneity is demanded,— for all energy, all kinetic action has to support itself on status or by status if it is to be effective or creative; otherwise there will be no solidity of anything created, only a constant whirl without any formation —*The Life Divine, P.* 475

5. On the contrary, the Power that creates must be the force of an omnipotent and omniscient Consciousness; the creations of the absolutely Real should be real and not illusions, and since it is the One Existence, they must be self-creations, forms of a manifestation of the Eternal, not forms of Nothing erected out of the original Void—whether a void being or a void consciousness—by Māyā —*The Life Divine, P.* 474

6. If the Reality alone exists and all is the Reality, the world also cannot be excluded from that Reality —*The Life Divine, P.* 481

7. If it does not reveal to us in its forms and powers the Reality that it is, if it seems only a persistent and yet changing movement in Space and Time, this must be not because it is unreal or because it is not at all That, but because it is a progressive self-expression, a manifestation, an evolving self-development of That in Time which our consciousness cannot yet see in its total or its essential significance. —*The Life Divine, P.* 481

8. In this sense we can say that it is That and not That —*The Life Divine, P.* 481

9. In this sense we can say that it is That and not That, —because it does not disclose all the Reality through any form or sum of

its forms of self-expression; but still all its forms are forms of the substance and being of that Reality. —*The Life Divine, P.* 481

10. It is contended indeed that the universe cannot be a manifestation because the Reality has no need of manifestation, since it is for ever manifest to itself; but so equally it can be said that the Reality has no need of self-illusion or illusion of any kind, —*The Life Divine, P.* 481

11. This conception, this sense are pragmatically necessary for the operations of the surface individuality and are effective and justified by their effects; they are therefore real to its finite reason and finite self-experience —*The Life Divine, P.* 482

12. The cosmic manifestation of the Timeless takes place in the successions of Time: its forms must therefore be temporary in their appearance on the surface, but they are eternal in their essential power of manifestation; for they are held always implicit and potential in the essence of things and in the essential consciousness from which they emerge: timeless consciousness can always turn their abiding potentiality into terms of time actuality. —*The Life Divine, P.* 482-483

13. The Brahman, the supreme Reality, is That which being known all is known; but in the illusionist solution it is That, which being known, all becomes unreal and an incomprehensible mystery —*The Life Divine, P.* 487

14. The canons of reality and all the forms of thought created by the finite reason and sense would appear to the greater consciousness as partial constructions with an element of truth in them and an element of error; these constructions might therefore be described as at once real and unreal, but the phenomenal world itself would not become either unreal or unreal-real by that fact: it would put on another reality of a spiritual character; the finite would reveal itself as a power, a movement, a process of the Infinite. —*The Life Divine, P.* 490

15. The Supermind then is Being moving out into a determinative self-knowledge which perceives certain truths of itself and wills

to realise them in a temporal and spatial extension of its own timeless and spaceless existence. —*The Life Divine, P.* 154

16. In the dream consciousness the phenomenon is an apparently fanciful construction, a composite of figures and movements built upon or around the buried impressions with a sense in them that escapes the waking intelligence because it has no clue to the subconscient's system of significances. —*The Life Divine, P.* 439

17. If this is a true account of dream experience, dreams can no longer be classed as a mere unreal figure of unreal things temporarily imposed upon our half-unconsciousness as a reality; the analogy therefore fails even as an illustrative support for the theory of the cosmic Illusion. —*The Life Divine, P.* 444

18. But in the theory of Illusion the only reality is an indeterminable featureless pure Existence, Brahman, and there is no possibility of its being translated or mistranslated into a system of symbol-figures, for that could only be if this Existence had some determinate contents or some unmanifested truths of its being which could be transcribed into the forms or names given to them by our consciousness: a pure Indeterminable cannot be rendered by a transcript, a multitude of representative differentiae, a crowd of symbols or images; for there is in it only a pure Identity, there is nothing to transcribe, nothing to symbolise, nothing to image. —*The Life Divine, P.* 445

19. ...an imperfect consciousness, ignorant, partly knowing, partly not knowing,—a consciousness which is by its ignorance or limitation of knowledge capable of error, mispresentation, mistaken or misdirected development from the known, of uncertain gropings towards the unknown, of partial creations and buildings, a constant half-position between truth and error, knowledge and nescience. But this ignorance in fact proceeds, however stumblingly, upon knowledge and towards knowledge; it is inherently capable of shedding the limitation, the mixture, and can turn by that liberation into the Truth-Consciousness, into a power of the original Knowledge. —*The Life Divine, P.*454

EVOLUTION

A slow reversal's movement then took place :

A gas belched out from some invisible Fire,
Of its dense rings were formed these million stars;
Upon earth's new-born soil God's tread was heard.

Across the thick smoke of earth's ignorance
A Mind began to see and look at forms
And groped for knowledge in the nescient Night:

Caught in a blind stone-grip Force worked its plan
And made in sleep this huge mechanical world,
That Matter might grow conscious of its soul
And like a busy midwife the life-power
Deliver the zero carrier of the All.

Because eternal eyes turned on earth's gulfs
The lucent clarity of a pure regard
And saw a shadow of the Unknowable
Mirrored in the Inconscient's boundless sleep,
Creation's search for self began its stir.

A spirit dreamed in the crude cosmic whirl,
Mind flowed unknowing in the sap of life
And Matter's breasts suckled the divine Idea.

A miracle of the Absolute was born;
Infinity put on a finite soul,
All ocean lived within a wandering drop,
A time-made body housed the Illimitable.
To live this Mystery out our souls came here.

—Savitri p. 101

विकासवाद का स्वरूप

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

श्री अरविन्द ने अपने दर्शन के मुख्य ग्रन्थ का नाम **दिव्य जीवन** रखा। इसका अर्थ यह है कि वे अपनी इस मौलिक अवधारणा को रेखांकित करना चाहते हैं कि इस पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना मनुष्य जाति का मुख्य लक्ष्य है। यह लक्ष्य उस परम्परा से भिन्न है जो जीवन का लक्ष्य आवागमन से मुक्ति पाना मानती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए न भौतिकवाद का प्रवृत्ति मार्ग पर्याप्त है और न अध्यात्म का निवृत्ति मार्ग। जब उपनिषद् में सब कुछ ही ब्रह्म बताया गया है— **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** तो जगत् की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः जगत् में दिव्यता की स्थापना सम्भव भी है और इष्ट भी। परम्परा में भी जीवन्मुक्त **सर्वः वासुदेवमिति** की भावना रखता है। किन्तु श्री अरविन्द मानते हैं कि मानस से ऊपर अतिमानस की स्थिति में पदार्थ का भी दिव्यीकरण सम्भव है। यही श्री अरविन्द का परम्परा से भेद है जिसका आधार उनका विकासवाद है। सच्चिदानन्द ने अपने आपको स्वयं ही जड पदार्थ के रूप में छिपा लिया है और वही अपने आपको खोज रहा है। सच्चिदानन्द के अपने छिपाने की प्रक्रिया अवतरण है और अपने को प्रकट करने की प्रक्रिया आरोहण है। अवतरण की प्रक्रिया में वह अपने को पदार्थ में छिपा लेता है और फिर वहीं से जिस अतिमानस, मानस और प्राण के क्रम से पदार्थ तक आता है, उसके विपरीत क्रम में वह फिर सच्चिदानन्द तक पहुँचता है।

आरोहण

अब तक हमने अवतरण की प्रक्रिया का वर्णन किया। अब आरोहण की प्रक्रिया का वर्णन क्रमप्राप्त है। १९वीं शताब्दी में विकासवाद की चर्चा डार्विन के ग्रन्थ The Origin of the Species के कारण केन्द्र में आ गयी। इससे पहले सृष्टि के उत्पन्न होने और प्रलय की प्रक्रिया का ही वर्णन होता था। पश्चिम में विकासवाद पर विचार इस दृष्टि से हुआ कि सत् का क्या स्वरूप है और उससे सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। किन्तु भारतीय चिन्तन में यह भी विचार हुआ कि व्यक्ति परम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए किस प्रकार आध्यात्मिक विकास करता है। किन्तु दोनों ही स्थितियों में जगत् के विकास की चर्चा नहीं है। श्री अरविन्द के अनुसार विकास की चर्चा ने विज्ञान को ही नहीं, नैतिकता, राजनीति और समाज को भी प्रभावित किया है। उनका कहना है कि विकासवाद के कारण ही भौतिकवाद का बोलबाला हो गया।

कर्मयोग

इस पृष्ठभूमि में श्री अरविन्द ने भारत के अद्वैत दर्शन के साथ विकासवाद का तालमेल बैठाया, जिसे विद्वानों ने पूर्व और पश्चिम का संगम बताया है। श्री अरविन्द ने विकासवाद की चर्चा के साथ साथ अद्वैतवाद को भी एक नया रूप दिया जिसके अन्तर्गत शङ्कराचार्य अथवा गौडपाद की तरह जगत् को मिथ्या नहीं माना गया। श्री अरविन्द इसे अपना मौलिक योगदान मानते हैं। वस्तुतः जहाँ एक ओर लोकमान्य तिलक कर्मयोग को केन्द्र में रखकर **गीतारहस्य** नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे वहाँ यह भी अपेक्षा थी कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कर्मयोग को एक आध्यात्मिक आवश्यकता के रूप में प्रतिपादित किया जायेगा। इस अपेक्षा की पूर्ति श्री अरविन्द ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त के द्वारा की। वस्तुस्थिति यह है कि पश्चिम की क्रियाशीलता ने वर्तमान युग में भारत को प्रभावित किया और कर्म का स्वरूपतः त्याग का प्रतिपादन करने वाला संन्यास बहुत महत्वपूर्ण नहीं रहा। ऐसी स्थिति में उपनिषद् और गीता का दर्शन हमारे सामने आया जहाँ कर्म को करते हुए भी निर्लित रहने का आदर्श प्रस्तुत किया गया था। प्रश्न यह था कि यदि मनुष्य के जीवन में कर्म का महत्त्व है तो ब्रह्म

में भी केवल स्थिति न होकर गतिशीलता भी होनी चाहिए। इस पक्ष को श्री अरविन्द ने विस्तार से प्रतिपादित किया।

आध्यात्मिक विकासवाद

विकासवाद का सिद्धान्त मुख्यतः पश्चिम में प्रारम्भ हुआ और यह चिन्तन किया गया कि वह कौन सा सत् है जिससे इस सृष्टि का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में प्रथम मत यह आया कि जड पदार्थ से ही क्रमशः जीवन और मन का विकास हुआ। यह मत चार्वाक मत के समकक्ष है। **सेमुअल अलेक्जैन्डर** का कहना है कि अनेक तत्वों के परस्पर मिश्रण से एक नया तत्व उत्पन्न हो जाता है। इस मत की तुलना हम चार्वाक के इस मत से कर सकते हैं कि भूतों से ही चैतन्य उत्पन्न होता है– **भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते**। **मॉर्गेन** का कहना है कि प्रकृति में व्यवस्थित रूप से जो क्रमिक विकास होता है उससे कुछ नया पैदा हो जाता है। उसे ही हम विकास कहते हैं। उनका यह भी कहना है कि यदि हम ईश्वर को न मानें तो यह विकास बिना व्यवस्था के या तो यांत्रिक होगा या यादृच्छिक। इसलिए उन्होंने ईश्वर को स्वीकार किया।

प्राण से विकास

जिस प्रकार जडपदार्थ से विकास का सिद्धान्त आया उसी प्रकार बर्गेसों ने प्राण से विकास का सिद्धान्त भी दिया। इस सिद्धान्त में भी प्राण के स्व के प्रति जागरूक न होने के कारण यह मानना होगा कि विकास यादृच्छिक अथवा यांत्रिक होता है। बर्गेसों सर्जनात्मक विकास का प्रतिपादन करते हुए एक कलाकार का उदाहरण देते हैं। कलाकार चित्र बनाते समय स्वयं भी नहीं जानता कि वह चित्र जिसे वह बनाने जा रहा है कैसा बनेगा। जब वह चित्र बना रहा होता है तभी उसकी प्रतिभा भी विकसित होती जाती है या प्रगति करती जाती है। इसलिए यह कहना उचित होगा हम जो "हैं" उस पर यह निर्भर करता है कि "हम क्या करते हैं" किन्तु इसके साथ ही "जो हम करते हैं" उससे हमारा अपना स्वरूप निर्मित भी होता है। इस पर प्रोफेसर एस.के. मैत्रा का कहना है कि कोई चित्रकार चित्र बनाने के लिए बिना एक पूर्वधारणा के इस आशा में चित्र बनाना प्रारम्भ नहीं

करता कि जब वह चित्र बनायेगा तब उसे कैसा चित्र बनाना है इसकी प्रेरणा मिलेगी अथवा इसका स्वरूप स्पष्ट होगा। अतः बिना लक्ष्य के कोई गति सर्जनात्मक नहीं हो सकती।

प्राण से सृष्टि का उद्भव मानने पर हमें दुहेरी गति माननी होगी। प्राण की ऊर्ध्वमुख गति से मन उत्पन्न होगा और प्राण की अधोमुख गति से जड पदार्थ उत्पन्न होगा।

जड पदार्थ और प्राण के अतिरिक्त सृष्टि का विकास तर्कबुद्धि और आत्मा से भी माना जा सकता है। जड पदार्थ अथवा प्राण से सृष्टि का विकास मानने पर सृष्टि पदार्थ अथवा प्राण से सर्वथा भिन्न होगी किन्तु तर्कबुद्धि तथा आत्मा से सृष्टि का विकास मानने पर तर्कबुद्धि तथा आत्मा सृष्टि में प्रविष्ट रहेंगे। इस स्थिति की तुलना उपनिषद् के इस वाक्य से की जा सकती है कि परम सत्ता सृष्टि को बनाकर सृष्टि में ही प्रविष्ट हो गयी– **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि पदार्थ में प्राण और प्राण में मन अन्तर्निहित है किन्तु ढका हुआ है। इसलिए वह प्रकट होना चाहता है।[1]

तर्कबुद्धि अथवा आत्मा को सृष्टि का मूल मानने पर सृष्टि व्यवस्थित होगी। हीगल के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर श्री अरविन्द ने आत्मगोपन और आत्मोपलब्धि के द्वारा आनन्द के भाव से सृष्टि के विकास की चर्चा की। विशेष बात यह है कि हम सृष्टि का उद्भव चाहे जड पदार्थ से मानें, प्राण से मानें अथवा तर्कबुद्धि से मानें किन्तु अध्यात्म के बिना माने मनुष्य मन से ऊपर नहीं जा सकता; यही इसकी सीमा है। इसी पृष्ठभूमि में श्री अरविन्द के आध्यात्मिक विकासवाद का सिद्धान्त आता है। इस सिद्धान्त के कुछ मुख्य पक्ष इस प्रकार हैं-

आध्यात्मिक विकास

इस सिद्धान्त के अनुसार सच्चिदानन्द अपने मूल रूप से अवतरित होकर जड पदार्थ में आ जाता है और फिर वहाँ से प्राण, मन और अतिमन में होते हुए क्रमशः सच्चिदानन्द तक पहुँचता है। इस प्रकार जड पदार्थ में से कोई नयी चीज पैदा नहीं होती अपितु उसमें निहित चेतना ही अभिव्यक्त होती है। इतना अवश्य

है कि जड में वह चेतना अव्यक्त रूप में रहती है। अवतरण की प्रक्रिया अभेद से भेद की ओर जाने की प्रक्रिया है जबकि आरोहण की प्रक्रिया भेद से अभेद की ओर जाने की है। यह प्रक्रिया क्रमिक है। एक प्रकार से यह कह सकते हैं कि अवतरण की प्रक्रिया सुषुप्ति की ओर चलती है जबकि आरोहण की प्रक्रिया जागरण की ओर चलती है।

श्री अरविन्द के विकासवाद की दूसरी विशेषता यह है कि यह क्रमिक रूप में एक सोपान से दूसरे सोपान तक जाता है तथापि ये आरोहण सामान्य न होकर एक चमत्कार की भाँति आकस्मिक रूप से होता है।[2] जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं एक स्थिति और दूसरी स्थिति के बीच का अन्तर विस्तार के रूप में कम होता है किन्तु गहराई के रूप में अधिक होता है।[3] इसका यह अर्थ है कि निम्नतम पाशविक जीवन और उच्च पाशविक जीवन के बीच अन्तर विस्तार में अधिक है किन्तु गहराई में कम है जबकि उच्चतम पाशविक जीवन और निम्नतम मानवीय जीवन के बीच का अन्तर ज्यादा गहरा है क्योंकि यह अन्तर चेतना के विकास के कारण उत्पन्न होता है।

श्री अरविन्द के विकासवाद की तीसरी विशेषता यह है कि यह निरन्तर है, जिसका यह अर्थ है कि निम्न स्तर की सारी विशेषतायें ऊपर के स्तर में सर्वथा समाप्त नहीं हो जाती और ऊपर के स्तर की सारी विशेषतायें निम्न स्तर पर सर्वथा अनुपस्थित नहीं होती।[4] निम्न स्तर पर उस स्थिति को ला देना आवश्यक है जहाँ ऊपर का स्तर अभिव्यक्त हो सके। उस स्थिति में ऊपर की ओर से एक ऐसा दबाव आता है जो विकास में मन्द गति अथवा तीव्र गति से सहायक होता है। प्रकृति में इसी प्रकार से विकास चलता हुआ दिखायी देता है।[5]

विकासवाद की चौथी विशेषता यह है कि विकास के लिए नीचे के स्तर पर तीन गुण होने चाहिए– विस्तार, ऊर्ध्वमुखता तथा संश्लेष। विस्तार इसलिए आवश्यक है कि ऊपर के स्तर की क्रिया को समाहित किया जा सके। विस्तार का यह अर्थ है कि अधिक व्यवस्था हो, अभिव्यक्ति हो और विवेक हो। इस विस्तार के परिणाम स्वरूप चेतना निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर आरोहण करती है। उदाहरण के लिए जब पदार्थ सूक्ष्म हो जाता है और व्यवस्थित हो जाता है तो उसमें प्राण

प्रकट होता है। इस विस्तार के साथ ऊर्ध्वगमन होता है और तब दो स्तरों का परस्पर संश्लेष हो जाता है। यह संश्लेष केवल एक ही ऊर्ध्ववर्ती स्तर के साथ नहीं होता अपितु सभी ऊर्ध्ववर्ती स्तरों के साथ होता है। किन्तु यदि ऊर्ध्ववर्ती स्तर मौलिक सर्जक तत्त्व है तो वह निम्नवर्ती स्तरों को तो बदलता है किन्तु स्वयं नहीं बदलता। वस्तुतः यह मौलिक सर्जक तत्त्व ही निम्न स्तरों का रूपान्तरण करने में समर्थ है किन्तु निम्न स्तरों से वह स्वयं प्रभावित नहीं होता।

इस कारण प्राण और मन क्योंकि मौलिक सर्जक तत्त्व नहीं है, इसलिए मन प्राण को और प्राण पदार्थ को पूर्णतः रूपान्तरित नहीं कर पाते अपितु स्वयं भी उनके द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। इसलिए विकसित होने वाला प्राण भी मृत्यु को प्राप्त होता है और विकसित होने वाला मन भी पदार्थ और प्राण से प्रभावित होकर जडता और अज्ञान में सीमित हो जाता है। वह अनियन्त्रित प्राण से संचालित होता है, क्योंकि यह प्राण के सहारे ही अपने आपको अभिव्यक्त कर पाता है।[6] अभिप्राय यह है कि जब विकसित होने वाला तत्त्व मौलिक सर्जक नहीं होता तो वह दूसरे तत्त्व को प्रभावित ही नहीं करता, स्वयं भी उससे प्रभावित होता है। किन्तु अतिमानस मौलिक सर्जक तत्व है इसलिए वह मन, प्राण और पदार्थ को रूपान्तरित कर सकता है किन्तु साथ ही स्वयं उनसे अप्रभावित रह सकता है। इस प्रकार श्री अरविन्द का विकासवाद अपने आप में एक नयी अवधारणा देता है जिसके अनुसार केवल ऊपर का तत्त्व ही नहीं बदलता वह नीचे के तत्त्व को भी बदल देता है और उसी का विकसित रूप ऊपर का तत्त्व होता है।

विकासवाद की पाँचवीं विशेषता यह है कि नीचे के स्तर में ऊपर की ओर जाने की एक सहज प्रवृति होती है और ऊपर के स्तर में उसे ऊपर की ओर खीचने की प्रवृति होती है। उदाहरणतः पदार्थ में ऊपर की ओर जाने की प्रवृति के साथ प्राण में नीचे की ओर दबाव डालने वाली शक्ति मिलकर पदार्थ में से प्राण का विकास करती है।

विकासवाद की छठी विशेषता यह है कि यह विकास व्यवस्थित है। आत्मगोपन और आत्मोपलब्धि की सच्चिदानन्द की लीला आनन्द का कारण है। इस प्रक्रिया में यह सम्भव है कि सम्पूर्ण भौतिक जगत् में आत्मा अभिव्यक्त हो जाये।[7] विकास

के क्रम में एक व्यवस्था जड तक में दृष्टिगोचर होती है। विकास की व्यवस्था सप्रयोजन है जो प्रयोजन अन्तर्निहित आत्मा का है भले ही इससे हमारा मन न जान पाये।[8]

विकासवाद की सातवीं विशेषता यह है कि उसमें शरीर के साथ साथ आत्मा का भी विकास होता है। शरीर का विकास पुनर्जन्म के साथ प्रत्यक्ष दिखायी देता है किन्तु आत्मा का विकास परोक्ष होता है। शरीर का विकास वैश्विक है जबकि आत्मा का विकास व्यक्तिगत है। प्रत्येक पुनर्जन्म के साथ छिपी हुई चेतना अधिक से अधिक अभिव्यक्त होती है। हर जन्म के साथ चेतना का पदार्थ पर अधिकार बढ़ता जाता है और अन्ततः पदार्थ आत्मा की अभिव्यक्ति का साधन बन जाता है।[9] इस प्रकार पुनर्जन्म आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य हिस्सा है।

इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि यदि कोई जीव एक बार मनुष्य योनि में आ जाये तो वह पुनः पशु योनि में नहीं जाता, क्योंकि चेतना ने पशु जीवन से मनुष्य जीवन में आने का जो निर्णय लिया है उससे वापिस लौटना सम्भव नहीं है। श्री अरविन्द का यह मत सामान्य मान्यता से मेल नहीं खाता। इतना अवश्य है कि अपवाद के रूप में यदि कोई ऐसा पाशविक अंश है जिसके सन्तोष के लिए पशु जीवन आवश्यक हो तो थोड़े समय के लिए जीव पुनः मनुष्य जीवन से पशु जीवन में जा भी सकता है।

इस प्रकार से श्री अरविन्द के विकास की अवधारणा अन्य सभी विकास की अवधारणाओं से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें पृथिवी पर दिव्य जीवन की स्थापना की सम्भावना मानी गयी है। श्री अरविन्द इस तर्क को स्वीकार नहीं करते कि जब एक प्रजाति ने एक शरीर धारण कर लिया तो वह उसी शरीर में रहेगी और कोई आध्यात्मिक विकास की सम्भावना नहीं है। उनका कहना है कि मनुष्य जाति में अपना अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति है। उसमें यह सामर्थ्य है कि वह अपनी प्रकृति का अतिक्रमण करके और अधिक सूक्ष्म और विकसित रूप धारण कर सके। हम देखते हैं कि प्राचीन मनुष्य की अपेक्षा आज के मनुष्य में न केवल सामाजिक अथवा वैचारिक दृष्टि से अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी अधिक विकास हुआ है।[10] यह सत्य है कि मनुष्य के विकास में उतार

चढ़ाव आये हैं किन्तु अन्ततोगत्वा उसका ह्रास अस्थायी सिद्ध हुआ है और कुल मिलाकर विकास ही हुआ है।[11]

यह सत्य है कि मनुष्य मानसिक स्थिति से ऊपर नहीं उठ पाया है किन्तु ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि जब तक उसकी वर्तमान मानसिक स्थिति अपनी उच्चतम सम्भावना को प्रकट न कर दे तब तक उस स्थिति से ऊपर अतिमानस स्थिति की बात नहीं आती।[12] वर्तमान में जो आध्यात्मिक संकट दिखायी दे रहा है वह संक्रान्ति का सूचक है। जिस प्रकार पशु जगत् में जैसे ही वनमानुष आया जिसमें मनुष्य के कुछ तत्त्व थे वैसे ही मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव हो गया, उसी प्रकार आज मनुष्य जाति के मानसिक स्तर में अतिमानस के चिन्ह प्रकट हो रहे हैं जो इस बात का सूचक है कि अतिमानस का अवतरण होगा।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सारी मनुष्य जाति अतिमानस स्तर पर पहुँच जायेगी अथवा मनुष्य जाति का लोप ही हो जायेगा। इसका इतना ही अर्थ है कि चेतना के विकास के साथ साथ मनुष्य में मन का अतिक्रमण करने की क्षमता आ जायेगी और कुछ मनुष्य उस क्षमता को प्राप्त भी कर लेंगे।[13] श्री अरविन्द का यह भी कहना है कि क्योंकि संसार में केवल अज्ञान ही नहीं है अपितु सीमित ज्ञान भी है इसलिए संसार में ही अतिमानस स्थिति के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ सम्भव है; उसके लिये स्वर्ग जैसे किसी अन्य लोक की आवश्यकता नहीं है।[14]

अतिमानस की स्थिति में न केवल मन अपितु भौतिक जीवन भी अध्यात्म को पाने में समर्थ हो जायेगा। इसे ही श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन कहा है। इस स्थिति में जड तत्व समाप्त नहीं हो जायेगा। किन्तु उसका क्या स्वरूप बनेगा यह कहना अभी सम्भव नहीं है। इसका यह अर्थ होता है कि पृथिवी पर अतिमानस के अवतरण के बाद भी सच्चिदानन्द के विकास की प्रक्रिया चलती रहेगी। किन्तु यह विकास संघर्ष के द्वारा न होकर समन्वय के द्वारा होगा। जिसमें थोड़े प्रकाश से अधिक प्रकाश की ओर, अधिक शक्ति की ओर और अधिक सौन्दर्य की ओर गति होगी। यह स्थिति अतिमानस के अवतरण के बाद आयेगी। अभी हमारा विकास सुख और दुःख के द्वन्द्व के बीच हो रहा है, जिसका कारण अज्ञान है।

किन्तु अन्ततोगत्वा ज्ञान के विकास के साथ एक ऐसी स्थिति आयेगी जब प्रकृति में भी दिव्यता प्रकट हो जायेगी।

---

1. For there seems to be no reason why Life should evolve out of material elements or Mind out of living form, unless we accept the Vedantic solution that Life is already involved in Matter and Mind in Life because in essence Matter is a form of veiled Life, Life a form of veiled Consciousness. —*The Life Divine, Page No.* 5
2. But still there is a real, a radical difference between grade and grade, so much so that the passage from one to another seems a new creation, a miracle of metamorphosis rather than a natural predictable development or quiet passing from one state of being to another with its well-marked steps arranged in an easy sequence. —*The Life Divine, Page No.* 737
3. These gulfs appear deeper, but less wide, as we rise higher in the scale of Nature. —*The Life Divine, Page No.* 737
4. But it must be observed that this ascent, this successive fixing in higher and higher principles, does not carry with it the abandonment of the lower grades, any more than a status of existence in the lower grades means the entire absence of the higher principles. —*The Life Divine, Page No.* 488
5. It is in some such way that the transition from the lower to higher grades of consciousness seems to have been made in Nature. —*The Life Divine, Page No.* 739
6. But they do not succeed in transforming it altogether; they cannot make it altogether alive or altogether conscious: life-nature evolving is bound to death; mind evolving is materialised as well as vitalised; it finds itself rooted in inconscience, limited by ignorance; it is moved by uncontrolled life-forces which drive and use it, it is mechanised by the physical forces on which it has to depend for its own self-expression. —*The Life Divine, Page No.* 733

7. A manifestation of the greater powers of Existence till the whole being itself is manifest in the material world in the terms of a higher, a spiritual creation, may be considered as the teleology of the evolution. —*The Life Divine, Page No.* 867

8. There can be no objection to the admission of a teleological factor in a part movement of the universal totality, if the purpose,—not a purpose in the human sense, but the urge of an intrinsic Truth necessity conscious in the will of the indwelling Spirit,—is the perfect manifestation there of all the possibilities inherent in the total movement. —*The Life Divine, Page No.* 867

9. Each grade of cosmic manifestation, each type of form that can house the indwelling spirit, is turned by rebirth into a means for the individual soul, the psychic entity, to manifest more and more of its concealed consciousness; each life becomes a step in a victory over Matter by a greater progression of consciousness in it which shall make eventually Matter itself a means for the full manifestation of the Spirit. —*The Life Divine, Page No.* 858

10. It cannot truly be said that there has been no such thing as human progress since man's appearance or even in his recent ascertainable history; for however great the ancients, however supreme some of their achievements and creations, however impressive their powers of spirituality, of intellect or of character, there has been in later developments an increasingsubtlety, complexity, manifold development of knowledge and possibility in man's achievements, in his politics, society, life, science, metaphysics, knowledge of all kinds, art, literature; even in his spiritual endeavour, less surprisingly lofty and less massive in power of spirituality than that of the ancients, there has been this increasing subtlety, plasticity, sounding of depths, extension of seeking. —*The Life Divine, Page No.* 873-74

11. There have been falls from a high type of culture, a sharp temporary descent into a certain obscurantism, cessations of the spiritual urge, plunges into a barbaric natural materialism; but these are temporary phenomena, at worst a downward curve of the spiral of progress. —*The Life Divine, Page No.* 874

12. This progress has not indeed carried the race beyond itself, into a self-exceeding, a transformation of the mental being. But that was not to be expected; for the action of evolutionary Nature in a type of being and consciousness is first to develop the type to its utmost capacity by just such a subtilisation and increasing complexity till it is ready for her bursting of the shell, the ripened decisive emergence, reversal, turning over of consciousness on itself that constitutes a new stage in the evolution. —*The Life Divine, Page No.* 874

13. The being will necessarily undergo by this embodiment a change from the normal constitution of its nature, a change certainly of its mental and emotional and sensational constitution and also to a great extent of the body-consciousness and the physical conditioning of our life and energies; but the change of consciousness will be the chief factor, the initial movement, the physical modification will be a subordinate factor, a consequence. —*The Life Divine, Page No.* 875

33. But the Ignorance is only a portion of this world-Nature; it is not the whole of it, not the original power or creator: it is in its higher origin a self-limiting Knowledge and even in its lower origin, its emergence out of the sheer material Inconscience, it is a suppressed Consciousness labouring to find, to recover itself, to manifest Knowledge, which is its true character, as the foundation of existence. —*The Life Divine, Page No.* 878

आत्मा, अहंकार और व्यक्तित्व

सामान्यतः हमें अपनी चेतना में स्वयं का भान रहता है और हम यह समझते हैं कि हम स्वयं दूसरों से और विश्व के पदार्थों से भिन्न हैं। इस अर्थ में लेटिन भाषा के Ego शब्द से 'स्वयं' को अभिहित किया जाता है। हम समझते हैं कि यह Ego हमारे विचार, भावना और क्रियाओं का कर्ता है।

इस Ego के सामान्यतः चार गुण प्रतीति में आते हैं—१. यह 'स्वयं' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, २. यह जीवित सत्ता के रूप में प्रतीत होता है, जो शरीर में है, ३. यह दूसरे प्राणियों से और पदार्थों से भिन्न के रूप में अनुभव में आता है, ४. दूसरों से भिन्न होने के कारण इसका अपना एक व्यक्तित्व होता है।

सामान्य इन चार अनुभवों के साथ एक असामान्य अनुभव भी जुड़ा हुआ है। जिसे आत्मा कहा जाता है। यह आत्मा वैश्विक चेतना की भांति है। इसकी तीन विशेषताएं हैं —१. इसकी प्रतीति सार्वभौम रूप में होती है, अहंकार जिसका एक छोटा सा भाग है। २. इसमें व्यक्ति अपने आपको दूसरों के साथ जुड़ा हुआ अनुभव करता है, मानों दूसरे सब उसका ही हिस्सा है। ३. इसकी प्रतीति अलग व्यक्ति के रूप में तो होती ही है लेकिन साथ ही व्यक्ति अपने को दूसरों से जुड़ा हुआ भी अनुभव करता है।

इन अनुभवों के अतिरिक्त एक अनुभव निर्वाण, लय अथवा मोक्ष का भी है, जिसके संबंध में श्री अरविन्द का कहना है कि वह स्थिति अहं और विश्व दोनों का अतिक्रमण कर जाती है। असीम पृष्ठभूमि के साथ उस समय मनुष्य अपने आपको बहुत लघु अनुभव करता है। इस स्थिति के सम्बन्ध में एक ओर तो

शङ्कर का मायावाद है और दूसरी ओर नागार्जुन का शून्यवाद है। शून्यवाद के अनुसार जो हम अहं के रूप में अनुभव करते है वह वस्तुतः एक भ्रम है। स्वयं जैसी कोई चीज वस्तुतः नहीं है, वह केवल एक अनुभव की, विचारों की, संस्कारों की और संवेदनाओं की धारा मात्र है। उसकी स्थिति उस नदी के समान है जो प्रतीत तो एक ही होती है किन्तु वस्तुतः प्रतिक्षण बदलती रहती है। शून्यवाद के अनुसार काम के कारण कर्म की शक्ति का प्रवाह बना रहता है जो कि दुःख का कारण है। इस प्रवाह का शांत हो जाना निर्वाण है। इसका यह अर्थ हुआ कि अहङ्कार, आत्मा और व्यक्तित्त्व तीनों ही भ्रम हैं।

इसके विपरीत अद्वैत के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और शेष सब उस पर अध्यारोपित भ्रम है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है और एक तथा अद्वितीय है। यह ब्रह्म ही आत्मा है—**अयमात्मा ब्रह्म**। यह विश्व माया से उत्पन्न होता है। यह विश्व मनोभ्रम का एक स्वप्न है। अहङ्कार भी इसी माया की सृष्टि है। जीवात्मा भी ब्रह्म का एक आभास मात्र है। वह नित्य नहीं है। विश्वात्मा भी नित्य नहीं है, केवल ब्रह्म ही सत्य है।

शून्यवाद और मायावाद दोनों ही स्वयं के स्वरूप से जुड़े हुए वाद हैं। ये दोनों आपाततः एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का मत है कि अधिमन सत्य के किसी एक पक्ष को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेता है और इस कारण मतभेद पैदा होते है। उनके अनुसार सत् को हम जिस रूप में देखते हैं उसके कारण मतभेद पैदा होता है। बौद्धों के अनुसार वह शून्य है, वेदान्त के अनुसार वह स्वयंभू निराकार पूर्ण है। जहाँ तक महात्मा बुद्ध का प्रश्न है उन्होंने ऐसे प्रश्नों पर विचार करने से इन्कार किया है। श्री अरविन्द के अनुसार निर्वाण का निषेधपरक रूप बाद में सामने आया। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का एक रूप विश्व के रूप में अभिव्यक्त हुआ और दूसरा रूप उससे परे बना रहा।

श्री अरविन्द ने निर्वाण के सम्बन्ध में अपना अनुभव बताते हुए कहा है कि उन्हें निर्वाण में किसी प्रकार के उल्लास का अनुभव नहीं हुआ था और आनन्द का अनुभव बाद में हुआ, किन्तु एक गहरी शांति नीरवता और स्वतंत्रता का अनुभव निर्वाण में हुआ। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि ब्रह्म केवल एक सतही वस्तु है

जिसके पीछे दिव्य सत्ता है जो सभी के हृदय में रहती है। इसके साथ-साथ सत्य का विस्तार होता चला गया और इन्द्रियों के बिना पदार्थ दिखने लगे। निर्वाण श्री अरविन्द के लिए पहला कदम था—न कि अंतिम स्थिति—जिसकी उन्होंने इच्छा नहीं की थी। बाद में उन्हें निर्वाण से भी एक बृहत्तर अनुभव हुआ।

उन्हें यह अनुभव हुआ कि विश्व सत्ता की अभिव्यक्ति है और इसीलिए वास्तविक है काल्पनिक नहीं। यह सत्ता अनन्त है नित्य है और दिव्य है। इसने अपनी शक्ति से अपने आपको विश्व के रूप में अभिव्यक्त कर दिया है और स्वयं को इसमें छिपा लिया है। उसके इस छिपे हुए रूप का पदार्थ, प्राण, मन और आत्मा के रूप में अभिव्यक्त होना विकास है। शाङ्कर मत सत्य का एक पक्ष है जो नीरव स्थिति में शुद्ध अस्तित्व के रूप में प्रकट होता है। इस स्थिति में शङ्कर विश्व का उद्‌भव व्याख्यायित नहीं कर सके और इसे एक भ्रम मात्र मान लिया किन्तु जब तक हम परम सत्ता में गति न मानें तब तक विश्व की स्थिति नहीं समझी जा सकती। इस दूसरे पक्ष को शाक्त तांत्रिकों ने उभारा। श्री अरविन्द इन दोनों पक्षों के सामंजस्य के समर्थक थे। इस कारण उन्होंने अध्यात्म और भौतिकता का समन्वय चाहा। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा और सत्ता एक ही है। आत्मा का स्वरूप ऐसा है कि उसमें व्यक्ति, विश्व और विश्वोत्तीर्ण एक साथ प्रतीति में आते है।

आत्मा व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है वह व्यक्ति से परे भी परमात्मा के रूप में है। व्यक्तिगत, वैश्विक और विश्वोत्तीर्ण आत्मा की तीन अवस्थाएं है। जीवात्मा के रूप में वह जन्म लेता है और उसका विकास होता है। यद्यपि इस जीवात्मा का यह वास्तविक स्वरूप अजन्मा है। जीवात्मा का जो स्वरूप एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता है वह अन्तरात्मा है जिसे श्री अरविन्द 'Psyche' अथवा चैत्यपुरुष कहते है। यह जीवात्मा विश्वात्मा के साथ एकता का अनुभव करते हुए भी अपने को पृथक् अनुभव करता है। वह अपने को सबमें और सबमें अपने को देखता है।

जहाँ तक विकास का संबंध है, जीवात्मा ऊपर से व्यक्ति के विकास में सहायता देता है और साइकी अथवा चैत्यपुरुष अन्दर से मदद करता है। मोक्ष प्राप्त होने

पर जीवात्मा परम सत्ता में लीन भी हो सकता है किन्तु विकास में सहायक होने के लिए पृथक् भी रह सकता है। किसी भी स्थिति में अहङ्कार और पृथक्ता का भाव अध्यात्म में बाधक है और दुःख का कारण है किन्तु जब हम अचेतन तक जाते हैं तो यह पाते हैं कि सभी एक की ही अभिव्यक्ति है। द्रव्य एक है जिसकी एक ग्रन्थि हमारा शरीर है। प्राण भी एक है जिसका एक रूप हमारा प्राण है। मन भी एक है जिसको ग्रहण करने वाला हमारा मन है। हमारा जीवात्मा भी एक ही परमात्मा का अंश है। अहङ्कार सबसे अधिक प्रबल ग्रन्थि है जो हमें अज्ञान से बांधे रखती है। अहङ्कार का अर्थ है कि हम अपने अस्तित्व को बाहरी रूप से जोड़े रहें, जबकि हमारा वास्तविक स्वरूप छिपा रहे। यह अहङ्कार हमें अनन्त और वैश्विक से बचाने वाला कवच है।

अहङ्कार का एक लाभ तो यह है कि इसके कारण मनुष्य अपने आप को जड से और अवचेतन से अलग रख पाता है, जिसका स्वयं का मन है शक्ति है और जो संसार के साथ तालमेल बिठाकर चलता है। वस्तुतः तो व्यक्ति वैश्विक का ही अंग है किन्तु वह इसके अतिरिक्त आत्मा भी है जो विश्वोत्तीर्ण से अवतरित होता है। वह अतिचेतन से दूर है और मन तथा प्राण के निकट है। इस अहङ्कार के कारण ही प्राणी में कर्तृभाव आता है। जब तक उच्चतर चेतना अवतीर्ण न हो तब तक अहं भाव आवश्यक है क्योंकि उसके बिना दिव्य की इच्छा भी काम नहीं करती। किन्तु जैसे ही चेतना की ऊँचाई, गहराई और विस्तार बढ़ता है, अहङ्कार नहीं रह पाता और इसकी सीमाएं टूट जाती है। यह अपने आप को सभी जीवन, मन और शरीरों से जुड़ा हुआ अनुभव करता है। पृथक्ता का अनुभव समाप्त हो जाता है। जब तक वास्तविक आत्मा का साक्षात्कार न हो अहङ्कार बना ही रहता है।

आत्मा अहङ्कार नहीं है। अहङ्कार के चले जाने पर एकत्व में रहता हुआ भी व्यक्ति व्यवहार में दूसरों से संबंध बनाये रखता है। जहाँ तक व्यक्तित्व का संबंध है वह स्वाभाविक अहङ्कार है। वह दिव्य का नित्य अंश है। एक व्यक्तित्व अज्ञान में है और दूसरा अहङ्कार से मुक्त व्यक्तित्व है। श्री अरविन्द के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व वास्तविक है। व्यक्ति वैश्विक चेतना का केन्द्र है। विश्वोत्तीर्ण को अपनी गतिविधि के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है।

निष्कर्ष यह है कि सामान्यतः व्यक्ति की चेतना अहङ्कारात्मक है, जिसमें जीवात्मा अपने आप को मन, प्राण और शरीर से तथा उनकी गतिविधियों से एकाकार मानता है और इनके द्वारा अनुभवों को ग्रहण करता है। मन, प्राण और शरीर को ही वह स्वयं मानता है। इस तादात्म्य को तोड़ कर वह वस्तुतः जीवात्मा बन सकता है जो मन, प्राण और शरीर नहीं है अपितु इनका स्वामी है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी सीमाओं से परे अनन्त का आनन्द ले पाता है। उस समय आत्मा में ब्रह्म की प्रतीति होती है इसके लिए अहङ्कार से पीछा छुड़ाना आवश्यक है किन्तु जीवात्मा का अस्तित्व बना रहता है।

मनुष्य का विकास

मनोवैज्ञानिकों ने मानव विकास पर विचार करते समय पाँच बिन्दुओं का संकेत दिया है—१. चेतना की अवस्था, २. अन्तिम उच्चतम संभावना, ३. आत्मा अथवा अहङ्कार से मोक्ष, ४. विश्वोत्तीर्ण, ५. अध्यात्म। श्री अरविन्द ने मनुष्य के विकास पर विचार करते समय इन पाँचों ही बिन्दुओं पर विचार किया है और यह माना है कि सारा विकास चेतना का होता है। चेतना के विकास के साथ पदार्थ का विकास भी होता है। सभी मनीषियों ने यह माना है कि दृश्यमान जगत् के पीछे एक कूटस्थ सत्य है जिसे ईश्वर, ब्रह्म अथवा दिव्य कहा जाता है। उस एक सत्य से सभी प्राणी जुड़े हैं। भले ही हमारी मानसिक चेतना में वे अलग-अलग विभक्त दिखते हों किन्तु यह हमारे अज्ञान के कारण है। श्री अरविन्द के अनुसार वह एक चेतना विश्व में अन्तर्निहित हो गई है और जड नजर आती है। इस जडता से उभरना विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में चेतना उच्चतर स्तरों का क्रमशः स्पर्श करती है। भौतिक विकास केवल बाहरी विकास पर विचार करता है, जबकि चेतना का विकास आध्यात्मिक विकास है। विकास के क्रम में सबसे पहले पदार्थ आता है जो जड नहीं है बल्कि चेतना का ही एक रूप है। दूसरा क्रम प्राणिक चेतना का है और अब तक जो सबसे उच्चतम विकास हुआ है उसका परिणाम मन है किन्तु मन के साथ विकास का क्रम समाप्त नहीं हो गया और यह मन के अलौकिक मन अन्तर्दर्शन, अधिमन और अतिमन तक चलने वाला है। वर्तमान में मनुष्य इस विकास के लिए तैयार है।

अतिमन मन का ही ज्यादा बढ़िया स्तर ही नहीं है अपितु एक बिल्कुल भिन्न प्रकार का विकसित रूप है। अतिमन में शेष मनों के नियम लागू नहीं होते।

उसका ज्ञान अविभक्त है जबकि अधिमन विभाजन में एकता देखता है और मन केवल विभाजन देखता है।

सच्चिदानन्द में चित् केवल ज्ञान की शक्ति ही नहीं है अपितु एक सर्जनात्मक शक्ति भी है जिससे विश्व उत्पन्न होता है और जो सब विकास के पीछे गतिरूप है। विकास में आरोहण और अवतरण दोनों की आवश्यकता है। व्यक्ति को आरोहण करना होता है और साथ उच्चतर गति को मन, प्राण और शरीर की चेतना में लाना होता है ताकि इनका रूपातंरण हो सके। श्री अरविन्द का कहना है कि अतीत में आरोहण की बात की गई जिसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति अंतिम लक्ष्य के रूप में निर्धारित की गयी। श्री अरविन्द मानते है कि मोक्ष आवश्यक है किन्तु विकास का लक्ष्य इससे भी आगे है। उनके अनुसार आध्यात्मिक रूपांतरण कूटस्थ न होकर गतिशील होगा यद्यपि उसकी कूटस्थता भी बनी रहेगी। जिस प्रकार आरोहण में चित् शक्ति काम करती है अवतरण में भी वह अभिव्यक्त होना चाहती है। पदार्थ से प्राण और प्राण से मन के अब तक के विकास में चित् शक्ति सचेत इच्छा के बिना ही अपना काम करती रही है किन्तु अब मनुष्य के पास मन है इसलिए यह विकास का कार्य सचेत रूप से हो सकता है। पहले विकास बहुत धीमी गति से हुआ क्योंकि उसमें सचेत प्रयत्न नहीं था किन्तु अब यह विकास अधिक तेजी से हो सकता है। निम्न स्तर पर रहने वाली चेतना से उच्च स्तर की चेतना का संघर्ष होता रहता है और उस संघर्ष का फल इतना ही नहीं है कि निम्न चेतना से छुटकारा पा लिया जाये बल्कि निम्न चेतना का रूपातंरण भी है।

विकास में सबसे पहले पदार्थ की ज्यादा जटिल किस्में बनती हैं। वे किस्म चेतना के अधिक शक्तिशाली रूप को प्रकट कर सकती हैं। यह भौतिक विकास का रूप है। मन के विकास के बाद सामान्य मन से आगे के मनों का विकास होता है। यह दूसरा कदम है। तीसरा और आखिरी कदम पूर्ण रूपातंरण का है। विकास का यह क्रम कभी-कभी छलांग लगाकर भी हो जाता है क्योंकि चेतना ऊँची उठ जाती है। मन के बाद छलांग लगाने के लिए यह आवश्यक है कि आंतरिक रूप से विकास किया जाये और अन्तरात्मा को खोजा जाये अथवा ऊपर की ओर

गति की जाये। इन दोनों प्रक्रियाओं से हम मन से अध्यात्म तक जा सकते हैं।

अहङ्कार का अतिक्रमण करने के लिए अहङ्कार का विकास भी आवश्यक है। प्रकृति ने अहङ्कार को इसलिए जन्म दिया है कि मनुष्य अचेतन और अवचेतन से अपने आपको छुड़ा सके। श्री अरविन्द के अनुसार अहङ्कार अपने आप में सत्य नहीं है किन्तु चेतना ने अस्थायी रूप में शरीर, प्राण और मन की गतिविधियों को बनाये रखने के लिए उसका निर्माण किया है। आत्मसाक्षात्कार होने पर उसका लोप हो जाता है। अहङ्कार के लुप्त होने पर भी व्यक्तित्व बना रह सकता है। व्यक्तित्व का विलय तभी हो सकता है जब निर्वाण की इच्छा की जाये किन्तु बोधि-सत्व की तरह व्यक्ति विलय की अपेक्षा अपना अस्तित्व बनाये रखने की इच्छा भी कर सकता है। यह स्थिति श्री कृष्ण के उस वक्तव्य से मेल खाती है जिसमें उन्होंने कहा है कि अब उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है, फिर भी वे लोकसंग्रह के लिए कर्म करते है।

मानव एक संक्रमणकालीन जीव

श्री अरविन्द का दर्शन तर्क-वितर्क पर नहीं अपितु मुख्यतः अनुभूति पर आधृत है। हमें क्योंकि वह अनुभूति नहीं है इसलिए वह सिद्धांत जैसी प्रतीत हो सकती है। अग्निरूपा चित्शक्ति और समस्त विकास व्यवस्था को हम अग्नि द्वारा परब्रह्म की यात्रा कह सकते है। उसके चार चरण है —अन्तर्वलन, उत्सर्जन, अन्तर्वलन, उद्विकसन। परब्रह्म की चतुर्विध गति है। वह स्वयं ही खेल है, स्वयं खिलाड़ी है और खेलने का प्रांगण भी स्वयं वही है। आनन्द के उल्लास से भरी हुई प्रकृति पुरुष से बाहर आई। पुरुष और प्रकृति एक में दो हैं। सत् ने अगणित आकृतियों में प्रवेश किया ताकि असंख्य रूप में अपने आप को देख सके। हमारी भाषा चीजों को ठीक से नहीं कह पाती।

आदि कालगत किसी क्षण में नहीं है क्योंकि आदि प्रत्येक क्षण में है। आदि सदा से था, सदा है और सदा रहेगा। किसी भी वस्तु का अन्त एक नवीन वस्तु का आदि है। हमसे पहले होने वाले अनेक व्यक्तियों के अनुभव का हम लाभ उठा रहे हैं और हमारे परिश्रम का फल आगे आने वाले उठायेंगे। मानव का मन अनन्तकाल को देखकर घबराता है। किन्तु उसकी आत्मा अनन्त को देखकर आनन्दित होती है। जो है वह जन्म ले रहा है। इसे उत्सर्जन कहा जाता है। पराचेतना अनेक विखण्डन करती हुई जडतत्त्व बनती है। **ऋग्वेद** (५.६२.१) में कहा गया है कि वही था परम एक-तदेकम्। वह एक शक्ति अनेक शक्तियों में प्रकट हुई। यह लीला तब तक चलती है जब तक सारी ही संभावनाएं चुक न जायें। इसके परिणामस्वरूप अधिमानस, संबोधि मानस, उद्भासित मानस, उर्ध्वमानस और फिर मन, प्राण और भौतिक लोकों का उत्सर्जन होता है। **ऋग्वेद**

(१०.१२९.१५) में कहा गया है कि आरम्भ में अंधकार अंधकार से आवृत था। सब ओर जड का सिन्धु था, विखण्डन में वैश्वसत्ता को छिपा रखा था।

जड-चेतन

इस समय हमारे पास एक ओर चरम नकार है जहाँ आदिशक्ति शांति में लीन है और उसे स्पंद की आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर परम सकार है जो बिना थकावट के साकार हो रही है। हमारा जीवन इन दो ध्रुवों के बीच काम कर रहा है। कुछ लोग विश्वातीत ब्रह्म को ही परम सकार कहते है और जडतत्त्वों का निराकरण करते है। दूसरे लोग जड़तत्त्व को ही परम सकार कहते है और आत्मा को स्वीकार नहीं करते। किन्तु चेतना शक्ति न जडतत्त्वों का खण्डन करती है न आत्मा का। वस्तुतः सकार और नकार का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर है। उच्चतम शिखर पर प्रकृति मानों पुरुष में प्रसुप्त है और निम्नतम तल पर पुरुष मानों प्रकृति में प्रसुप्त है। सान्त में अनन्त उसी प्रकार छिपा है जिस प्रकार वृक्ष अपने बीज में छिपा है, इसे अन्तर्विलन कहा जाता है। **ऋग्वेद** (३.७.४) में द्यावा और पृथ्वी को एक ही बताया गया है। इस अन्तर्विलन के बिना कोई विकास सम्भव नहीं है। जड के अन्दर जो चेतना छिपी है वही विकास का कारण है। अन्तर्वर्ती दिव्य अग्नि जडतत्त्व के गर्भ में ज्वाला के समान है। यही प्राणों की दीपशिखा है और यही हमारे मानस को प्रज्ज्वलित कर रही है। यह सारे विश्व की आत्मा है इसलिए इसे वैश्वानर कहा जाता है।

मानव की स्थिति

मानव जाति सान्त और अनन्त के समागम की भूमि है और अनन्त की ओर जाने का हमें अधिकार प्राप्त है। मानव तक आते-आते पशुओं और पेड़-पौधों की नई जातियाँ बननी बन्द हो गईं। किन्तु मनुष्य असामान्य जीव है। वह असंतुष्ट है जबकि पेड़-पौधे और पशु संतुष्ट है। उसका यह असंतोष भविष्य के लिए आशा है। मानसिक कोटि का कितना भी ऊँचा ज्ञान हो वह परिपूर्ण नहीं है। संकीर्ण दृष्टि से देखने के कारण हमें यह प्रतीति में नहीं आ रहा कि हमारे शरीर के प्रत्येक कोशाणु में सच्चिदानन्द है। हमारी इन्द्रियों ने एक सीमा बना

दी है जिसके कारण अंधकार हो गया है अन्यथा सर्वत्र प्रकाश ही है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (२.७) स्पष्ट कहता है कि यदि सर्वत्र आनन्द न होता तो किसी का जीवित रहना ही संभव न होता।

श्री अरविन्द का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य एक संक्रमणकालीन जीव है। प्राणतत्त्व जडतत्त्व और मनस् तत्त्व प्राणतत्त्व में पहले से ही अन्तर्वलित है। इसी प्रकार हमारी मानसिक चेतना में अतिमानस छिपा है। अर्थात् मनुष्य एक प्रयोगशाला है जिसमें अतिमानव को जन्म लेना है। **ऋग्वेद** (४.१.११) में एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है कि अग्नि ने अपने दोनों सिरे छिपा रखे है और वह शीर्षविहीन और चरणविहीन है। मनुष्य के दो सिरे स्वर्ग और धरती हैं जो कभी जुड़ नहीं पाये। **ऋग्वेद** (१०.५३.६,१०) में कहा गया है कि तुम उन लोकों का उन सोपानों का निर्माण करो जिसके द्वारा देवगणों ने अमृतत्व तक आरोहण किया। **ऋग्वेद** (३. २२.३) में स्पष्ट कहा है कि अग्नि ऊपर ज्योति मण्डल में स्थित और जो नीचे है उसका मिलन कराने वाली है। **ऋग्वेद** (३.३१.७) में कहा गया है कि अग्नि दिव्य और मानुषिक दोनों आनन्दों का सर्जन करती है। जिसे हम दिव्य होना कहते हैं वह मनुष्य का सामान्य रूप है। वहाँ पशुओं की निम्न प्रकृति और आत्मा के बीच समरसता रहती है। अभी मानव इन दोनों अवस्थाओं के बीच में अर्थात् अपूर्ण है।

आरोहण की प्रक्रिया के विविध स्तर

चेतना की अवतरण की प्रक्रिया में जड भूत अन्तिम स्तर है किन्तु उसमें उच्चस्तरीय प्राण, मन, अतिमन और सच्चिदानन्द अन्तर्निहित रहते हैं और जो आरोहण की प्रक्रिया में अभिव्यक्त हो जाते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि आरोहण की प्रक्रिया में विस्तार, ऊर्ध्वगामिता और संश्लेषण के तीन तत्त्व रहते हैं।

इन्द्रिय मन

जड भूत से मन तक का विकास अज्ञान में सुषुप्ति की अवस्था में होता है। जड भूत में सर्वप्रथम जीवन अथवा प्राण आता है। प्राण का विस्तार होने पर इन्द्रिय-मन का विकास होता है। इन्द्रिय-मन प्राण और मन के बीच की अवस्था है। पशु में वह प्राणिक मन रहता है जिसके द्वारा वह अपने को और दूसरों को जानता है। उसमें संवेदना, स्मृति, आवेग, भावना, विचार और इच्छायें रहती हैं। एक शब्द में उसके पास वह व्यावहारिक बुद्धि होती है जिसके द्वारा वह योजना बना सकता है।

मानव मन

इन्द्रिय-मन के बाद मानव मन प्रकट होता है, जो विचार कर सकता है। यह मन भी सतही तौर पर ही कार्य करता है। जिस प्रकार पशु इन्द्रियों, प्राण तथा मन को महत्व देता है उसी प्रकार मनुष्य भी भौतिक और प्राणिक स्तर पर जीवित रहता है। किन्तु अब एक महत्त्वपूर्ण भेद यह हो जाता है कि जिस प्रकार पहले विकास प्रकृति के द्वारा स्वतः किया जा रहा था, मानव मन के बाद वह विकास

प्रयत्न पूर्वक किया जाता है। सप्रयास किया गया यह विकास ही मनुष्य को मन से ऊपर उठा सकता है। दूसरा तत्त्व यह है कि मनुष्य के मन के प्रकट होने तक विकास भौतिक स्तर पर ही होता है—यह विकास भी आवश्यक है क्योंकि जब तक शरीर का विकास न हो तब तक चेतना का विकास भी नहीं हो सकता—किन्तु मानव मन के प्रकट होने के बाद चेतना के परिवर्तन पर बल दिया जाता है न कि भौतिक या शारीरिक विकास पर। शारीरिक विकास तो चेतना के विकास का केवल साधन बन जाता है। चेतना में परिवर्तन केवल मनुष्य ही कर सकता है। वह अपने अन्दर विकास करने के साथ साथ प्रकृति में भी विकास कर सकता है। उसके विकास की गति भी तीव्र हो जाती है। उसके विकास का लक्ष्य पार्थिव चेतना का भी दिव्यीकरण है।

मनुष्य का मन जब ऊर्ध्वगामी होता है तो वह बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक और आध्यात्मिक मूल्यों को महत्त्व देता है। इसके द्वारा वह शरीर, मन, प्राण से आगे के आध्यात्मिक जीवन की तैयारी करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर, मन और प्राण की उपेक्षा की जाये।[1] इसके विपरीत इन्हें और अधिक पवित्र और समर्थ बनाना चाहिए ताकि इनका रूपान्तरण हो सके। इसलिए श्री अरविन्द उस प्रकार के निवृत्ति मार्ग से सहमत नहीं है जिसमें शरीर, प्राण और मन की उपेक्षा की जाती है। इन तीनों का रूपान्तरण आध्यात्मिक आरोहण के लिए सहायक सिद्ध होता है।

ऊर्ध्वगामी यात्रा में व्यक्ति मन से परे अतिमन तक आरोहण करना चाहता है। इस यात्रा के दो भाग हैं — अन्तर्मुखता और ऊर्ध्वमुखता। अन्तर्मुखता के द्वारा व्यक्ति अपने अवचेतन मन को जानकर उसका रूपान्तरण कर सकता है और ऊर्ध्वमुखता के द्वारा वह आध्यात्मिक रूपान्तरण कर सकता है।

मन के तीन स्तर

मन के तीन स्तर हैं—शारीरिक, प्राणिक और मानसिक। इस प्रकार मन भी तीन प्रकार का हो जाता है—शारीरिक, प्राणिक और मानसिक। सामान्यतः तो

शारीरिक मन ही काम करता है, प्राणिक मन में छोटे छोटे संवेग रहते हैं और मानसिक मन सुख, सन्तोष और मनोरञ्जन की खोज करता है। इन तीनों मनों में शारीरिक मन ही हमारे विकास का मूलभूत आधार बनता है।

शारीरिक मन से ऊपर प्राणिक मन है जिसकी सक्रियता के कारण मनुष्य में इच्छायें और संवेदनायें होती हैं और भावनायें रहती हैं। इसके कारण मनुष्य अपना विस्तार चाहता है। यह मन सीमाओं का अतिक्रमण करने वाला है। साहसपूर्ण कार्य करना तथा देशभक्ति जैसे कार्य इसी मन के काम हैं।

मानसिक मन शुद्ध विचार का कार्य करता है। इसके प्रभाव से मनुष्य दार्शनिक, चिन्तक और वैज्ञानिक बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने संवेगों पर नियन्त्रण तो कर सकता है, किन्तु वह उनका रूपान्तरण नहीं कर सकता। इसके लिए तो उसे मन से परे जाना होगा। वह नैतिकता में जीता है, सात्विक वृत्ति का होता है किन्तु गुणातीत नहीं हो सकता।

मन के स्तर पर हमारे ज्ञान में अज्ञान मिला रहता है, क्योंकि हम वर्तमान को ही जानते है और अतीत का उतना ही भाग जान पाते हैं जितना हमारी स्मृति में होता है और भविष्य के बारे में तो कुछ भी नहीं जानते। वर्तमान में भी अगले क्षण का कुछ पता नहीं होता। इसलिए हमारा ज्ञान सीमित और संकीर्ण होता है। हम संसार के विषय में जो कुछ भी जानते हैं उसका माध्यम इन्द्रिय, मन और तर्क है किन्तु ये तीनों ही अपूर्ण हैं। हमारे ज्ञान के सीमित, संकीर्ण और अपूर्ण होने का कारण यह है कि हम सतही तौर पर जी रहे हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। हमारी बहिर्मुखता ने हमारे वास्तविक रहस्य को छिपा लिया है। हम अहंकार केन्द्रित अपने अस्तित्व को अपनी और विश्व की गहन अनन्तता से बचाने में लगे रहते हैं। इसलिए हम अहंकार के अतिरिक्त उस सब को नहीं जान पाते जिसका सम्बन्ध हमारे अहंकार से नहीं है। हमारे जीवन के लिए जो आवश्यक है हम उसे इन्द्रिय और तर्क के द्वारा थोड़ा बहुत जान लेते हैं किन्तु यह ज्ञान सतही, सीमित और असुरक्षित होता है, जिसका केवल व्यावहारिक उपयोग है।

सीमित ज्ञान पर भी सदा अहंकार का आक्रमण होता रहता है। अहंकार के कारण हम अपना भी ठीक से मूल्यांकन नहीं कर पाते और अपने आपको धोखा देते रहते हैं। यदि हम अन्तर्मुखता और ऊर्ध्वमुखता की प्रक्रिया को अपनायें तो हमारा यह अज्ञान मिश्रित ज्ञान स्वयं के और संसार के संश्लिष्ट ज्ञान में बदल सकता है।

अन्तर्मुख होने पर हमें सबसे पहले अपनी अवचेतन स्थिति का ज्ञान होता है। यह अवचेतन सतही स्थिति से उच्चतर है इसमें विशालतर मन, प्राण और सूक्ष्म शरीर रहता है।[2] अवचेतन ही हमारे सतही स्वरूप का निर्णय करता है। इसी से हमारे विचार और भावनायें तथा कर्म उद्भूत होते हैं।[3] सतही स्तर पर यह सब मिले रहते हैं किन्तु अवचेतन के स्तर पर हम इन्हें पृथक् पृथक् देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में सतही स्तर पर जो कुछ हम जानते हैं वह आधे अन्धेपन के समान है जबकि अवचेतन में हमारा ज्ञान स्पष्ट होता है। अवचेतन मन सतही चीजों का साक्षी बन सकता है और सब पर नियंत्रण रख सकता है।

इतना होने पर भी क्योंकि अवचेतन का प्राणिक भाग अधिक शक्तिशाली है, इसलिए यह हमें गलत रास्ते पर ले जा सकता है; क्योंकि अवचेतन भी अभी ज्ञान-अज्ञान के बीच में ही है। इसका ज्ञान जितना बड़ा होगा उतना ही इसके अज्ञान के भी बड़ा होने की सम्भावना है, क्योंकि यहाँ ज्ञान अभी संश्लिष्ट नहीं है।[4] अवचेतन में मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान की सम्भावनायें रहती हैं। किन्तु जो ज्ञान अवचेतन मन को होता है उसे ठीक से समझने के लिए अन्तर्दृष्टि और विवेक चाहिए, अन्यथा वह ज्ञान दिग्भ्रमित कर सकता है। अवचेतन इन्द्रियों की सहायता के बिना दूसरों को सीधा जान सकता है, क्योंकि इसके पास उसके अपने आन्तरिक साधन रहते हैं। यह अदृश्य शक्तियों को देख सकता है। यह काल से पार जाकर भविष्य को देख सकता है। किन्तु अज्ञान के कारण यह गलतियाँ भी कर सकता है, क्योंकि यद्यपि इसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है तथापि वह ज्ञान तादात्म्य के द्वारा नहीं होता।[5] इसलिए हमें अवचेतन से परे जाकर वैश्विक ज्ञान तक जाना होता है।

अवचेतन सूक्ष्म, मानसिक, प्राणिक और भौतिक आवरणों के द्वारा वैश्विक से पृथक् कर दिया जाता है। दूसरी ओर हमारा सतही स्वरूप वैश्विक से स्थूल शरीर द्वारा पृथक् कर दिया जाता है। स्पष्ट है कि हमारे सतही स्वरूप के जो आवरण हैं उनकी अपेक्षा अवचेतन के चारों ओर के आवरण अधिक पारदर्शी हैं। अवचेतन इन सभी आवरणों के परे चेतना तक जा सकता है। ऐसी स्थिति में वह वैश्विक चेतना से जुड़ जाता है। वैश्विक चेतना से जुड़ने पर व्यक्ति का अहंकार विश्व के अहंकार में विलीन हो जाता है और व्यक्ति वैश्विक ऊर्जा से जुड़ जाता है। व्यष्टि और समष्टि में एकता स्थापित होने पर व्यक्ति दूसरों के साथ एकता का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति तादात्म्य के द्वारा ज्ञान की है, जब व्यक्ति सभी को अपना रूप समझने लगता है। एकत्त्व का यह भान स्थिर भी हो सकता है और सक्रिय भी। किन्तु किसी भी स्थिति में वैश्विक ज्ञान पूरा या संश्लिष्ट नहीं होता जो कि केवल अतिमानस स्तर पर ही हो सकता है। इसलिए वैश्विक ज्ञान के भी सभी स्तर अज्ञान से मिश्रित रहते हैं।

अतिमानस का रूपान्तरण

अतिमानस रूपान्तरण के लिए मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और अतिमानस स्तर पर भी रूपान्तरण होना चाहिए। जिसका यह अर्थ है कि साधक अपने आपको निमित्त मात्र अनुभव करे। साथ ही वह ऊपर से उतरने वाले प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, बल, आनन्द और पवित्रता को ग्रहण कर सके। तीसरा और अन्तिम चरण अतिमानस का है।

अतिमानस के रूपान्तरण का प्रथम चरण मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण है। इस स्तर पर साधक अपने आपको निमित्त ही समझता है। इसके कारण उसमें भक्ति, आत्मनिवेदन, समर्पण, सब गतियों की ईश्वरोन्मुखता, विवेक, दिव्य सम्बन्धी सत्य, शिव और सुन्दर, असत्य, अशुभ, कुरूप और विसंगति का निराकरण, प्रेम और सहानुभूति के द्वारा पूरे अस्तित्व के साथ एकता तथा स्वयं और दिव्य के सत्य के प्रति खुलापन आ जाता है।[6]

मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण के लिए अवचेतन से सतही प्रकृति को प्रभावित करना चाहिए। इससे सत्य, शिव और सुन्दर के प्रति संवेदनशीलता बढ़ती है। किन्तु यह प्रभाव अपने शुद्ध रूप में सतही जीवन पर नहीं आता क्योंकि अवचेतन के स्तर पर यह दूषित हो जाता है। इसलिए जीवात्मा या तो अवचेतन के स्तर पर ही विकृत हो गये प्रभाव को ग्रहण कर पाता है अथवा सतही स्तर पर मार्ग से भटके हुए प्रभाव को ग्रहण करने के कारण विचार, कामना और शारीरिक स्तर पर भटक जाता है।

जीवात्मा का विकास शनैः शनैः दीर्घकाल में होता है। इसलिए साधक को जीवात्मा को अपने व्यक्तित्व का स्वामी बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए; किन्तु यह सरल नहीं है। होता यह है कि हम अवचेतन को ही जीवात्मा समझ लेते हैं और मन, प्राण और शरीर के साथ जुड़ जाते हैं। सतही स्तर पर परस्पर विरुद्ध मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण तब तक बना रह सकता है जब तक जीवात्मा का विकास न हो जाये।

सत्य, शिव और सुन्दर का जीवात्मा स्पर्श तो करता है किन्तु वह पूरी तरह रूपान्तरित नहीं होता। इसके लिए उसे ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग के सम्मिलित प्रयत्न द्वारा सत् का संयोग प्राप्त करना होता है। इन तीनों योगों में से किसी एक के आधार पर हमारे व्यक्तित्व का संश्लिष्ट रूपान्तरण नहीं हो सकता। मन के द्वारा हम कूटस्थ सत् तक पहुँच सकते हैं किन्तु शरीर और प्राण की पकड़ नहीं हो पाती। इसी प्रकार हृदय के माध्यम से हम भक्त बन जाते हैं किन्तु विचार और प्राणों में रूपान्तरण नहीं आता। समर्पण के द्वारा हम दैवी मनोरथ से जुड़ जाते हैं किन्तु इससे भी पूरी तरह रूपान्तरण नहीं होता। किन्तु यदि ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का सम्मिलित रूप से प्रयोग किया जाये तो सतही स्तर पर ऐसी स्थिति बनती है कि हम अन्दर से मनोविज्ञान का और ऊपर से अध्यात्म का प्रकाश ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य संत, निस्वार्थ कार्यकर्ता और आत्मज्ञानी बन जाता है। इसलिए मनुष्य को सतही स्तर से अन्दर की ओर जाने का प्रयत्न करना चाहीए। किन्तु इसमें मनुष्य की बहिर्मुखता बाधक बनती है। अवचेतन मन भी इसमें हस्तक्षेप करता है क्योंकि उसका भी स्वभाव दिव्य

नहीं है। किन्तु इन बाधाओं को पार करके मनुष्य अन्तर्मुख हो सकता है जहाँ वह सतही स्तर से आन्तरिक स्तर को जोड़ सकता है। सतही स्तर और आन्तरिक स्तर के बीच के अन्तराल को समाप्त करने के समय अवचेतन मन हमें धोखा दे सकता है और जो दिव्य नहीं है उसे दिव्य के रूप में प्रस्तुत करके विभिन्न प्रकार के आकर्षणों में भटका सकता है। अहंकार अथवा वासना के कारण भी साधक दिग्भ्रमित हो सकता है। इसके लिए दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है ताकि अहंकार को दिव्यता द्वारा विलीन किया जा सके। इस परिवर्तन में तपस्या द्वारा कामना और गलत आदतों के प्रति विरक्ति पैदा की जा सकती है किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली दिव्य के प्रति आत्मनिवेदन और समर्पण सिद्ध होता है। गुरु का मार्गदर्शन भी सहायक सिद्ध होता है।

बाहर से अन्दर की ओर जाने के परिणामस्वरूप आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करना प्रारम्भ करती है और वही साधक का नियंत्रण करती है; अन्दर से ही मार्गदर्शन प्राप्त होने लगता है और सभी विकृतियों के स्थान पर उदात्तीकरण अपना स्थान लेता है।[7] परिणामस्वरूप चेतना आध्यात्मिक अनुभव के लिए अनुकूल हो जाती है। उस समय सभी प्रकार के आत्मा सम्बन्धी , ईश्वर सम्बन्धी और वैश्विक चेतना सम्बन्धी अनुभव होने लगते हैं। मन ज्ञान के द्वारा, हृदय प्रेम और भक्ति के द्वारा, शरीर और इन्द्रियाँ उच्चतर अनुभव के द्वारा तथा कर्म, सत्य और उदाराशयता के द्वारा आलोकित हो जाता है।[8] जीवात्मा के विकास के बिना अवचेतन मन के स्तर पर भी ऐसा अनुभव कभी हो सकता है किन्तु उस स्तर पर ज्ञान के साथ अज्ञान मिला रहता है। अतः अहंकार ऐसे अनुभवों को आसुरी प्रवृत्तियों का साधन बना सकता है। अतः जीवात्मा के स्तर पर ही ये अनुभव सार्थक होते हैं।

आध्यात्मिक रूपान्तरण

मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण के साथ वह आध्यात्मिक रूपान्तरण भी हो सकता है जिसमें उच्चतर प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, बल आनन्द और पवित्रता अवचेतन तक पहुँच जाते हैं।[9] इस कारण श्री अरविन्द मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक रूपान्तरणों

को परस्पर जुड़ा हुआ मानते हैं।[10] अन्तर इतना है कि मनोविज्ञान के स्तर पर होने वाला रूपान्तरण साधक का संश्लिष्ट रूपान्तरण नहीं कर पाता क्योंकि यह आत्मा, ईश्वर और शक्ति का अनुभव साधक के अन्दर ही करवा पाता है, उसके बाहर नहीं। इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक अन्दर ही नहीं, अपने बाहर भी दिव्यता का अनुभव करे। यह आध्यात्मिक अनुभव की प्रथम आवश्यकता है। आध्यात्मिक अनुभव की दूसरी आवश्यकता यह है कि मनुष्य की चेतना अन्दर की तरफ ही न जाकर ऊपर की तरफ भी जाये। सामान्यतः मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण के बाद ही आध्यात्मिक रूपान्तरण होता है, क्योंकि जो आवरण आत्मा को हमसे छुपाता है वह मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण से ही विलीन होता है। इसका अपवाद भी किन्हीं कारणों से हो सकता है कि आध्यात्मिक रूपान्तरण मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण के बिना हो जाये, किन्तु ऐसे रूपान्तरण के खतरे भी हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में साधक अहंकारवश आध्यात्मिक रूपान्तरण का प्रयोग अपने स्वार्थ की सिद्धि और अहंकार के पोषण के लिए कर सकता है।

आध्यात्मिक रूपान्तरण का एक परिणाम यह होता है कि अस्तित्व के उच्चतर स्तर अपने को प्रकट करने लगते हैं, अनन्त का दर्शन होने लगता है जहाँ मौन, शान्त और कूटस्थ में प्रकाश, आनन्द और शक्ति का अनुभव होता है।[11] श्री अरविन्द के अनुसार शाङ्कर अद्वैत यहीं जाकर रुक जाता है किन्तु यदि साधक यदि यहाँ न रुके तो वह उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि और अधिमन से होता हुआ अतिमन तक पहुंच जाता है और इस प्रकार उसका अनुभव कूटस्थता का न होकर गतिमत्ता का होता है। इस बिन्दु का विस्तार हम अतिमानस का विवरण देते समय करेंगे।

आध्यात्मिक रूपान्तरण में क्रमशः मन कभी ऊपर जाकर वापिस नीचे लौट आता है। अध्यात्म का अनुभव तब तक स्थायी नहीं हो पाता जब तक प्रकाश, शक्ति और आनन्द का अवतरण न हो। पहले यह अनुभव समाधि की स्थिति में होता है किन्तु बाद में जागृत अवस्था में भी हो सकता है। अवतरित होने वाला प्रकाश और शक्ति मन, प्राण और शरीर को क्रमशः परिवर्तित करती हैं। आध्यात्मिक रूपान्तरण के कारण सीमाओं को लांघकर अनन्त और नित्य का अनुभव होता

है, अमृतत्व की जीवन्त अनुभूति होती है, दिव्यता की उपस्थिति प्रतीति में आती है तथा हृदय आनन्द से भर जाता है।

आध्यात्मिक अनुभव में पहली बाधा शरीर, प्राण और मन की ओर से आती है क्योंकि इनमें अज्ञान है और ये उच्चतर प्रकाश और शक्ति को ग्रहण नहीं कर सकते। प्रकृति अवश्य आरोहण चाहती है किन्तु यदि यह आरोहण गलत दिशा में हो रहा हो तो इसे बदलने की आवश्यकता होती है। दूसरी बाधा यह है कि आध्यात्मिक रूपान्तरण की प्रक्रिया बहुत लम्बी है; चेतना उच्चतम स्तर पर बहुत कम रह पाती है और बार बार मन के स्तर पर आना चाहती है। तीसरे यदि मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण न हुआ हो तो उसमें आध्यात्मिक शक्तियों का अवतरण वैदिक शब्दों में 'अधपके घट में सोम का डालना' हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अवतरण का क्रम भंग हो सकता है क्योंकि प्रकृति उसे धारण नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त मन प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक शक्ति का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग कर सकता है और अहंकार बढ़ सकता है। चौथे अवतरित होने वाला आनन्द ब्रह्मचर्य के अभाव में विलीन हो सकता है। यदि मनुष्य में कामना और अभिमान है तो शक्ति पुनः वापिस जा सकती है और प्रकाश भी लुप्त हो सकता है। आसुरी शक्तियाँ भी दैविक शक्तियों द्वारा छोड़े गये प्रभाव का दुरुपयोग कर सकती हैं।

आध्यात्मिक रूपान्तरण के अनन्तर अतिमानस के रूपान्तरण का क्रम आता है। आध्यात्मिक रूपान्तरण में पूर्णता का आभास हो सकता है किन्तु उसमें गतिमत्ता का रूपान्तरण नहीं हो पाता।[12] वस्तुस्थिति यह है कि जब तक मूल सर्जकशक्ति का अवतरण न हो तब तक रूपान्तरण पूर्ण नहीं हो सकता। वस्तुतः इस अतिमानस रूपान्तरण के पहले जितने भी रूपान्तरण होते हैं उनमें उच्चतर स्थिति के निम्नतर स्थिति में घुलमिल जाने की सम्भावना रहती है। उन सभी रूपान्तरणों में उच्चतर और निम्नतर स्थिति का परस्पर आदान प्रदान होता है, इस कारण अपूर्णता बनी रहती है, किन्तु अतिमानस जो मूल सर्जकशक्ति है, वह नीचे की स्थितियों से प्रभावित नहीं होती और इसलिए उसमें यदि कोई परिवर्तन होता है तो वह विवशतावश नहीं प्रत्युत स्वेच्छा से होता है।[13] इसलिए अतिमानस के

पहले के सभी सोपान बीच के पड़ाव हैं, स्थायी तो अतिमानस रूपान्तरण ही है। इसलिए जिस प्रकार आध्यात्मिक रूपान्तरण के लिए मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण आवश्यक है, उसी प्रकार अतिमानस रूपान्तरण के लिए आध्यात्मिक रूपान्तरण आवश्यक है।

अतिमानस रूपान्तरण

अतिमानस रूपान्तरण में अधिमानस और अतिमानस के अतिरिक्त सभी रूपान्तरण अवचेतन से आते हैं किन्तु अधिमानस और अतिमानस रूपान्तरण अवचेतन से नहीं आता अपितु ऊपर से अवतरित होता है। इसका कारण यह है कि मन अज्ञानमय है और ज्ञानमय को नहीं जान सकता। अतः ज्ञानमय का तो ऊपर से अवतरण ही होता है। प्रयत्न से उच्चतर मन आलोकित मन और अन्तर्दृष्टि विकास के क्रम में आ सकते हैं और अधिमन की स्थिति भी बन सकती है, किन्तु अधिमन भी अपूर्ण ही है पूर्णता के लिए तो अतिमन का अवतरण आवश्यक है। इसलिए यह अतिमन पूर्ण समर्पण से ही प्राप्त होता है जिसमें व्यक्ति अपने को खो देता है।

प्रथम तो साधक को अपनी आन्तरिक स्थिति के बारे में जागरूक होना चाहिए, निम्न प्रकृति की दासता से मुक्त होकर उस पर नियंत्रण करना चाहिए। दूसरे उसे पराप्रकृति के प्रति समर्पित होना चाहिए। तीसरे उसे व्यष्टि को समष्टि के प्रति खुलना चाहिए। अतिमानस के अवतरण के लिए यह आवश्यक है कि आध्यात्मिक अवतरण स्थिति मनोवैज्ञानिक विकास के बिना भी हो सकती है किन्तु अतिमानस शक्ति तब तक नहीं अवतरित होती जब तक प्रकृति उसे ग्रहण करने के लिए पूरी तरह तैयार न हो। अन्तर्दर्शन और अधिमन के माध्यम से अतिमानस अपना कार्य करता है। वस्तुतः साधक को आध्यात्मिक रूपान्तरण पर भी रुकना नहीं चाहिए अपितु उसे ऐसे बिन्दु पर ले आना चाहिए कि वह अतिमानस तक पहुँच सके और अतिमन मन, प्राण और शरीर में अवतीर्ण हो सके और अज्ञान की चेतनायें अतिमानस चेतनाओं में बदल सके।

वस्तुतः अतिमानस तक पहुँचने के लिए साधक को एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरना होता है क्योंकि आध्यात्मिक विकास क्रमिक रूप से होता है और अध्यात्म तथा

अतिमानस में बहुत अन्तर है। चाहे यह विकास तेजी से भी क्यों न हो किन्तु इसे विकास के सभी सोपानों को पार अवश्य करना होता है। इसलिए रूपान्तरण का चमत्कार भी एक पद्धति से ही होता है। आध्यात्मिक से अतिमानस तक की यात्रा में भी विस्तार, ऊर्ध्वगमन और संश्लेषण ही अपना काम करते हैं। किन्तु अतिमानस अध्यात्म से अतिमानस तक आने में संश्लेषण इसलिए महत्व का है कि इससे पहले जो भी संश्लेषण हुए वे अधूरे थे किन्तु यह संश्लेषण जो अतिमानस के स्तर पर होता है, पूर्ण है। होता यह है कि हमारा जब एक अंश दूसरे अंश पर रूपान्तरित होता है तो वह अपने पूर्व रूप को छोड़ना नहीं चाहता इसलिए साधक को निरन्तर अतिमानस तक पहुँचने की आवश्यकता को समझना होता है। इसलिए अतिमानस तक पहुँचकर मन, प्राण और शरीर को रूपान्तरित करने की प्रक्रिया लम्बी होती है।

यह सम्भव है कि कोई साधक मन, शरीर और प्राण के रूपान्तरण के बिना आत्मा से जुड़ जाये और इतने से ही संतुष्ट हो जाये किन्तु उससे पृथिवी पर दिव्य जीवन की सम्भावना नहीं बनती। किन्तु यदि साधक पार्थिव चेतना का रूपान्तरण चाहता है तो उसे बीच की सभी सोपानों में से गुजरना होगा जो मुख्यतः चार हैं– उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि और अधिमन। इन सभी स्तरों पर चेतना का अधिकाधिक उदात्तीकरण होता है और अन्त में अतिमन की उपलब्धि होती है। ये सभी स्तर केवल चेतना की शक्तियाँ ही नहीं है अपितु अस्तित्व का ठोस अंग हैं। इनमें जब साधक पर किसी का भी अवतरण होता है तो उसके व्यक्तित्व का उतने ही अंश में रूपान्तरण हो जाता है।

उच्चतर मन

उच्चतर मन आरोहण का प्रथम स्तर है। इस स्तर पर विचार की प्रधानता रहती है। इस स्तर पर अपने उस स्वरूप का बोध होता है जिसका स्रोत मौलिक तादात्म्य है। यहाँ तर्क की अपेक्षा सत्य का साक्षात् अनुभव रहता है जो अनन्त तक फैल सकता है। विचारशक्ति के द्वारा साधक इच्छा, भावना, प्राण और शरीर को शुद्ध करना चाहता है और इस हेतु विचार को काम में लेता है। परिणाम स्वरूप उसकी भावनायें और क्रियायें इस उच्चतर प्रज्ञा से स्पन्दित हो जाती हैं;

उसकी इच्छा और प्राण भी इसी प्रकार बदल जाते हैं और उसका शरीर रोग की आशंका करने की अपेक्षा स्वास्थ्य में विश्वास करता है। तथापि यह रूपान्तरण पूर्ण नहीं होता क्योंकि इसमें अवतरित होने वाली शक्ति उतनी बलवती नहीं होती जितनी बलवती ऊपर के स्तरों पर होती है। इसलिए ऊपर के स्तरों से आने वाली शक्ति, अज्ञान और जड़ता में से गुजरने के कारण निर्बल हो जाती है। उच्चतर मन की शक्ति अज्ञान के कारण निर्बल रहती है। अतः परिपूर्णता प्राप्त नहीं होती। किन्तु इस स्तर को प्राप्त करना आगे के विकास के लिए आवश्यक है।

आलोकित मन

आलोकित मन सत्य का दर्शन करता है, उस समय शान्ति और आनन्द का अवतरण होता है। इस स्तर पर प्रगति की गति तीव्र हो जाती है। आलोकित मन विचार के स्थान पर दर्शन करता है और विचार दर्शन के आधीन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि दर्शन में सत्य का ग्रहण होता है जबकि विचार केवल सत्य के बिम्ब को ही ग्रहण कर पाता है। सत्य का यह बिम्ब-ग्रहण ज्ञान के सम्प्रेषण के लिए आवश्यक हो सकता है, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है। आलोकित मन के द्वारा साधक को ज्ञान की अधिक बड़ी शक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि दर्शन विचार से अधिक शक्तिशाली है। आलोकित मन के द्वारा सत्य साधक के अधिक निकट आ जाता है। यह विचारों को आलोकित कर देता है। आलोकित मन इतना शक्तिशाली है कि यह शरीर के कोशाणुओं को भी प्रभावित कर देता है।[14]

आलोकित मन के बाद अन्तर्दर्शन की स्थिति आती है। इसके द्वारा उच्चतर मन और आलोकित मन की अपेक्षा और भी अधिक शक्तिशाली ढंग से संश्लिष्ट रूपान्तरण की यात्रा चलने लगती है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है जो तादात्म्य से होने वाले ज्ञान के अधिक निकट होता है। इसमें साधक दिव्य के साथ सीधे सम्पर्क में आ जाता है। अन्तर्दृष्टि की चार शक्तियाँ हैं—सत्य का दर्शन, सत्य का श्रवण, सत्य का स्पर्श और सत्य का विवेक। इस स्तर पर तर्क के सभी कार्य अमोघ रूप से फलित होते हैं। पहली दो स्थितियों में तर्क सहायता

करता था और निर्णय लेता था किन्तु उन स्तरों पर क्योंकि अन्तर्दर्शन पूर्ण नहीं था अतः उसके निर्णय पूरी तरह ठीक नहीं होते थे। वस्तुतः आलोकित मन के स्तर पर तर्क निर्णय नहीं लेता, किन्तु वह केवल एक साक्षी हो जाता है। इस स्तर पर सभी अन्तर्दृष्टियां अपने स्थान पर यथोचित रूप में स्थित हो जाती हैं। यद्यपि आलोकितमन मन, हृदय, प्राण, इन्द्रियाँ और शरीर को रूपान्तरित करता है और इसलिए उच्चतर मन आलोकित मन की अपेक्षा अधिक बड़ा रूपान्तरण करता है, तथापि यह पूरा रूपान्तरण नहीं कर पाता क्योंकि अज्ञान बहुत गहरा है और यह उसे पूरी तरह भेद नहीं पाता।

वैश्विक चेतना

अन्तर्दृष्टि के अनन्तर साधक अधिमन के स्तर पर वैश्विक चेतना को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में अहम् का भाव गौण होकर धीरे धीरे विलीन हो जाता है। असीम सार्वभौम चेतना उसका स्थान ले लेती है। अहंकार केन्द्रित सभी गति वैश्विक विस्तार में लहर का रूप ले लेती है। तब व्यक्ति निमित्त भी नहीं रहता। वह सार्वभौम, सत्, चित् और आनन्द को प्राप्त कर लेता है। वह सम्पूर्ण विश्व को अपना ही रूप अनुभव करता है। उसका अहंकार विश्वात्मा में बदल जाता है। इस स्तर पर साधक का व्यक्तित्व बहुआयामी हो जाता है। वह सभी भूतों को अपने में देखने लगता है और उनका जीवन उसे अपना ही जीवन प्रतीत होने लगता है।

प्रारम्भ में वह प्रकृति की सभी लीलाओं को प्रतिक्रिया के बिना स्वीकार करता है अथवा उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जैसे अधिमन पूर्ण होता है साधक ईश्वर की इच्छा से सञ्चालित होने लगता है उसका व्यक्तित्व निर्वैयक्तित्व में बदल जाता है। व्यष्टि समष्टि में जुड़ जाता है। जड अहंकार की अपेक्षा वह अनन्त के क्रिया-कलापों का केन्द्र बन जाता है। अधिमन के स्तर पर प्रकाश और सत्य की चेतना, शक्ति, बल, सौन्दर्यबोध और आनन्द प्रकट हो जाते हैं।[15] इस स्थिति में आध्यात्मिक अनुभव स्वाभाविक हो जाता है। उच्चतर मन, आलोकित मन और अन्तर्दृष्टि अधिक विस्तृत और सशक्त हो जाती हैं क्योंकि यह उन सब

को अपने रूप में ढाल लेता है। पूरी प्रकृति, ज्ञान, सौन्दर्यबोध और गतिशीलता सर्वग्राही हो जाते हैं। इतना होने पर भी अभी पूरी तरह संश्लिष्ट रूपान्तरण नहीं हो पाता। वह अपने अज्ञान पर सत्य और ज्ञान अध्यारोपित करता है किन्तु अज्ञान का आधार अभी बना रहता है, क्योंकि यह निम्न चेतना का ही रूप है। यद्यपि इसमें सार्वभौम एकता प्रकट हो जाती है किन्तु इसका कार्य विभाजन और प्रतिक्रिया के आधार पर चलता है। फलतः यह मन से परे नहीं जा सकता। जड के नीचे की ओर आकर्षण की आशंका अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हो जातीय यह आशंका तो अतिमानस के स्तर पर ही दूर होती है।

वस्तुतः सभी आरोहण के क्रम अतिमन तक पहुँचने की तैयारियाँ है। इन सभी स्तरों पर अतिमन का प्रकाश आधा अधूरा पहुँचता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक अधिमन अतिमन में रूपान्तरित न हो जाये। अतिमन रूपान्तरण की प्रक्रिया को सीधा अपने हाथों में ले लेता है और मन, प्राण और शरीर को उनकी दिव्यता का दर्शन करा देता है।[16] इस प्रकार अज्ञान का ज्ञान में पूर्ण रूपान्तरण हो जाता है।

अब तक हमने आरोहण की जो प्रक्रिया बतायी है वह क्रमशः एक के बाद दूसरी इस रूप में नहीं काम करती कि पहली प्रक्रिया का दूसरी प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध ही न हो। वस्तुतः आरोहण की प्रक्रिया समग्र है जिसमें एक रूप दूसरे रूप में अपना प्रभाव दिखाता है। अतिमन के स्तर पर नीचे के स्तरों का कोई प्रभाव नहीं होता किन्तु शेष सभी स्तरों पर सभी स्तर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए आरोहण की प्रक्रिया जटिल है और एक स्तर का दूसरे स्तर से विविध प्रकार का सम्बन्ध बना रहता है। साधक एक स्तर से दूसरे स्तर तक आरोहण करता है किन्तु मन, प्राण और शरीर में रूपान्तरण करने के लिए वह बार बार अवतरण भी करता है। अभिप्राय यह है कि आरोहण की प्रक्रिया सीधी-साफ सरल नहीं है। श्री अरविन्द ने इसे एक लहर के समान बताया है जिसका एक हिस्सा पर्वत के ऊपरी हिस्से को छूता है किन्तु दूसरा हिस्सा अभी नीचे ही बना रहता है।[17]

1. And that indeed is the true inmost aim and meaning of ethics, discipline and askesis, to lesson and tame, purify and prepare to be fit instruments the vital and physical and lower mental life so that they may be transformed into notes of the higher mental and eventually the supramental harmony, but not to mutilate and destroy them. —*The Life Divine, Page No.* 743

2. For a larger mental being is there within us, a larger inner vital being, even a larger inner subtle-physical being other than our surface body-consciousness. —*The Life Divine, Page No.* 552

3. And by entering into this or becoming it, identifying ourselves with it, we can observe the springs of our thoughts and feelings, the sources and motives of our action, the operative energies that build up our surface personality. —*The Life Divine, Page No.* 552

4. This is because, though an increased self-knowledge is normal here, it is not at once an integral knowledge.—*The Life Divine, Page No.* 555

5. It is true that this knowledge proper to the subliminal being is not complete; for it is a mixture of knowledge and ignorance and it is capable of erroneous as well as of true perception, since it works not by knowledge by identity, but by a knowledge through direct contact and this is also a separative knowledge, though more intimate even in separation than anything that is commanded by our surface nature. —*The Life Divine, Page No.* 559

6. Its realization brings Bhakti, self-giving, surrender, turning of all the movements Godward, discrimination and choice of all that belongsto the Divine Truth, Good, Beauty, rejection of all that is false, evil, ugly, discordant, union through love and sympathy with all existence, openness to the Truth of the Self and the Divine. —*Letter on Yoga-I, Page No.* 107

7. A guidance, a governance begins from within which exposes every movement to the light of Truth, repels what is false, obscure, opposed to the divine realisation; every region of the being, every nook and corner of it, every movement, formation, direction, inclination of thought, will, emotion, sensation, action, reaction,

motive, disposition, propensity, desire, habit of the conscious or subconscious physical, even the most concealed, camouflaged, mute, recondite, is lighted up with the unerring psychic light, their confusions dissipated, their tangles disentangled, their obscurities, deceptions, self-deceptions precisely indicated and removed; all is purified, set right, the whole nature harmonised, modulated in the psychic key, put in spiritual order. —*The Life Divine, Page No.* 941

8. This is the first result, but the second is a free inflow of all kinds of spiritual experience, experience of the Self, experience of the Ishwara and the Divine Shakti, experience of cosmic consciousness, a direct touch with cosmic forces and with the occult movements of universal Nature, a psychic sympathy and unity and inner communication and interchanges of all kinds with other beings and with Nature, illuminations of the mind by knowledge, illuminations of the heart by love and devotion and spiritual joy and ecstasy, illuminations of the sense and the body by higher experience, illuminations of dynamic action in the truth and largeness of a purified mind and heart and soul, the certitudes of the divine light and guidance, the joy and power of the divine force working in the will and the conduct. —*The Life Divine, Page No.* 942

9. This can be done only by the triple transformation to which we have already made a passing reference: there must first be the psychic change, the conversion of our whole present nature into a soul-instrumentation; on that or along with that there must be the spiritual change, the descent of a higher Light, Knowledge, Power, Force, Bliss, Purity into the whole being, even into the lowest recesses of the life and body, even into the darkness of our subconscience. —*The Life Divine, Page No.* 924

10. A psychic or, more widely speaking, a psycho-spiritual transformation of this kind would be already a vast change of our mental human nature. —*The Life Divine, Page No.* 943

11. The experience is in accord with that which is brought to us by the first opening of vision; the mind rises into a higher plane of

pure self, silent, tranquil, illimitable; or it rises into regions of light or of felicity, or into planes where it feels an infinite Power or a divine Presence or experiences the contact of a divine Love or Beauty or the atmosphere of a wider and greater and luminous Knowledge. —*The Life Divine, Page No.* 945

12. The change made is often extraordinary, there is even something which looks like a total conversion and reversal of the state of consciousness and an uplifting of its movements, but it is not dynamically absolute. —*The Life Divine, Page No.* 951

13. Only the supermind can thus descend without losing its full power of action; for its action is always intrinsic and automatic, its will and knowledge identical and the result commensurate: its nature is a self-achieving Truth-consciousness and, if it limits itself or its working, it is by choice and intention, not by compulsion; in the limits it chooses its action and the results of its action are harmonious and inevitable. —*The Life Divine, Page No.* 951

14. It can effect a more powerful and dynamic integration; it illumines the thought-mind with a direct inner vision and inspiration, brings a spiritual sight into the heart and a spiritual light and energy into its feeling and emotion, imparts to the life-force a spiritual urge, a truth inspiration that dynamises the action and exalts the life movements; it infuses into the sensea direct and total power of spiritual sensation so that our vital and physical being can contact and meet concretely, quite as intensely as the mind and emotion can conceive and perceive and feel, the Divine in all things; it throws on the physical mind a transforming light that breaks its limitations, its conservative inertia, replaces its narrow thought-power and its doubts by sight and pours luminosity and consciousness into the very cells of the body. —*The Life Divine, Page No.* 980

15. The consciousness that thus acts is experienced as a consciousness of Light and Truth, a power, force, action full of Light and Truth, an aesthesis and sensation of beauty and delight universal and multitudinous in detail, an illumination in the whole and in all things, in the one movement and all movements, with a constant

extension and play of possibilities which is infinite, even in its multitude of determinations endless and indeterminable. —*The Life Divine, Page No.* 987

16. This would continue until the point was reached at which overmind would begin itself to be transformed into supermind; the supramental consciousness and force would take up the transformation directly into its own hands, reveal to the terrestrial mind, life, bodily being their own spiritual truth and divinity and, finally, pour into the whole nature the perfect knowledge, power, significance of the supramental existence. —*The Life Divine, Page No.* 989

17. Another image might be that of an army advancing in columns which annexes new ground, while the main body is still behind in a territory overrun but too large to be effectively occupied, so that there has to be a frequent halt and partial return to the traversed areas for consolidation and assurance of the hold on the occupied country and assimilation of its people. —*The Life Divine, Page No.* 991

देवगण

श्री अरविन्द के चिन्तन में यह बात बारम्बार कही गई है कि व्यक्ति का लोप नहीं होना चाहिए, जैसा कि कई परम्पराओं में निर्वाण में हो जाता है। ऐसी स्थिति में जिस अतिमानस चेतना की चर्चा श्री अरविन्द करते हैं उस चेतना में यह प्रश्न होता है कि मनुष्य का स्वरूप क्या होगा? क्या चेतना और विज्ञान दोनों मिलकर मनुष्य का कल्याण कर सकेंगे? जो परिवर्तन हम लाना चाहते है उसका एकमात्र साधन हमारे पास मनस् तत्त्व है। अतः मनस् तत्त्व को अच्छी प्रकार देखना होगा। अभी तो ऐसा लग रहा है कि जैसे ही कोई उत्तम विचार या उच्च कोटि की योजना संसार में आती है, वह कलुषित हो जाती है। मन ने तो सिद्धांततः बहुत सी उत्तम पद्धतियाँ खोजीं। किन्तु व्यवहार में उन्हें उतारा नहीं जा सका। उदाहरण के लिए साम्यवाद को ले सकते हैं। ईसामसीह का संदेश हो या अन्य अहिंसा के पुजारियों का आन्दोलन हो। किन्तु क्या हम समस्या पर विजय पा सके। नीचे की ओर का आकर्षण बहुत बलशाली है। इस सब के आधार पर श्री अरविन्द का निष्कर्ष था कि मनस् तत्त्व रूपान्तरण नहीं कर सकता। कोई सी भी संस्थाएं अन्ततोगत्वा नष्ट हो जाती हैं। बहुत आशा की बात भी करें तो मन एक कोठरी बना सकता है, जिसमें सभी धर्मानुकूल आचरण करें। किन्तु वह उस कोठरी से किसी को बाहर नहीं निकलने देना चाहता। मन एकता के प्रवाह में एकरूपता स्थापित करना चाहता है। वह विविधता की आवश्यकता नहीं समझता, वह केवल उन तत्त्वों की चर्चा करना चाहता है जो अपरिवर्तनशील तो हैं ही सीमित भी हैं। मन जिस सत्य को जान पाता है वह स्वयं अधूरे होते हैं और जीवन को परिपूर्ण नहीं बना सकते।

जीवन

जीवन इतना विशाल है कि वह किन्हीं भी सिद्धांत की पकड़ में नहीं आता। उसमें अपरिमित संभावनाएं हैं। हमारी सभी चेतना के पीछे एक शुद्ध निरपेक्ष और अनन्त तत्त्व है। हम सभी उसकी खोज करना चाहते हैं। यह खोज सब अपने-अपने ढंग से करते हैं किन्तु वह मार्ग इतने भिन्न हैं कि हम ठीक गलत का निर्णय नहीं ले पाते। इसलिए तर्कबुद्धि जिन कड़े नियमों का निर्माण करती है वे नियम कभी भी सार्वभौम नहीं हो सकते। इसलिए उन सब नियमों का हमारे विकास में योगदान तो है किन्तु हम उन्हीं नियमों पर रुक नहीं सकते। वस्तुतः विकास का अर्थ चेतना का उत्तरोत्तर जाग्रत होना है।

वर्तमान आदर्श

हम कभी ऐसा सोचते हैं कि बड़े-बड़े ऋषियों और पैगम्बरों की चेतना ने जिस अधिमानस के स्तर पर कार्य किया वह अन्तिम हैं। इसमें कठिनाई यह है कि एक तो हमारे अब तक के विकास में विषमता है और दूसरे मानस और अधिमानस में मात्रा का भेद तो है किन्तु हैं दोनों एक ही श्रेणी के। मनस् तत्त्व मनुष्य को ऊपर नहीं उठाता केवल शिखर पर खड़ा कर देता है दूसरे शब्दों में वह विस्तार कर सकता है किन्तु उसमें परिवर्तन नहीं ला सकता। भले मनुष्य दिव्य भी बन जाये किन्तु यदि वह इसे अपने अहङ्कार से जोड़ ले तो वह नित्शे का अधिमानव बनेगा, देवता नहीं। श्री अरविन्द का मानना है कि यदि मनुष्य अहङ्कारी न भी बने तो भी वह असफल ही रहेगा क्योंकि उसके पास कोई नया चेतनासूत्र नहीं है। इसी कारण ईसामसीह या बुद्ध जैसे लोग भी दुनिया में थोड़ा सुधार तो कर सके, लेकिन रूपान्तरण नहीं।

जहाँ तक अधिमानस का सम्बन्ध है उसकी असफलता का पहला कारण यह है कि धर्म उसका विभाजन कर देता है। वह है तो एक प्रकाशपुंज और उसमें सब एक नजर आते है किन्तु वह देखता सबको अपने-अपने दृष्टिकोण से है, इसलिए पैगम्बरों की परम्परा में परस्पर विरोध भी है, सामान्य मनुष्य उस दृष्टिकोण के भेद को महत्त्व देते हैं न कि समानता को। परिणामस्वरूप कोई भगवान् को

अन्तर्यामी मानते हैं, किन्हीं का कहना है कि भगवान् कोई व्यक्ति नहीं है, निर्वाण ही परम सत्य है। प्रेम या सौन्दर्य को, शक्ति अथवा प्रज्ञा को परम सत्य मानने वाले भी हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इनमें से सभी पूर्ण ज्योति की केवल एक रेखा है। हम में एक बार में केवल एक ही सत्य को अनुभव करने की क्षमता है। बुद्ध ने कहा कि सृष्टिसे परे केवल शून्य है, ईसामसीह ने दीनवत्सलता को परम सत्य माना। किन्तु बुद्ध के भी बाद महायान और हीनयान का भेद हो गया। ईसाई धर्म में भी अनेक सम्प्रदाय बन गये। अधिमन के पास तर्क है और तर्क से वह विचार शक्तियों का बंटवारा करता रहता है। साम्यवाद और व्यक्तिवाद, अहिंसा और युद्धशक्ति, विषयलोलुपता और तप संयम इत्यादि सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं को अभिव्यक्त करते हैं। इनके बीच समन्वय का प्रयत्न मानसिक होगा तो एकता नहीं ला सकता। जिस प्रकार प्रिज्म एक ही प्रकाश के टुकड़े कर देता है, उसी प्रकार अधिमन के क्षेत्र में सृष्टि के मूल में ही विभाजन का तथ्य रहता है।

यदि एकता का प्रयत्न किया जाये तो वह एकता भी अलग-अलग चिन्तन के घेरे में होगी। और यदि इन घेरों के बीच भी एकता हो जाये तो फिर विविधता नहीं रह पायेगी। ध्यान रखने की यह बात है कि सब मनुष्यों का विकास स्तर अलग-अलग है। इसलिए कुछ विशेष लोग अन्धकार के बीच मध्य प्रकाश के द्वीप-से होंगे और चारों ओर वे कम विकसित मनुष्यों से घिरे रहेंगे, जो उस प्रकाश को नष्ट करना चाहेंगे। यूनान और रोम की बर्बर लोगों ने यही दशा कर दी। सच में दुनिया का विकास सारी पृथ्वी के विकास के साथ बँधा हुआ है। बड़ी बात यह है कि मानव एक ही है इसलिए एक भी मनुष्य यदि दुःखी है तो हम सुखी नहीं हो सकते।

संस्था

किसी भी संस्था का अध्यक्ष और साक्षात् शिष्य जब विदा हो जाते है तो वह अपना गौरव खो देता है। नीचे का जो आकर्षण है उसका लाँघना संभव नहीं है। अब तक जितने प्रयत्न हुए उनका प्रभाव बहुत नगण्य है। इन प्रयत्नों में

अधिकतर प्रयत्नों ने जीवन की उपेक्षा की। इसलिए जीवन में कोई बदलाव नहीं आया। जीवन से कटकर हम आनन्द के भ्रम में रह सकते हैं लेकिन वास्तविक सत्य को तो जीवन में ही पाया जा सकता है। जीवन इसलिए नहीं बना है कि हम इससे भाग जायें वस्तुस्थिति यह है कि हम जीवन से इसलिए चूक जाते हैं कि हम अतीत या भविष्य में ही रहते हैं और जीवन सदा वर्तमान में होता है। अब तक जितने प्रयत्न हुए किन्तु मनुष्य के जीवन में पाशविकता नहीं निकल पायी। कभी-कभी जो खण्डित सत्य हमारे हाथ लगता है वह पुनः नष्ट हो जाता हैं। जब हमें सर्वत्र पीड़ा और अधर्म दिखाई देता है तो हम उससे बचकर भाग जाना चाहते हैं।

निष्कर्ष

श्री अरविन्द के दर्शन में अधिमानस से भी ऊपर एक स्थिति है अतिमानस की। श्री अरविन्द ने अपने जीवन के चालीस वर्ष इस अतिमानस की खोज में लगा दिये। इसके लिए उन्हें बहुत यातनाएँ भी सहनी पड़ी। वस्तुतः जब हम अतिमानस की खोज में निकलते हैं तो हम केवल देखते नहीं हैं, अपितु अनुभव भी करते हैं। अतिमानस की ओर यात्रा का अनुभव सुखद तो नहीं ही है।

परम रहस्य

तर्कों के आधार पर हमने अब तक यह प्रतिपादित किया है कि एक नये अतिमानस की खोज आवश्यक है ताकि मनुष्य की समस्याओं का सर्वांगीण समाधान हो सके। इस कार्य में श्री अरविन्द पूरे समय लगे रहे। उन्होंने यह भी कहा कि उनका योग दुर्बल मनुष्यों के लिए नहीं है। श्री अरविन्द के योग का पहला परिणाम कला और काव्य के क्षेत्र में नवीन शक्तियों का खिल जाना है और दूसरा परिणाम वैयक्तिक चेतना का विश्वचेतना से जुड़ जाना है।

अतिचेतन और अवचेतन

भविष्य का मन अतिचेतन है तो अतीत का मन अवचेतन है। अवचेतन के अनेक स्तर हैं जो अभी निरन्तर सक्रिय बने हुए हैं। साधु-सन्तों के जीवन में जो कठिनाइयां आयीं वे इसलिए कि वे अवचेतन से बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहे थे। पूर्णयोग में साधक को न चमत्कारों पर संतोष करना और न अवचेतन के अंधकारों से अभिभूत होना है। अवचेतन में अनेक अंधेरी गुफाएं हैं जिनकी ओर **ऋग्वेद** ने संकेत किया है। अवचेतन में प्राणिक स्तर भी है और जड स्तर भी। इन दोनों स्तरों पर अविकसित या अर्द्धविकसित स्थिति है।

आधुनिक मनोविज्ञान अवचेतन को सुधारने की बात करता है किन्तु अतिचेतन की चर्चा नहीं करता। होता यह है कि साधक जब आरोहण करता है तो उसी अनुपात में अवरोहण भी होने लगता है। यदि कभी अवरोहण आरोहण से अधिक हो जाये तो भूतबाधा या उन्माद होने लगता है। इसलिए जब आधुनिक

मनोविज्ञान आधि-व्याधि की चिकित्सा करना चाहता है तो जिन रोगों को वह दबाता है वह अन्यत्र प्रकट हो जाते हैं। मनोविश्लेषण करने वालों ने बजाए मनुष्य की दिव्य संभावनाओं का चित्र अंकित करने के जघन्य अभिव्यक्तियों की ओर उसे खींचा है। उसने सदाचार के मिथ्या अभिमान को तोड़ा है किन्तु वह प्राण को अधिक पवित्र न बनाकर अपवित्र बना रहा है। फ्रायड ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया वह निम्न प्राण के अवचेतन स्तर को आकृष्ट करता है। वह निम्न लोकों के विभिन्न स्तरों का वर्णन करता है। इन वर्णनों से मनुष्य प्रभावित होता है और वह अवचेतन में छिपे हुए शत्रुओं से समझौता कर लेता है। स्थिति यह है कि निम्न को जानने के लिए उच्च को भी जानना आवश्यक है ताकि पूरा चित्र हमारे सामने आ सके। हमारे अतीत में सत्य का आधा भाग छिपा है लेकिन हमें पीछे की ओर न देखकर आगे की ओर देखना है। यह भूल है कि हम वस्तुओं का सच्चा आधार अवचेतन को मानते हैं जबकि वह आधार अतिचेतन में है। दृष्टान्त की भाषा में कहें तो पंकज की सार्थकता पंक में नहीं मिलेगी, उसका रहस्य पंकज के उस दिव्य रूप में है जो ऊपर के प्रकाश से खिलता है। हमारा अतीत हमें नहीं धकेल रहा, हमारा भविष्य हमें खींच रहा है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि सनातन अश्वत्थ की जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे हैं। वस्तुतः हमें आगे ले जाने के लिए भविष्य वर्तमान में प्रविष्ट हो रहा है। इसलिए भविष्य की दिशा ऊपर से नीचे की ओर है। आधुनिक मनोविज्ञान को यह सत्य समझना होगा।

साधना का संघर्ष

साधक निरन्तर कठिनाइयों का सामना करता है और यही उसकी उन्नति का प्रमाण है। साधना एक संघर्ष है। जब तक मनुष्य धारा के साथ बहता है तब तक सब साफ-सुथरा दृष्टिगोचर होता है किन्तु जैसे ही वह दूसरी दिशा में जाना चाहता है उसे विरोध का सामना करना पड़ता है। ध्यान देने की बात यह है कि एक डग ऊपर चढ़ना हो तो एक डग नीचे भी उतरना पड़ता है। ऊपर जो शान्ति और ज्योति हमें मिले उसे नीचे भी लाना होता है। तभी जीवन का रूपान्तरण संभव है। ऐसा करने पर पता चलता है कि प्रेम घृणा में किस प्रकार

बदल जाता है। साधक देखता है कि ऊपर या नीचे जाने में उसकी साम्यावस्था कैसे बनी रहती है। पूर्णयोग में प्रगति एक सीधी रेखा में नहीं होती बल्कि सर्पकुण्डलिनी की तरह ऊपर चढ़ती है। इसीलिए तंत्र में उन्नति के विश्रामबिन्दुओं को चक्र कहा है। इतना अवश्य है कि सभी स्थितियों में एक अमोघ शक्ति हमारा मार्गदर्शन करती रहती है।

अखण्ड सत्य

एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में अद्वितीय है और उसे किसी एक वस्तु को अभिव्यक्त करना है। वही उसका केन्द्रीय सत्य है। इस लक्ष्य की प्रतीति जैसे-जैसे साधक आगे बढ़ता है स्पष्ट होती जाती है। लक्ष्य की प्रतीति के साथ ही साधक को ऐसा लगता है कि यह लक्ष्य ठीक नहीं है। यह बहुत बड़ा अनिष्ट है। होता यह है कि जब किसी में कुछ करने की क्षमता होती है तो उसके कार्य का विरोध करने वाली चीज भी उसे निरन्तर सताती है। हममें पाशविक शक्ति और दिव्य प्रकृति दोनों एक साथ हैं और इसलिए देवासुर संग्राम सदा चलता है। हम लक्ष्य के विपरीत नहीं जाना चाहते किन्तु इस प्रयत्न में लक्ष्य भी चूक जाता है। इसलिए हमें दोनों पक्षों को साथ लेकर चलना होगा। अच्छे और बुरे दो तत्त्व नहीं हैं। वे दोनों एक हैं और इसीलिए उनमें से न कुछ निकाल सकते है और न मिला सकते है। चाहें तो इसे एक चमत्कार ही कह सकते हैं, जिसका समझना हमारे लिए आवश्यक है।

श्री अरविन्द के अनुसार जब हम हम सत्य की खोज करना चाहते हैं तो असत्य का निराकरण कर देते हैं जिसके कारण पूर्ण सत्य हमारी पकड़ में नहीं आता। संसार में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ हैं और अपवित्रताएँ हैं उनको निकाल देने पर अधूरा सत्य ही हमारे हाथ आयेगा। वस्तुस्थिति यह है कि कितनी भी बेढंगी चीज हो उसमें सत्य की एक चिंगारी छिपी रहती है। भगवान से बाहर कहीं कुछ भी नहीं है। यदि कोई एक चीज पूरी तरह असत्य हो तो समस्त संसार ही असत्य हो जाये। जितना ऊँचा शिखर है उतनी ही गहरी खाई है। हमें दोनों स्थितियों के लिए तैयार रहना होता है। सृष्टि में हर चीज का एक महत्त्व है। सच तो यह है कि सृष्टि में कुछ भी छोटा नहीं है। हर समस्या में पूरी समस्या उपस्थित है।

हर भूल सत्य के अन्दर जाने का एक द्वार बन जाती है। जैसे अतिचेतन ऊपर उठता है अवचेतन नीचे चला जाता है और फिर दोनों मिलकर विशाल हो जाते हैं। वेद में इसे महस्तत्त्व कहा है। हमारी यात्रा वहाँ से प्रारम्भ होती है जब जड द्रव्य से कोई चीज जीवनयुक्त होकर बाहर निकली हो। हमारी समस्या केवल वर्तमान को सुधारने की नहीं है। भौतिक अवचेतन प्राणतत्त्व के विकास का परिणाम है। अचेतन को वैदिक ऋषियों ने अनन्तशिला कहा है। सभी नकार सकार का एक अर्द्धभाग होते हैं श्री अरविन्द ने इसलिए सभी नकारों को स्वीकार किया है ताकि परम सकार उपलब्ध हो सके। उनको अपनी साधना में ऐसा लगा कि एक कल्पना में परमधाम में रहना सरल है, किन्तु अच्छाई और बुराई दोनों छोरों को संभालना कठिन है। इस स्थिति को श्री अरविन्द ने काव्यमय भाषा में इस प्रकार प्रकट किया है—

मैं चिरकाल से नीचे ही नीचे कुदाल चला रहा हूँ,
उस भयानक गंदगी के, उस घिनौनी कीचड़ के अंदर।...
एक आवाज सुन पड़ी — 'जा, वहाँ जा, जहाँ कोई नहीं गया!
गहरा खोद, और खोदता ही चला जा,
जब तक कि उस विकट आधारशिला पर न पहुँच जाये;
फिर उस द्वार को खटखटा, जिसकी कुंजी नहीं है।'

हम वस्तुतः एक काले कारागार में बँधे हैं जिससे स्वप्न, ध्यान या समाधि में थोड़ी देर के लिए बाहर आते हैं। श्री अरविन्द ने ऐसा उपाय खोजा कि उस कारागार से बाहर निकले बिना हम जाग्रत अवस्था में उस कारा से मुक्त हो सकें। हमारा जीवन गंदगी को पार करके यहाँ तक आया है। श्री अरविन्द ने पाया कि नीचे की अंधेरी रात परम प्रकाश की माँग कर रही है। उस स्थान पर साधक एक दूसरे ही देश काल में निकल जाता है। वस्तुतः निशा या मृत्यु एक आवरण मात्र है, वहाँ पुरुष और प्रकृति का मिलन होता है। जो सच्चिदानन्द कूटस्थ है वह नीचे भी है। इस स्थिति का वर्णन श्री अरविन्द ने अपने काव्यों में किया है। इसका यह अर्थ होता है कि हमें जो भी प्राप्त करना है पृथ्वी पर ही प्राप्त होगा, देह के अन्दर ही मिलेगा। यह रहस्य वेदों में छिपा था और दूसरी भी पुरानी परम्पराओं

में था। इसे ही **ऋग्वेद** (२.२४.६) में महस् पथः कहा गया है। **ऋग्वेद** (१.७१.२) में इसी घटना को इस रूप में कहा गया है कि अंगिरस ऋषियों ने अपने चीत्कार से पर्वतशिला के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

> *...उन्होंने 'तपस् में बसने वाले सूर्य' को अनावृत किया (३.३९.५)। उन्होंने 'स्वर्ग की निधि गुप्त गुफा में छिपी पायी, वह कोश उस अनंत शिला में वैसे ही छिपा था जैसे पक्षी का बच्चा हो।' (१.१३०.३)। अंधकार और प्रकाश के, अच्छाई और बुराई के पीछे जड़तत्त्व में दिव्य आविर्भाव की तैयारी हो रही थी, 'रात और दिन दोनों ने उस दिव्य शिशु को दूध पिलाया'। कुछ भी अभिशप्त नहीं है, कुछ भी निरर्थक नहीं है, दिन और रात 'दो अमर बहनें हैं और उन दोनों का एक ही प्रेमी है (सूर्य)....सत्यतः वे दोनों की 'पवित्र यात्रा' कर चुकने के पश्चात् साधक 'दो माताओं का पुत्र' (३.५५.७) हो जाता है; वह अदिति का सुत बनता है जो अतिचेतन अनंत को जन्म देने वाली शुभ्र माता है और दिति का सुत बनता है जो 'अंधकारपूर्ण अनंत' को जन्म देने वाली पार्थिव माता है। अब वह 'द्विज' हुआ, एक उसका मानव जन्म हुआ, दूसरा दिव्य, 'शाश्वत' अमर वे दोनों एक ही नीड़ में.... मानों अपनी दोनों पत्नियों का आनंद भोग रहा हो' (१.६२.७)। 'वह उर्वर शिला उत्कृष्ट जन्म के लिए बीच से चिर कर दो हो गई.... एक देवता ने मानवीय द्वारों को खोल डाला' (५.६४)। 'फिर सचमुच उनकी आँखें खुल गयीं और वे पूर्ण रूप से देखने में सक्षम हो गये। वे अपने पीछे और चारों ओर दूर-दूर तक देख पाये, उन्हें वस्तुतः वही आनंद प्राप्त हुआ जो स्वर्ग में प्राप्त होता है। सब बंद घरों के अंदर.... सब देवगण विराज रहे थे' (**ऋग्वेद** ४.१.१८)।*
>
> *—श्री अरविन्द अथवा चेतना का साहसिक अभियान, पृ. २८०-२८१*

सृष्टि के आदि में भी आनन्द है और अन्त में भी आनन्द है **ऋग्वेद** (२.२४.४) कहता है वह शिला से ढका हुआ मधुकूप है।

अतिमानसिक चेतना

अतिमानसिक चेतना को मानसिक धरातल पर समझाना कठिन है। यह अतिमानसिक चेतना मानवीय चेतना का चरमबिन्दु नहीं है बल्कि एक भिन्न चेतना है। दूसरे शब्दों में वह एक समर्थ चेतना है, एक कर्मरत दृष्टि है।

जहाँ तक दृष्टि का संबंध है मानस छोटे-छोटे खण्डों में बाँटकर दृष्टि को एक-दूसरे के विरोध में खड़ी करता है। अधिमानस सबको एक पुंज में समेटता है किन्तु वह एक ही दृष्टिकोण से देखता है। इसके विपरीत अतिमानस न केवल वस्तुओं और प्राणियों के समस्त संसार को एक दृष्टि में देखता है अपितु उसकी दृष्टि सब पुंजों को केवल एकत्रित ही नहीं करती बल्कि हर वस्तु के और हर प्राणी के दृष्टिकोण को देखती है। दूसरे शब्दों में वह संख्यातीत दृष्टिपात है। वह परम ज्ञान का साक्षात् दर्शन है। हम वर्तमान में अपने शुद्ध स्वरूप की ओर चलते तो हैं, किन्तु एक विकृत ढंग से।

स्खलन और सत्य

वस्तुतः हरेक का एक स्वयं सत्य होता है क्योंकि सभी अद्वितीय है। इसी कारण हम अपनी भूलों को भी छोड़ते नहीं है क्योंकि यह भूल हमारे अद्वितीय सत्य को सुरक्षित रखती है। सत्य का संबंध न किसी विचार से है न आचरण से, उसका संबंध सत्ता की विशालता से है – 'भूल, झूठ, स्खलन! तेरी भूलें कितनी मोहक हैं, *प्रभु; कितना उज्ज्वल स्वरूप है उनका! तेरे झूठ ही हैं, जिन्होंने चरम सत्य को बचाये रखा, जो वह आज भी जीवित है। तेरे ये स्खलन इस संसार को सर्वाङ्ग-संपूर्ण बना रहे हैं।' —The Synthesis of Yoga, 20.162*

तर्क

वर्तमान में हमने एक सीमा बना रखी है और जो कुछ उस सीमा से बाहर जाये उसे हम काट-छांट कर बाहर निकाल देना चाहते हैं ताकि सब हमारे विचारानुकूल हो जाये। हम अच्छे और बुरे के द्वन्द्व में जी रहे है। यह नैतिक दृष्टि है किन्तु इस कारण हम आगे बढ़ने पर भी शक्तिहीन हो जाते हैं। इस अर्थ में हमें शक्ति के प्रलोभन में भी नहीं पड़ना चाहिए। अतिमानसिक चेतना हर चीज के पीछे काम कर रही शक्तियों को भी जानती है। उसकी दृष्टि पूरी है। इसलिए वह पराशक्ति से भी युक्त है। हम कर इसलिए नहीं पाते कि हम देख नहीं सकते और यदि पूरी तरह देख लें तो अपरिहार्य रूप से कर भी सकेंगे। अतिमानसिक दृष्टि बुराई में छिपी अच्छाई को बाहर खोज लेती है। श्री अरविन्द ने यह दृष्टि अपनी साहित्यिक रचनाओं में प्रकट की है। किसी सिद्धांत का समर्थन करना सरल है। किन्तु श्री अरविन्द अपना कोई सिद्धांत या दृष्टिकोण नहीं बताते। वे तो केवल सत्य की अपूर्णता का कारण बताते है। अतिमानस में दो सत्यों के बीच स्पर्धा नहीं है बल्कि एक सत्य दूसरे सत्य की पूर्ति करता हैं। हमारी भाषा एक समय में एक ही सत्य को कह सकती है। किन्तु अतिमानस की अखण्ड दृष्टि से देखने पर भौतिक जगत् का बाह्य स्वरूप तक बदल जाता है या यह कहना चाहिए कि उसका वास्तविक स्वरूप दिखाई देने लगता है। अभी जैसा संसार हमें दिखाई दे रहा है वस्तुतः वैसा नहीं है। अतिमानस स्थिति में गुण, रूप और रंग का गौरव सामने आ जाता है। दृष्टि मानों चौथे आयाम में खुल जाती है। उस समय जो एकता होती है वह ब्रह्म की एकता है। यह अखण्ड दृष्टि शाश्वत है जो तीनों कालों पर छाई रहती है। इसका काल पर पूरा अधिकार है। **ऋग्वेद** (१.१७.२१) में इसे द्युलोक का विस्तृत चक्षु कहा गया है। सामान्य मनुष्य की चेतना एक धुरी के चारों ओर घूमती है किन्तु अतिमानस चेतना में यह धुरी नहीं रहती। अतिमानस की दृष्टि में तीनों काल रहते है काल का प्रत्येक क्षण अपने में पूर्ण और समृद्ध होता है। **ऋग्वेद** (५.६२.९) में कहा गया है कि वहाँ पूर्ण आनन्द है जो अधिक से अधिक विशाल है और जो कभी भंग नहीं होता। हरेक सान्त वस्तु भी स्वयं अनन्त है। यह चेतना विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी। मनुष्य चाहता है

कि एक अमृत तत्त्व उसे प्राप्त हो जहाँ दुःख की छाया न पड़े। इसी स्थिति को भगवान्, परब्रह्म और निर्वाण कहा जाता है। जीवन में सभी कुछ चंचल है किन्तु एक भगवान ही अचल है।

मानसिक चेतना में सदा द्वैत भाव रहता है और अधिमानस में वह चरम ऐक्य को प्राप्त हो जाता है। किन्तु द्वैत वहाँ भी रहता ही है किन्तु अतिमानसिक अनुभूति में सब वर्तुलाकार होता है। **ऋग्वेद** (२.४.९) में इसे गुह्य अन्तराकाश कहा गया है। अतिमानसिक चेतना में नीरवता भी है और धाराप्रवाह भी। बाहर कोलाहल है, समस्या है, इसलिए मनुष्य को सावधान रहना पड़ता है। नीरवता का अर्थ शून्य नहीं है अपितु पूर्णता है। परानीरवता की अन्तता का यह अर्थ है कि वह अपने विपरीत को भी धारण कर सकती है। तभी मनुष्य कर्म करते हुए भी परम शान्ति को बनाये रख सकता है। विकास का लक्ष्य इसी स्थिति को प्राप्त करना है।

शक्ति

अनेक योगी ऐसा समझते है कि शक्ति अनर्थ का कारण है। किन्तु श्री अरविन्द मानते हैं कि पराशक्ति रूपान्तरण के लिए आवश्यक है। यह सत्य है कि शक्ति का अनेक बार दुरुपयोग भी हुआ है, जैसा कि कभी-कभी ज्ञान और प्रेम का भी होता है। फिर भी वह शक्ति दिव्य है। उसका स्रोत चेतना में है। इसे ही भगवती या जगदम्बा कहा जाता है। बिना शक्ति के सर्जन सम्भव नहीं है। जगत् पुरुष और प्रकृति दोनों की लीला है। **ईशोपनिषद्** (९) में जब यह कहा गया कि एकमात्र ज्ञान की उपासना करने वाले उससे भी घने अंधकार में जाते हैं जो एकमात्र अज्ञान की उपासना करते हैं तो वहाँ ज्ञान के साथ शक्ति की उपासना का भी प्रतिपादन है। यह शक्ति चैतन्य रूप है। ऊपर उठने के साथ यह प्रबल होती जाती है। संसार में यदि हम अधिमानस शक्ति का प्रयोग करना चाहें तो वह जड़तत्त्व तक पहुंचने से पहले अनेक लोकों में से गुजरेगी और उसका विरोध अधिक होता जायेगा किन्तु अतिमानस को जड तक पहुंचने में कहीं से गुजरना नहीं पड़ता। इसलिए उसमें रूपान्तरण की क्षमता है जो अधिमानस में नहीं है।

आदत

अतिमानस की प्रक्रिया कोई चमत्कार नहीं है। मनुष्य को जिन चीजों का कार्य करने का तरीका मालूम नहीं होता उन्हें वह चमत्कार समझ लेता है। अतिमानस भी किन्हीं नियमों को तोड़ता नहीं है लेकिन उनके ऊपर से होकर पहुंच जाता है। वे उन नियमों को लांघ जाता है जिनके लागू करने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य के चारों ओर एक ऐसी संहति बन जाती है जिसे हम उसका स्वभाव कहते हैं किन्तु वस्तुतः वह उसकी आदत भर होती है न कि स्वभाव। प्रकृति में भी जिन चीजों को हम नियम मान लेते है वे वस्तुतः आदतें ही हैं। यदि हम अपनी चेतना को बदल सकें तो आदतों को भी बदल सकते हैं। अतिमानस भी हमारी वर्तमान की आदतों को बदल सकता है। किन्तु यह प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। अतिमानस का कार्य है चेतन तत्त्व को उन्मुक्त करना। वह सृष्टि की व्यवस्था को बिना भंग किये और किसी तरह की कड़ाई बरते बिना अंधकार पर शक्ति डालता है ताकि अंधकार भी अपने प्रकाश को बाहर निकलने दे। **ऋग्वेद** (५.८५.१) में कहा गया है कि उसने अंधकार को खाल की तरह ही बीच से चीर डाला ताकि वह अपने सूर्य की किरणों के नीचे हमारी पृथ्वी को फैला दें। पृथ्वी वस्तुतः शरीर है। प्रकृति का एक नियम है कि शक्ति समान पर कार्य करती है इसलिए नीचे की शक्ति को बाहर लाने के लिए ऊपर की शक्ति की आवश्यकता है।

ताप

देह के कोशाणुओं में अतिमानसिक शक्ति ताप के रूप में है। चित् शक्ति के जागरण से यह ताप बनता है। उसमें एक उष्णता है—

> *वैदिक ऋषिगण इस चीज से भली-भांति परिचित थे और उन्होंने उसे 'अग्नि' संज्ञा दी थी —जड़तत्त्व में निहित दिव्य महाज्वाल। 'ओ अग्नि, सब दूसरी ज्वालायें तेरे स्कंध की शाखायें मात्र हैं... हे वैश्वाग्नि, हे सर्वव्यापी देव, तू इस चराचर जगत् की, सब लोकों और उसके निवासियों की नाभिग्रंथि है; जन्म लेने वाले सब मनुष्यों पर तेरा नियंत्रण है, स्तंभ-सदृश तू ही उन्हें थामे हुए है... तू द्युलोक का शीश है, इस पृथ्वी की नाभि है...*

*दोनों लोकों के मध्य संचार करने वाली शक्ति तू ही है' (**ऋग्वेद** १.५९)। 'हे अग्नि, तेरा जो तेज द्यावापृथिवी में, वनस्पतियों में, नदी-तलाबों में व्याप्त है, जिसके द्वारा तूने इस विराट् अंतरिक्ष को प्रवाहित किया है, वह प्रकाश का सजीव सिंधु है जो दिव्य दृष्टि से संयुत है।' (३.२२.२)*

*'अग्नि द्यावापृथिवी के अंदर प्रविष्ट हो गया, मानो वे एक हों' (**ऋग्वेद** ३.७.४)*

श्री अरविन्द ने इस अग्नि को देह कोशाणुओं के भीतर पाया और यह पाया कि यह देह का रूपान्तरण कर सकती है। मानसिक और प्राणिक स्तरों पर शक्ति विकृत और भारग्रस्त हो जाती है। अतः उसके स्थान पर सीधा जड़तत्त्व की अपनी ही शक्ति को जगाकर रूपान्तरण करना अधिक उपयुक्त है।

अतिमानसिक शक्ति का आणविक शक्ति के साथ अद्भुत साम्य है। ज्यों-ज्यों हम चेतना में आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों प्रकाश अधिक स्थायी और अचल हो जाता है। उसमें निश्चलता तो है ही उसके साथ जुड़ी हुई द्रुतगति भी है, जैसा कि **ईशोपनिषद्** में कहा है—**तदेजति तन्नैजति**। गति के मध्य गतिहीनता अतिमानसिक जीव के क्रियाकलापों की आधारशिला है। यह गीता की स्थितप्रज्ञता है इसके बिना जीवन में अधिक सफलता नहीं मिल सकती। निश्चलता में सब स्पंदन लीन हो जाते हैं और यदि हम प्रतिक्रिया न करें तो हम पर जड या चेतन हमला नहीं कर सकते। निश्चलता ही महती गति को सहन कर सकती है। श्री अरविन्द इस निश्चलता के बल पर चालीस वर्ष तक रात में बारह घण्टे लिखने के बाद दिन में आठ घण्टे जड़तत्त्व के अन्दर ज्योति उतारने का कार्य करते रहे। यह परिश्रम उन्हें थकाता नहीं था। निश्चलता के लिये नीरवता आवश्यक है। अतिमानस स्थिति में उचित-अनुचित की समझ प्रकाशबिन्दु की तरह प्रतिक्षण उतरती रहती है। **ऋग्वेद** (७.७६.५) में कहा गया है उस समतल विस्तार में सबका परस्पर मिलन हो जाता है और पूरी-पूरी जानकारी रहती है। वहाँ सभी विचार और भावना कर्म बन जाते है।

श्री अरविन्द और श्री माँ ने इस शक्ति को प्राप्त किया है किन्तु उनका व्यवहार हमारी समझ में नहीं आ पा रहा। इसीलिए श्री अरविन्द ने अपने बारे में कहा

था कि उनका जीवन समझना कठिन है, क्योंकि वह उस बाह्य तल पर नहीं चल रहा है जिसे दूसरे लोग देख पायें।

अतिमानसिक शक्ति वैयक्तिक है किन्तु उसमें विश्वातीत और विश्वरत भी शामिल है। श्री अरविन्द इस स्थिति में भगवान् के आदेश से ही चलते थे। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि वे किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करना चाहते। श्री अरविन्द ने जो प्रयत्न किया उसकी सफलता भविष्य के गर्भ में है। अतः इस सम्बन्ध में अभी कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता।

दिव्य जीवन

अभी तक बतायी गयी आरोहण की प्रक्रिया का लक्ष्य यह है कि पृथिवी पर दिव्य जीवन की स्थापना की जा सके। सच्चिदानन्द जड़ से प्राण और प्राण से मन तक अवतीर्ण होता है, किन्तु यह विकास वैश्विक है और प्राकृतिक तथा अनायास रूप से स्वतः होता रहता है। किन्तु इससे आगे मनुष्य के उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि और अधिमन से होते हुए अतिमन तक पहुँचने की प्रक्रिया व्यक्ति के पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। श्री अरविन्द ने अतिमन से सच्चिदानन्द तक आरोहण की प्रक्रिया नहीं बतायी है क्योंकि यह मन से परे की बात है और इसे कहा नहीं जा सकता। केवल एक स्थान पर श्री अरविन्द ने यह संकेत दिया है कि अतिमन के शिखर पर पहुंचकर शुद्ध आत्मिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति होगी, जहाँ सच्चिदानन्द का सत्, चित् और आनन्द अभिव्यक्त होगा।[1]

पृथिवी पर दिव्य जीवन के अवतरण की प्रक्रिया के लिए श्री अरविन्द ने पूर्ण योग का स्वरूप निरूपित किया है जिसका विवरण हम आगे इस अध्याय के बाद दूसरे खण्ड में देंगे। पृथिवी पर दिव्य जीवन का अर्थ है आध्यात्मिक और अतिमानसिक जीवन। अतिमन मन, प्राण और शरीर में अवतीर्ण होता है। किन्तु इतने मात्र से पृथिवी पर दिव्य जीवन का अवतरण नहीं हो जाता। यह सच है कि व्यक्ति का रूपान्तरण एक साधन बनता है किन्तु एक एक व्यक्ति का स्वतन्त्र रूपान्तरण न तो पर्याप्त है, न सम्भव ही। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को केन्द्र में रखकर अतिमानस चेतना प्रकृति में अपना कार्य करने लगे। पृथिवी पर जैसे ही अतिमानस प्रजाति आयेगी वैसे ही सत्ययुग का प्रारम्भ होगा।

वर्तमान में जो संकट है वह विकास का संकट है जिसका समाधान साम्यवाद, समाजवाद, व्यक्तिवाद अथवा किसी भी मतवाद के पास नहीं है; उसका समाधान केवल मनुष्य जाति के अतिमानसीकरण में है। हम देख चुके हैं कि श्री अरविन्द के अनुसार अतिमन का अर्थ ऋतचित् है और अतिमन ही संसार का सर्जन करता है। अब यह विचार करना शेष है कि श्री अरविन्द के अनुसार अतिमन के स्तर पर मनुष्य का जीवन, विचार, अनुभव और ज्ञान किस प्रकार का होता है। श्री अरविन्द ने इसका विवरण अपने ग्रन्थ द लाइफ डिवाइन के अन्तिम दो अध्यायों में दिया है।

इस सम्बन्ध में प्रथम तो यह ज्ञातव्य है कि मानसिक चेतना और अतिमानसिक चेतना परस्पर एक दूसरे से सर्वथा पृथक् प्रकार की हैं और इसलिए अतिमानव के जीवन का चित्र मानसिक स्तर पर दिया जाना सम्भव नहीं है; यह तो अतिमन के स्तर पर ही सम्भव है; किन्तु तब भी इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है।[2] अतः श्री अरविन्द ने अधिमन की सीमा का अतिक्रमण करके अतिमन के स्तर पर जीवित रहने वाले मनुष्य के जीवन का चित्र उतनी मात्रा में देने का प्रयत्न किया है जितनी मात्रा में मन के स्तर पर यह सम्भव है।

अतिमानस का जीवन

श्री अरविन्द के अनुसार अतिमानव का जीवन पूर्णतः आध्यात्मिक होगा। वह अपने आन्तरिक स्तर पर सत्, चित् और आनन्द का साक्षात् कर रहा होगा, वह वैश्विक आत्मा तथा विश्वोत्तीर्ण आत्मा के साथ तादात्म्य का जीवन जीयेगा, उसके समस्त क्रिया कलाप परमात्मतत्त्व से उद्भूत होंगे, वह अपनी चेतना के प्रत्येक केन्द्र में दिव्यता का अनुभव करेगा, वह सभी कर्मों में प्रकृति की शक्ति की अभिव्यक्ति को अनुभव करेगा।

सभी प्राणियों के क्रियाकलापों में वह अपने को ही पायेगा किन्तु यह उसके बन्धन का कारण नहीं बनेगा। वह पूर्ण सामञ्जस्य की स्थिति में होगा। इसलिए उसके सम्मुख किसी प्रकार के संघर्ष की स्थिति नहीं होगी। वह संसार में रहते हुए भी संसारातीत जीवन जी रहा होगा। यद्यपि उसका व्यक्तित्व होगा किन्तु वह

एक पृथक् व्यक्तित्व की तरह सीमित नहीं होगा। उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होगा, क्योंकि वह विश्व का ही वैयक्तिक रूप होगा।

इस प्रकार व्यक्ति, वैश्विक सत्ता और विश्वोत्तीर्ण सत्ता उसमें एकरूप होंगी।[3] उसका ज्ञान हमारे समान अपूर्ण नहीं होगा। प्रकृति पर उसका पूरा नियंत्रण होगा। उसका आत्मज्ञान उसके क्रियाकलापों में पूरी तरह क्रियान्वित होगा। उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि और अधिमन के स्तरों पर उन उन स्तरों के अनुसार उनकी सीमा होगी किन्तु अतिमानस स्तर पर कोई सीमा नहीं होगी। उसकी अभिव्यक्ति में विविधता होगी किन्तु उस विविधता का कारण सीमित होना नहीं होगा। वैश्विक चेतना के स्तर पर अतिमानव अपने आपको सम्पूर्ण से अभिन्न मानेगा। वह सार्वभौम चेतना में रहकर कर्म करेगा और इस प्रकार उसकी इच्छा का समग्र की इच्छा के साथ सामञ्जस्य बना रहेगा। दूसरे शब्दों में, उसका सम्पूर्ण के साथ सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध होगा। यह इसलिए सम्भव होगा कि व्यक्ति और विश्व एक ही विश्वोतीर्ण सत्ता की अभिव्यक्ति हैं। मन के स्तर पर हम अपने और विश्व के बीच ठीक सम्बन्ध को नहीं जान पाते। अतिमानव सत्य के आलोक में कार्य करेगा क्योंकि वह अपने और विश्व के बीच के सम्बन्ध को पूरी तरह जान लेगा।

आनन्द

अतिमानव के जीवन का अर्थ होगा—अभिव्यक्ति के आनन्द को अनुभव करना।[4] उसका जीवन सच्चिदानन्द की लीला होगा। अतः वह सच्चिदानन्द के सत्य को ही नहीं अपितु उसके आनन्द को भी साकार करेगा। सच्चिदानन्द का आनन्द इसे अपने में ही नहीं अपितु सब में अभिव्यक्त होता दिखायी देगा। अतिमानव का आनन्द उसके होने में और करने में ही सिद्ध हो जायेगा। इसलिए वह किसी कर्म का फल नहीं चाहेगा। उसके सारे कर्म आत्मा की शुद्ध स्थिति में होंगे और वह आत्मा के शुद्ध आनन्द में विहार करेगा। वस्तुतः उसमें कृतकृत्यता का भाव होगा। वह पूर्णतः स्वतन्त्र होगा। मानसिक धरातल के बिखरे हुए स्वरूप की अपेक्षा उसका स्वरूप एकीकृत होगा। उसका जीवन आन्तरिक और बाह्य के भेद से मुक्त होगा, क्योंकि वह आन्तरिक रूप से ईश्वर से जुड़ा होगा किन्तु बाह्यरूप

से पूरे अस्तित्व को आलिङ्गित कर रहा होगा। दूसरों के साथ उसका तादात्म्य भाव वैचारिक स्तर पर न होकर हार्दिक स्तर पर ठोस भौतिक अर्थ में होगा। वैश्विक चेतना के कारण उसका व्यक्तिनिष्ठ जीवन वस्तुनिष्ठ जगत् को भी अपने में समेटे होगा। बाद में होने वाले सभी घटनाक्रम उसे अपनी ही विराट् आत्मा में होते हुए प्रतीत होंगे। इस प्रकार उसका जगत् से आन्तरिक सम्बन्ध होगा। संक्षेप में उसका किसी से भी कोई द्वैतभाव नहीं होगा।

उसके कर्म मुख्यतः आन्तरिक होंगे। वह घटनाओं के रहस्य को जानता होगा। अस्तित्व के अन्य स्तरों को भी वह समझ सकेगा उसके मन और प्राण पर ऋतचित् का नियंत्रण होगा और इस कारण वह भौतिक अस्तित्व को भी पूर्णता तक ले जा सकेगा। वह अपने चारों ओर परिवर्तन लाने में निमित्त बनेगा। वह अज्ञान पूर्वक होने वाले कर्मों को ज्ञान से आप्लावित कर देगा। हम जो कुछ बनना चाहते हैं या जानना चाहते हैं या करना चाहते हैं, यह हमें पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। अपने आपको जानना सबसे पहली आवश्यकता है किन्तु वह हम से छिपा रहता है, क्योंकि हम सीखने में और करने में व्यस्त रहते हैं। किन्तु अतिमानव अपने आपको जान सकेगा, आनन्दित रह सकेगा और उसे अपनी परिपूर्णता के लिए बाहर से कुछ भी नहीं चाहियेगा। इसलिए उसमें राग और बन्धन नहीं होगा।

(आर.डी. राणाडे ने अवतीर्ण होने वाले अतिमानस और अवतीर्ण अतिमानस के बीच उतना ही भेद माना है जितना २३ कैरेट स्वर्ण और २४ कैरेट स्वर्ण में होता है।[5]) अतिमन के स्तर पर मन, प्राण और शरीर समाप्त नहीं हो जायेंगे अपितु परिपूर्णता को प्राप्त कर लेंगे। इसका यह अर्थ है कि उनका आत्मा के साथ एक नया सम्बन्ध स्थापित होगा। अभी मन अज्ञात को जानना चाहता है लेकिन अतिमन ज्ञात को ही बाहर लायेगा। वस्तुतः वह स्वयं के द्वारा स्वयं को ही जानेगा।[6] उसका ज्ञान घनिष्ठ और सही होगा जिसमें गलती की कोई सम्भावना नहीं होगी। वह सत्य को अखण्ड रूप में जानेगा, खण्ड खण्ड करके नहीं। हम वृद्धि, शक्ति, विजय, स्वामित्व, संतोष, सर्जन, आनन्द, प्रेम और सौन्दर्य चाहते हैं किन्तु हमारी यह खोज अतिमन के स्तर पर मानसिक या प्राणिक अहंकार की

पुष्टि के लिए नहीं होगी अपितु दिव्य के लिए होगी। क्योंकि वह दिव्य प्रकाश, शक्ति, प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य से जगत् को भरना चाहेगा।

वर्तमान में मन और प्राण के कार्यों को पूरा करने के लिए शरीर उपकरण बनता है किन्तु जड या अवचेतन के प्रभाव के कारण मन और प्राण का इस पर पूरा नियंत्रण नहीं है। किन्तु अतिमानस के स्तर पर अवचेतन पूरी तरह जाग जायेगा और इस कारण शरीर के उपकरण में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहेगी। अतिमानस प्रकृति का निराकरण करने की अपेक्षा उसे पूरी तरह स्वीकार करेगा। संक्षेप में, अतिमानव के लिए पदार्थ भी सच्चिदानन्द रूप ही हो जायेगा। एक सीमा तक वह पदार्थ को पवित्र मानने लगेगा। वह पदार्थ का उपयोग भौतिक या प्राणिक राग के लिए न करके यह मानेगा कि वह पदार्थ के रूप में चेतना का ही प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार उसका पदार्थों का उपयोग दिव्य की पूजा बन जायेगा। एक अर्थ में भौतिकता का आध्यात्मिकीकरण हो जायेगा। शरीर स्थिरता, स्वास्थ्य, शक्ति, परिपूर्णता, शारीरिक सुख और दुःख-मुक्ति चाहता है। अतिमन के स्तर पर यह सम्भव होगा। वर्तमान मानसिक स्थिति में विरोधी शक्तियाँ काम करती हैं और इसलिए यह नहीं हो पाता, क्योंकि हम उन विरोधी शक्तियों से सामना करने का मार्ग नहीं जानते किन्तु अतिमन के स्तर पर यह अज्ञान नहीं रहेगा। शरीर में एक दिव्यशक्ति और सहजता आ जायेगी। शरीर के चारों ओर जो अस्तित्व का दबाव है उसमें समन्वय स्थापित होगा और एक परमशक्ति प्रवाहित होगी।

दुःख और कष्ट का कारण चित् शक्ति की अपूर्णता और निर्बलता है। वैश्विक शक्ति से हम अपना सम्पर्क करके उसे आत्मसात् नहीं कर पाते हैं और इसलिए दुःख या सुख का अनुभव होता है। आध्यात्मिक प्रगति के साथ चित् शक्ति बढ़नी प्रारम्भ हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप सभी प्रकार के आघातों को समतापूर्वक सहन करने की सामर्थ्य बढ़ जाती है। यह सामर्थ्य मन, प्राण और शरीर में स्थानान्तरित हो जाती है और अधिमन के स्तर पर सुख और दुःख के स्पन्दन आनन्द के स्पन्दन में बदल जाते हैं। अतिमन के स्तर पर यह आनन्द परिपूर्ण हो जाता है और शरीर में अस्तित्व का आनन्द व्याप्त हो जाता है।

आनन्द की माँग हमारे पूरे अस्तित्व की माँग है किन्तु क्योंकि हमारे भिन्न भिन्न अंग अलग अलग हैं इसलिए यह कभी शारीरिक सुख, कभी प्राणिक सुख अथवा कभी मानसिक सुख के रूप में अभिव्यक्त होती है। वस्तुतः आनन्द अस्तित्व का सार है और यह हमारे पूरे व्यक्तित्व की मांग है। अतिमन आनन्द से ही उत्पन्न होता है और आनन्द में ही लीन हो जाता है। आनन्द के द्वारा ही आत्मा जगत् को अभिव्यक्त करती है और आनन्द ही वह मूल स्रोत है जिसमें आत्मा पुनः वापिस चली जाती है। इसलिए अतिमानस के विकास के साथ साथ आनन्द का विकास भी होता है।[7]

वस्तुतः अतिमानस की चेतना में हर स्तर पर आनन्द न्यूनाधिक रूप में उपस्थित रहेगा। श्री अरविन्द का कहना है कि मन में यह आनन्द शान्ति के रूप में, हृदय में भावना के रूप में, प्राण में ऊर्जा के रूप में, शरीर में आध्यात्मिकीकृत भौतिकता के रूप में और विश्व में नित्यानन्द के रूप में प्रकट होता है।[8]

अतिमानव का भी अपना व्यक्तित्व होता है क्योंकि अहंकार के चले जाने का अर्थ व्यक्तित्व का लोप हो जाना नहीं है। अतिमानस चेतना में व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्व पृथक् पृथक् नहीं रहते। निर्व्यक्तित्व शुद्ध अस्तित्व है और व्यक्तित्व उसी की गतिशील अभिव्यक्ति है।

प्रश्न यह होता है कि यदि अतिमानव का भी व्यक्तित्व है, तो क्या वहाँ नैतिकता का स्थान भी होगा? इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि अतिमन की चेतना अनन्त है जिसमें अस्तित्व का अन्तर्निहित सत्य अभिव्यक्त होता है। इसलिए वहाँ शुभ और अशुभ के बीच संघर्ष नहीं होता। वस्तुतः सारी समस्यायें मन के अज्ञान से पैदा होती हैं। अतिमानस स्तर पर ज्ञान खोजा नहीं जाता प्रत्युत स्वतः ही उत्पन्न होता है। इसलिए उस स्थिति में नैतिकता का उद्देश्य स्वतः सिद्ध रहता है। नैतिकता की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ भेद, संघर्ष और दुर्भावना रहती है। किन्तु अतिमानवीय चेतना में प्रेम, न्याय और सत्य जीवन के सहज अंग बन जाते हैं और उनके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती; वे स्वधर्म या स्वभाव बन जाते हैं।[9] अतिमानव सहज ही सत्य के नियम का पालन करता है और उसके समस्त क्रिया-कलापों में पूर्ण सामञ्जस्य रहता है। उसकी

आकांक्षायें दूसरे अतिमानवों के साथ पूरा तालमेल रखती हैं। इसलिए मानसिक स्तर पर जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच संघर्ष रहता है, वह संघर्ष वहाँ नहीं रहता।

अतिमानसिक स्तर पर कोई निश्चित सिद्धान्त आरोपित नहीं किये जाते; ऐसा मानसिक स्तर पर ही होता है। क्योंकि मन जीवन को पूरी तरह नहीं देख पाता जबकि अतिमन ऐसा कर पाता है, इसलिए अतिमन पूर्ण सत्य के एकीकृत रूप का अनुसरण करता है। उसके क्रिया-कलाप क्रमिक होने पर भी स्वतः संचालित होते हैं। अतिमानव के क्रिया-कलापों का आधार अनन्त का सान्त पर पड़ने वाला प्रभाव होता है।

अतिमानव का व्यक्तित्व बृहत्तर वैश्विक चेतना का तथा विश्वोत्तीर्ण चेतना का केन्द्र होता है।[10] क्योंकि वह विश्वोत्तीर्ण सत् से जुड़ा रहता है इसलिए विश्व की शक्तियाँ उसे प्रभावित नहीं करती। वस्तुतः वह अपने चारों ओर के अज्ञान से भी परिचित होता है किन्तु उससे प्रभावित नहीं होता। उसका जीवन आत्मा की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति होता है और साथ ही ईश्वर से भी जुड़ा रहता है। इसलिए उसके ज्ञान, जीवन और कर्म में पूर्णतः निर्दोष व्यवस्था होती है। अतिमानस स्वभाव का ईश्वर के आधीन होना ही उसकी स्वतन्त्रता का स्वरूप है, क्योंकि वस्तुतः ईश्वर की आज्ञा का पालन अपने ही परम अंश की आज्ञा का पालन है। इसलिए उसकी स्वतन्त्रता एक सहज लचीली व्यवस्था का रूप ले लेती है।

मानसिक धरातल पर हम कुछ नियमों का आधार लेकर एक ढाँचा बनाना चाहते हैं। किन्तु अतिमानस के स्तर पर ऐसे किसी ढाँचे की आवश्यकता नहीं होती, जैसा कि गीता में कहा गया है- **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**। उस स्थिति में आत्मा ही सर्वोच्च नियम बन जाती है, मन का नियंत्रण न रहकर आत्मा का नियंत्रण काम करने लगता है। अनन्त की इच्छा के अनुसार उसका जीवन सञ्चालित होता है। दूसरे शब्दों में प्रकृति की यांत्रिकता और मन के मानदण्डों से मुक्त होकर सत्य और आत्मानुभूति काम करने लगती है।[11]

अतिमानव के जीवन में ज्ञान और इच्छा एक ही हो जाते हैं। इसी प्रकार उसके जीवन में स्वतंत्रता और अनुशासित व्यवस्था के बीच कोई भेद नहीं रहता क्योंकि

दोनों वस्तुतः एक ही आध्यात्मिक सत्य के दो पक्ष हैं, जिन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए अतिमानव की स्वतंत्रता नैतिक आदर्शों से तो बाधित नहीं होती किन्तु उसकी स्वतंत्रता गलत इच्छाओं की पूर्ति करने वाली स्वच्छन्दता भी नहीं होती। वह सत्य को सीधा और सहज रूप से जानता है, जबकि मानसिक स्तर पर सत्य के ज्ञान का प्रयत्न करना पड़ता है। अतिमानव के सभी क्रिया-कलापों में सामञ्जस्य और सम्पूर्णता रहती है इसलिए उसके मन, इच्छा, भावना अथवा शरीर के बीच कोई संघर्ष नहीं होता और न ही इन पर किसी नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

अतिमानव दिव्य की इच्छाओं को पूरा करता है, क्योंकि दिव्य ही उसका वास्तविक स्वरूप है। इसलिए उसका कोई स्वतंत्र अहम् नहीं होता जिसकी वह पूर्ति करे। इसलिए वह निरन्तर अपने कर्म और कर्मफल में आनन्दित रहता है। क्योंकि उसकी इच्छा ईश्वर की इच्छा होती है और ईश्वर की इच्छा उसकी इच्छा होती है इसलिए वह अपने लिये कुछ नहीं चाहता और इसलिए कर्म या कर्मफल से उसकी कोई आसक्ति नहीं होती। मानसिक धरातल पर क्योंकि साधक अपने को परम से भिन्न समझता है इसलिए उसके प्रयत्न में और परमात्मा की इच्छा में भेद रहता है। किन्तु अतिमानसिक स्तर पर वह परम का अंश होता है और इसलिए उसके कर्म ईश्वर के ही कर्म बन जाते हैं और किसी भिन्न इच्छा की आवश्यकता नहीं रहती।

अतिमानस स्तर पर ज्ञान तादात्म्य के द्वारा होता है किन्तु उच्चतर मन के स्तर पर ज्ञान का आधार विचार होता है जबकि अतिमानस स्तर पर विचार केवल ज्ञान को अभिव्यक्त करता है न कि ज्ञान को प्राप्त; क्योंकि वहाँ ज्ञान तो स्वतः ही प्राप्त रहता है। इसी प्रकार आलोकित मन के स्तर पर सत्य का दर्शन होता है और अन्तर्दृष्टि के द्वारा सत्य का स्पर्श होता है और उसी आधार पर क्रिया-कलाप चलते हैं। अधिमन के स्तर पर सत्य का व्यापक ज्ञान रहता है किन्तु उसका भी आधार अतिमानस चेतना में रहने वाली ही तादात्म्य चेतना है न कि स्वयं तादात्म्य चेतना। केवल अतिमानस स्तर पर ही तादात्म्य चेतना रहती है जिसमें सत्य का विचार, दर्शन और स्पर्श समाहित रहते हैं; किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व भी समाप्त नहीं हो जाता।

वैश्विक चेतना में संसार-ज्ञान तथा आत्म-ज्ञान अनिवार्यतः संश्लिष्ट रूप से रहता है। यह ज्ञान वैचारिक न होकर चेतना के आलोक में होता है, जिसमें अस्तित्व और क्रिया-कलापों का आत्मानन्द तथा अस्तित्व का सत्य एक साथ रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन संन्यास का हो। वस्तुतः मानसिक स्तर पर इच्छा हमारी उत्प्रेरक होती है और इसलिए हम संन्यास और तपस्या को आवश्यक मान लेते हैं। किन्तु इच्छाओं से ऊपर उठने पर अध्यात्म के क्षेत्र में यह आवश्यक नहीं रहते। अतिमानस जीवन में दिव्य की अभीप्सा की अभिव्यक्ति होती है और यह अभिव्यक्ति तपस्या के जीवन में अथवा समृद्धि के जीवन में अथवा दोनों के मध्यवर्ती जीवन में क्रियान्वित हो सकती है। किन्तु किसी भी स्थिति में पूर्ण समन्वय और व्यवस्था बनी रहती है।

यह भी एक भ्रम है कि आध्यात्मिक जीवन नीरस होगा क्योंकि इसमें न सुख होगा न दुःख, न आशा, है न आकांक्षा। वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन अनन्त में प्रवेश कर जाता है जो सामान्य सुख-दुःख की अपेक्षा नित्य आनन्द देने वाला है।[12] यह आनन्द नित्य नवीन रहता है। श्री अरविन्द हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि आध्यात्मिक अतिमानव अहंकार से भरा हुआ नहीं होगा। नीत्शे ने जिस भयंकर अतिमानव की कल्पना की है, वह विकास के स्थान पर ह्रास का सूचक है।[13] वह राक्षसीय है।[14] आध्यात्मिक जीवन ऐसा नहीं है।

अतिमानस जीवन व्यक्तिगत विकास तो करेगा ही किन्तु पार्थिव जीवन को भी नया रूप दे देगा।[15] उसका सामूहिक जीवन आज के सामूहिक जीवन से भिन्न होगा। उस जीवन में एकता होगी, पारस्परिकता और समन्वय होगा क्योंकि सभी लोग अपने आपको एक ही सत्य का साकार रूप मानेंगे। यह सत्य है कि उनमें विभिन्नता होगी किन्तु वह संघर्ष का कारण नहीं बनेगी। अतिमानव यह जानेगा कि उसे कहाँ नेतृत्व देना है और कहाँ आधीनता स्वीकार करनी है, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में उसे समान आनन्द मिलेगा। आत्मा की स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि वह आधीनता की स्थिति में और शासन करने की स्थिति में समान रूप से आनन्दित रह सकती है।

आज हमारे पास जितनी भी संस्थायें हैं और जितने भी मतवाद हैं, उन सबमें अज्ञान और दुःख का अंश मिला हुआ है। इसलिए हम परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। हम ऐसा कोई निर्माण नहीं कर सकते जो हमारी आज की मनःस्थिति से ऊपर उठा हुआ हो। अतिमानस के स्तर पर ही पूर्णता सम्भव है। व्यक्तिवाद, साम्यवाद या समाजवाद सत्य को विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं किन्तु अज्ञान के कारण वे इन विभिन्न दृष्टियों में सामञ्जस्य नहीं बना पाते।[16]

आज हम विकास की प्रक्रिया से उत्पन्न ऐसे संकट में से गुजर रहे हैं जहाँ एक सभ्यता इतनी विकसित हो चुकी है कि हम उसे अपने सीमित मन से झेल नहीं पा रहे हैं अपितु उसके कारण एक सामूहिक अहंकार आक्रामक रूप ले रहा है। हम उस सभ्यता का उपयोग उच्चतर सत्यं शिवं सुन्दरं की खोज में नहीं कर पा रहे हैं। विज्ञान के कारण हमारे पास जो बहुत अधिक शक्ति आ गयी है उसका उपयोग व्यक्तिगत अथवा जातीय अहंकार के पोषण के लिए हो रहा है और इसलिए सामञ्जस्य के स्थान पर वैचारिक संघर्ष है, भौतिक धरातल पर बढ़ी हुई आवश्यकतायें हैं, प्राणिक स्तर पर इच्छायें हैं, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर पर विकृत विचारधारायें हैं और उन विचारधाराओं के साथ जुड़े वे नारे खोखले हैं जिनमें सभी समस्याओं के समाधान का दावा किया जा रहा है और जिनके लिए मनुष्य मरने मारने के लिए तैयार है।[17]

आज हम अध्यात्म के स्तर पर ऐसे नैतिक मानववाद को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं जिसमें किसी प्रकार के धर्म का अंश नहीं है और सामाजिक आचार संहिता ही पर्याप्त मानी जा रही है। आर्थिक और भौतिक विकास ही हमारा आदर्श है। किन्तु इस आदर्श के कारण पुरानी आदिम अवस्था की बर्बरता नये सभ्य रूप में हमारे सामने दुबारा आ सकती है और विकास की प्रेरणा दब सकती है। अतः श्री अरविन्द के अनुसार आज की समस्या आधारभूत है जिसका समाधान सतही परिवर्तन से नहीं हो सकता उसका समाधान भी मौलिक स्तर पर ही करना होगा।

वर्तमान समस्या का समाधान केवल अध्यात्म में है इस ओर हमारी प्रवृत्ति प्रकट भी होने लगी है और ये धीरे धीरे बढ़ रही है।[18] इस प्रवृत्ति को सफल बनाने के लिए तपस्या में से गुजरना होगा क्योंकि **एक** तो व्यक्ति का रूपान्तरण ही एक

लम्बी प्रक्रिया है। **दूसरे** यदि अतिमानव की जाति बन भी जाये तो भी भौतिकता का अतिमानसीकरण नहीं हो पायेगा। **तीसरे** निम्न स्तर के जीवन से घिरा हुआ मनुष्य पूरी तरह रूपान्तरित नहीं हो सकता। श्री अरविन्द का मानना है कि इसके लिए एक पृथक् समूह का भी निर्माण किया जा सकता है जिसमें व्यक्ति सुरक्षित अनुभव करे। आध्यात्मिक वातावरण में नये प्रकार की जीवनशैली का भी निर्माण किया जा सकता है। किन्तु अज्ञान की शक्तियाँ ऐसे परिवर्तन में बाधक होंगी। इस बाधा को दूर करने के लिए ऊपर की ओर से आत्मा की शक्ति का अवतरण होगा। कठिनाई यह है कि जहाँ उच्चतर आत्मायें निम्न को प्रभावित करेंगी वहाँ निम्न भी उच्चतर को प्रभावित करेगा। किन्तु अन्त में उच्चतर की ही विजय होगी। नये प्रकाश के साथ नयी शक्ति भी आयेगी जिसका अज्ञान में डूबी मनुष्य जाति स्वागत करेगी।

ऐसी स्थिति को ही श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन कहा है। जैसे वर्तमान में मानसिक धरातल पर मानव जाति ने भौतिक जीवन में परिवर्तन ला दिया है इसी प्रकार अतिमानस स्तर पर पार्थिव परिवर्तन आ जायेगा।[19] उस स्थिति में उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दर्शन और अधिमन की सोपानें अतिमन तक ले जायेंगी। निम्नस्तर पर प्रकाश और शक्ति आकर प्रकृति में सत्य की छुपी हुई शक्ति को जागृत कर देंगी।[20] अन्तर्दृष्टि और सहानुभूति संघर्ष और शक्ति की स्पर्धात्मक दौड़ का स्थान ले लेंगी, उस समय हम अन्धकार से प्रकाश की ओर नहीं प्रत्युत कम प्रकाश से अधिक प्रकाश की ओर बढ़ेंगे।[21]

विशेष बात यह है कि आध्यात्मिक जीवन एक नियत ढाँचे में नहीं ढलेगा[22] क्योंकि उसका उद्देश्य विभिन्नता में एकता होगा न कि नीरस एकरूपता। इसके अतिरिक्त वे लोग भी होंगे जो अधिमन और अन्तर्दर्शन के स्तर पर जी रहे हैं और जो अतिमन से भी ऊपर सच्चिदानन्द के स्तर पर चले गये हैं।

स्पष्ट है कि अतिमानव और अधिमानस की अवधारणा का आधार उपनिषद् का ब्रह्मवाद है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक साधक यह घोषणा करता है कि मैं ब्रह्म हूँ— **अहं ब्रह्मास्मि** तथा यह सब कुछ भी ब्रह्म है— **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। इस स्थिति में मनुष्य सुख और दुःख के द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है, निर्भय हो जाता है और

अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। श्री अरविन्द ने इसी औपनिषद् अवधारणा को विस्तार दिया। श्री अरविन्द की सत्ययुग की अवधारणा भी पुराणों में उपलब्ध होती है। जहाँ तक पुराणों की युगों की अवधारणा का प्रश्न है श्री अरविन्द का कहना है कि यदि एक बार सत्ययुग आ जाये तो फिर मनुष्य जाति पुनः उससे नीचे नहीं गिर सकती अर्थात् श्री अरविन्द पुराणों की युगों की चक्राकार उस अवधारणा से सहमत नहीं है जहाँ चारों युग चक्र के रूप में बारम्बार आते हैं और चले जाते हैं, उनके अनुसार एक बार पूर्णता आने के बाद फिर अपूर्णता की ओर गति नहीं हो सकती। उनके अनुसार अब तक सत्ययुग आया ही नहीं। अब तक यह तो हुआ है कि विभिन्न स्तरों पर सामञ्जस्य हुआ हो किन्तु अतिमानस स्तर पर यह नहीं हो पाया और इसलिए वह स्थायी नहीं बन पाया।[23] एक बार परिपूर्णता प्राप्त होने के बाद ह्रास नहीं होता, यह श्री अरविन्द की नवीन अवधारणा है इसी अवधारणा का एक अंश उनका यह मत भी है कि जिस जीव ने मानव शरीर ले लिया वह पुनः निम्न योनियों में नहीं जाता। ये दोनों अवधारणायें श्री अरविन्द की मौलिक हैं।

वस्तुतः श्री अरविन्द पश्चिम की विकासवादी अवधारणा से प्रभावित थे और यह मानते थे कि जड़ से प्राण और प्राण से मन का विकास हुआ। इस आधार पर उनका कहना है कि जिस प्रकार जड से प्राण का विकास होने की कल्पना करना उस समय कठिन था जब यह विकास अभी नहीं हुआ था और इसी प्रकार पशु से मनुष्य के विकास की कल्पना करना कठिन था, उसी प्रकार वर्तमान तर्ककेन्द्रित मनःस्थिति में तर्कातीत अतिमानव की कल्पना करना कठिन है।[24] श्री अरविन्द मानते हैं कि आज संसार का आधार जड़ पदार्थ है किन्तु इसका शिखर अध्यात्म है। इसलिए अध्यात्म की ओर जाना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।[25] उनका यह भी मानना है कि वेद और उपनिषद् के समय ऋषि व्यक्तिगत रूप से अतिमानस स्तर पर पहुँचे होंगे किन्तु उन्होंने भी अतिमानस शक्तियों को पृथिवी पर उतारने का प्रयत्न नहीं किया और इसलिए अभी तक सत्ययुग नहीं आया।[26]

स्पष्ट है कि श्री अरविन्द भारतीय अध्यात्मवाद का आधार तो लेते हैं किन्तु वे काल की गति को भारतीय परम्परा के अनुसार वर्तुलाकार न मानकर पश्चिम की तरह रेखाकार मानते हैं किन्तु उनकी रेखाकार काल की गति की यह मान्यता भी

पश्चिम की तरह आत्यन्तिक नहीं है अपितु 'स्पायरल' है अर्थात् इसमें ह्रास और विकास होता रहता है किन्तु कुल मिलाकर गति ऊर्ध्वमुखी ही होती है। इसका यह अर्थ होगा कि ह्रास और विकास करते हुए एक मन्वन्तर में हम जितनी आगे तक जाते हैं दूसरे मन्वन्तर में भी ह्रास और विकास का क्रम तो चलता है किन्तु हम कुल मिलाकर पहले मन्वन्तर की अपेक्षा अधिक आगे जाते हैं। इस प्रकार जैन शब्दावली में उत्सर्पण और अवसर्पण होता रहता है किन्तु कुल मिलाकर उत्सर्पण ही होता है। इस प्रकार श्री अरविन्द ने भारतीय परम्परा में मानी गयी काल की वर्तुलाकार गति का और पश्चिम में मानी गयी काल की रेखाकार गति का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है।

उनकी इस मान्यता का प्रमाण स्वयं भारत का इतिहास है। रामायण के काल में जिन शस्त्रों का प्रयोग हुआ महाभारत के काल में उसकी अपेक्षा अधिक विकसित शस्त्रों का प्रयोग हम पाते हैं। यह विकास की स्थिति है। किन्तु महाभारत के बाद के युग में हम पाते हैं कि वैसे अधिक विकसित शस्त्र नहीं रहे और सामान्य धनुष-बाण और तलवार ही काम में आने लगे; महाभारतोत्तर काल में किन्हीं भी दिव्यास्त्रों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। आज हमारे पास फिर अधिक विकसित आणविक शस्त्र है जो सम्भवतः महाभारत के दिव्यास्त्रों से भी अधिक विकसित हैं। अर्थात् रामायण से महाभारत तक विकास हुआ महाभारत के बाद पुनः ह्रास हुआ और मध्ययुग के बाद आज पुनः विकास हो रहा है। साथ ही वर्तमान का जो विकास है वह महाभारत के विकास से भी आगे है। इस प्रकार विकास और ह्रास का क्रम वर्तुलाकार भी चला है और रेखाकार भी। क्योंकि हमें ह्रास के मध्ययुग का ही इतिहास प्राप्त है इसलिए हमें महाभारत के विकसित समाज का चित्रण काल्पनिक प्रतीत होता है। किन्तु जब मोहनजादड़ो की खुदाई में विकसित नागरिक जीवन के प्रमाण मिले हैं तो यह मानना पड़ रहा है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व जैसी व्यवस्थित नगर रचना हम कर रहे थे मध्ययुग में आकर वैसे व्यवस्थित नगर बनाना बन्द हो गये और आज फिर वैसे ही व्यवस्थित नगरों की रचना की चर्चा ही नहीं हो रही, निर्माण भी हो रहा है और आज का नगर निर्माण मोहनजादड़ो के नगर से भी अधिक विकसित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अविकसित से विकसित और पुनः विकसित से अविकसित दशा आती है किन्तु

जब पुनः अविकसित से विकसित दशा आती है तो वह पहली विकसित दशा की अपेक्षा अधिक उच्चस्तरीय होती है। अतः श्री अरविन्द के मत के समर्थन में इतिहास के यह तथ्य साक्षी के रूप में हमारे सामने हैं।

प्रश्न यह होता है कि यह ह्रास-विकास का क्रम क्या सदा ही चलता रहेगा या कभी ऐसा भी विकास होगा जिसके बाद ह्रास हो ही नहीं। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का मत स्पष्ट है कि जो विकास मानसिक धरातल पर होता है उसके बाद ह्रास आता ही है किन्तु इस विकास और ह्रास की प्रक्रिया में से मन अधिक विकसित हो जाता है और जब दुबारा ह्रास और विकास होता है तो वह पहले ह्रास विकास के क्रम की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। किन्तु जब यह विकास अतिमानस के स्तर पर होगा तो पुनः ह्रास की सम्भावना समाप्त हो जायेगी। क्योंकि अभी तक ऐसा विकास नहीं हो पाया है इसलिए यह मानना होगा की अब तक के सब विकास मानसिक स्तर पर ही हुए है, अतिमानस स्तर पर नहीं। इसका यह अर्थ होता है कि वर्तमान में विकास के जिस संकट से हम गुजर रहे हैं उसके बाद जो विकास होगा वह अतिमानस होगा और उसके बाद ह्रास की सम्भावना नहीं रह जायेगी। अतिमानस के स्तर पर जो विकसित अवस्था आयेगी वह अभी हमारे सामने है नहीं, अतः उसकी कल्पना ही की जा सकती है। श्री अरविन्द ने उसकी जो कल्पना की है उसी का विवरण हमने ऊपर दिया है। इस कल्पना के दो आधार प्रतीत होते हैं। प्रथम तो अतिमानस विकास की दशा कुछ कुछ संकेत उपनिषदों में जीवन्मुक्त की दशा में प्राप्त होता है और श्री अरविन्द ने उस शब्दावली को बहुत कुछ ग्रहण भी किया है। दूसरा आधार यह है कि हम अतिमानस की दशा की कल्पना इस रूप में कर सकते हैं कि मानसिक स्तर पर जो द्वन्द्व, संघर्ष, विसंगति और विषमता हमें दिखायी देती है वह अतिमानस स्तर पर नहीं होगी और श्री अरविन्द ने इसी आधार पर अतिमानस जीवन का चित्रण किया है, तथापि जब तक अतिमानस जीवन का अवतरण न हो जाये तब तक उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

---

1. At the higher end of the evolution the ascending ranges and

summits of super mind would begin to rise towards some supreme manifestation of the pure spiritual existence, consciousness and delight of being of Sachchidananda.—*The Life Divine, Page No.*1049

2. The individual must be the instrument and first field of the transformation; but an isolated individual transformation is not enough and may not be wholly feasible. Even when achieved, the individual change will have a permanent and cosmic significance only if the individual becomes a centre and a sign for the establishment of the supramental Consciousness-Force as an overtly operative power in the terrestrial workings of Nature,—in the same way in which thinking Mind has been established through the human evolution as an overtly operative power in Life and Matter. —*The Life Divine, Page No.* 997-998

3. These three mysteries of existence would find in the life of the supramental being a united fulfilment of their harmony. —*The Life Divine, Page No.* 1008

4. Delight of the manifestation of the Spirit in its truth of being would be the sense of the gnostic life. —*The Life Divine, Page No.* 1010

5. Prof. R.D. Ranade, Pathway to God in Hindi Literature, pp 197-198

6. It will act not by the discovery of the unknown, but by the bringing out of the known; all will be the finding "of the self by the self in the self". —*The Life Divine, Page No.* 1018

7. A supramental manifestation in its ascent would have as a next sequence and culmination of self-result a manifestation of the Bliss of the Brahman: the evolution of the being of gnosis would be followed by an evolution of the being of bliss; an embodiment of gnostic existence would have as its consequence an embodiment of the beatific existence. —*The Life Divine, Page No.* 1026

8. In the universal phenomenon is revealed the eternal Ananda. —*The Life Divine, Page No.* 1027

9. All becomes a self-flow of spiritual self-nature, Swadharma of Swabhava. —*The Life Divine, Page No.* 1033

10. The gnostic being living in the consciousness of the Infinite will create his own self-manifestation as an individual, but he will do so as a centre of a larger universality and yet at the same time a centre of the transcendence. —*The Life Divine, Page No.* 1036-37

11. This self-determination according to a self-existent knowledge replaces the automatism of Nature and the standards of Mind by the spontaneity of a Truth self-aware and self-active in the very grain of the existence. —*The Life Divine, Page No.* 1039

12. It would be a self-creation bringing out the Infinite infinitely into form of being, and the interest of the Infinite is much greater and multitudinous as well as more imperishably delightful than the interest of the finite. —*The Life Divine, Page No.* 1106

13. That would mean a supermanhood of the Nietzschean type; it might be at its worst the reign of the "blonde beast" or the dark beast or of any and every beast, a return to barbaric strength and ruthlessness and force: but this would be no evolution, it would be a reversion to an old strenuous barbarism. —*The Life Divine, Page No.* 1105

14. A violent and turbulent exaggerated vital ego satisfying itself with a supreme tyrannous or anarchic strength of self-fulfilment would be the type of a Rakshasic supermanhood: but the giant, the ogre or devourer of the world, the Rakshasa, though he still survives, belongs in spirit to the past; a larger emergence of that type would be also a retrograde evolution. —*The Life Divine, Page No.* 1105

15. This is the first truth and the essence of the matter; but still, from the point of view of a spiritual evolution, this would be only an individual liberation and perfection in an unchanged environmental existence: for a greater dynamic change in earth-nature itself, a spiritual change of the whole principle and instrumentation of life and action, the appearance of a new order of beings and a new earth-life must be envisaged in our idea

of the total consummation, the divine issue. —*The Life Divine, Page No.* 1055

16. It is evident that all this conflict of standards is a groping of the mental Ignorance of man seeking to find its way and grasping different sides of the truth but unable by its want of integrality in knowledge to harmonise them together. —*The Life Divine, Page No.* 1085

17. All that is there is a chaos of clashing mental ideas, urges of individual and collective physical want and need, vital claims and desires, impulses of an ignorant life-push, hungers and calls for life satisfaction of individuals, classes, nations, a rich fungus of political and social and economic nostrums and notions, a hustling medley of slogans and panaceas for which men are ready to oppress and be oppressed, to kill and be killed, to impose them somehow or other by the immense and too formidable means placed at his disposal, in the belief that this is his way out to something ideal. —*The Life Divine, Page No.* 1091

18. That trend is not absent and it must increase with the tension of the crisis in human world-destiny; the need of an escape or a solution, the feeling that there is no other solution than the spiritual cannot but grow and become more imperative under the urgency of critical circumstance. —*The Life Divine, Page No.* 1097

19. As there has been established on earth a mental Consciousness and Power which shapes a race of mental beings and takes up into itself all of earthly nature that is ready for the change, so now there will be established on earth a gnostic Consciousness and Power which will shape a race of gnostic spiritual beings and take up into itself all of earth-nature that is ready for this new transformation. —*The Life Divine, Page No.* 1002

20. A dominant principle of harmony would impose itself on the life of the Ignorance; the discord, the blind seeking, the clash of struggle, the abnormal vicissitudes of exaggeration and depression and unsteady balance of the unseeing forces at work in their mixture and conflict, would feel the influence and yield place to a more orderly pace and harmonic steps of the development

of being, a more revealing arrangement of progressing life and consciousness, a better life order. —*The Life Divine, Page No.* 1004

21. Instead of a constant intermixed and confused struggle between the growth of Consciousness and the power of the Inconscience, between the forces of light and the forces of darkness, the evolution would become a graded progression from lesser light to greater light; in each stage of it the conscious beings belonging to that stage would respond to the inner Consciousness-Force and expand their own law of cosmic Nature towards the possibility of a higher degree of that Nature. —*The Life Divine, Page No.* 1004

22. A supramental or gnostic race of beings would not be a race made according to a single type, moulded in a single fixed pattern; for the law of the supermind is unity fulfilled in diversity, and therefore there would be an infinite diversity in the manifestation of the gnostic consciousness although that consciousness would still be one in its basis, in its constitution, in its allrevealing and all-uniting order. —*The Life Divine, Page No.* 1006

23. It is quite possible that there have been periods of harmony on different levels, not supramental, which were afterwards disturbed—but those could only be a stage or resting place in a world of spiritual evolution out of the Ignorance. —*The letter on Yoga-I, Page No.* 273

24. The descent of the supramental is an inevitable necessity in the logic of things and is therefore sure. It is because people do not understand what the supermind is or realise the significance of the emergence of consciousness in a world of "inconscient" Matter that they are unable to realise this inevitability. I suppose a matter-of-fact observer if there had been one at the time of the unrelieved reign of inanimate Matter in the earth's beginning would have criticised any promise of the emergence of life in a world of dead earth and rock and mineral as an absurdity and a chimaera; so too afterwards he would have repeated his mistake and regarded the emergence of thought and reason in an animal world as an absurdity and a chimaera. It is the same now with the appearance of supermind in the stumbling mentality of this

world of human consciousness and its reasoning ignorance. —*The Letter on Yoga-I, Page No.* 287

25. The supramental manifestation upon Earth, pp 16-17
26. On Yoga II, To Tome one, p. 109

योग

YOGA

Hidden in the mortal's heart the Eternal lives:
He lives secret in the chamber of thy soul,
A Light shines there nor pain nor grief can cross.

O queen, thy thought is a light of the Ignorance,
Its brilliant curtain hides from thee God's face.
It illumes a world born from the Inconscience
But hides the Immortal's meaning in the world.

Thy mind's light hides from thee the Eternal's thought,
Thy heart's hopes hide from thee the Eternal's will,
Earth's joys shut from thee the Immortal's bliss.

A darkness stands between thyself and him,
Thou canst not hear or feel the marvellous Guest,
Thou canst not see the beatific sun.

—Savitri pp. 442-443

X X X

Earth must transform herself and equal Heaven
Or Heaven descend into earth's mortal state.
But for such vast spiritual change to be,
Out of the mystic cavern in man's heart

The heavenly Psyche must put off her veil
And step into common nature's crowded rooms
And stand uncovered in that nature's front
And rule its thoughts and fill the body and life.

—Savitri p. 486

योग की प्रस्तावना

सारा जीवन ही योग है

योग का अर्थ है—जुड़ना; योग वह है जो व्यक्ति को दिव्य से जोड़ता है। इसलिए आयासपूर्वक हो या अनायासपूर्वक सारा ही जीवन योग है[1]। जीवन में हम देखते हैं कि प्रकृति में योग का यही क्रम चल रहा है। इसलिए श्री अरविन्द समस्त जीवन को योग मानते है, यह योग प्रकृति का योग है। पण्डित मधुसूदन ओझा ने यज्ञ को भी इसी प्रकार दो तरह का माना है— प्राकृतिक और वैध अर्थात् एक यज्ञ वह है जो प्रकृति में स्वतः चल रहा है और एक यज्ञ वह है जो शास्त्र में विहित विधि से किया जाता है। इस अर्थ में सम्पूर्ण जीवन ही एक यज्ञ है। इसी प्रकार श्री अरविन्द ने भी योग को दो प्रकार का माना -अनायास चलने वाला प्राकृतिक योग और सायास किया जाने वाला साधना का योग। अपने आपको परिपूर्ण बनाकर अपने में अन्तर्निहित सामर्थ्य को अभिव्यक्त करने का विधिपूर्वक किया गया प्रयत्न योग है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का अपने आपको सार्वभौम और विश्वोत्तीर्ण अस्तित्व के साथ जोड़ने का प्रयत्न साधनात्मक योग है[2]।

सायास योग

प्रकृति परिपूर्णता की ओर उन्मुख है और अपने अन्दर ही शक्ति रूप में छिपी हुई दिव्यता को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रही है किन्तु मनुष्य में यह प्रयत्न आयासपूर्वक करने की सम्भावना है। इसलिए मनुष्य के सन्दर्भ में योग एक ऐसी प्रक्रिया है जहाँ प्राकृतिक विधि को आयासपूर्वक तीव्रतर गति से क्रियान्वित किया

जा सकता है। प्राकृतिक विधि से यह योग मन्द गति से चलता है, जिसमें बहुत सारे समय और गति का अपव्यय होता है। यही कार्य जब साधनात्मक योग द्वारा किया जाता है तो व्यवस्थित ढंग से होता है। इसलिए श्री अरविन्द के अनुसार योग कोई रहस्यमय और असामान्य वस्तु नहीं है बल्कि प्रकृति में चलने वाली गति के अनुकूल एक क्रिया है। प्रकृति में ऊर्ध्वमुखता स्वतः ही प्राप्त होती है। उसी लक्ष्य को लेकर योग भी चलता है।

वेदान्तिक योग के विविध रूप

श्री अरविन्द का मानना है कि योग की यह प्रक्रिया व्यक्तित्व के किसी भी बिन्दु से प्रारम्भ की जा सकती है। शरीर में यह भौतिक रूप से, प्राणिक स्तर पर स्नायविक क्रिया-कलापों में, मन में भावनात्मक अथवा कामनात्मक रूप में तथा अध्यात्म में अहंकार को रूपान्तरित करके यह योग साधा जा सकता है।[3] भारत के इतिहास में हठयोग के द्वारा यह योग शरीर और प्राण के स्तर पर तथा राजयोग के द्वारा मन के स्तर पर क्रियान्वित किया गया है। कर्म, ज्ञान और भक्ति योग के द्वारा अध्यात्म के स्तर पर इस योग को सत्य, सुन्दर और अनन्त की प्राप्ति का साधन बनाया गया है।[4] श्री अरविन्द का कहना है कि हठयोग शारीरिक और मानसिक प्रक्रिया है, राजयोग मन से जुड़ा है, ज्ञानयोग अध्यात्म तथा समझ से जुड़ा है, भक्तियोग अध्यात्म, भावना और सौन्दर्यबोध से जुड़ा है और कर्मयोग अध्यात्म तथा क्रियाशीलता से जुड़ा है।[5] ये सभी योग वेदान्तिक हैं और कूटस्थ पुरुष का साक्षात्कार करवाते हैं। यह योग का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष तन्त्र का है जो दिव्य के सक्रिय रूप से सम्बद्ध है।

पूर्णयोग का स्वरूप

अतः वेदान्तिक योग और तान्त्रिक योग के समन्वय की आवश्यकता है, किन्तु समन्वय का यह अर्थ नहीं है कि इन दोनों को दो खण्डों की तरह मिला दिया जाये क्योंकि उससे तो व्यामोह पैदा होगा, और न इसका यह अर्थ है कि उनका क्रमशः एक के बाद दूसरे का अभ्यास करना है। अपेक्षा यह है कि इन दोनों के बाहरी रूप को छोड़कर इनके सार का समुचित परिमाण में समुचित रूप से प्रयोग

किया जाये[6]। इस प्रयत्न के द्वारा **सर्वं खल्विदं ब्रह्म का** अनुभव होगा। उस समय स्थिति और गतिशीलता तथा पुरुष और प्रकृति दोनों में ही दिव्यता का अनुभव होगा। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कथन है–

> यथार्थ मार्ग को पाने में मुझे आन्तरिक संघर्ष के चार वर्ष लगे यद्यपि सारे समय मेरी दिव्य शक्ति सहायता कर रही थी और तब भी यह मुझे आकस्मिक रूप से ही अनुभव में आया और इसके बाद मुझे दस वर्ष और सघन योग के लगे जबकि एक परम आन्तरिक मार्गदर्शन के द्वारा मैं इसे पा सका; और यह भी इसीलिए हुआ कि मेरा अतीत और संसार का अतीत मेरे साथ था जिसे मैं आत्मसात् करके और आगे बढ़कर भविष्य को देख सका और पा सका।[7]

इस योग को श्री अरविन्द ने पूर्णयोग नाम दिया। इस योग के द्वारा साधक उस अतिमानस स्थिति को प्राप्त होता है जहाँ स्थिति और गति दोनों संश्लिष्ट रूप में हैं। अतिमानस स्थिति में साधक दिव्य की ओर आरोहण ही नहीं करता प्रत्युत चित् शक्ति का अवतरण भी उसके व्यक्तित्व में होता है जिसके कारण उसका मन, प्राण और शरीर दिव्यता को उपलब्ध होता है। इस प्रकार उसकी वह सायुज्य मुक्ति ही नहीं होती जिसमें कूटस्थ दिव्यता की प्राप्ति होती है अपितु उसकी सालोक्य, सामीप्य और साधर्म्य मुक्ति भी होती है। अर्थात् उसे साक्षात्कार के साथ स्वतन्त्रता भी मिलती है।

पूर्णयोग के तीन उद्देश्य

पूर्णयोग का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि कूटस्थ दिव्यता का साक्षात्कार हो सके और व्यक्ति मुक्त हो सके; इसका एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि अतिमानस चेतना उसके शरीर, मन और प्राण में अवतीर्ण हो सके जिसके द्वारा उसका पूर्ण रूपान्तरण हो सकता है। किन्तु यह भी उद्देश्य व्यक्तिगत ही नहीं है जिसके द्वारा केवल व्यक्ति परिपूर्णता को प्राप्त होता है। जिसका यह अर्थ होगा कि एक अतिमानस स्थिति संसार में आये और जैसे मनुष्य वर्तमान में मानसिक स्तर पर है वैसे ही वह अतिमानस स्तर पर जीवन बिता सके। इस

प्रकार पूर्णयोग का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत नहीं है, समष्टिगत भी है अर्थात् व्यक्ति केवल स्वयं ही अतिमानस स्थिति पर न पहुँचे प्रत्युत पूरी मानव जाति को भी उस स्थिति में लाने के लिए निमित्त बने। मनुष्य ऐसा निमित्त बन सके जिसके द्वारा मनुष्य जाति में दिव्यता पूर्णरूप से प्रवाहित हो सके। इस प्रकार पूर्णयोग एक सामूहिक योग है जिसका प्रथम उद्देश्य व्यक्ति की अहंकार से मुक्ति है। दूसरा उद्देश्य आनन्द है किन्तु तीसरा उद्देश्य समस्त अस्तित्व का दिव्यता से इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर देना है कि मानवता का दैवीकरण हो सके। इस प्रक्रिया में मनुष्य तो अपने आपको एक सामूहिक उपलब्धि का निमित्त मात्र ही बनाता है। इसे श्री अरविन्द दिव्य जीवन कहते हैं। क्योंकि दर्शन का उद्देश्य वस्तुओं के सत्य को जानकर मनुष्य जीवन की परिपूर्णता लाना है। पूर्णयोग उस उद्देश्य की पूर्ति करता है।

योग का सामूहिक लक्ष्य

वस्तुतः पूर्णयोग का जो उद्देश्य है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति परिपूर्णता को प्राप्त कर सके, व्यक्ति की परिपूर्णता उसका ही एक अंग है। इसलिए साधक स्वार्थपूर्ति के लिए योग का अभ्यास नहीं करता अपितु दिव्य के कार्य की पूर्ति के लिए साधना करता है। इसलिए वह दिव्य के सिद्धान्तों का अनुकरण करता है, न कि व्यक्तिगत सिद्धान्तों का। इसका यह अर्थ होता है कि उसका उद्देश्य तो दिव्य की अभिव्यक्ति है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी स्वयं की भी आध्यात्मिक मुक्ति सहज ही हो जाती है किन्तु उसकी मुमुक्षा संकीर्ण स्वार्थ से प्रेरित और अहंकार-केन्द्रित नहीं है।

समर्पण

उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सबसे सरल मार्ग आत्मसमर्पण है। आत्मसमर्पण का अर्थ है कि हम अपनी सम्पूर्ण चेतना को दिव्य से जोड़ दें और उससे अपने आपको रूपान्तरित करने की प्रार्थना करें। दूसरे शब्दों में स्वयं ईश्वर ही, जो अन्तर्यामी है, साधक बन जाता है, जो निम्न प्रकृति को एक साधन के रूप में परिपूर्णता के लिए प्रयुक्त करता है। यदि यह समर्पण ईमानदारी से किया जाये

तो दिव्य निम्नतर प्रकृति पर कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। इतना अवश्य है कि वह व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल कार्य करता है न कि किसी एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार। किन्तु इसकी सारी प्रक्रिया सघन और सार्थक होती है।

योग का लचीलापन

इसलिये श्री अरविन्द के योग में हर व्यक्ति की प्रक्रिया अलग अलग होगी। दिव्य व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल कार्य करेगा किन्तु यह कार्य उसमें दिव्य परिवर्तन लाने के लिए होगा। इसके लिए दिव्य पूरे जीवन को ही एक साधन बना लेता है, चाहे हमारी परिस्थिति कैसी भी प्रतिकूल क्यों न हो, दिव्य उसका उपयोग हमारे व्यक्तित्व के संश्लिष्ट रूपान्तरण के लिए करता है। कैसा भी कष्ट या पतन परिपूर्णता के मार्ग में एक सोपान बन जाता है। यह समर्पण निम्नतर प्रकृति के विरोध के कारण प्रारम्भ में सम्भव नहीं होता, इसके लिए साधक को प्रयत्न करना होता है। यही प्रयत्न ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग है जिनके बिना मन और हृदय दिव्य की आधीनता स्वीकार नहीं करते। जब तक परम सत्, चित् और आनन्द से सम्बन्ध न जुड़े, यह समर्पण सम्भव नहीं है। इसलिए पूर्ण योग का भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग अनिवार्य अंग हैं। श्री अरविन्द के अनुसार भक्ति का अर्थ है अभीप्सा। ज्ञान का अर्थ है निम्नतर प्रकृति की अस्वीकृति और समर्पण का अर्थ है अपने सभी कार्यों को दिव्य के प्रति अर्पित कर देना। जो वस्तुतः कर्मयोग है।

गीता के तीन योग

श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों ही आवश्यक है। तीनों का ही अपना स्थान है। और तीनों अपने आप में अपूर्ण हैं। प्रारम्भ में हम इनमें किसी एक से अथवा दो से प्रारम्भ कर सकते हैं। क्योंकि मनुष्य की प्रकृति भिन्न भिन्न होती है इसलिए किसी एक निश्चित प्रक्रिया को सब पर थोपना उचित नहीं होगा। मूल सत्य तो एक ही रहता है किन्तु पद्धति और प्रक्रिया भिन्न भिन्न होगी। इस सम्बन्ध में हमें स्वतन्त्रता देनी चाहिए क्योंकि स्वतन्त्रता ही वास्तविक रूप से परम धर्म है। गुरु को शिष्य पर अपनी मान्यतायें थोपनी नहीं चाहिए। केवल यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह उसमें दिव्य प्रकाश और

शक्ति जागृत कर दे। वह शिष्य के लिए जो कुछ अनुकूल है उसे उपलब्ध कराता है और यह आशा करता है कि उसमें जो बीज है वह दिव्य की छत्र-छाया में बढ़ेगा। वह उपदेश देने की अपेक्षा जागृत करने का प्रयत्न करेगा। वह जो पद्धति बतायेगा वह सहायक होगी न कि एक नियत अपरिवर्तनीय मार्ग। वह पद्धति उसकी सीमायें नहीं बाँधेगी और न प्रक्रिया को यांत्रिक बनायेगी। वह केवल सहायक बनेगा न कि शासक।

इसलिए श्री अरविन्द ने कोई निश्चित पद्धति नहीं दी है। केवल ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय की बात की है। इन तीनों का पृथक् पृथक् निरूपण हुआ है किन्तु अन्त में ये तीनों मिल जाते हैं। श्री अरविन्द इन तीन योगों में से किसी एक को मुख्य और शेष दो को गौण मानने के पक्ष में नहीं थे बल्कि यह मानते थे कि तीनों का ही समान महत्त्व है और किसी एक की परिपूर्णता में तीनों की परिपूर्णता अन्तर्निहित है।

जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, उपर्युक्त सभी विषयों पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता चला जायेगा। वस्तुतः योग का विषय इतना संश्लिष्ट है कि एक विषय की पुनरावृत्ति नये विषय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हो जाती है।

पुरुषार्थ एवं कृपा

पूर्णयोग में साधक का आरोहण और अतिमानस का अवतरण दोनों ही आवश्यक है। सरल शब्दों में साधक का पुरुषार्थ और परमात्मा की कृपा मिलकर कार्य करते हैं। अतिमानस का अवतरण भी जीवन में दिव्यता लाने के लिए है अर्थात् वर्तमान अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ना हमारा उद्देश्य है, जिसका अर्थ है सत्ययुग की अथवा दिव्यजीवन की स्थापना। किन्तु यह तब ही सम्भव है जब मनुष्य मानसिक धरातल से ऊपर उठे। योग के तीन सोपान हैं—चैत्यपुरुषीकरण, आध्यात्मीकरण और अतिमानसीकरण जिसके द्वारा चैत्यपुरुष का तथा आध्यात्मिक और अतिमानसिक रूपान्तरण होता है। ज्ञान, भक्ति और कर्म योग के द्वारा साधक पूर्णप्रामाणिक, आनन्दित और स्वतःस्फूर्त समर्पण करता है—दिव्य के प्रति समर्पण। योग-मार्ग दुःखद नहीं और सारी प्रक्रिया में दुःख का कोई स्थान

नहीं। यह सूर्य से आलोकित मार्ग है जिसमें व्यक्ति प्रकृति में परिपूर्ण आस्था रखता है और न वह किसी से भयभीत होता है और न दुःखी। उसकी अभीप्सा प्रकाश, श्रद्धा, विश्वास और आनन्द से भरी होती है। दुःख निर्बलता लाता है, दिग्भ्रमित करता है, प्राण शक्ति को निर्बल बनाता है, मन को चंचल करता है और अन्धकार पैदा करता है। ज्ञान, भक्ति और कर्म तथा आनन्दपूर्ण आत्मसमर्पण के द्वारा साधक जागृत अवस्था में दिव्य का साक्षात् करना प्रारम्भ कर देता है। समाधि की अवस्था में दिव्य का अनुभव पर्याप्त नहीं है। समाधि की अवस्था का प्रगति के लिए महत्व तो है किन्तु जब तक जागृत अवस्था में साक्षात्कार न हो तब तक योग की परिपूर्णता नहीं कही जा सकती।

यम-नियम का स्थान

पतञ्जलि के राजयोग के समान यम और नियम के द्वारा निम्नतर प्रकृति का पूर्ण पवीत्रीकरण श्री अरविन्द के योग में आवश्यक नहीं है। इसमें केवल ग्रहण करने की तैयारी आवश्यक है। यद्यपि निम्नतर प्रकृति की पवित्रता कुछ अंश में आवश्यक है किन्तु यदि पूर्ण पवित्रता की अपेक्षा की जाये तो योग का कभी प्रारम्भ ही नहीं होगा। जैसे जैसे योग में प्रगति होती है वैसे वैसे निम्न प्रकृति की पवित्रता बढ़ती है और जैसे जैसे निम्न प्रकृति की पवित्रता बढ़ती है वैसे वैसे दिव्य का प्रकाश और शक्ति का अवतरण सहज और सरल होता जाता है। श्री अरविन्द का कहना है कि ध्यान के द्वारा साक्षात्कार पहले होता है और पवित्रता उसके परिणाम स्वरूप बाद में आती है।

ज्ञान, योग, कर्म

पूर्णयोग में साधना सम्बन्धी सभी नियम लचीले रहते हैं, यद्यपि कुछ सामान्य नियम अवश्य निश्चित हैं। साधक अपनी प्रकृति के अनुकूल साधना का स्वरूप एवं क्रम निर्धारित करने में स्वतन्त्र है। उदाहरणतः वह अपनी साधना ज्ञानयोग से प्रारम्भ कर सकता है अथवा ज्ञानयोग और भक्तियोग को साथ साथ चला सकता है अथवा ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का साथ साथ पालन कर सकता है। श्री अरविन्द का मानना है इन तीनों योगों में से किसी एक योग

को मुख्य मानकर शेष दो योगों को गौण मानना उचित नहीं है। ये तीनों ही योग उसी प्रकार से समान महत्त्व के हैं जिस प्रकार बुद्धि, हृदय और इच्छा तीनों बराबर महत्त्व रखते हैं। इनमें से किसी एक की परिपूर्णता का अर्थ तीनों की परिपूर्णता है।

ज्ञान एवं भक्ति

ज्ञानयोग में भक्ति गौण प्रतीत हो सकती है। ऐसा लग सकता है कि जो सत्य की ऊँचाई को न छू सके वही भक्ति का मार्ग अपनाता है। किन्तु यह एक भ्रान्ति है। सत्य यह है कि भक्ति ज्ञान के बिना अधकचरी है। भक्ति का बाह्य रूप निराकार तक नहीं ले जाता, किन्तु सच्ची भक्ति दिव्य प्रेम के माध्यम से हमें दिव्य आनन्द से जोड़ देती है।[8] वस्तुतः हृदय की सहायता के बिना दिव्य की गहराई को नहीं नापा जा सकता[9]। हृदय विचार की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। ज्ञान में हम निराकार को अधिक महत्त्व देते हैं किन्तु दिव्य निराकार और साकार दोनों से परे है, वह एक होते हुए भी अनेक रूप धारण कर सकता है। केवल विचार से उसके अनन्त रूपों को नहीं जाना जा सकता, प्रेम से ही हम उन्हें जान सकते हैं। इसलिये श्री अरविन्द के अनुसार एक साथ ज्ञानी और भक्त होना सम्भव है। इसी प्रकार भक्ति के लिए भी ज्ञान आवश्यक है क्योंकि ज्ञान के बिना प्रेम अधूरा है। जैसे जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे वैसे आनन्द और प्रेम भी बढ़ता है। इस प्रकार ज्ञान और प्रेम परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित हैं।

कर्म का स्थान

ऐसा लग सकता है कि कर्म का स्वरूप सतही है। किन्तु जैसे ही हमारी इच्छा और चेतना दिव्य की इच्छा और चेतना से जुड़ती है, वैसे ही कर्म ज्ञान की शक्ति और प्रेम का प्रवाह बन जाते हैं। ज्ञान अद्वैत की स्थिति है, आनन्द उसका प्रेमपक्ष है तथा कर्म उसके प्रकाश की जीवन्तशक्ति है[10]।

निष्कर्ष

इस प्रकार श्री अरविन्द ज्ञान, भक्ति और कर्म में परस्पर मुख्य-गौण का भेद नहीं मानते और यह मानते हैं कि इनमें से किसी एक की परिपूर्णता में शेष दो की

परिपूर्णता भी निहित है। इस प्रकार पूर्णयोग उस पुराने विवाद को समाप्त कर देता है जो ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और कर्मयोगी के बीच पुराने समय से चला आ रहा है।

---

1. For we mean by this term a methodised effort towards self-perfection by the expression of the secret potentialities latent in the being and—highest condition of victory in that effort—a union of the human individual with the universal and transcendent Existence we see partially expressed in man and in the Cosmos. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 6
2. In the right view both of life and of Yoga all life is either consciously or subconsciously a Yoga. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 6
3. It may equally be accomplished through a direct awakening to the universal or transcendent Truth and Bliss by the conversion of the central ego in the mind. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 33
4. Its method is a direct commerce between the human Purusha in the individual body and the divine Purusha who dwells in every body and yet transcends all form and name. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 33
5. Each Yoga in its process has the character of the instrument it uses; thus the Hathayogic process is psycho-physical, the Rajayogic mental and psychic, the way of knowledge is spiritual and cognitive, the way of devotion spiritual, emotional and aesthetic, the way of works spiritual and dynamic by action. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 610
6. It must therefore be effected by neglecting the forms and outsides of the Yogic disciplines and seizing rather on some central principle common to all which will include and utilise in the right place and proportion their particular principles, and on some central dynamic force which is the common secret of their divergent methods and capable therefore of organising a natural

selection and combination of their varied energies and different utilities. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 42

7. It took me four years of inner striving to find a real Way, even though the Divine help was with me all the time, and even then it seemed to come by an accident; and it took me ten more years of intense Yoga under a supreme inner guidance to find the Way—and that was because I had my past and the world's Past to assimilate and overpass before I could find and found the future. —*The Letter on himself and the ashram, Page No.* 239

8. Where external worship changes into the inner adoration, real Bhakti begins; that deepens into the intensity of divine love; that love leads to the joy of closeness in our relations with theDivine; the joy of closeness passes into the bliss of union. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 549

9. And if when the way of thought deepens into spiritual experience, it arrives readily at the etherial heights, pinnacles, skiey widenesses, it cannot without the aid of the heart fathom the intense and rich abysses and oceanic depths of the divine being and the divine Ananda. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 548

10. If knowledge is the very state of oneness and love its bliss, divine works are the living power of its light and sweetness. —*The Synethesis of Yoga, Page No.* 551

योग के सहायक

शास्त्र एवं स्वानुभव

पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में दूसरे पाद को साधन-पाद नाम दिया है। श्री अरविन्द ने साधना के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए योग के चार सहायक माने हैं—शास्त्र, उत्साह, गुरु और धैर्य। योग का उद्देश्य दिव्य के साथ सम्बन्ध जोड़ना है इसके लिए उस सत्य को जानना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध साक्षात्कार से है। उस सत्य के जानने का साधन शास्त्र है शास्त्र का एक स्वरूप तो वह है जो अन्तर्यामी के रूप में सबके हृदय में स्थित है जिसे श्री अरविन्द नित्य वेद कहते हैं। शास्त्र का दूसरा स्वरूप लिखित ग्रन्थ हैं जिसमें नित्य ज्ञान को अभिव्यक्त किया गया है। कोई शास्त्र कितना भी उत्तम क्यों न हो किन्तु उसमें नित्य ज्ञान का एक अंश ही अभिव्यक्त हो पाता है। इसलिए साधक को शास्त्र का उपयोग तो करना चाहिए किन्तु अपने आपको उससे बाँधना नहीं चाहिए। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी एक सम्प्रदाय का साधक न होकर अनन्त का साधक है। इसलिए उसका अपना अनुभव ही विशेष महत्त्व का है।

अपना पथ स्वयं बनायें

जैसा पहले कहा गया है, श्री अरविन्द के अनुसार साधक को कोई एक परम्परागत या नियत योग पद्धति का अनुसरण न करके अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार पद्धति में लचीलापन रखना चाहिए क्योंकि यद्यपि योग के सामान्य सत्य

निश्चित हैं किन्तु उसकी पद्धति समय और व्यक्ति के अनुसार बदलती रहती है। अतीत में जिन पद्धतियों का अनुसरण किया गया वे आंशिक रूप से मार्गदर्शक हो सकती हैं किन्तु उनसे बँधना नहीं चाहिए। प्रत्येक साधक को अपनी प्रकृति के अनुसार आध्यात्मिक विकास का मार्ग स्वयं प्रशस्त करना चाहिए।

मन्त्र

श्री अरविन्द मन्त्र को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं जो शिष्य को गुरु के द्वारा प्राप्त होता है। इसे ही दीक्षा कहा जाता है। मन्त्र हमारे अन्दर से भी आ सकता है और बाहर से भी प्राप्त हो सकता है। सामान्यतः जीवित गुरु के द्वारा दिया गया मन्त्र अधिक शक्तिशाली होता है। मन्त्र का ध्यान करने से अध्यात्म में प्रगति होती है।

उत्साह

श्री अरविन्द के अनुसार योग में उत्साह आवश्यक है और उसके साथ साधक में तीव्र अभिलाषा भी होनी चाहिए, जिसे व्याकुलता कहा जाता है। उत्साह और व्याकुलता की सघनता का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता और इच्छाशक्ति तथा भावना का आवेग शनैः शनैः साधक को यह प्रतीति में आता है कि उसके व्यक्तिगत अहंकारपूर्ण प्रयास से बढ़कर एक अन्य शक्ति काम कर रही है। धीरे-धीरे साधक अपने को उस शक्ति के प्रति समर्पित कर देता है। उसे यह प्रतीत होता है कि उसके मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रूपान्तरण के लिए एक दिव्यशक्ति कार्य कर रही है। तब व्यक्तिगत प्रयत्न स्वतः लीन हो जाता है। वह दिव्य अभीप्सा और शक्ति के साथ एकाकार हो जाता है। मुख्य बात यह है कि स्वयं का कर्तृत्व का अहंकार छूटना चाहिए और उच्चतर शक्तियों को कार्य करने देना चाहिए।

गुरु

श्री अरविन्द अध्यात्म के क्षेत्र में गुरु के महत्त्व को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जिस प्रकार योग की दूसरी परम्परायें भी स्वीकार करती रही हैं। उनका कहना

है कि गुरु के कारण साधक बहुत सी कठिनाइयों से बच जाता है। स्वयं श्री अरविन्द साधकों को प्रतिदिन घण्टों पत्र लिखते रहे और उनकी कठिनाइयों को दूर करते रहे। किन्तु इससे भी बढ़कर अन्तरात्मा में बैठी दिव्यशक्ति अन्धकार को दूर करती है। वह स्वाभाविक ढंग से गति को दिशा देती है। योग में न कुछ छोटा है न बड़ा। इसलिए दिव्यशक्ति सभी गतिविधियों को सञ्चालित तथा व्यवस्थित करती है। प्रारम्भ में यह आन्तरिक मार्गदर्शक अहंकार के कारण प्रतीति में नहीं आता किन्तु जैसे जैसे हमारा अहंकार कम होता है वैसे वैसे वह प्रकट होने लगता है। प्रारम्भ में उसमें विश्वास भी नहीं होता किन्तु समर्पण के द्वारा उसे जाना जा सकता है।

श्री अरविन्द ने जीवित गुरु को योग के मार्ग में महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि इस मार्ग में आसुरी शक्तियाँ आक्रमण करती हैं और गुरु की सहायता के बिना उन शक्तियों पर विजय पाना कठिन हो जाता है। जो मानव गुरु को स्वीकार नहीं कर पाते वे अहंकारवश ऐसा नहीं कर पाते। गुरु को अपने प्रभाव और उदाहरण के द्वारा शिष्य की सहायता करनी चाहिए। गुरु शिष्य की सभी कठिनाइयों का भार अपने ऊपर लेता है। उसे अपने आपको शिष्य के साथ एकाकार करना होता है और उसकी चेतना को अपनी चेतना से जोड़ना होता है, केवल उपदेश देना नहीं होता। सभी गुरु दिव्य के अंश हैं किन्तु पृष्ठभूमि की भिन्नता के कारण उनके उपदेशों में भिन्नता रह सकती है। यह भिन्नता इसलिए उपयोगी है कि भिन्न भिन्न प्रकृति के शिष्यों को भिन्न भिन्न प्रकार से समझाया जा सके।

गुरु में मानवीय कमजोरियाँ रह सकती है किन्तु यह दिव्य की प्राप्ति में बाधक नहीं होती, क्योंकि शिष्य गुरु में स्थित दिव्य के प्रति ही समर्पण करता है और इसी कारण गुरु से अध्यात्म का वैभव प्राप्त कर सकता है। शेष तो उसे दिव्य की कृपा से प्राप्त होता है। मुख्य बात समर्पण की है। श्री अरविन्द ने अपना उदाहरण दिया है कि किस प्रकार उन्होंने एक गुरु के प्रति समर्पण किया और स्वयं उन गुरु को भी यह लगा कि श्री अरविन्द उनसे आगे हैं और इसलिए उन्हें यह कहना पड़ा कि जैसा समर्पण उन्होंने अपने गुरु के प्रति किया है वैसा ही समर्पण वे अन्तरात्मा में स्थित दिव्य के प्रति करें।

अपने शिष्य की सहायता गुरु उपदेश, उदाहरण और प्रभाव के तीन माध्यमों से करता है। जहाँ तक उपदेश का प्रश्न है गुरु को शिष्य के आध्यात्मिक जागरण का प्रयत्न करना चाहिए न कि शाब्दिक उपदेश मात्र देना चाहिए। उसे अपने शिष्य की आन्तरिक शक्तियों को बढ़ने का अवसर देना चाहिए और अपनी राय उस पर थोपनी नहीं चाहिए। इसी प्रकार गुरु के उदाहरण का यह अर्थ नहीं है कि उसकी बाह्य आचरण का अनुकरण किया जाये। शिष्य को अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करने देना चाहिए। उदाहरण का अर्थ गुरु का आन्तरिक आचरण है जिसका अनुकरण शिष्य को करना चाहिए।

उदाहरण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। गुरु के संसर्ग से और उसके सानिध्य से शिष्य प्रभावित होता है। उसकी उपस्थिति ही प्रकाश, शक्ति, पवित्रता और आनन्द को बिखेरती है। गुरु को यह मानना चाहिए कि उसका कार्य दीपक से दीपक जलाने के समान दिव्य कार्य है।[1]

शिष्य को गुरु के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित कर देना चाहिए। इस संबंध में श्री अरविन्द मार्जारन्याय तथा मर्कटन्याय का प्रसिद्ध उदाहरण देते हैं। बन्दर के बच्चे को अपनी माँ को स्वयं पकड़ना पड़ता है किन्तु बिल्ली के बच्चे को माँ स्वयं ही पकड़कर उठाती है। शिष्य को गुरु के प्रति मार्जारन्याय का अनुसरण करना चाहिए अर्थात् यह मानना चाहिए कि गुरु स्वयं ही शिष्य का कल्याण करेगा। इस प्रकार का समर्पण बिना शर्त का पूर्ण समर्पण होता है। ऐसे समर्पण से व्यक्ति को अपने अहंकार को जीतने का अवसर मिलता है क्योंकि वह निर्वैयक्तिक की अपेक्षा व्यक्ति को समर्पित करता है और अपने अन्दर स्थित दिव्य के प्रति ही नहीं अपने बाहर स्थित दिव्य के प्रति भी विनयशीलता दिखाता है। श्री अरविन्द गुरुशिष्य सम्बन्ध की प्रगाढ़ता पर बल देते समय यह सावधानी अवश्य बरतते हैं कि यह प्रगाढ़ता विकृत रूप न ले ले अर्थात् शारीरिक या प्राणिक स्तर पर होने वाले हेय सम्बन्ध न बन जायें।

धैर्य

योग में एक आवश्यकता धैर्य की है। योग एक सतत प्रक्रिया है जिसके लिए समय आवश्यक है। साधक को ऐसा मानना चाहिए कि उसके पास अनन्त समय

है किन्तु साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इसके कारण उसके प्रयत्न में शिथिलता न आये अपितु सघनता और तीव्रता बनी रहे।[2]

इस प्रकार योग में शास्त्र, उत्साह, गुरु और काल ये चार सहायक सिद्ध होते हैं।

---

1. He is a man helping his brothers, a child leading children, a Light kindling other lights, an awakened Soul awakening souls, at highest a Power or Presence of the Divine calling to him other powers of the Divine. —*The Synthesis of yoga, Page No.* 67-68

2. The ideal attitude of the sadhaka towards Time is to have an endless patience as if he had all eternity for his fulfillment and yet to develop the energy that shall realise now and with an ever-increasing mastery and pressure of rapidity till it reaches the miraculous instantaneousness of the supreme divine Transformation. —*The Synthesis of Yoga, Page No.* 68

MEDITATION

In moments when the inner lamps are lit
And the life's cherished guests are left outside,
Our spirit sits alone and speaks to its gulfs.

The truth mind could not know unveils its face,
We hear what mortal ears have never heard,
We feel what earthly sense has never felt,
We love what common hearts repel and dread;
Our minds hush to a bright Omniscient;
A Voice calls from the chambers of the soul;
We meet the ecstasy of the Godhead's touch
In golden privacies of immortal fire.

—Savitri p. 47–48

पूर्णयोग का स्वरूप

हम पहले कह चुके हैं कि पूर्णयोग की प्राप्ति भक्ति, ज्ञान और कर्म के समन्वय से होती है। साधक को अपने पूर्ण अस्तित्व से दिव्य का आह्वान करना चाहिए, निम्न प्रकृति की गतिविधियों को नकार देना चाहिए और हृदय, मस्तिष्क तथा मस्तिष्क से ऊपर मौन भाव से चित्त को केन्द्रित करना चाहिए। किन्तु यह सब भी पूर्णयोग का एक पक्ष है। इसकी सार्थकता इसमें है कि दिव्य की कृपा हमारी पुकार को सुनकर उसका उत्तर दे। नीचे से आह्वान किया जाता है और ऊपर से कृपा उतरती है। इन दोनों के संयोग से ही सफलता मिलती है।[1]

आह्वान तथा प्रार्थना

आह्वान का अर्थ है कि साधक अपने पूर्ण अस्तित्व से दिव्य को पुकारे। पूर्णता का अर्थ है कि मन की इच्छा, हृदय की भावना और प्राण की सहमति एक साथ जुड़ी रहे। यह केवल विचार या शब्द नहीं है अपितु एक आन्तरिक अनुभूति है। इसका अनुभव सांसारिक कार्य करते समय भी होता रह सकता है। इसके दो पक्ष हैं– शब्द और विचार के स्तर पर मन कार्य करता है किन्तु अनुभव के स्तर पर हृदय अनुभव करता है। शब्द और विचार के स्तर पर हम प्रार्थना कर सकते हैं किन्तु प्रार्थना का उत्तर देना दिव्य की इच्छा पर निर्भर करता है। इसलिए प्रार्थना करना अपने आप में ही आनन्द का विषय होना चाहिए, प्रार्थना के उत्तर के लिए व्याकुल नहीं होना चाहिए।

अभीप्सा

अभीप्सा सघन, शान्त, आनन्दपूर्ण, सशक्त, स्वतःस्फूर्त, अवहितचित्त, निरन्तर और केन्द्रित होनी चाहिए। अभीप्सा में अधीर नहीं होना चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि पूर्णयोग में दुःख को स्थान नहीं है; यह प्रकाशमय मार्ग है। साधक जब मन से अभीप्सा करता है तो उसके बीच प्राणिक और शारीरिक बाधायें आ सकती हैं। यदि प्राणिक अंश शुद्ध नहीं है तो वह अभीप्सा को राजसिक बना सकता है। इस कारण निराशा और अवसाद आ जाता है क्योंकि इसमें कामना रहती है। दूसरी ओर शरीर अपनी पुरानी आदतों को नहीं छोड़ता और साधक को सघन अभीप्सा नहीं करने देता। साधक को इन बाधाओं को अपनी इच्छाशक्ति और दिव्यकृपा की सहायता से दूर करना चाहिए। आदर्श अभीप्सा पूर्ण रूपान्तरण से ही सम्भव है किन्तु यह रूपान्तरण क्रमशः होता है। इसका अन्तिम लक्ष्य अतिमानस स्थिति प्राप्त करना है।

अभीप्सा और आध्यात्मिक अनुभव का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि अभीप्सा जितनी सघन होती है अनुभव भी उतना ही सघन होता चला जाता है और इसी प्रकार जितना अनुभव सघन होता है उतनी ही अभीप्सा भी सघन हो जाती है। इन दोनों के मेल से साधक में रूपान्तरण होता है किन्तु बीच बीच में प्राणिक और शारीरिक अंश बाधा डालते हैं जिन्हें रहस्यवादी 'आत्मा की काली रात' कहते हैं। इन बाधाओं का यह अर्थ नहीं है कि अभीप्सा में कहीं कोई कमी है। अतः साधक को भयभीत नहीं होना चाहिए अपितु धैर्यपूर्वक अपनी यात्रा जारी रखनी चाहिए।

ध्यान

श्री अरविन्द के अनुसार ध्यान का अर्थ है—विचार, दृष्टि अथवा ज्ञान की मानसिक एकाग्रता। ध्यान एक ही प्रकार के विचारों पर केन्द्रित करने का नाम है जिनका एक ही विषय रहता है। केन्द्रित करने का अर्थ है—एक ही विषय या विचार का निरन्तर बने रहना।

सर्वप्रथम साधक को अपने हृदय में केन्द्रित करना चाहिए ताकि अन्दर का केन्द्र खुल सके और व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा को पहचान सके। तदनन्तर मानसिक केन्द्र को खोलने के लिए मस्तिष्क पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए किन्तु यह भी मस्तिष्क के ऊपर के केन्द्र को खोलने का एक बीच का पड़ाव मात्र है जिसके द्वारा साधक अपने शरीर के बाहर भी आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। मस्तिष्क पर कुछ समय तक ध्यान करने के बाद साधक मस्तिष्क से ऊपर चेतना का अनुभव करता है। अपने अन्दर चेतना का अनुभव अधूरा है और अपने बाहर चेतना का अनुभव उसे पूरा करता है। अन्दर स्थित आत्मा विकास के क्रम में पहले आती है और वह आत्मा का एक स्फुलिंग मात्र है जबकि बाहर की चेतना उच्चतम, सार्वभौम, विश्वोत्तीर्ण, पूर्ण, अनन्त और अज्ञेय है किन्तु इसका भी साक्षात्कार आत्मा के कूटस्थ पक्ष का ही साक्षात्कार है। इसका दूसरा पक्ष गत्यात्मक है। इसलिए साधक को अपनी साधना के द्वारा प्रकाश, शक्ति और आनन्द के अवतरण होने तक अपनी साधना चालू रखनी चाहिए ताकि शरीर, प्राण और मन का रूपान्तरण हो सके। इस प्रकार साधक उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि, अधिमन के क्रम में अतिमन तक पहुँचता है और उसके सारे स्वरूप का दैवीकरण हो जाता है। इस प्रकार साधक क्रमशः हृदय में, मस्तिष्क पर और मस्तिष्क से ऊपर चेतना के साक्षात्कार द्वारा अन्दर की चेतना, बाहर की कूटस्थ चेतना और गत्यात्मक और अतिमानसिक चेतना का अनुभव करता है। यह आध्यात्मिक विकास का क्रम है।

ध्यान का यही सामान्य क्रम है। किन्तु साधक आवश्यकता के अनुसार इस क्रम को बदल भी सकता है यद्यपि सामान्यतः हृदय से प्रारम्भ करना अधिक उचित है, क्योंकि इससे साधक के अन्दर रूपान्तरण होता है और इसके द्वारा अतिमानसीकरण तेजी से, सरलता से और निर्विघ्न रूप से हो जाता है। किसी भी स्थान पर ध्यान करते समय दिव्य का ध्यान करना चाहिए न कि किसी बिन्दु या स्थान का। यह ध्यान आँख बन्द करके या आँख खोलकर भी किया जा सकता है। प्रारम्भ में यह ध्यान लम्बे समय तक नहीं करना चाहिए क्योंकि वह थका देता है और थका हुआ मन अशक्त हो जाता है। इसलिए साधक को बीच बीच में विश्राम करना चाहिए। धीरे धीरे ध्यान की अवधि बढ़ायी जा सकती है।

ध्यान का प्रारम्भ प्रयत्नपूर्वक होता है। बाद में यह ध्यान सहज और सरल हो जाता है और अन्त में यह स्वतः स्थिर हो जाता है। इस अन्तिम स्थिति में इसे ध्यान न कहकर आत्मा में दिव्य का आधान कहना चाहिए।

यदि साधक को ठीक लगे तो वह नाम का स्मरण भी कर सकता है किन्तु नाम का स्मरण यांत्रिक नहीं होना चाहिए और न इसे श्वास निश्वास का अंग बनाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर यह प्राणायाम का रूप ले लेता है जो गलत ढंग से किये जाने पर हानिकारक भी हो सकता है।

ध्यान बैठकर करना चाहिए क्योंकि लेटने पर तमोगुण के प्रभाव से आलस्य आ सकता है और साधक नींद में जा सकता है। खड़े हुए या चलते हुए ध्यान करने पर चेतना सक्रिय हो जाती है और दिव्य पर पूरी तरह केन्द्रित नहीं रह सकती। इसलिए निश्चल भाव से बैठकर ही ध्यान करना चाहिए।

ध्यान के समय विचार, सम्मति, मूल्यांकन इत्यादि मानसिक; इच्छा, माँग, लालसा, संवेदना, वासना, स्वार्थ, अहंकार, लोभ, ईर्ष्या, असत्य, आदि प्राणिक तथा मूर्खता, सन्देह, अविश्वास, अस्पष्टता, उद्दण्डता, क्षुद्रता, आलस्य आदि तामस भावों को स्थान नहीं देना चाहिए। ऐसा करने का पहला उपाय तो यह है कि अपनी सभी क्रियाओं को दिव्य के प्रति समर्पित कर दिया जाये और उससे ही मार्गदर्शन तथा रूपान्तरण की प्रार्थना की जाये। दूसरा उपाय यह है कि साधक उन सब भावों के प्रति तटस्थता का भाव रखे और यह माने कि पिछले कर्मों के कारण वे उसकी आदतों का एक हिस्सा बन गये हैं और उसके वास्तविक स्वरूप का भाग नहीं हैं। इस प्रकार साधक का उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ये दोनों ही उपाय अधिकतर साथ साथ काम करते हैं।

विरोधी शक्तियाँ

मानसिक, प्राणिक और शारीरिक बाधाओं के अतिरिक्त विरोधी शक्तियों का प्रभाव भी बाधक होता है। ये विरोधी शक्तियाँ संसार में अज्ञान को बनाये रखना चाहती हैं और संसार में प्रकाश तथा सत्य को अवतरित नहीं होने देतीं क्योंकि

वे दिव्यता-विरोधी हैं। वे निम्न प्रकृति का उपयोग करके क्रियाओं को विकृत कर देती हैं और साधक को अपने काबू में कर लेती हैं। वे बिना किसी कारण के आक्रमण कर देती हैं और साधक में आन्तरिक संघर्ष और असामान्य निराशा पैदा कर देती है जिसके कारण साधक साधना को छोड़ देता है। वे मानवीय कमजोरी नहीं है बल्कि राक्षसी माया है। साधक जैसे ही तीव्रता से गति करता है वे और भी हिंस्र हो जाती हैं किन्तु इनसे साधक को डरना नहीं चाहिए और अपनी साधना यह मानकर चालू रखनी चाहिए कि यह उसकी शक्ति का परीक्षण है। उसे अपनी अभीप्सा, श्रद्धा और समर्पण की भावना बनाये रखनी चाहिए क्योंकि इनके कारण विरोधी शक्तियाँ बाधा नहीं डाल पातीं, यद्यपि बाहर उनका अस्तित्व बना भी रह सकता है।

शारीरिक चेतना

विरोधी शक्तियों के अतिरिक्त साधक के जीवन में 'काली रात' भी आती है जब सन्देह, नकारात्मकता, नीरसता इत्यादि का आक्रमण होता है। यह उषा से पहले आने वाला अन्धकार है। कभी कभी यह लम्बे समय तक चलता है किन्तु इसमें साधक का दोष नहीं होता। साधक को शारीरिक चेतना में छलांग लगानी होती है और इस लिए ऐसा होता है। ऐसे में उसे दृढ़ता दिखानी होती है और अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक प्रकाश आना चालू हो जाता है। प्रारम्भ में भी आध्यात्मिक प्रकाश आ सकता है किन्तु शारीरिक चेतना के अन्धकार को पार किये बिना वह पूरा नहीं होता।

साधक को दिव्य शक्ति से सम्पर्क बनाये रखना चाहिए और मानसिक धरातल पर उन बाधाओं का सामना नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह दिव्य शक्तियों से दूर चला जाता है। अतः उसे अपने आपको दिव्य के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। योग का मार्ग लम्बा, दूभर और कठिन है जिसके अन्दर पद पद पर कठिनाइयाँ है इसलिए साधक को एकाग्रमन से यह मानकर चलना चाहिए कि उसका एकमात्र कार्य साधना करना है। उसके सामने कठिनाइयाँ बहुत हैं और सहायता बहुत कम है। यह कार्य बहुत बड़ा है और इसलिए यह आशा नहीं करनी चाहिए कि यह सरलता से हो जायेगा। इसलिए कठिनाइयों

का सामना प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए और दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि मैं इसे करके रहूँगा। मार्ग में बाधायें हैं और प्रत्यक्ष और परोक्ष विरोधी शक्तियाँ हैं जो साधक की कमजोरी की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं। उस समय साधक अकेला रह जाता है और उसे हर कदम पर संघर्ष करना पड़ता है। उसे एक के बाद दूसरी चोटी पर चढ़ना होता है और कोई भी चोटी अन्तिम नहीं होती। ईश्वर की कृपा देवों के अमृत से भी अधिक दुर्लभ है। प्रकृति भी बिना पुरुषार्थ के अमूल्य वस्तु नहीं देती।

समर्पण सरल नहीं है इसलिए गुरु की सहायता लेनी चाहिए। पूर्णयोग का उद्देश्य केवल अपनी मुक्ति ही नहीं है अपितु प्रकृति का दिव्यीकरण भी है इसलिए इसमें और भी अधिक कठिनाई है। प्रारम्भ में लम्बे लम्बे अन्तराल के बाद दिव्य का अनुभव होता है किन्तु धीरे धीरे यह अन्तराल कम होता जाता है और दिव्य का अनुभव बारम्बार होने लगता है।

समर्पण

पूर्णयोग का मुख्य आधार आत्मसमर्पण है जो ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की सहायता से सिद्ध होता है। यह अपरिहार्य है क्योंकि इसके बिना साधक का पूर्ण रूपान्तरण नहीं हो सकता। नियम यह है कि जो दिव्य के प्रति पूर्ण तथा बेशर्त समर्पण कर देते हैं, दिव्य भी अपने आपको उन्हें अर्पित कर देता है। अतिमानस की स्थिति में पहुँचने पर यह समर्पण पूरा होता है। समर्पण के मार्ग में दिव्य स्वयं साधना की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है और तपस्या भार प्रतीत नहीं होती। दूसरे मार्गों में तपस्या मुख्य हो जाती है और मार्ग कठिन हो जाता है। हमारे मन के क्षुद्र विचारों के स्थान पर दिव्यप्रकाश रहना चाहिए। हमारी तुच्छ व्यक्तिगत और अंधी इच्छाओं का स्थान शान्त और आलोकित इच्छाओं को लेना चाहिए। समर्पण का अर्थ है कि व्यक्ति एक निमित्तमात्र बन जाये और दिव्य प्रज्ञा और प्रेम को अपना काम करने दें।

समर्पण पूर्ण और बिना शर्त होना चाहिए और सभी कुछ मानसिक, प्राणिक और शारीरिक दिव्य के प्रति अर्पित कर देना चाहिए। यदि इस समर्पण में कोई

अधूरापन होगा तो दिव्य कृपा प्राप्त नहीं होगी। यह समर्पण आनन्दपूर्ण होना चाहिए, इसके पीछे भय या कर्तव्यपालन की नीरस भावना नहीं होनी चाहिए। यह सक्रिय होना चाहिए। समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति निष्क्रिय हो जाये क्योंकि निष्क्रियता भौतिक शक्तियों को आश्रय देती है। समर्पण का यह भी अर्थ नहीं है कि पुरुषार्थ न किया जाये; साधक को विरोधी शक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष करना चाहिए साथ ही समर्पण का कोई अतिरिक्त प्रयोजन नहीं होना चाहिए और न कोई इच्छा होनी चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर दिव्य कृपा का अवतरण नहीं होता। श्री अरविन्द का कहना है कि यदि साधक कुछ माँगता है तो ईश्वर उसे वह दे देता है किन्तु जो कुछ भी नहीं माँगते उन्हें वह सब कुछ दे देता है जो उनकी आवश्यकता है और साथ में उन्हें अपने आपको भी दे देता है। श्री अरविन्द का कहना है कि न कोई इच्छा हो, न माँग, न कोई राय, न विचार सभी कुछ छोड़ देना चाहिए। हृदय निष्काम हो जाये, बुद्धि में कोई स्वार्थ न रहे, द्वैतभाव छूट जाना चाहिए और अपने आपको प्रज्ञा, शक्ति और आनन्द के हाथों छोड़ देना चाहिए। जिस प्रकार इंजन ड्राईवर के हाथों में रहता है उसी प्रकार अपने आपको दिव्य प्रेम, शक्ति और पूर्ण प्रज्ञा के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। यह आवश्यक है कि पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण क्रिया की प्राप्ति के लिए अहंकार को बिल्कुल छोड़ दिया जाये। यह समर्पण का भाव गीता के अन्त में इस रूप में दिया गया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

ऐसा करने पर स्वयं ईश्वर हमारी साधना अपने हाथ में ले लेता है। किन्तु यह स्थिति अकस्मात् नहीं आती। मन के पास अपने विचार होते हैं। प्राण शक्ति भी बाधा डालती है, शरीर निष्क्रियता की ओर ले जाता है। इसलिए केवल चैत्यपुरुष ही समर्पण का मार्ग जानता है। इसलिए चैत्यपुरुष को मानसिक, प्राणिक और शारीरिक भागों को नियंत्रित करने देना चाहिए। किन्तु साईकिक प्रायः छिपा रहता है इसलिए उसे अनावृत करने के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का सहारा लेना चाहिए।

ज्ञानयोग का अर्थ चित्त को एकाग्र करना है। इसकी प्रक्रिया हम ऊपर दे चुके हैं। साधक के हर कर्म का उद्देश्य ईश्वर का प्रेम और ईश्वर के प्रति समर्पण होना चाहिए। जब वह भोजन करे तो यह माने कि वह भोजन उसके अन्दर बैठे ईश्वर को मिल रहा है, जब वह श्रम करे तो यह माने कि यह श्रम ईश्वर के कारण सम्भव हुआ है। हृदय की प्रत्येक धड़कन दिव्ययज्ञ का जीवन्त स्वर है। साधक के सभी भाव और अनुभव ईश्वरीय प्रेम में रंगे होने चाहिए। सारी व्याकुलता उसके लिए ही होनी चाहिए। उसे अपने प्रेम को बनाये रखने की प्रार्थना करनी चाहिए। प्रेम का उद्देश्य प्रेम के अतिरिक्त कुछ और नहीं होना चाहिए। प्रेम के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है—

> सर्वोच्च और सबसे बड़ा सम्बन्ध वह है जो सामान्य, धार्मिक उत्प्रेरक से प्रारम्भ नहीं होता अपितु जो योग का सार है और प्रेम के स्वरूप में से ही प्रस्फुटित होता है वह प्रेमी और प्रेमिका के बीच का भाव है... उसमें केवल प्रेम की कामना की जाती है, केवल प्रेम के खो जाने का भय होता है और केवल प्रेम के वियोग का दुःख होता है... और सम्बन्धों में प्रारम्भ और अन्त में किन्हीं दूसरे उद्देश्यों की पूर्ति का सन्तोष हो सकता है किन्तु प्रेम में प्रारम्भ से अन्त तक प्रेम ही एक मात्र लक्ष्य रहता है। भक्त की एकमात्र इच्छा यह होती है कि उसकी भक्ति में कोई कमी न आये, वह न स्वर्ग चाहता है, न मोक्ष अपितु केवल नित्य और पूर्ण प्रेम चाहता है।

इसलिए पूर्ण समर्पण के लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना साधक का रूपान्तरण नहीं हो सकता। यह रूपान्तरण अतिमानसिक स्तर पर पहुँचकर ही पूर्ण होता है। हमने पहले मार्जारन्याय और मर्कटन्याय की चर्चा की है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चे को स्वयं ही उठाती है उस प्रकार साधक को अपने आपको पूर्ण समर्पित करके यह प्रतीक्षा करनी चाहिए कि दिव्यशक्ति ही उसका मार्ग प्रशस्त करेगी। ऐसी स्थिति में साधक को यह पता ही नहीं चलता कि वह भी कोई प्रयत्न कर रहा है।

जब तक साधक की साधना को दिव्य अपने हाथों में न ले ले तब तक उसे पुरुषार्थ करना होता है। यह प्रक्रिया शनैः शनैः चलती है; जैसे जैसे साधक

समर्पण में प्रगति करता है वैसे वैसे उसे दिव्यशक्ति का अनुभव होता है और उसका पुरुषार्थ दिव्यपुरुषार्थ में बदल जाता है। इस प्रक्रिया की परिपूर्णता अतिमानस स्थिति में ही होती है। ऐसी स्थिति में भी साधक को पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए कि कोई गलत शक्ति बीच में बाधा न डाले। उसे यह मानना चाहिए कि वह दिव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। दिव्यशक्ति जैसा और जिस प्रकार चाहे करे, उसका उसमें पूर्ण विश्वास है। कितनी भी कठिनाई या विलम्ब हो वह शान्त बना रहेगा।

श्रद्धा

सारे पुरुषार्थ का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता, चाहे ध्यान हो या समर्पण। श्रद्धा ही एक मात्र सहारा है। श्रद्धा के बिना संकट के समय साधक विचलित हो सकता है। श्रद्धा का अर्थ मानसिक विश्वास नहीं है अपितु जीवन में दिव्यता के प्रति आस्था है। अतीन्द्रिय वस्तुएं भौतिक प्रमाणों से प्रमाणित नहीं होती किन्तु अनुभव का विषय हैं। इसलिए श्रद्धा निराशा के समय भी बनी रहती है। श्रद्धा आत्मा का विषय है। जब मानसिक विश्वास नहीं रहता तब भी आस्था दृढ़ बनी रहती है। मन कुछ भी क्यों न माने सत्य तो सत्य ही है। शारीरिक, प्राणिक और मानसिक श्रद्धा की अपेक्षा चैत्यपुरुषीय श्रद्धा ही मुख्य है। शारीरिक श्रद्धा शारीरिक कष्टों में सहायक होती है, प्राणिक श्रद्धा के कारण विरोधी शक्तियों का सामना किया जा सकता है और मानसिक श्रद्धा सन्देह का निवारण करती है। किन्तु चैत्यपुरुषीय श्रद्धा सीधा दिव्य का स्पर्श कराती है। यह कभी कभी छिप तो सकती है किन्तु नष्ट नहीं होती। यह श्रद्धा अन्त में ज्ञान प्राप्त कराती है— **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**। यह श्रद्धा तब भी बनी रहती है जब मन, प्राण और शरीर सन्देह, निराशा और अभाव से ग्रस्त हो जाते हैं।

श्रद्धा अनुभव और ज्ञान से पहले रहती है। योग का प्रारम्भ प्रायः श्रद्धा से ही होता है किन्तु कभी कभी श्रद्धा से पहले अनुभव भी हो जाता है। जैसे जैसे अनुभव होता है वैसे वैसे श्रद्धा घनी होती हुई ज्ञान में बदल जाती है। प्रारम्भ में श्रद्धा बहुत दृढ़ नहीं होती किन्तु बाद में अनुभव से वह सन्देहरहित हो जाती है। साधक को दिव्य में, दिव्य की कृपा में, साधना की सत्यता में तथा कठिनाइयों के

पार जाने में श्रद्धा रखनी चाहिए क्योंकि यदि इसमें श्रद्धा न होगी तो योग का कोई अर्थ ही नहीं है। आन्तरिक कमजोरियों और बाहरी कठिनाइयों के बावजूद श्रद्धा साधक को सही मार्ग पर ले जाती है। यदि श्रद्धा कभी क्षीण हो तो साधक को प्रार्थना करनी चाहिए। कठिनाई के समय में श्रद्धा सुरक्षा प्रदान करती है। यह श्रद्धा रखनी चाहिए कि ईश्वर की इच्छा में मनुष्य का कल्याण है। साधक को यह विश्वास रखना चाहिए कि क्योंकि वह केवल दिव्य की कामना करता है इसलिए उसे अवश्य सफलता प्राप्त होगी क्योंकि दिव्य गुप्त रूप से उसका मार्ग दर्शन करेगा। इस प्रकार के विश्वास के कारण बाधाओं के बावजूद आध्यात्मिक सफलता अवश्य प्राप्त होती है।

श्रद्धा में अहंकार, इच्छा, अभिमान, उद्दण्डता, मांग जैसे अशुद्ध तत्व नहीं होने चाहिए, केवल पवित्रता, शक्ति, प्रकाश, शान्ति और आनन्द की इच्छा होनी चाहिए। एक ही कामना चाहिए कि दिव्य अध्यात्म और अतिमानस सत्य की प्राप्ति हो।[2]

जहाँ तक सन्देह का सम्बन्ध है सत्य को जानने के लिए शंका करनी चाहिए किन्तु केवल सन्देह के लिए सन्देह करना उचित नहीं है। किन्तु सदा सन्देह करते रहने पर दिव्य का अवतरण नहीं हो पाता। वस्तुतः सन्देह का कोई अन्त नहीं है किन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए विनम्रतापूर्वक पूछना अवश्य चाहिए— **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**। सन्देह मन में उत्पन्न होता है, श्रद्धा आत्मा का विषय है। अन्ततोगत्वा श्रद्धा के द्वारा साधक ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

कृपा

श्रद्धा के अनन्तर कृपा का स्थान आता है। एक ओर कर्मसिद्धान्त है दूसरी ओर करुणा है और तीसरी ओर कृपा है। हम सब कर्मसिद्धान्त से संचालित होते हैं। करुणा सब पर समान रूप से बरसती है किन्तु कृपा ऊपर से या अन्दर से आती है। यह आध्यात्मिक अनुभव का अंग है। कृपा साधक का रूपान्तरण करती है। ऐसा नहीं है कि कृपा धर्मात्मा के ऊपर हो और पापी के ऊपर न हो। कृपा किसी भी नियम से ऊपर है, उसके कार्य करने का तरीका अपना है। वह

मानसिक चिन्तन के आधीन नहीं है। साधक कृपा के लिए तैयार होता रहता है किन्तु कृपा की मांग नहीं की जा सकती क्योंकि कृपा का अर्थ ही यह है कि ईश्वर उसके लिए बाध्य नहीं है।

किसी भी स्थिति में साधक के लिए तपस्या आवश्यक है क्योंकि प्रथम तो कृपा हर कदम पर हस्तक्षेप नहीं करती है, दूसरे कृपा के लिए साधक को तैयार होना होता है। तीसरे कृपा प्राप्त हो जाने पर भी साधक को पुरुषार्थ करते रहना होता है। पूर्ण सिद्धि हो जाने पर ही पुरुषार्थ की आवश्यकता समाप्त होती है। कृपा का कार्य रहस्यपूर्ण है। प्रारम्भ में कृपा गुप्त रूप से साधक को तैयार करती है। किन्तु बाद में वह प्रकट रूप में कार्य करने लगती है। श्री अरविन्द का कहना है कि—

> कृपा का थोड़ा सा अंश भी समस्त कठिनाइयों, बाधाओं और खतरों से पार ले जाता है; कृपा के माध्यम से साधक अपने मार्ग पर सुरक्षित रूप में चल सकता है, उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं आती, कोई लौकिक या पारलौकिक विरोधी शक्ति उसे प्रभावित नहीं करती। कृपा के स्पर्श से कठिनाई अवसरों में बदल जाती है, असफलता सफलता में और कमजोरी शक्ति में परिणत हो जाती है। दिव्य मातृशक्ति की कृपा देर सबेर अनिवार्य रूप से आती ही है क्योंकि यह परम से अनुमोदित है।[3]

कृपा तो सब पर बनी रहती है किन्तु बहुत से उस कृपा से अपने आपको वंचित कर लेते हैं। साधक को चाहिए कि वह कृपा को निर्विघ्न रूप से अपना कार्य करने दें।

---

1. There are two powers that alone can effect in their conjunction the great and difficult thing which is the aim of our endeavour, a fixed and unfailing aspiration that calls from below and a supreme Grace from above that answers. —*The Mother with Letter on the Mother, Page No.* 3

2. Ask for nothing but the divine, spiritual and supramental Truth, its realisation on earth and in you and in all who are called and chosen and the conditions needed for its creation and its victory over all opposing forces. —T*he Mother with Letter on the Mother, Page No.* 8

3. For the grace of the Divine Mother is the sanction of the Supreme and now or tomorrow its effect is sure, a thing decreed, inevitable and irresistible. —*The Mother with Letter on the Mother, Page No.* 9

साधक का आचरण

अनन्यता भाव

श्री अरविन्द के अनुसार साधक के जीवन का एक ही उद्देश्य है कि वह दिव्य के प्रति गति करे। इसी आधार पर उसे निर्णय लेना चाहिए कि उसके लिए क्या ठीक है और क्या गलत है। साधक को ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जो दिव्य की प्राप्ति में बाधक हो। योग के लिए पूर्ण समर्पण चाहिए। योग के बीच में कोई दूसरा विषय नहीं आना चाहिए। मन की इच्छाओं और प्राणिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर परिवार, मित्र और देश के प्रति भी आसक्ति का भाव छोड़ देना चाहिए।

अपरिग्रह तथा अनासक्ति

साधक को अपनी आवश्यकतायें कम से कम कर देनी चाहिए। जीवन में वास्तविक आवश्यकतायें बहुत ही कम होती हैं, शेष पदार्थों को हम विलासिता के लिए अनावश्यक रूप से इकट्ठा करते हैं। इन पदार्थों के प्रति यदि रागभाव न हो और साधक इनसे प्रभावित न होता हो तो वह इनका भी उपयोग कर सकता है। किन्तु यदि इन चीजों के अभाव में वह दुःख का अनुभव करे तो इसका यह अर्थ है कि वह अभी इच्छाओं से मुक्त नहीं हुआ है। इन पदार्थों का उपयोग भी स्वार्थ के लिए नहीं अपितु दिव्य की प्राप्ति के लिए करना चाहिए।

इसी प्रकार निर्धनता को साधना का अंग नहीं मानना चाहिए। सम्पदा को अनुचित हाथों में जाने से रोकना चाहिए। साधक को न धन के प्रति आसक्ति

का भाव रखना चाहिए, न विकर्षण का। उसे धन को दिव्य की प्राप्ति का साधन समझना चाहिए।[1] इस प्रकार साधक गरीबी में भी उतना ही प्रसन्न रह सकता है जितना अमीरी में, किन्तु उसे अमीरी की आदतों का गुलाम नहीं हो जाना चाहिए।[2]

साधक को स्वादिष्ट भोजन से परहेज नहीं करना चाहिए किन्तु उसे स्वाद का दास भी नहीं होना चाहिए। उसे प्रत्येक स्थिति में समभाव रखना चाहिए। आहार का प्रयोजन शरीर की स्थिति को बनाये रखना है। इसके लिए उसे गीता के इस आदर्श का पालन करना चाहिए—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु,
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

साधक को यह मानना चाहिए कि भोजन उसमें स्थित दिव्य को दिया जा रहा है। इस प्रकार भोजन भी साधना का भाग हो जाता है। भोजन में स्वास्थ्य की दृष्टि मुख्य है। श्री अरविन्द ने आहार के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किये।

निद्रा

साधक उचित मात्रा में नींद ले किन्तु जागरूकता का भाव सदा बना रहना चाहिए। अनिद्रा मस्तिष्क को कमजोर करती है। रात के समय नींद आवश्यक है। नींद में भी सचेत रहने का अभ्यास करना चाहिए। श्री अरविन्द के अनुसार नींद में भी अभ्यास के द्वारा साधना बनी रह सकती है। किन्तु नींद में जागरूकता बनाये रखने का प्रारम्भ जागृत अवस्था में जागरूकता बनाये रखने से करना चाहिए।

सेक्स

आहार और निद्रा के बाद सेक्स का स्थान आता है। श्री अरविन्द का मानना था कि सेक्स का भोग पतन का कारण है। इसलिए सेक्स पर नियन्त्रण करना

चाहिए क्योंकि उसके बिना निम्न प्रवृतियों पर नियंत्रण नहीं हो सकता। जब तक सेक्स की कामना है, दिव्य का अवतरण खतरनाक सिद्ध हो सकता है क्योंकि साधक दिव्य से प्राप्त होने वाली शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है।

श्री अरविन्द के अनुसार सेक्स के उदात्तीकरण का सिद्धान्त भी खतरनाक है। जिन परम्पराओं में सेक्स को दिव्यता की प्राप्ति के रूप में उदात्त करने की बात की गयी, वे परम्परायें अनैतिकता में लिप्त हो गयीं। प्रेम और सेक्स में बहुत भेद है। सेक्स में द्वैत रहता है, न कि अद्वैत। वासना के साथ प्रेम का समन्वय नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रेम में सेक्स का अंश नहीं होता। वासना योग के लक्ष्य से च्युत कर देती है। सेक्स की शक्ति शारीरिक, मानसिक और प्राणिक गतिविधियों का आधार है। अतः इसका परिवर्तन आवश्यक है। अतिमानस प्रकाश, शक्ति और आनन्द को केन्द्र में लाकर ही ऐसा किया जा सकता है। कई बार ऐसा मान लिया जाता है कि अतिमानस स्थिति में मनोकामना की पूर्ति हो जायेगी तथा प्राणिक आवश्यकतायें और शारीरिक सुखभोग अधिक मात्रा में लम्बे समय तक प्राप्त होते रहेंगे। किन्तु यह एक भ्रान्ति है। अतिमानस स्थिति का उद्देश्य पाशविक और मानसिक प्रकृति की तृप्ति नहीं अपितु उसका रूपान्तरण है।

साधक को प्रथम तो साधना में अपना मन लगाना चाहिए क्योंकि जैसे जैसे उच्चतर चेतना जागेगी वैसे वैसे सेक्स का केन्द्र कमजोर होगा। दूसरे साधक को नींद के समय में अधिक जागरूकता बरतनी चाहिए और सचेत रहना चाहिए। तीसरे उसे नींद में जाने से पहले शरीर को यह सुझाव देना चाहिए कि किसी प्रकार की सेक्स सम्बन्धी अशुद्धि न आये। इन प्रयत्नों से साधक शनैः शनैः अधिक शक्तिशाली हो जायेगा और उसका सेक्स के प्रति आकर्षण लुप्त हो जायेगा।

साधक के सम्बन्ध

साधक का पूरा जीवन दिव्य पर केन्द्रित होना चाहिए। उसे सभी से सम्बन्ध दिव्य को केन्द्र में रखकर बनाने चाहिए। उसके प्राण अध्यात्म की प्राप्ति के निमित्त मात्र बनने चाहिए। ईर्ष्या, संघर्ष, घृणा, विकर्षण और विवाद के स्थान पर सामञ्जस्य, शुभकामना, सहिष्णुता और समता को स्थान मिलना चाहिए। इसके

आधार पर दूसरों से सम्बन्ध बनाने के लिए दिव्य का ही अनुसरण करना चाहिए और यह समझना चाहिए कि यदि एक बार दिव्य की उपलब्धि हो जाये तो सभी सम्बन्ध सत्य रूप में प्राप्त करने सरल हो जाते हैं क्योंकि दिव्य की प्राप्ति के बाद औरों के साथ हार्दिक और मानसिक एकता स्वतः स्थापित हो जाती है। दूसरा मार्ग यह है कि मुख्य रूप से दिव्य की उपलब्धि का प्रयत्न किया जाये और शेष सभी को गौण कर दिया जाये। इस प्रकार शनैः शनैः सभी सम्बन्ध रूपान्तरित हो जाते हैं और जैसे जैसे आन्तरिक पवित्रता उपलब्ध होती है वैसे वैसे सेक्स की मलिनता, ईर्ष्या, क्रोध और अहंकारपूर्ण माँगे समाप्त होती चली जाती हैं और स्वयं की आत्मा का सम्बन्ध दूसरों की आत्मा से जुड़ जाता है।

जो साधक नहीं हैं उनके साथ निकटता का भाव बनाये रखना दिव्य चेतना का ही एक अंश है किन्तु उनके साथ आध्यात्मिक रूप से सहानुभूति बनाये रखने पर भी उनका सम्बन्ध आध्यात्मिक तरक्की में बाधक नहीं होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो उस सम्बन्ध को समाप्त कर देना चाहिए। साधक का परिवार के साथ रागात्मक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार परिवार के सारे सम्बन्ध सामाजिक हैं, आध्यात्मिक नहीं। साधक और साधिका के बीच सम्बन्ध के कारण सेक्स का खतरा हो सकता है। साधक और साधिका को स्त्री और पुरुष की तरह नहीं अपितु साधक की तरह ही परस्पर मिलना चाहिए।

साधक सबसे मिलजुल सकता है किन्तु इसके कारण प्राणिक स्तर पर भावनायें नहीं उभरनी चाहिए। दूसरों से सम्बन्ध बनाये बिना न तो आध्यात्मिक विकास का विस्तार हो सकता है और न स्वयं के आध्यात्मिक विकास की परीक्षा हो सकती है। निरर्थक बातचीत करना आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है।

मध्यम मार्ग

साधक को न तो नितान्त मौन ही रहना चाहिए और न बहुत अधिक बोलना चाहिए। यदि वह नितान्त मौन रहेगा तो दूसरों से कट जायेगा और यदि व्यर्थ बात करेगा तो उसकी चेतना नीचे चली जायेगी। इसलिए उसे वाणी का सम्यक् और आवश्यक प्रयोग ही करना चाहिए। उसे बिना विचार किये नहीं बोलना

चाहिए। बोलने का प्रयोजन दूसरों की सहायता करना है अतः वादविवाद में नहीं पडना चाहिए। यह भी आग्रह नहीं करना चाहिए कि वह ही सत्य है और दूसरे गलत हैं। उसका उद्देश्य सत्य की खोज में योगदान होना चाहिए। यदि दूसरे उत्तेजित भी हों तो भी उसे शान्त रहना चाहिए उसे दूसरों को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।

उसे सच ही बोलना चाहिए किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह सभी को सभी कुछ बताये क्योंकि सभी सत्य को जानने के अधिकारी नहीं होते। किन्तु झूठ नहीं बोलना चाहिए। साधक को आवश्यक और सत्य ही बोलना चाहिए, झूठ नहीं और दूसरों को धोखा देना उसका प्रयोजन कदापि नहीं होना चाहिए।

---

1. To reconquer it for the Divine to whom it belongs and use it divinely for the divine life is the supramental way for the Sadhaka. —*The Mother with Letter on the Mother, Page No.* 10

2. The divine Will is all for him and the divine Ananda. —*The Mother with Letter on the Mother, Page No.* 11

आध्यात्मिक अनुभव तथा प्रतीकों का रहस्यार्थ

ब्राह्मी स्थिति

योग के क्षेत्र में साधक को प्रतीति में आने वाला सब कुछ आध्यात्मिक अनुभव ही माना जाता है। इस अनुभव के दो पक्ष मुख्य हैं– महसूस करना और देखना। किन्तु श्रवण और स्पर्श भी अनुभव का ही अंग हैं। ये सभी अनुभव आनन्दप्रद हों, ये आवश्यक नहीं है। योग में अनुभव साधक को उत्साहित करते हैं किन्तु ऐसे अनुभव जाग्रत अवस्था में होने चाहिए। ऐसे अनुभवों का चरमोत्कर्ष यह है कि साधक जाग्रत अवस्था में ब्राह्मीस्थिति का अनुभव करे। प्रारम्भ में कोई भी अनुभव असामान्य प्रतीत होता है किन्तु जब इसकी बारबार आवृत्ति होती है तो साधक इससे परिचित हो जाता है और उसे यह सामान्य लगता है। ऐसा होने पर इस अनुभव को साक्षात्कार कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि अनुभव साक्षात्कार की प्रारम्भिक स्थिति है।

योग का अहोरात्र

योग में उतार चढ़ाव आते रहते हैं। इस कारण कभी अनुभव होता है और कभी नहीं। इसे वैदिक ऋषि अहोरात्र कहते हैं। योग में रात्रि का अर्थ यह नहीं है कि साधक योग्य नहीं है। इसलिए साधक को अनुभवों के अभाव में भी विचलित नहीं होना चाहिए। अनुभव का अभाव तब होता है जब साधक शारीरिक चेतना में होता है क्योंकि शारीरिक चेतना व्यक्ति को आलस्य में डाल देती है और वह उच्चतर चेतना से दूर चला जाता है। शारीरिक चेतना साधक को सामान्य आदतों में ढकेल देती है और उसे अनुभवों की स्थिति में नहीं आने देती।

धैर्य की आवश्यकता

अनुभव क्रमशः एक के बाद एक होते हैं। एक अनुभव और दूसरे अनुभव के बीच में बहुत सा समय खाली रहता है किन्तु धीरे धीरे यह अन्तराल कम होता जाता है। इसलिए साधक को धैर्य रखना चाहिए। प्रारम्भ में थोड़ा सा अनुभव भी महत्त्वपूर्ण है। कई बार साधक को प्रारम्भ में सघन अनुभव होता है किन्तु बाद में अनुभव होना बन्द हो जाता है। किन्तु हर स्थिति में साधक को धैर्य रखना चाहिए। अनुभव प्राप्त करना साधक के अपने बस की बात नहीं है। यह दिव्य की इच्छा पर है। अतः साधक को उस पर विश्वास करना चाहिए। यदि अनुभव नहीं हो रहा है तो इसका यह अर्थ है कि साधक को अभी किसी कमी को पूरा करना है और यदि अभीप्सा सच्ची है तो वह कमी पूरी होती जाती है। वस्तुतः साधक को अनुभव की अपेक्षा न करते हुए केवल दिव्य पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रकार उसे सकारात्मक अनुभव ही होंगे न कि नकारात्मक। भौतिक और सूक्ष्म के बीच की दीवार हटाने से सदा ही अनुभव हो सकता है, किन्तु साधक को उसकी कामना नहीं करनी चाहिए क्योंकि अनुभव साधना की सफलता का मानदण्ड नहीं है। साधना का उद्देश्य साक्षात्कार है। इसलिए प्रयास पूर्वक अनुभव की इच्छा नहीं करनी चाहिए। प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किये गये अनुभव के परिणाम सुखद नहीं होते; अपेक्षाकृत क्रमशः शनैःशनैः सहज विकास का मार्ग अपनाना चाहिए।

नैतिकता

साधक को विवेक, पवित्रता, शान्ति, समता, धैर्य, निरहंकार और उदारता के साथ समर्पण और भक्ति की कामना करनी चाहिए। क्योंकि इसी प्रकार साधक प्रकाश, शक्ति और अतीन्द्रिय अनुभवों को सहन कर पायेगा। अतः हृदय और मन के पवित्र हुए बिना अनुभवों का होना अभीष्ट नहीं है। पवित्रता के बिना अनुभव खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। विरोधी शक्तियाँ साधना में बाधा डालने में तत्पर रहती हैं और यदि पवित्रता न हो तो वे सफल हो जाती हैं। इस खतरे से बचने के लिए चैत्यपुरुषीय परिवर्तन आवश्यक है। उच्चतर चेतना को साधक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में अवतीर्ण होना चाहिए अर्थात् उसे भौतिक तथा अवचेतन को भी समाहित करना चाहिए।

साधक को अपने अनुभव अपने मार्गदर्शक के अतिरिक्त और किसी को नहीं बताने चाहिए क्योंकि दूसरों को बताने से वे अनुभव लुप्त हो सकते हैं। किन्तु यदि उन अनुभवों का दूसरों को लाभ हो सके तो ही उन्हें बताना चाहिए।

अनुभव के प्रकार

ये अनुभव चेतना, शक्ति और आनन्द के हो सकते हैं। इन्हें सूक्ष्म स्तर, आध्यात्मिक स्तर और अतिमानस स्तर पर अनुभव किया जा सकता है। ये अनुभव प्रकाश, रंग, प्रतीक और शक्ति के हो सकते हैं। इनके नाना प्रकार होते हैं।

प्रकाश का अनुभव

एक अनुभव प्रकाश का है किन्तु इसके लिए मन का शान्त होना आवश्यक नहीं है। दोनों भ्रुवों के मध्य मस्तक पर जो केन्द्र है उसके खुलने से यह अनुभव हो सकता है। प्रकाश का यह अनुभव साधना के प्रारम्भ में भी हो सकता है और देर से भी हो सकता है। प्रकाश का यह अनुभव यदि बाहर हो तो वह प्रकाश की शक्ति का स्पर्श होता है और यदि यह अनुभव अन्दर की तरफ हो तो प्रकृति में स्थापित हो जाता है, यदि यह ऊपर की ओर हो तो मन पर शक्ति के अवतरण का बोध कराता है, और यदि साधक के चारों ओर हो तो सर्वतोमुख प्रभाव को संकेतित करता है। धवल प्रकाश का अनुभव मातृशक्ति के प्रकाश का अनुभव है जिसमें सभी अनुभव समाहित हैं।

रंगों का अनुभव

प्रकाश के साथ रंगों का अनुभव भी जुड़ा है। प्रकाश गतिशील है और रंगों से श्रद्धा, प्रेम और सुरक्षा की सूचना मिलती है। उनके द्वारा कृष्ण, महाकाली, राधा और दूसरी दिव्यशक्तियों की भी सूचना मिलती है। रंगों के बीच सूक्ष्म भेद करना आवश्यक है। उदाहरणतः पीत और स्वर्ण वर्ण में सूक्ष्म भेद है। इसके अतिरिक्त एक ही वर्ण की विभिन्न स्थितियाँ भिन्न भिन्न सूचना देती हैं। उदाहरणतः

गहरा नीला रंग, उच्चतर मन का सूचक है जबकि हल्का नीला आलोकित मन का, लेवेण्डर, नीला अन्तर्दृष्टि का तथा हीरक नीला- अधिमन का सूचक है और यह कृष्ण के प्रकाश को बताता है। पीतवर्ण मन के प्रकाश को बताता है जो धीरे धीरे स्वर्णिम प्रकाश हो जाता है जो अतिमन का सूचक है। स्वर्णिम रक्त वर्ण अतिमानस भौतिक प्रकाश का वर्ण है, गहरा लाल दिव्य प्रेम को बताता है, गुलाबी रंग चैत्यपुरुषीय प्रेम को बताता है, क्रीम रंग प्राणिक प्रेम को बताता है, हरे से भावना की शक्ति की सूचना मिलती है जिससे पवित्रता, समन्वय और समाधान होता है, गहरा स्वर्णिम रंग अतिमानस की स्थिति का सूचक है और नीला तथा स्वर्णिम रंग मिलकर कृष्ण और दुर्गा या महाकाली को बताते है। जब रंग निश्चित रूप धारण कर लेते हैं तो इसका यह अर्थ है कि कोई गतिशील कार्यप्रणाली काम कर रही है। श्री अरविन्द का कहना है कि वर्गाकार का अर्थ है कि सर्जन की प्रक्रिया चल रही है। आयत का अर्थ प्रारम्भिक और आंशिक स्थिति है। रंगों की तरंगों का अर्थ यह है कि शक्ति गतिशील है और तारों का अर्थ किन्हीं नये रूपों का प्रारम्भ होना है।

अनुभव में प्रतीक

प्रकाश और रंगों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न प्रतीकों का भी अनुभव हो सकता है। अग्नि, आलोक, सूर्य, चन्द्र और सितारे जैसे अनुभवों का उल्लेख उपनिषदों में है। अग्नि में सभी वर्णों का समावेश रहता है। श्वेतवर्ण अग्नि अभीप्सा को, रक्तवर्ण त्याग को और नीलवर्ण आध्यात्मिक ज्ञान को बताती है। प्रकाश से चेतना के आलोकित होने की सूचना मिलती है। सूर्य अतिमानस का प्रतीक है किन्तु यदि यह दूसरे स्तरों पर आता है तो यह अतिमानस नहीं होता किन्तु केवल सत्य के प्रकाश का सूचक होता है। सूर्य के वर्ण से यह पता चलता है कि यह किस स्तर पर है। चन्द्रमा से आध्यात्मिक चेतना की प्रतीति होती है। सूर्य और चन्द्र के बीच अन्तर यह है कि सूर्य सत्य का प्रकाश है जबकि चन्द्रमा सत्य के प्रकाश का केवल प्रतिबिम्ब है। तारों से प्रकाश के आने की सूचना मिलती है। यह बाद में सूर्य में परिणत हो जाता है।

सात चक्र

श्री अरविन्द ने सात चक्रों का भी उल्लेख किया है—

१. अतिमानस का प्रथम अवतरण सहस्रदल चक्र में है जिसका अर्थ अतिमानस, सत्य, ज्ञान और शक्ति का सूर्य है जो अतिमानस सृष्टि करता है।

२. दूसरा अवतरण आज्ञाचक्र में है जो दो भ्रुवों के बीच का केन्द्र है। इसका अर्थ अतिमानस प्रकाश और इच्छाशक्ति का सूर्य है जो ज्ञानशक्ति को गतिशील बनाकर अन्तर्दृष्टि देता है और अतिमानस सृष्टि करता है।

३. तृतीय अवतरण कण्ठ में है जो अतिमानस शब्द का सूर्य है जो ज्ञानशक्ति को अभिव्यक्ति की सामर्थ्य देता है।

४. चौथा अवतरण हृत्कमल में है जो अतिमानस प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द का सूर्य है और जो अतिमानस सृष्टि में तालमेल बनाता है।

५. पाँचवा अवतरण नाभि के केन्द्र में है जो अतिमानस शक्ति का सूर्य है तथा जो जीवन के स्रोत को गतिशील बनाता है और जो अतिमानस सृष्टि का आधार है।

६. छठा अवतरण उपान्त्य केन्द्र में है जो जीवन रश्मियों का सूर्य है और ठोस आकृतियाँ बनाता है।

७. सातवां अवतरण मूलाधार में है जो अतिमानस ऊर्जा के पदार्थ और आकृति का सूर्य है और अतिमानस जीवन को आकार देता है और सृष्टि को स्थिर बनाता है।

प्रतीकों का अर्थ

आध्यात्मिक जीवन में बिन्दु के अनुभव का भी बहुत महत्व है। श्री अरविन्द का कथन है कि यह अनन्त का प्रतीक है। यद्यपि यह लघुतम है तथापि वैश्विक

है। घण्टियों की आवाज, प्रकाश का दिखना और रंग अन्तश्चेतना के खुलने का प्रतीक है। इसी प्रकार कमल से प्रकाश के केन्द्र के खुलने की, बालक से चैत्यपुरुषीय की, गुलाबी रंग के गुलाब से चैत्यपुरुषीय प्रेम और समर्पण की और श्वेत गुलाब से शुद्ध आध्यात्मिक समर्पण की सूचना मिलती है। आकाश, अनन्त, सर्वव्यापक नित्य ब्रह्म का प्रतीक है। संतरा रहस्यात्मक शक्तियों का प्रतीक है, इन्द्रधनुष शान्ति और मोक्ष का, वर्षा कृपा के अवतरण का, मेघ अस्पष्टता का, पक्षी आत्मा का, पुष्प चेतना के विकास का, लाल पुष्प चेतना के खुलने का, दूध दिव्य चेतना से ज्ञान और शक्ति के अवतरण का, मकान जीवनशक्ति का, श्वेत बछड़ा या गाय शुद्ध चेतना का, हाथी शक्ति का, सिंह पराक्रम और साहस का, भयानक चीता विरोधी शक्तियों का, बैल शक्ति का, भैंस अस्पष्ट प्राणिक शक्तियों का, बकरी वासना का, कुत्ता भक्ति और आज्ञाकारिता का, हिरण आध्यात्मिक प्रगति का, हनुमान पूर्ण भक्ति का, सर्प प्रायः खराब किन्तु कभी कभी दिव्यशक्ति का, सर्प का फण ऊर्जा की विजय का, फण सहित सर्प भविष्य में होने वाली सिद्धि का, कमल प्रकाश के केन्द्र के उद्घाटन का, हंस जीवात्मा का, छः फणों के साथ सर्प कुण्डलिनी शक्ति का, मोर विजय का, बगुला सुख का, पिरामिड अभीप्सा का, क्रॉस विश्वोत्तीर्ण वैश्विक और व्यष्टि का, सुदर्शनचक्र कृष्ण की शक्ति का, यान प्रगति का, पर्वत उच्चतर चेतना के अवतरण का, यात्रा एक चेतना से दूसरी चेतना में जाने का, समुद्र के ऊपर सूर्य सत्य के द्वारा आलोकित चेतना का, उषा किसी चीज के आने का, रात्रि अज्ञान का और नदी चेतना की गति का प्रतीक है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अनुभवों के अतिरिक्त साधक को शक्तियों का अनुभव भी होता है। इनकी प्राप्ति का साधक प्रयत्न नहीं करता किन्तु ये स्वतः आती हैं। किन्तु इन शक्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनका प्रयोग साधक को अहंकारी बना सकता है। वस्तुतः शक्तियों को प्राप्त करना योग का उद्देश्य भी नहीं है; योग का उद्देश्य मन, प्राण और शरीर में दिव्य चेतना को लाकर उनका रूपान्तरण करना है।

अध्यात्म के क्षेत्र में अन्दर और बाहर दर्शन भी होता है। कभी कभी ये दर्शन स्वतः भी होता रहता है। इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ये योग में बहुत महत्त्व का है। इससे यह सूचित होता है कि चेतना उद्घाटित हो रही है और इसकी उपेक्षा करने से चेतना का विकास बाधित हो जाता है। अन्तर्दृष्टि चेतना के उच्च स्तर को उद्घाटित करती है। दर्शन प्रायः सूक्ष्म, भौतिक, प्राणिक, मानसिक या चैत्यपुरुषीय स्तर से आते हैं। यदि ये आध्यात्मिक स्तर से आते हैं तो वे दिव्य होते हैं; उदाहरणतः आत्मदर्शन अथवा सब में दिव्य का दर्शन।

दर्शन व्यक्तिनिष्ठ भी होता है और वस्तुनिष्ठ भी। व्यक्तिनिष्ठ दर्शन भी वस्तुनिष्ठ की भाँति वास्तविक और विविध होता है। किन्तु वस्तुनिष्ठ दर्शन बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध में होता है जबकि वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध सूक्ष्म स्तर पर होता है। आन्तरिक दर्शन भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों के बारे में हो सकता है। किन्तु यदि मानसिक कल्पनाओं द्वारा कुछ संरचना की जाये तो वह वास्तविक नहीं होती।

कुछ दर्शन और ध्वनियाँ मिथ्या भी हो सकती हैं। इसलिए सत्य और मिथ्या के बीच भेद करना चाहिए। इस सम्बन्ध में अनुभवी लोगों से मार्गदर्शन लेना चाहिए। यह आशा नहीं करनी चाहिए कि हर दर्शन भौतिक स्तर पर भी अपना कार्य करेगा। अधिकतर दर्शन स्फुलिंगरहित आलोक के रूप में प्रकट होता है। वह तारों के रूप में भी हो सकता है। इन अनुभवों के पीछे वह समस्त संसार छिपा रहता है जो भौतिक चेतना और दिव्य चेतना के बीच का अन्तराल होता है। इस प्रकार के दर्शन का स्वतः ही विकास होता रहता है और अस्पष्ट स्पष्ट होता जाता है और अपूर्ण पूर्ण होता रहता है।

पूर्णयोग

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुनः।

—श्रीमद्भगवद्गीता ६.४६

गीता के इस वक्तव्य से योग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि योगी तपस्वी से भी बड़ा है, ज्ञानी से भी बड़ा है और कर्मठ से भी बड़ा है। वस्तुतः योग अध्यात्म का हृदय है; अन्य सभी पद्धतियाँ केवल साधन हैं जो व्यक्ति को योग के लिए तैयार करती है। प्रसिद्ध साधकों को सिद्धि योग के द्वारा ही प्राप्त हुई। अन्य साधनों का भी महत्त्व है किन्तु चेतना के रूपान्तरण में योग का असाधारण महत्त्व है।

युज्धातु से योग

योग का अर्थ है जुड़ना। यह संस्कृत के युज् धातु से बना है। यह धातु अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध है उदाहरणतः Dutch में juk, German में jugum. योग मनुष्य की चेतना को किसी उच्चतर शाश्वत दिव्य से जोड़ता है। विभक्त करने वाले मन के अज्ञान के कारण मनुष्य अपने पारमार्थिक स्रोत से टूटा रहता है। वह ऐसा समझता है कि अनेक पृथक् पृथक् व्यक्ति और पदार्थों के बीच वह भी एक पृथक् व्यक्ति है; उसका अपना जीवन ही उसकी चिन्ता का विषय है, उसके विचार उसके अपने मन से उत्पन्न होते हैं और उसके अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से उसे सफलता या असफलता मिलती है। उसका यह अज्ञान उसे विश्व की एकता से पृथक् कर देता है और जब तक वह अपने अहंकार में रहता है, तब तक वह अमृतत्व, स्वतंत्रता और सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

बुद्धिविलास व्यर्थ है

मनुष्य का बौद्धिक विकास होते रहने के बावजूद अपनी सीमाओं में बँधा रहने के कारण वह अनन्त की ओर नहीं जा पाता और वह अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में ही जीवन खपा देता है। योग के बिना दर्शन बुद्धि विलास मात्र बनकर रह जाता है या मनुष्य सामाजिक प्रेरणाओं से संचालित होता रहता है। बुद्धिविलास तो जीवन से नहीं जुड़ता और सामाजिक जीवन किसी उच्चतर लक्ष्य की ओर नहीं ले जाता। ऐसा मनुष्य उपयोगितावाद से ही प्रेरित होता है। वह भौतिकवादी जीवन जीता है। जब तक साधक अन्तर्मुख न हो और अनन्त तथा शाश्वत की ओर अग्रसर न हो तब तक उसका मोक्ष नहीं होता। यह योग के द्वारा ही हो सकता है।

योगी की व्यापकता

साधक को उस अज्ञान से ऊपर उठना होता है जिसका उल्लेख हमने पहले किया है। इस अज्ञान के कारण साधक अपने में ही सिमट कर रह जाता है।[1] यह अज्ञान अनन्त और वैश्विक चेतना से अपने को पृथक् मान लेने के कारण उत्पन्न होता है और इसे दूर करने का उपाय योग है जो साधक को उस वैश्विक चेतना से जोड़ सकता है। इस योग का सम्बन्ध उस नैतिकता से या कर्मकाण्ड से नहीं है जो मानसिक चेतना के ही अंग हैं। योग का लक्ष्य अनन्त के साथ जुड़ जाना है; जब तक साधक सतही स्तर से ऊपर उठकर इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न न करे तब तक योग का प्रारम्भ नहीं होता। योग साधक को मन की संकीर्णता से, रूढ़ अनुष्ठानों से और प्राणिक व्यवहार से मुक्त करता है। योग का मार्ग तर्कातीत है और शुभ तथा अशुभ के द्वन्द्व से मुक्त है। जब तक मनुष्य अपने संकीर्ण स्वार्थ और अहंकार से मुक्त न हो जाये तब तक योग का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। योगी के मार्ग में अनेक बाधायें उसी प्रकार आती हैं जिस प्रकार सांसारिक जीवन में अनेकानेक कठिनाइयाँ आती हैं। मनुष्य भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन कठिनाइयों को सहन करता है उसी प्रकार योग के मार्ग में उससे भी अधिक तपस्या की आवश्यकता है। श्री अरविन्द का कहना है कि

साधक को योग के मार्ग में दिव्य की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।[2]

योग का सामर्थ्य

योग का उद्देश्य चामत्कारिक सिद्धि प्राप्त करना नहीं है। वस्तुतः योग अहंकार और इच्छाओं पर विजय पाने का मार्ग है। श्री अरविन्द का लक्ष्य दिव्य जीवन है और उसकी प्राप्ति का एकमात्र मार्ग योग है। योग के अनेक प्रकार है और उनमें से प्रत्येक प्रकार का योग किसी एक पक्ष पर बल देता है। किन्तु श्री अरविन्द का पूर्णयोग सम्पूर्ण रूपान्तरण का लक्ष्य लेकर चलता है। वस्तुतः योग प्रकृति में निरन्तर चल रहा है। किन्तु प्रकृति में स्वतः चलने वाला योग बहुत धीमा है। साधक अपने पुरुषार्थ से इस गति को तेज बना देता है। क्योंकि योगी प्रकृति पर ही नहीं अपितु प्रकृति के स्वामी पर निर्भर करता है अतः वह आलौकिक प्रकाश और शक्ति को प्राप्त कर सकता है।[3] वस्तुतः प्रकृति और प्रकृति के स्वामी के बीच अहंकार एक दीवार बना देता है जिसके कारण व्यक्ति अखण्ड से जुड़ नहीं पाता। इस अहंकार के कारण जो प्रगति धीमी गति से होती है, योग का उद्देश्य उस प्रगति को तेज कर देना है। जो प्रगति सहज गति से अनेक जन्मों में होती है योग उसे थोड़े ही समय में एक ही जीवन में कर देता है। वर्तमान में जहाँ एक ओर पाशविक वृत्तियाँ अपना सिर उठा रही हैं वहाँ दूसरी ओर एक धुँधली सी इच्छा परिवर्तन की भी है। इन दोनों वृत्तियों के बीच संघर्ष चल रहा है। (मजहब, नैतिकता, समाज और राजनीति कोई परिवर्तन लाने में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर पाती हैं। ऐसी स्थिति में योग ही परिवर्तन ला सकता है।)

आदतें छूटें

योग एक प्रकार का पुनर्जन्म है जिसमें मनुष्य मानसिक और भौतिक जीवन से उठकर आध्यात्मिक चेतना में जाता है। जब तक मनुष्य निम्नतर स्तर से उठकर अध्यात्म में जाने को तैयार न हो तब तक योग का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। वस्तुतः हमारी आदत इस प्रकार के प्रयत्न के विरोध में है। हमारी आदतें मानसिक, स्नायविक और भौतिक स्तर पर अनेक प्रकार की इच्छाओं

और विचार को जन्म देती हैं। मनुष्य उन्हीं इच्छाओं और विचारों का समूह है; इस स्तर से ऊपर उठने के लिए योग ही एकमात्र साधन है।[4] श्री अरविन्द का कहना है कि मनुष्य जाति की नियति यह है कि वह अन्ततोगत्वा योग के द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगी।

योग की पुरानी पद्धतियाँ

भारत में योग के अनेक प्रकार अतीत में प्रचलित रहे हैं। हमें अतीत के उन प्रयोगों से लाभ तो उठाना चाहिए किन्तु उनसे चिपके नहीं रहना चाहिए। वस्तुतः मनुष्य जाति निरन्तर विकास करती है और विकास के इस क्रम में अतीत के अनावश्यक तत्त्व छूट जाते हैं और आवश्यक तत्त्व ही सार के रूप में बचते हैं। अतीत में जो योग की प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं उनका इसी रूप में मूल्यांकन होना चाहिए।

हठयोग और शरीर

योग का सबसे अधिक प्रचलित प्रकार हठयोग है जिसके आसन और प्राणायाम दो अंग हैं। आसन का आधार यह है कि शरीर अध्यात्म की ओर जाने का एक मुख्य साधन है। यदि शरीर को ठीक से साधा जाये तो वह आत्मा को भौतिकता की कैद से मुक्त कर सकता है। शरीर एक मिट्टी का ढेला मात्र नहीं है, अपितु शक्ति का पुंज है। हठयोग का सम्बन्ध कुण्डलिनी के जागरण से भी जोड़ा जाता है। प्राणायाम के द्वारा सारा स्नायु मण्डल शुद्ध होता है और शक्ति का संचार होता है। वस्तुतः हठयोग का उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार है; इसे केवल स्वास्थ्य प्राप्त करने का साधन मान लेना ठीक नहीं है। इसे चमत्कार का साधन तो बिल्कुल भी नहीं बनाना चाहिए।

राजयोग का स्वरूप

हठयोग शरीर और प्राण को साधन बनाते हैं। जबकि राजयोग मन को साधन बनाता है। राजयोग में यम और नियम का महत्त्व है। यम और नियम मानसिक अनुशासन है जिनके द्वारा इच्छाओं और वासनाओं पर नियंत्रण किया जाता

है। राजयोग में यम और नियम के अतिरिक्त ध्यान का महत्त्व है। ध्यान का उद्देश्य मन की चंचलता को समाप्त करना है। ध्यान की प्रक्रिया में आसन और प्राणायाम का भी यह योगदान है कि वह शरीर की चंचलता को शान्त करते हैं और स्नायु मण्डल को पवित्र करते हैं। पूर्णयोग में हठयोग और राजयोग का समावेश इस रूप में है कि वे शरीर, प्राण और मन को निर्मल बनाते हैं।

कर्मयोग

मनुष्य की तीन शक्तियाँ हैं— इच्छा, ज्ञान और प्रेम। इच्छा का सम्बन्ध कर्मयोग से है, ज्ञान का अपना स्वतन्त्र ज्ञान योग है और प्रेम का सम्बन्ध भक्तियोग से है। कर्मयोग के अन्तर्गत साधक अपने सभी कर्मों को दिव्य के प्रति समर्पित कर देता है और अहंकार से मुक्त हो जाता है। कर्मयोग साधक को इच्छाओं से मुक्त करने का साधन है। कर्मयोग के अन्तर्गत जहाँ एक ओर साधक तामसिक निष्क्रियता से बचता है वहाँ दूसरी ओर इच्छाओं के प्रवाह में भी नहीं बहता। इस प्रकार कर्मयोग अहंकार की ग्रन्थि को खोलता है। कर्मयोगी सङ्कीर्ण अहङ्कार की चेतना से ऊपर उठकर ईश्वरीय चेतना में रहता है। वह सुख और दुःख में समान रहता है। उसका उद्देश्य व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं है अपितु सत्य का अनुसरण है। दिव्य की इच्छा के अनुसार होने वाली घटनाओं को वह तटस्थ भाव से देखता है। संक्षेप में वह अपने आप को दिव्य से जोड़ लेता है।

ज्ञान योग

ज्ञान योग के अन्तर्गत साधक दिव्य पर अपने विचारों को केन्द्रित करता है। उसके ध्यान का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म है। वह ब्रह्म और संसार में भेद करता है। ऐसा भेद सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष के बीच किया गया है। वेदान्त में संसार को माया या स्वप्न माना गया है। गीता में सांख्य और वेदान्त दोनों का उपयोग किया गया है। सांख्य हो या वेदान्त दोनों ही स्थितियों में साधक को अपने आपको इन्द्रिय, मन और शरीर से भिन्न समझना होता है, ज्ञानयोग में साधक अपने आपको साक्षी और द्रष्टा ही मानता है, कर्ता या भोक्ता नहीं। कर्तृत्व और भोक्तृत्व प्रकृति में है, आत्मा में नहीं।

भक्तियोग

भक्तियोग में साधक का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म नहीं होता अपितु प्रेम और सौन्दर्य से परिपूर्ण प्रभु होता है। भक्ति निर्वैयक्तिक नहीं होती अपितु उसका केन्द्र पुरुषोत्तम होता है। भक्ति में तर्क की अपेक्षा श्रद्धा का महत्व है। भक्त प्रेमी के रूप में ईश्वर से प्रेम करता है किन्तु ज्ञानी के समान अपने अस्तित्व को खो नहीं देता। वह प्रकाश और शक्ति की अपेक्षा प्रेम और आनन्द की अभीप्सा करता है।

समन्वय

गीता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। ज्ञानयोग में एक नीरसता है किन्तु आनन्द का स्थान नहीं है, कर्मयोग में चित्शक्ति का स्थान है और भक्तियोग में आनन्द का स्थान है। इन तीनों के समन्वय से व्यक्ति का पूर्ण रूपान्तरण होता है। गीता सांख्ययोग से प्रारम्भ होती है और बुद्धि को साधन बनाती है। कभी कभी लगता है गीता के भाष्यकारों ने कर्म, ज्ञान और भक्ति को पृथक् पृथक् मार्ग बताया है। किन्तु श्री अरविन्द इन तीनों के संश्लेषण पर बल देते हैं। वे भगवत्कृपा पर अधिक बल देते हैं। श्री अरविन्द का योग क्योंकि अतिमानस का योग है इसलिए वह रूढ़ मार्गों से हटकर चलता है। विशेष बात यह है कि श्री अरविन्द के योग का उद्देश्य भौतिक रूपान्तरण भी है। इसलिए उसमें शरीर को भी महत्त्व दिया गया है। इस अर्थ में वह गीता का सहारा तो लेता ही है किन्तु उससे भी आगे जाने का प्रयत्न करता है।

प्राचीन काल में वेद और उपनिषद् में जिस समन्वितदृष्टि का प्रतिपादन था, परवर्तीकाल में वह दृष्टि खण्डित हो गयी। मानव के एक एक अंग ने अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा, जिसके परिणामस्वरूप योग में एकाङ्गिता आ गयी। गीता ने मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास का मार्ग प्रशस्त किया था और अपने समय के प्रचलित सभी मतों में सामञ्जस्य स्थापित किया था। जैसा सामञ्जस्य गीता में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र किसी दूसरे ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। गीता में सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, राजयोग और मन्त्रयोग

सभी को अपना उचित स्थान दिया गया है। विशेष रूप से अहङ्कार के अज्ञान से मुक्त करके मनुष्य को कर्म, ज्ञान और भक्ति का सन्देश गीता ने दिया जिसमें निर्वैयक्तिक को वैयक्तिक के साथ जोड़ा गया। कूटस्थ का गतिमत्ता के साथ समन्वय किया गया और स्थितप्रज्ञ का वह आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत किया गया, जिसे महात्मा गांधी ने भी अपनी दैनिक प्रार्थना का अंग बनाया।

संन्यास और नैतिकता

किन्तु गीता का यह आदर्श परवर्ती काल में अध्यात्म में स्थिर नहीं रह सका और दार्शनिक धाराओं में बँट गया। सबसे प्रथम नैतिक आन्दोलन ने जब अध्यात्म का स्थान लिया तो एक ओर संन्यास की निष्क्रियता आयी जिसमें भौतिक जीवन का निषेध हो गया क्योंकि नैतिक आन्दोलन के साथ ही नैतिकता के अतिक्रमण की भी बात आ गयी जो कभी-कभी निष्क्रियता की ओर ले गयी, और दूसरी ओर एक ऐसा अव्यावहारिक आदर्श हमारे सामने रखा गया जिसका जीवन से कोई तालमेल नहीं था। इस प्रवृत्ति की प्रक्रिया में एक ऐसा अध्यात्म का स्वरूप हमारे सामने आया जिसका उद्देश्य केवल परमार्थ की चिन्ता थी और जो संसार से सर्वथा विच्छिन्न था।

भक्ति आन्दोलन

संन्यास की इस निवृत्तिपरक नीरसता की प्रतिक्रिया में भक्ति का उदय हुआ क्योंकि मनुष्य केवल वैचारिक संसार में नहीं रह सकता, उसे कुछ ठोस चाहिए जिसे वह अनुभव कर सके और प्रत्यक्ष देख सके। मनुष्य की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भक्तिसम्प्रदाय का उदय हुआ जिसके अन्तर्गत साकार की उपासना को महत्त्व मिला। इस कारण अद्वैत के स्थान पर विशिष्टाद्वैत और द्वैत का दर्शन हमारे सामने आया। ठोस जीवन को केन्द्र में रखकर तंत्र ने विशेष प्रयत्न किया। ये सभी प्रयत्न एकाङ्गी सिद्ध हुए। निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर नारायण की स्थापना हुई और कृष्णसम्प्रदाय में भक्ति को महत्त्व दिया गया। भक्ति का एक स्वरूप श्री चैतन्य की परम्परा में प्रकट हुआ जिसमें आनन्द को सर्वोपरि स्थान मिला। अद्वैत में जिस सायुज्य की स्थापना है उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं

रहता और व्यष्टि समष्टि में खो जाता है। अद्वैत वेदान्त में जीव माया का भाग है और इसलिए उसका विलीन हो जाना ही अभीष्ट है किन्तु भक्ति में भक्त और भगवान् के बीच अंश और अंशी का भेद बना रहता है।

इस ज्ञान और भक्ति की धारा के अतिरिक्त एक धारा तंत्र की आयी जो हमारे जीवन के अन्धेरे पक्ष को छूती है। तंत्र का उद्देश्य कामना और वासना के बीच में से निकलकर दिव्यता को प्राप्त करना है। तंत्र का यह प्रयत्न बहुत साहसपूर्ण था किन्तु यह विशेष सफलता प्राप्त न कर सका। इतना अवश्य हुआ कि तंत्र ने उस भौतिकता की ओर आकृष्ट किया जिसको वैदिक काल में पूरा महत्त्व दिया गया था किन्तु जो बुद्ध और शंकर के समय में उपेक्षित सी हो गयी थी।

आधुनिक विज्ञान

ज्ञान, भक्ति और तंत्र की त्रिवेणी अभी बह ही रही थी कि पश्चिम के विज्ञान की धारा ने भौतिकवाद को एक नया रूप दे दिया। शंकर का मायावाद और भक्त का भावना प्रधान जीवन पश्चिम के भौतिकवाद के झटके को सहन नहीं कर सका। भौतिक विज्ञान के आविष्कारों ने जो सुख सुविधा उत्पन्न की, उसकी चकाचौंध से अध्यात्म का स्वर मन्द हो गया। यद्यपि भारत उपनिषद् के इस सिद्धान्त को भूल नहीं पाया कि जीवन का उद्देश्य अमृतत्त्व की प्राप्ति है और यह उद्देश्य पैसे से पूरा नहीं हो सकता।

आधुनिक उपक्रम

ऐसी स्थिति में दो प्रकार के प्रयत्न हमें दिखायी देते हैं। एक ओर लोकमान्य तिलक का **गीता रहस्य** है जिसमें शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए कर्मयोग की उत्कृष्टता सिद्ध की गयी। दूसरी ओर श्री रामकृष्ण परमहंस का वह प्रयत्न है जिसमें उन्होंने व्यावहारिक रूप में सभी साधना पद्धतियों को अपना कर उन सभी साधना पद्धतियों की प्रामाणिकता सिद्ध की। इन दो प्रयत्नों से समन्वय का मार्ग प्रशस्त हुआ; एक ओर ज्ञान और कर्म का समन्वय और दूसरी ओर भिन्न भिन्न साधना पद्धतियों का समन्वय स्थापित हुआ जिसे लेकर

विवेकानन्द ने पश्चिम में भारतीय अध्यात्म का उद्घोष किया। जहाँ स्वामी दयानन्द ने पश्चिम के आक्रमण के विरुद्ध वेद को आधार बनाकर एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया था वहाँ दूसरी ओर श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने साधना के स्तर पर योग की विभिन्न पद्धतियों के बीच विरोध का परिहार करके भौतिकवाद के विरुद्ध अध्यात्म को एक संगठित रूप दिया। परिणामस्वरूप मध्ययुग के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद के बीच शास्त्रार्थ की परम्परा का स्थान समन्वय के स्वर ने लिया इसी समय पण्डित मधुसूदन ओझा ने गीता की अव्यय, अक्षर तथा क्षर पुरुष की अवधारणा के साथ क्रमशः वेदान्त, सांख्य तथा वैशेषिक दर्शन का सम्बन्ध जोड़कर दार्शनिक स्तर पर सामञ्जस्य स्थापित करने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर प्रचलित रूढियों के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ। भौतिकवाद के प्रभाव के रूप में शरीर की उपेक्षा भी कम हुई और आसन तथा प्राणायाम लोकप्रिय हो गये। बाबा रामदेव इसी धारा के प्रतिनिधि हैं।

इस प्रकार वेद और उपनिषद् की समन्वित दृष्टि पुनः स्थापित हुई। यह दृष्टि मध्ययुग में खण्डित हो गयी थी। ऐसे समय में श्री अरविन्द ने पूर्णयोग का प्रतिपादन किया जो एक साथ समय की मांग भी है और जिसमें पूर्व पश्चिम समन्वित होने के कारण जो स्वरूपतः सार्वभौम है।

---

1. We are ignorant of the Absolute which is the source of all being and becoming; we take partial facts of being, temporal relations of the becoming for the whole truth of existence,—that is the first, the original ignorance. We are ignorant of the spaceless, timeless, immobile and immutable Self; we take the constant mobility and mutation of the cosmic becoming in Time and Space for the whole truth of existence, —that is the second, the cosmic ignorance. We are ignorant of our universal self, the cosmic

existence, the cosmic consciousness, our infinite unity with all being and becoming; we take our limited egoistic mentality, vitality, corporeality for our true self and regard everything other than that as not-self,—that is the third, the egoistic ignorance. We are ignorant of our eternal becoming in Time; we take this little life in a small span of Time, in a petty field of Space, for our beginning, our middle and our end,—that is the fourth, the temporal ignorance. Even within this brief temporal becoming we are ignorant of our large and complex being, of that in us which is superconscient, subconscient, intraconscient, circumconscient to our surface becoming; we take that surface becoming with its small selection of overtly mentalised experiences for our whole existence,—that is the fifth, the psychological ignorance. We are ignorant of the true constitution of our becoming; we take the mind or life or body or any two of these or all three for our true principle or the whole account of what we are, losing sight of that which constitutes them and determines by its occult presence and is meant to determine sovereignly by its emergence their operations,—that is the sixth, the constitutional ignorance. As a result of all these ignorances, we miss the true knowledge, government and enjoyment of our life in the world; we are ignorant in our thought, will, sensations, actions, return wrong or imperfect responses at every point to the questionings of the world, wander in a maze of errors and desires, strivings and failures, pain and pleasure, sin and stumbling, follow a crooked road, grope blindly for a changing goal,—that is the seventh, the practical ignorance. —*The Life Divine, Page* 680-681.

2. If the Divine has any value, is it not worth some trouble, time and labour to follow after him and must we insist on having him without any training or sacrifice or suffering or trouble? It is surely irrational to make a demand of such a nature. —*The Letter on Yoga –I, Page* 356

3. But what Nature aims at for the mass in a slow evolution, Yoga effects for the individual by a rapid revolution. It works by a quickening of all her energies, a sublimation of all her faculties. While she develops the spiritual life with difficulty

and has constantly to fall back from it for the sake of her lower realisations, the sublimated force, the concentrated method of Yoga can attain directly and carry with it the perfection of the mind and even, if she will, the perfection of the body. Nature seeks the Divine in her own symbols: Yoga goes beyond Nature to the Lord of Nature, beyond universe to the Transcendent and can return with the transcendent light and power, with the fiat of the Omnipotent. —*The Synthesis of Yoga, Page* 29-30.

4. All Yoga is in its nature a new birth; it is a birth out of the ordinary, the mentalised material life of man into a higher spiritual consciousness and a greater and diviner being. No Yoga can be successfully undertaken and followed unless there is a strong awakening to the necessity of that larger spiritual existence. The soul that is called to this deep and vast inward change, may arrive in different ways to the initial departure. It may come to it by its own natural development which has been leading it unconsciously towards the awakening; it may reach it through the influence of a religion or the attraction of a philosophy; it may approach it by a slow illumination or leap to it by a sudden touch or shock; it may be pushed or led to it by the pressure of outward circumstances or by an inward necessity, by a single word that breaks the seals of the mind or by long reflection, by the distant example of one who has trod the path or by contact and daily influence. According to the nature and the circumstances the call will come. —*The synthesis of Yoga, Page* 69

पूर्णयोग की व्यापकता

श्री अरविन्द की वेदान्त के प्रति दृष्टि

उपनिषद् में चतुष्पाद आत्मा का उल्लेख है – **सोऽयमात्मा चतुष्पात्**। प्रथमपाद जाग्रत अवस्था का है जिसमें व्यक्ति बहिर्मुख होता है और स्थूल विषयों का भोग करता है। यही वैश्वानर या विराट् है। दूसरा पाद स्वप्नावस्था का है जिसमें व्यक्ति अन्तर्मुख होता है और सूक्ष्म विषयों का भोग करता है। यह तैजस है। तीसरी स्थिति सुषुप्ति है जो प्रज्ञाघन है और जिसमें व्यक्ति आनन्द का भोग करता है। यही सर्वज्ञ है जहाँ से सभी कुछ उत्पन्न होता है और जिसमें सभी कुछ लीन हो जाता है। चतुर्थ अवस्था न बहिर्मुख है न अन्तर्मुख–**नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञानघनं प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमनाग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः**। श्री अरविन्द के पूर्व वेदान्तियों ने इस चतुर्थ अवस्था को ही उपादेय मान लिया किन्तु श्री अरविन्द ने इस बात पर बल दिया कि ये चारों अवस्थायें ही ब्रह्म रूप हैं– **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। इनमें कोई भी अवस्था माया या भ्रम नहीं है। ब्रह्म ही विश्व बन गया है और वह विश्व की योनि भी है। अभिप्राय यह है कि निर्गुण ब्रह्म ही सर्वोच्च आदर्श नहीं है; ब्रह्म के पूर्ण रूप में ब्रह्म का सगुण और निर्गुण दोनों रूप समाहित हैं। जिसका यह अर्थ है कि पूर्णयोग में उपर्युक्त चारों अवस्थायें समाहित हैं। अभिप्राय यह है कि जाग्रत अवस्था में हमारे सारे क्रियाकलाप भी ब्रह्म से अभिनिविष्ट होने चाहिए। श्री अरविन्द से पहले के प्रायः सभी योग के प्रस्थान निवृत्तिपरक हैं जिनका लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण है अथवा सायुज्य मुक्ति है किन्तु श्री अरविन्द ने जीवन का लक्ष्य जीवन में ही दिव्यता का आधान माना।

योग की पूर्णता

इसका यह अर्थ है कि पूर्णयोग में मन, प्राण और शरीर भी साधन बनते हैं; ऐसा नहीं है कि केवल आत्मा ही दिव्यता को प्राप्त करती है अपितु ये तीनों भी दिव्य हो जाते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार वेद के ऋषियों को इस बात का आभास था कि किस प्रकार मनुष्य के सभी पक्षों को दिव्य बनाना है। श्री अरविन्द का कहना है कि मनुष्य के सभी अंग परमसत्ता से ओत-प्रोत हैं और इसलिए सभी का परमसत्ता से संयोग होना अभीष्ट है। विकास में मनुष्य के सभी अङ्गों का योगदान है इसलिए सभी अङ्गों को पूर्ण बनाना होगा। श्री अरविन्द के अनुसार प्राचीन वैदिक संस्कृति का यही आदर्श था। इसलिए उपनिषद् ने कहा कि अन्न भी ब्रह्म है— **अन्नं ब्रह्म**। यही नहीं प्राण भी ब्रह्म है, मन भी ब्रह्म है। वस्तुतः सच्चिदानन्द के सत् अंश से शरीर जुड़ा है, चित् अंश से प्राण जुड़ा है और आनन्द अंश से आत्मा जुड़ी है। इसके अतिरिक्त श्री अरविन्द ने एक अतिमानस की अवधारणा भी दी जिसका सम्बन्ध विज्ञान से है। मन को अतिमन से जोड़ने पर शरीर, मन और प्राण सच्चिदानन्द से जुड़ जाते हैं। वस्तुतः सत्, चित् और आनन्द भी तीनों परस्पर मिले हुए हैं और इसलिए इन तीनों में किसी एक के विकास के लिए तीनों का विकास आवश्यक है। इसके लिए एक तो संश्लेषण आवश्यक है दूसरे रूपान्तरण आवश्यक है। संश्लेषण का यह अर्थ है कि हमारे सभी भाग परस्पर जैविक रूप से संश्लिष्ट हो सकें ताकि वे सब एक साथ गति कर सकें और रूपान्तरण का अर्थ यह है कि हमारे शरीर, प्राण और मन क्रमशः सत्, चित् और आनन्द से जुड़ सकें ताकि पूरी मानव प्रकृति दिव्य बन सके। यह कार्य केवल शुद्धि का नहीं है अपितु सीसे को स्वर्ण में बदल देने जैसा है जिसका अर्थ है कि हमारा जड और अवचेतन भी अज्ञान और आलस्य से मुक्त होकर प्रकाशित हो जाये। श्री अरविन्द के अनुसार यह कार्य इस अर्थ में गीता से भी आगे जाकर करना होगा क्योंकि गीता हमारी इच्छाओं से तो मुक्ति दिला देती है किन्तु पाशविक वृत्तियों का रूपान्तरण करने का मार्ग नहीं दिखा पाती। जहाँ ये पाशविक वृत्तियाँ निहित हैं वह भी हमारा ही अंग है और हमारे जीवन के संचालन में उसका भी हाथ है। इसलिए जब तक उन्हें भी आलोकित न किया जाये तब तक योग पूर्ण नहीं होता। इसके लिए हमारे मानसिक प्रयत्न समर्थ

नहीं है। तंत्र ने जब इन पाशविक वृत्तियों को शुद्ध करना चाहा तो वह इसलिए सफल नहीं हो पाया कि उसने इसके लिए विज्ञान का सहारा न लेकर मानसिक स्तर पर ही ऐसा करना चाहा। यहाँ विज्ञान से हमारा अभिप्राय उस आलौकिक प्रकाश से है जो अतिमानस से प्राप्त होता है।

तन्त्र की सीमा

तंत्र ने प्राणिक शक्ति पर बल दिया, प्रकाश पर नहीं। योग के दूसरे प्रस्थानों ने पाशविक वृत्तियों से सम्बन्ध विच्छेद पर बल दिया किन्तु उनके पवित्रीकरण पर नहीं। गीता के कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का उपयोग भी मानसिक स्तर पर हुआ और इसलिए वह मनुष्य का पूरा रूपान्तरण नहीं कर पाया। इसके लिए ऋत-चित् अथवा अतिमन के प्रकाश की आवश्यकता है जिसके द्वारा मन, प्राण और शरीर तीनों का रूपान्तरण हो सके।

दूसरी योग पद्धत्तियों में निर्वैयक्तिक निर्गुण लक्ष्य है; सगुण पक्ष अथवा क्रियाशील पक्ष की उपेक्षा है। पूर्णयोग में विश्वव्यापी और विश्वोत्तीर्ण दोनों ही पक्षों पर ध्यान दिया जाता है। जिसका यह अर्थ है कि साधक केवल शाश्वत, मौन चेतना पर ही केन्द्रित नहीं रहेगा अपितु गतिशील बाह्यचेतना में भी दिव्यता ला सकेगा। दिव्य का दर्शन स्थिति और गति, एक और अनेक, ज्ञान और कर्म दोनों में करना है। अतः आध्यात्मिक जीवन में कर्म चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्ति का साधन ही नहीं है; उसका स्वयं का भी अपने में एक महत्त्व है। श्री अरविन्द के अनुसार व्यक्तिगत मोक्ष ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है अपितु अनेकानेक जन्मों में से गुजरते हुए और सब के मोक्ष का प्रयत्न करना भी साधक का लक्ष्य है क्योंकि सब का मोक्ष हुए बिना उसका अपना मोक्ष भी अधूरा है क्योंकि मूलतः हम सब एक ही हैं।

वेदान्त के विभिन्न प्रस्थान

दर्शन के क्षेत्र में पूर्णयोग अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत के बीच समन्वय स्थापित करता है। अद्वैत का अभिप्राय है कि सभी पदार्थ एकत्व में समाहित हैं। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है कि इस एकत्व में अनेकत्व भी समाहित है और द्वैत का अर्थ है कि सभी पृथक् पृथक् हैं[1]। हमारी शान्त और पवित्र मानसिक चेतना में

जब अतिमन प्रतिबिम्बित होता है तो हमें अनेकता का भान नहीं रहता और हम एकता के समुद्र में लीन हो जाते हैं। यह अद्वैत की स्थिति है। अतिमन की दूसरी स्थिति वह है जब हम आधारभूत एकता के साथ अनेक जीवात्माओं का पृथक् पृथक् दर्शन करते हैं। किन्तु उन जीवात्माओं का भेद अभेद से जुड़ा रहता है। यह विशिष्टाद्वैत की स्थिति है[2]। तीसरी स्थिति में एकता के बीच द्वैत आ जाता है, यद्यपि एकता का भान बना रहता है[3]।

श्री अरविन्द के अनुसार ये तीनों ही अनुभव प्रामाणिक है किन्तु मनुष्य का मन किसी एक अनुभव को ही सत्य मानकर दूसरे अनुभवों को नकार देने का अभ्यस्त है। यही सम्प्रदायवाद के जन्म का कारण बनता है। यदि हम मन के इस अभ्यास से ऊपर उठ सके तो साम्प्रदायिक विवाद समाप्त हो सकते हैं। समन्वय का एक प्रयत्न मानसिक स्तर पर गीता में हुआ और प्राणिक स्तर पर तन्त्र में। श्री अरविन्द इन दोनों स्तरों से ऊपर उठ कर अतिमन के स्तर पर समन्वय की चर्चा करते हैं।

---

1. The first founds the inalienable unity of things, the second modifies that unity so as to support the manifestation of the Many in One and One in Many; the third further modifies it so as to support the evolution of a diversified individuality which, by the action of Ignorance, becomes in us at a lower level the illusion of the separate ego. —*The Life Divine, Page* 156

2. In the second poise of the Supermind the Divine Consciousness stands back in the idea from the movement which it contains, realising it by a sort of apprehending consciousness, following it, occupying and inhabiting its works, seeming to distribute itself in its forms. —*The Life Divne, Page* 157

3. This tertiary poise would be therefore that of a sort of fundamental blissful dualism in unity—no longer unity qualified by a subordinate dualism— between the individual Divine and its universal source, with all the consequences that would accrue from the maintenance and operation of such a dualism. —*The Life Divine, Page* 158

ASCENT

Earth must transform herself and equal Heaven
Or Heaven descend into earth's mortal state.00

But for such vast spiritual change to be,
Out of the mystic cavern in man's heart
The heavenly Psyche must put off her veil
And step into common nature's crowded rooms
And stand uncovered in that nature's front
And rule its thoughts and fill the body and life.

—Savitri p. 486

X X X

Thou hast come down into a struggling world
To aid a blind and suffering mortal race,
To open to Light the eyes that could not see,
To bring down bliss into the heart of grief,
To make thy life a bridge twixt earth and heaven;

—Savitri p. 536

तीन लक्ष्य

योग पद्धतियों का दृष्टिभेद

सभी योगों का उद्देश्य अनन्त और नित्य से जुड़ना है। किन्तु इसके अनेक प्रकार हैं। उदाहरणतः सांख्ययोग का उद्देश्य यह है कि साधक प्रकृति से अपना तादात्म्य-सम्बन्ध विच्छेद कर ले क्योंकि प्रकृति से तादात्म्य अज्ञान के कारण है। योग के अनुसार साधक प्रकृति के क्रियाकलाप से मुक्त होकर मौन शान्ति की स्थिति में जा सके जो कि उसका अपना स्वरूप है— **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**। ज्ञानयोग का लक्ष्य अनन्त और नित्य से जुड़ना है जो कि विश्वोत्तीर्ण है। भक्तियोग का उद्देश्य प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य के स्वामी से नित्य और अनन्त सम्बन्ध स्थापित करना है। तंत्र का लक्ष्य अनन्त और नित्यशक्ति से जुड़ना है तथा उस शक्ति के माध्यम से नाम और रूप रहित ब्रह्म को प्राप्त करना है। इस प्रकार अनन्त और नित्य की भिन्न भिन्न अवधारणा के अनुसार योग की पद्धति भी भिन्न भिन्न हो जाती है।

पूर्णयोग की दृष्टि

श्री अरविन्द के पूर्णयोग के अन्तर्गत नित्य और अनन्त की अवधारणा वही है जो वेद, उपनिषद् और गीता में दी गयी है। वह नित्य और अनन्त अद्वितीय है, सर्वव्यापक है और विश्वोत्तीर्ण भी है। वह सभी पदार्थों में और घटनाओं में व्याप्त है। जगत् भी उसी का स्वरूप है और इसके साथ ही वह अचिन्त्य और शब्दातीत है। यह अवधारणा वेद के पुरुष और गीता के पुरुषोत्तम की है। इसमें

माया अर्थात् भ्रान्ति को कोई स्थान नहीं है। उपनिषद् का घोष है कि सभी कुछ ब्रह्म है— **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**।

पूर्णयोग के अनुसार नित्य और अनन्त को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार की गतिविधियों के बीच समन्वय स्थापित करना होता है। एक और अनेक, कालिक और कालातीत, मौन और गतिविधि, आत्मा और भूत जैसे द्वन्द्वों के बीच कैसे समन्वय किया जाये, पूर्णयोग इसक उपाय बताता है। जाग्रत अवस्था में हम पूर्ण सत्य को नहीं देख पाते। इसलिए हमारी दृष्टि मिथ्या होती है। सतही स्तर पर विरोध पाकर हम निराश हो जाते हैं क्योंकि हमें विरोध में अन्तर्निहित समन्वय दिखायी नहीं देता। जब हम तुरीय अवस्था में जाते हैं तो हमें जाग्रत अवस्था में होने वाला ज्ञान नहीं होता। जबकि ईश्वर में समाधि का ज्ञान और जाग्रत अवस्था का ज्ञान एक साथ रहते हैं। ईश्वर क्षर और अक्षर दोनों का अतिक्रमण कर जाता है। वह ऋत, चित् और बृहत् के स्तर पर सत्य को जानता है। श्री अरविन्द के अनुसार यह अतिमानस की स्थिति है जहाँ ब्रह्म के सभी पक्ष परस्पर समन्वित रहते हैं। इस स्थिति में ही चतुष्पाद ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस स्थिति की प्राप्ति पूर्णयोग का एकमात्र लक्ष्य है। अतिमानस स्थिति में सांख्य की स्वरूपस्थिति, बौद्धों का निर्वाण, वेदान्तियों का कूटस्थ ब्रह्म तथा तान्त्रिकों की शक्ति सभी समाविष्ट है। पूर्णयोग का उद्देश्य यह नहीं है कि साधक अपने अन्तरतम में खो जाये और उसकी सारी गतिविधियाँ स्थगित हो जायें। साधक को ऐसी दिव्यता की ओर आरोहण करना है जहाँ जाग्रत अवस्था की चेतना और सच्चिदानन्द की चेतना एक हो जाये। निश्चय ही यह कार्य दिव्य कृपा के बिना नहीं हो सकता। क्योंकि इसके लिए हमें चेतना के उन स्तरों पर जाना होगा, जिन स्तरों पर चेतना गहरी नींद में सोयी है।

पञ्चकोश

पाँच कोषों में से हम शरीर, मन और प्राण के स्तर पर ही जाग्रत हैं। चौथा कोष विज्ञान का और पाँचवा कोष आनन्द का है जिसका हमें आभास नहीं है। श्री अरविन्द का कहना है कि जिस प्रकार पदार्थ से प्राण और प्राण से मन का

विकास होने पर मन के स्तर पर पदार्थ और प्राण छूट नहीं जाते उसी प्रकार विज्ञान के स्तर पर भी पदार्थ, प्राण और मन नहीं छूटते। आरोहण का अर्थ है कि साधक चेतना के उच्चतर स्तरों पर स्थापित हो सके। जैसे जैसे आरोहण होता है नये नये अनुभव होते हैं किन्तु आरोहण का अन्तिम पड़ाव अतिमन है। अतिमानस स्तर पर मन के अज्ञान के स्थान पर सर्वज्ञता, विभाजन के स्थान पर परिपूर्णता, संघर्ष के स्थान पर समन्वय और परिमितता के स्थान पर अनन्तता प्राप्त होती है। यह स्थिति ऋतज्योति अथवा पराप्रकृति की है।

मन से अतिमन तक

आरोहण की प्रक्रिया में पहले उच्चतर मन आता है, जो वैचारिक स्तर पर स्पष्ट होता है। उच्चतर मन तादात्म्य के स्तर पर होने वाले ज्ञान के प्रकाश के अंश को लेकर चलता है[1]। उच्चतर मन के बाद आलोकित मन आता है। उच्चतर मन वैचारिक है किन्तु आलोकित मन के स्तर पर सत्य का दर्शन होता है। इस स्तर पर आत्मा का प्रकाश प्रकट होता है[2]। इसके अनन्तर अन्तर्दृष्टि का स्थान आता है जो तादात्म्य के मूल ज्ञान के अधिक निकट है[3]। इसके अनन्तर अधिमन का क्रम आता है, जो सार्वभौम ज्ञान देता है। अधिमन के स्तर पर विचार, आलोकित मन और अन्तर्दर्शन विस्तार पा जाते हैं[4]। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अधिमन तक ही जा सकता है; इसके अनन्तर अतिमन की स्थिति भगवत्कृपा से ही प्राप्त हो सकती है, साधक के प्रयत्न से नहीं। अतिमन के स्तर पर सच्चिदानन्द अथवा पुरुषोत्तम का ज्ञान होता है।

जैसे जैसे हम आरोहण करते हैं, वैसे वैसे उच्चतर स्तर निम्नस्तरों को पवित्र भी करता है और उन्हें समन्वित करके सूक्ष्म भी बनाता है। जिसका यह अर्थ है कि केवल आत्मा का ही मोक्ष नहीं होता, प्रकृति के निम्न स्तरों को भी मुक्ति मिलती है। आरोहण के अन्तिम चरण में एक स्थायी रूपान्तरण, समन्वय एवं परिष्कार होता है जिससे पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है। इस प्रकार मानव चेतना स्थायी रूप से दिव्य चेतना से जुड़ जाती है। उस समय योगी को सच्चिदानन्द का अलौकिक आनन्द और जागतिक अस्तित्व की विविधता का आनन्द एक साथ प्राप्त होता

है। वैदिक काल में व्यक्तिगत रूप से कुछ ऋषियों ने अतिमानस स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न किया था किन्तु यह प्रयत्न सामूहिक नहीं था और न उसका उद्देश्य पार्थिव चेतना को बदलना था। पूर्णयोग मानव चेतना को सामूहिक रूप से ऊपर उठाना चाहता है और अतिमन के प्रकाश और शक्ति के द्वारा साधक की शरीर की प्रकृति को भी बदल देता है।

तीन लक्ष्य

आरोहण पूर्णयोग का प्रथम लक्ष्य है। पूर्णयोग का द्वितीय लक्ष्य अतिमन का अवतरण है। उपनिषद् के ऋषियों ने यह घोषणा की कि जो सूर्य के द्वार से गुजरेगा उसका शरीर मानवीय नहीं रहेगा। वेदविज्ञान में सूर्य से नीचे के स्तर को मर्त्य तथा सूर्य से ऊपर के लोक को अमृत कहा गया है। यहां मृत्यु और अमृत दोनों साथ साथ रहते हैं। जैसे हम वर्तमान स्थिति में मानसिक चेतना के साथ रहते हुए मानसिक शक्ति के द्वारा कार्य भी करते हैं, उसी प्रकार हम अतिमानस चेतना में रहते हुए अतिमानस शक्ति के साथ कार्य भी कर सकेंगे।

आरोहण और अवतरण के अतिरिक्त पूर्णयोग का एक तीसरा लक्ष्य यह है कि पदार्थ में ईश्वर की अभिव्यक्ति हो जाये। वस्तुतः आरोहण और अवतरण तथा पदार्थ का रूपान्तरण एक ही प्रक्रिया के तीन अंश हैं। प्रकृति के क्रियाकलाप का आनन्द लक्ष्य है। यह आनन्द निरुद्देश्य नहीं है अपितु आत्माभिव्यक्ति का आनन्द है। इस प्रकार सारी साधना के विचार का शिखर अतिमानस अभिव्यक्ति है।

अतिमन की ओर

निम्न स्तर पर विकास हो रहा है। किन्तु कुछ उच्चतर स्तर पर सब कुछ अनावृत है। जब सान्त को अनन्त पुकारता है या अज्ञान को ज्ञान का निमन्त्रण मिलता है, जब प्रकाश अन्धकार को और अमृतत्व मृत्यु को चुनौती देता है तो यह सब अवतरण के कारण होता है। अवतरण के द्वारा प्रज्ञा का जागरण होगा। प्रज्ञा में तर्क, कल्पना, अनुमान और ऐन्द्रिक ज्ञान का स्थान नहीं है किन्तु तादात्म्य के द्वारा ज्ञान होता है। इसलिए वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं है।

अतिमन का अवतरण साधक के हृदय को आनन्द से भर देता है और उसकी सारी भावनायें सब में स्थित दिव्य के प्रति प्रेम और भक्ति में बदल जाती हैं। उसका जीवन से सम्बन्ध टूटता नहीं है अपितु यह सम्बन्ध विस्तृत और आलोकित हो जाता है। मानव के जीवन में अतिमन के अवतरण से इच्छायें समाप्त हो जायेंगी और उसमें असीम शक्ति और आनन्द का प्रवाह होगा। उसका किसी के साथ रागात्मक सम्बन्ध नहीं होगा और उसके सारे क्रियाकलाप दिव्य की इच्छा के अनुसार चलेंगे। उसका शरीर दिव्यकर्मों का साधन बन जायेगा और अवचेतन तथा अचेतन की पकड़ से मुक्त हो जायेगा।

स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के अनुसार कूटस्थ निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करना योग का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। वे कूटस्थ से भी परे उस पुरुषोत्तम की बात करते हैं जो अतिमन का विषय है और जहाँ पदार्थ में भी दिव्यता का अवतरण हो जाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही श्री अरविन्द पूर्णयोग के मार्ग का प्रतिपादन करते हैं।

---

1. An all-awareness emerging from the original identity, carrying the truths the identity held in itself, conceiving swiftly, victoriously, multitudinously, formulating and by self-power of the Idea effectually realizing its conceptions, is the character of this greater mind of knowledge. —*The Life Divine, Page* 974.
2. Here the clarity of the spiritual intelligence, its tranquil daylight, gives place or subordinates itself to an intense luster, a splendor and illumination of the spirit —*The Life Divine, Page* 978-79
3. Intuition is a power of consciousness nearer and more intimate to the original knowledge by identity —*The Life Divine, Page* 981
4. Intuition, illumined sight and thought enlarge themselves; their substance assumes a greater substantiality, mass, energy, their movement is more comprehensive, global, many-faceted, more wide and potent in its truth-force: the whole nature, knowledge, aesthesis, sympathy, feeling, dynamism become more catholic, all-understanding, all-embracing, cosmic, infinite. —*The Life Divine, Page* 987

पूर्णयोग के तीन आधार

अन्य योग की प्रणालियों की अपेक्षा पूर्णयोग का आधार अधिक विस्तृत और गहरा है क्योंकि हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत मोक्ष नहीं है अपितु जीवन में दिव्यता का आधान है। पूर्णयोग के तीन आधार है– १ दिव्य का आह्वान और आह्वान का प्रत्युत्तर, २ शान्ति और समत्व, ३ समर्पण।

दिव्य का आह्वान और आह्वान का प्रत्युत्तर

आह्वान का अर्थ है कि हमारा पूर्ण अस्तित्व परम सत्ता का आह्वान करे कि वह हममें अवतरित हो। हम उस परमसत्ता के साथ निकटतम और पूर्णतम संयोग की कामना करते हैं, जो संयोग सर्जनात्मक हो और ईश्वर की इच्छा को जाग्रत अवस्था में भी अभिव्यक्त करे। हमारी चेतना का रूपान्तरण हो और हम शान्ति और आनन्द में डूबे रहें। **हमारा पृथ्वी पर जन्म लेने का यह उद्देश्य नहीं है कि हम अचिन्त्य ब्रह्म में अपने व्यक्तित्व को विलीन कर दें; हमारा उद्देश्य यह है कि सत्, चित् और आनन्द का शरीर, प्राण और मन में अवतरण हो**। इस अर्थ में सृष्टि का एक नया रूप हमारे सामने आता है। आत्मा के लिए प्रकृति का और प्रकाश के लिए जीवन का बलिदान नहीं करना है अपितु आत्मा और प्रकृति तथा प्रकाश और जीवन का परस्पर समन्वय करना है। यह मार्ग परम्परा से हट कर है। अतीत में जिस इच्छा की पूर्ति चाही गयी थी, वर्तमान में जिसकी माँग है और भविष्य में जिसकी आकांक्षा की गयी है– वह सभी पूर्णयोग का लक्ष्य है। दिव्य का आह्वान मन की इच्छा से, हृदय की भावना से और प्राण की सहमति

से होना चाहिए।[1] **सच्चिदानन्द का भौतिक जगत् के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न इससे पहले कभी नहीं हुआ क्योंकि मानव जाति अभी इतनी परिपक्व नहीं हुई थी। अब वह परिपक्वता आ गयी है।**

कहने को तो यह आह्वान नीचे से होता है किन्तु वस्तुतः वह ऊपर के स्तर से आने वाले आह्वान का ही प्रतिबिम्ब है। दिव्य की इच्छा नीचे के स्तर पर प्रकाश की इच्छा जगा देती है। यह इच्छा प्रेमरूप है। पहले यह इच्छा परमतत्व में विलीन हो जाने के रूप में प्रकट होती है; संसार के जन्म-मरण के चक्र से परेशान साधक आनन्द में डूबना चाहता है। किन्तु इतने मात्र से आत्मा की सभी अभीप्सा पूरी नहीं हो जाती। परिपक्व होने पर साधक इस इच्छा को पलायन का ही एक रूप मानता है। वह यह मानता है कि जब तक दिव्य का अवतरण पदार्थ में नहीं होगा तब तक उसका उद्देश्य पूरा नहीं होगा। ऐसी स्थिति में वह व्यक्तिगत शान्ति और आनन्द की प्राप्ति की इच्छा को गौण करके दिव्य की इच्छा की अभिव्यक्ति को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाता है। यदि यह अभीप्सा ईमानदारी से की जाये तो दिव्य उसका प्रत्युत्तर भी देता है। वस्तुतः दिव्य के प्रत्युत्तर के बिना साधक अपने जीवन में अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता।

शान्ति और समत्व

पूर्णयोग का दूसरा आधार शान्ति और समत्व है। चञ्चल प्रकृति के आधार पर कोई योग स्थापित नहीं हो सकता। जब तक साधक अन्धी इच्छाओं और भावनाओं से मुक्त न हो जाये तब तक पूर्णयोग की सफलता सम्भव नहीं है क्योंकि इसके लिए चित् की एकाग्रता और अन्तर्मुखता आवश्यक है। **शान्ति का एक उपाय यह है कि मनुष्य जीवन से अपने आपको दूर कर ले। किन्तु पूर्णयोग के अनुसार यह शान्ति समस्या से पलायन करने जैसी है। पूर्णयोग की शान्ति मनुष्य की पूरी प्रकृति को बदलने से प्राप्त होती है और वही शान्ति स्थायी है। जीवन से अपने आपको दूर करके मनुष्य आत्मा में डूब सकता है किन्तु प्रकृति को बदल नहीं सकता**। पूर्णयोग का उद्देश्य यह है कि जीवन के बीच प्रकाश का अवतरण हो। प्रारम्भ में प्रकाश होने पर भी साधक अशान्त रह सकता है किन्तु

धीरे धीरे एक शान्ति पूरी प्रकृति में व्याप्त हो जाती है। इसके लिए ऊपर से दिव्य का अवतरण आवश्यक है। क्योंकि उसके बिना यह शान्ति सुदृढ नहीं हो पाती। दिव्य का अवतरण होने पर वह प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की गयी शान्ति सहज हो जाती है और उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। श्री अरविन्द के अनुसार ऐसी शान्ति के बिना कोई स्थायी परिणाम नहीं निकलता। उनके अनुसार आन्तरिक विकास के लिए शान्ति एक आधार है। यदि यह आधार न हो तो प्रकाश और आनन्द टिक नहीं पाते। अतः शान्ति योग की प्रथम उपलब्धि है। शान्त मन के द्वारा ही साधक एकाग्र चित्त होकर अपनी अपूर्णता को देख सकता है और उसे दूर करने का प्रयत्न कर सकता है। श्री अरविन्द के अनुसार शान्ति का अर्थ है— मन, हृदय, प्राण और शरीर के सभी कोष्ठों में शान्ति की स्थापना।

भक्ति में भावना को महत्व दिया जाता है और व्याकुलता को सहायक समझा जाता है। किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार ऐसी व्याकुलता अव्यवस्था पैदा करती है और विवेक को समाप्त कर देती है। अतः उनके अनुसार शान्ति ही अध्यात्म जीवन का सुदृढ़ आधार है।

शान्ति के लिए समत्व और समत्व के लिए शान्ति आवश्यक है। गीता में समत्व की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए उसे योग कहा गया है— **समत्वं योग उच्यते**। समत्व का अर्थ है कि व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों से और दूसरे व्यक्तियों से प्रभावित होकर विचलित न हो, अपितु यह विश्लेषण करे कि उन परिस्थितियों के पीछे क्या कारण है और उससे हम क्या शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपने पर संयम रख पायेगा और क्रोध, अहंकार और इच्छा उसकी शान्ति को भंग नहीं कर पायेंगे। समत्व का यह अर्थ भी है कि साधक तटस्थ भाव से व्यक्तियों को देख सके और व्यक्तिगत स्वार्थ को या अहंकार को बीच में न लाये। व्यक्तिगत दृष्टि को बीच में लाने से व्यक्ति उन चीजों को भी आरोपित कर देता है जो वहाँ वस्तुतः होती ही नहीं। इस प्रकार गलत फहमियाँ बहुत सारी समस्यायें उत्पन्न कर देती हैं। साधक यदि तटस्थ भाव रखे तो वह गलतफहमियों से बच सकता है।

मोह-शोक-मुक्ति

जब साधक समत्व में स्थित होता है तो वह सब में अन्तर्निहित एकत्व को भी देख पाता है और मोह तथा शोक से मुक्त रहता है—

यस्य सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः

इस स्थिति में व्यक्ति अहंकार से मुक्त हो जाता है। किन्तु ऐसा समत्व प्रारम्भ में उपलब्ध नहीं होता क्योंकि मनुष्य की प्रकृति अनेक प्रकार की विषमताओं से भरी है; उसके प्राण में इच्छायें और वासनायें है, वह पदार्थों से आकृष्ट होता है और सुख दुःख की प्रतिक्रियाओं में जीवन व्यतीत करता है। समत्व के लिए इच्छाओं से मुक्त होना आवश्यक है। प्राण वस्तुतः आनन्द चाहता है और वह तभी सन्तुष्ट हो सकता है जब वह सभी परिस्थितियों में आनन्दित रह सके। इसी प्रकार हृदय को भी राग और द्वेष से, भय और घृणा से तथा क्रोध और दुःख से मुक्त होना चाहिए। मन को भी दुराग्रह से मुक्त होना चाहिए। **साधक को यह समझना चाहिए कि अज्ञान ज्ञान का ही वह सीमित रूप है जो अपनी सीमाओं को तोड़ना चाहता है**। जब सत्य अपना मार्ग भूल जाता है तब असत्य का जन्म होता है[2]। पूर्णयोग में केवल आत्मा के स्तर पर ही समत्व की बात नहीं की जाती, अपितु पूरी प्रकृति में समत्व होना चाहिए। अन्ततोगत्वा यह **समत्व उस स्थिति में आ जाना चाहिए जो स्थिति सच्चिदानन्द की है जो विश्व की समस्त गतिविधियों का संचालन करते हुए भी विचलित नहीं होता**।

समत्व के लिए तितिक्षा अर्थात् सभी कठिनाइयों के बीच अविचलित रहना आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता उदासीनता की है जिसका अर्थ है कि साधक सभी प्रकार की प्रवृत्तियों में तटस्थ बना रहे। तीसरी आवश्यकता समर्पण की है जिसका अर्थ है कि साधक सुख दुःख को भगवान् की इच्छा का अङ्ग मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करे।

समत्व एक तटस्थता का भाव है किन्तु पूर्णयोग के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि प्राकृतिक गतिविधियों के बीच अविचलित रहना ही हमारा उद्देश्य नहीं है, हमारा उद्देश्य यह भी है कि हम प्रकृति को बदलें। इसके लिए समत्व के साथ आनन्द का होना आवश्यक है। आनन्द एक विधायक भाव है जो प्रकृति को दिव्य इच्छा के साथ जोड़कर उसे बदल देता है। इस प्रकार श्री अरविन्द समत्व के साथ आनन्द के भाव को भी आवश्यक मानते हैं।

समर्पण

योग के प्रायः तीन साधन हैं—१ व्यक्तिगत पुरुषार्थ और तपस्या, २ व्यक्तिगत पुरुषार्थ और भगवत्कृपा, ३ भगवान् की कृपा और शक्ति का सहारा। श्री अरविन्द का मानना है कि इनमें तीसरा साधन ही प्रकृति का रूपान्तरण कर सकता है। व्यक्तिगत पुरुषार्थ योग की प्रारम्भिक सीढ़ी है जिसका उद्देश्य वस्तुतः समर्पण के भाव को परिपूर्ण करना है। तपस्या का उद्देश्य अहंकार का विसर्जन है। समर्पण का अर्थ है कि व्यक्ति अपने समस्त विचार, भावनायें और कर्म पद पद पर दिव्य को समर्पित कर सकें ताकि उसे सभी अवसरों पर दिव्य का नेतृत्व मिल सके। साधक स्वयं अपने पुरुषार्थ से सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति और मनुष्य की प्रकृति का रूपान्तरण सिद्ध नहीं कर सकता। इस मार्ग में अनेक बाधायें है, स्थान स्थान पर अन्धकार है, खाइयाँ हैं और चट्टानें हैं और समर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। जिस लक्ष्य को लेकर पूर्णयोग चलता है वह लक्ष्य मानव बुद्धि की पकड़ से बाहर है। जब तक दिव्यशक्ति इसे सहारा न दे साधक उसे प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्णयोग में दिव्य ही साधक है, वही सिद्ध है, वही मार्गदर्शक है और वही लक्ष्य है। अतः यह आवश्यक है कि साधक बिना किसी शर्त के समर्पण करे। यह समर्पण चेतन शक्ति और मातृशक्ति के प्रति होता है। इसलिए मातृशक्ति पर विचार करना आवश्यक है। मातृशक्ति पर आगे दिये गये विचार श्री अरविन्द की अपनी मौलिकता है।

1. an aspiration vigilant, constant, unceasing—the mind's will, the heart's seeking, the assent of the vital being, the will to open and make plastic the physical consciousness and nature. —*The Mother with letters on the mother, Page* 6

2. In ignorance it will see a knowledge which is imprisoned and seeks or waits for delivery, in error a truth at work which has lost itself or got thrown by the groping mind into misleading forms. On the other side it will not hold itself bound and limited by its knowledge or forbidden by it to proceed to fresh illumination, nor lay too fierce a grasp on truth, even when using it to the full, or tyrannously chain it to its present formulations. —*The Synthesis of Yoga, Page* 706-707

THE DIVINE MOTHER

At the head she stands of birth and toil and fate,
In their slow round the cycles turn to her call;
Alone her hands can change Time's dragon base.

Hers is the mystery the Night conceals;
The spirit's alchemist energy is hers;
She is the golden bridge, the wonderful fire.

All Nature dumbly calls to her alone
To heal with her feet the aching throb of life
And break the seals on the dim soul of man
And kindle her fire in the closed heart of things.

—Savitri p. 314

मातृशक्ति के तीन रूप

रामकृष्ण परमहंस वेदान्त की पृष्ठभूमि के बावजूद मातृशक्ति में अटूट विश्वास रखते थे। उनके सम्पर्क में आकर तोतापुरी जैसे वेदान्ती भी मातृशक्ति का महत्त्व मानने लगे। यह मातृशक्ति ब्रह्म की चित् शक्ति है जो अपनी इच्छा से विश्व को धारण किये है। यही शक्ति वेद में अदिति के रूप में और तन्त्र में आद्याशक्ति के रूप में पूजी जाती है। वेदान्त का ब्रह्म और मातृशक्ति मिलकर ब्रह्म और जगत् को आपस में जोड़ते हैं। तंत्र में यह मातृशक्ति ही एक मात्र उपास्य है। पूर्णयोग की समन्वित दृष्टि में मातृशक्ति के तीन रूप हैं– प्रथम रूप तो वह है जो आत्मा को बन्धन से मुक्त कर देता है, दूसरा रूप वह है जो मनुष्य को जीवन में सुख सुविधा देता है; किन्तु मातृशक्ति का एक तीसरा रूप भी है जिसके द्वारा वह अपनी शक्ति से भौतिक जगत् के दिव्यता की ओर बढ़ने में सहायक होती है। उसकी यह शक्ति भौतिक जगत् में दिव्यता पैदा कर सकती है। यह शक्ति मनुष्य का पूर्णरूप से रूपान्तरण कर सकती है। वह शक्ति जब तक पार्थिव स्तर पर न उतरे तब तक जड में प्रकाश नहीं हो सकता। वह परमसत्ता की आज्ञा को धारण करती है। महाशक्ति के रूप में वह उस आज्ञा के कार्य को सरल बनाती है। उसके कारण ही साधक प्रारम्भ के कदम उठा सकता है। भौतिक रूपान्तरण के लिए और दिव्य जीवन के लिए भौतिक जगत् में उसका व्यक्तिगत स्वरूप काम करता है। साधक केवल अपने व्यक्तिगत पुरुषार्थ से भौतिक के अतिमानसीकरण वाला पूर्णयोग का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए मातृशक्ति का सहारा आवश्यक है। मन के स्तर पर यह कार्य नहीं हो सकता। परममातृशक्ति आवरण को तोड़कर असत्य, मृत्यु और दुःख के स्थान पर सत्य, प्रकाश, दिव्य जीवन और आनन्द ला सकती है।

मातृशक्ति का अलौकिक स्वरूप

परमपुरुष के साथ मातृशक्ति चित् या परासंवित् है जहाँ अनन्त शक्ति और आनन्द है। वहाँ सब कुछ शान्त और अमूर्त है; कोई भी स्पन्दन नहीं है। वहाँ मातृशक्ति का पृथक् अस्तित्व नहीं है। उसे मातृशक्ति भी इस दृष्टि से कह दिया जाता है कि वह बाद में मातृशक्ति के रूप में प्रस्तुत होगी। अव्यक्त परमसत्ता और विविध अभिव्यक्तियों के बीच में वह एक कड़ी है। वह सच्चिदानन्द के साथ एक रूप है। वह देश और काल से अनवच्छिन्न है। यह चित् शक्ति है।

मातृशक्ति की सार्वभौम स्थिति

सार्वभौम महाशक्ति के रूप में मातृशक्ति अभिव्यक्त जगत् को प्रकट करती है और उसका संचालन भी करती है। विश्व की महाक्रिया की वह अधिष्ठात्री है। प्रकृति के जिस यांत्रिक व्यवहार से हम परिचित हैं वह उस महाशक्ति का निम्नस्तरीय रूप है। वह त्रिगुणातीत स्थिति में अपने ज्ञान से सर्जन करती है और नाश करती है। उसकी जाग्रत शक्ति निरन्तर चलने वाले विकास में सहायक होती है और विश्व को बिखरने से रोकती है। सत्, चित् और आनन्द के अनेक अभिव्यक्त रूप हैं, जिन पर वह शासन करती है। वह अतिमानस महाशक्ति है। उस स्थिति में सभी गति सत्य की ओर उठाये गये कदम बन जाते हैं और सभी अनुभव आनन्द का प्रवाह बन जाते हैं।

महाशक्ति चार रूपों में प्रकट होती है— **महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। उसके यह चार रूप क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हैं।** महेश्वरी उसका ज्ञान रूप है, महाकाली शक्ति है, महालक्ष्मी कृपा है और महासरस्वती दिव्य प्रकृति का कला-कौशल है। श्री अरविन्द ने महाशक्ति के इन चार स्वरूपों को स्पष्ट रूप में परिभाषित किया है। ये चारों रूप हमारे अस्तित्व के अंग हैं। इन चारों के बीच में सन्तुलन बनाना आवश्यक है ताकि अपरा प्रकृति परा प्रकृति में बदल सके। इसके लिए महाशक्ति के प्रति समर्पण आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना आत्मा की स्वतन्त्रता के साथ साथ प्रकृति की स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं हो सकती।

मातृशक्ति का व्यष्टि स्वरूप

मातृशक्ति का व्यष्टि स्वरूप सबसे अधिक प्रभावशाली और रहस्यात्मक रूप है। अपनी सार्वभौम स्थिति में वह सार्वभौम नियमों के अनुसार कार्य करती है, वह अपनी ऊर्जा को रेखाङ्कित करती है और सभी को अपने अपने नियत लक्ष्य तक पहुँचाती है। उसके अलौकिक रूप से नयी सम्भावनायें प्रकट होती हैं। किन्तु उसका व्यष्टि रूप, जो अलौकिक रूप का प्रतिनिधि है, उन सम्भावनाओं को ठोस रूप देता है। जब तक व्यष्टि रूप में अवतरण न हो तब तक अलौकिक की इच्छा पूरी नहीं हो सकती। मातृशक्ति का साकार रूप ही दिव्य कृपा प्रदान करता है। इस स्थिति में वह अलौकिक तथा सार्वभौम चेतना को अपने में लिये हुए अलौकिक इच्छा से नये का सर्जन करती है।

श्री अरविन्द के अनुसार वर्तमान समय में अतिमानस का भौतिक जगत् में अवतरण अलौकिक की इच्छा है। ईश्वर के अवतार का यह अर्थ है कि मनुष्य जाति के जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण मोड़ आता है तो दिव्य शक्ति कार्य करने के लिए उपस्थित होती है और मानव रूप में उस कार्य को प्रारम्भ करके अछूते पक्षों को प्रकट कर देती है ताकि नये युग का प्रारम्भ हो सके। **सभी अवतार जो किसी विशेष उद्देश्य से आते हैं, वे सभी अलौकिक का मनुष्य रूप हैं किन्तु प्रत्येक की अपनी विशेषता भी है। राम का अपना कार्य है, कृष्ण का अपना कार्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नये अवतार के समय पुराने अवतार का कोई महत्त्व नहीं रह जाता किन्तु इतना अवश्य है कि जिस युग में जिस रूप में अवतार आया है उसका महत्त्व सर्वाधिक है।** यह सत्य है कि यदि व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना हो तो किसी भी अवतार की उपासना की जा सकती है। किन्तु यदि दिव्य की इच्छा पूरी करना हमारा लक्ष्य है तो अपने समय के अवतार का ही अनुसरण करना चाहिए। यदि हर अवतार का अपना महत्त्व न हो तो अनेक अवतारों की आवश्यकता ही नहीं है; एक ही अवतार पर्याप्त है। मातृशक्ति का साकार रूप अलौकिक के साकार रूप का मुख है। एक ओर इसमें अतिमानस का प्रकाश है और दूसरी ओर प्रेम और करुणा है। मातृशक्ति के अतिरिक्त मिथ्या और अस्पष्ट को कौन आलोकित कर सकता है? और तब एक चेतना से बृहत्तर चेतना की ओर गति होती है।

मीरा माता जी ने यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार भारी और अस्पष्ट पदार्थ में से प्रेम और प्रकाश प्रकट होता है। यह कार्य अत्यन्त कठिन और श्रम साध्य है। आसुरी शक्तियाँ इसके विरोध में खड़ी होती हैं। जिनकी परिपूर्णता के लिए मातृशक्ति प्रयत्न करती है स्वयं वे भी उदासीन और संशयग्रस्त हो जाते हैं। मनुष्य की इच्छायें और वासनायें तथा मिथ्यात्व दुर्गन्धपूर्ण हैं। किन्तु मातृशक्ति उसे अज्ञान और मलिनता से उभार कर दिव्य के कार्य का निमित्त बना देती है। साधक को यह पता भी नहीं चलता कि मातृशक्ति पर्दे के पीछे किस प्रकार उसकी सहायता कर रही है।

व्यष्टि के रूप में ही मातृशक्ति हमारे लिए सुलभ है। वही अपनी प्रेरणा से अतिमानस को अभिव्यक्त करती है। कोई भी आध्यात्मिक अनुभव जब तक शारीरिक स्तर पर प्रकट न हो तब तक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इसलिए मातृशक्ति का भौतिक रूप में उपस्थित होना महत्त्वपूर्ण है। श्री अरविन्द के अनुसार दिव्य मनुष्य रूप में इसलिए अवतरित होता है कि मनुष्य दिव्यता को प्राप्त कर सके।

आत्म समर्पण

समर्पण क्यों?

आत्म समर्पण के लिए पहली आवश्यकता तो यह है कि साधक दिव्य की उपस्थिति सर्वत्र अनुभव करे और यह अनुभव करे कि प्रकृति के विकास का उद्देश्य भूतों में दिव्य का अवतरण करना है। दूसरी आवश्यकता यह है कि वह चेतना को शक्ति के रूप में अनुभव कर सके। चेतना की वह शक्ति सर्वज्ञ है और यादृच्छिक रूप में काम नहीं करती। इस पृष्ठभूमि में समर्पण का अर्थ समझ में आता है। क्योंकि यदि यह समझ में आ जाये कि एक ऐसी चेतन शक्ति है जो सर्वव्यापक है जो सबको प्रेरणा दे रही है, जो यद्यपि हमें दिखायी नहीं देती किन्तु जो हमारे आत्मा की भी आत्मा है और हमारे प्राण का भी प्राण है तो फिर उसके प्रति समर्पित कर देना ही दिव्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। यह केवल भावना का विषय नहीं है किन्तु तर्कसंगत भी है कि हम अपने आपको समर्पित कर दें किन्तु यह तभी हो पाता है जब हम इन्द्रियों के मायाजाल से और भौतिक पदार्थों के आकर्षण से मुक्त हो जायें।

प्रबुद्ध व्यक्ति भौतिक जगत् के तथ्यों से बँधा नहीं रह सकता। जैसे जैसे उसकी दृष्टि दूरगामी होती है उसकी संवेदनशीलता सूक्ष्म होती जाती है, वैसे वैसे मनुष्य अपने मन की सीमाओं से परे जाकर आत्मा की खोज में रहता है। **भौतिकवाद ने अध्यात्म के प्रति जो सन्देह पैदा किया है वह स्वयं में भी इस अन्धविश्वास पर ही टिका है कि भौतिकता से परे और कुछ भी नहीं है**। जैसे जैसे साधक की जागरूकता बढ़ती है वह भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर एक

अखण्ड चेतन शक्ति का अनुभव करता है और अपने आपको उसके प्रति समर्पित कर देता है। ऐसी स्थिति में उसका अहंकार और उसकी तुच्छ इच्छायें लुप्त हो जाती हैं और वह उसी प्रकार स्वतः विकसित होता चला जाता है जिस प्रकार एक फूल। जिस प्रकार एक लहर समुद्र को अर्पित कर देती है उसी प्रकार व्यष्टि समष्टि को अर्पित हो जाता है। धीरे धीरे साधक सार्वभौम से विश्वोत्तीर्ण तक पहुँच जाता है। अहंकार और मन के स्तर पर जो असम्भव नजर आता है वह स्वाभाविक हो जाता है। जो मातृशक्ति की उपस्थिति हमें उत्पन्न करती है, हमारा पालन करती है और हमारा विकास करती है और उसके प्रति अपने आपको समर्पित कर देने में ही मोक्ष है।

अहङ्कार का प्रश्न

मनुष्य के चार घटक हैं— शरीर, प्राण, आत्मा और मन। इनमें आत्मा तो सदा ही समर्पित है और उसमें प्रेम और आनन्द सदा बना रहता है। उसे कोई भी अज्ञान में नहीं ढकेल सकता, न उसमें कोई कामना है न अहंकार। वह द्वन्द्वातीत है। केवल शरीर, प्राण और मन अहङ्कार के वशीभूत होकर आत्मा से अलग होकर सतही स्तर पर काम करते हैं। इस कारण मनुष्य अपने आप को सबसे पृथक् मान लेता है और दूसरों को भी पृथक् समझता है। इन सबके बीच मनुष्य संघर्ष और समझौता करते हुए अपना जीवन चलाता है। हमें यह आभास ही नहीं होता कि प्रकृति अहंकार को साधन बनाकर उसे धोखा दे रही है। शरीर, प्राण और मन को उस मातृशक्ति के प्रति समर्पित कर देना है जिसके वे भाग हैं। इस समर्पण से ही अहंकार पर विजय पायी जा सकती है। समर्पण अहंकार को नष्ट नहीं करता अपितु उसे एक असीम विस्तार दे देता है।

अनासक्ति

सर्वप्रथम साधक को उच्चतम की अभीप्सा करनी चाहिए और साथ ही जो पहले से प्राप्त हैं उसके प्रति आसक्ति छोड़ देनी चाहिए। इन दो साधनों के द्वारा ही साधक अपना अतिक्रमण कर सकता है। जब तक हम अनन्त के प्रति न बढ़ें हम सान्त ही बने रहेंगे। जब तक हम मैदान को न छोड़ें तब तक शिखर पर

नहीं पहुंच सकते। त्याग के बिना अभीप्सा केवल एक कल्पना है और बिना अभीप्सा के त्याग एक नीरस आत्म- निषेध है। चाहे दार्शनिक हो या वैज्ञानिक, सभी त्याग और अभीप्सा के द्वारा उत्कृष्टता को प्राप्त करते हैं। यदि वे प्राणिक की इच्छाओं में घिरे रहें और उन्हें ही सन्तुष्ट करते रहें तो वे बौद्धिक ऊँचाई को नहीं छू सकते। त्याग और अभीप्सा के द्वारा बौद्धिक उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेने पर भी मानसिक स्तर पर सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता। बौद्धिक श्रम के द्वारा हम अधूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। बुद्धि के स्तर पर हम एक कल्पना से दूसरी कल्पना तक, एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग तक और एक सत्य से दूसरे सत्य तक जाते रहते हैं। किन्तु उस सत्य को नहीं देख पाते जो जीवन की समस्याओं का अन्तिम समाधान दे सके।

यदि हमें यह प्रतीत हो जाये कि मनुष्य का मन सीमित है और वह सत्य तक नहीं जा सकता, तो हम मन को छोड़कर चेतना के उच्चस्तर पर पहुँचने की कामना कर सकते हैं। जैसे जैसे हमारे मन में असन्तोष होगा, वैसे वैसे हम सत्य की ओर बढ़ेंगे किन्तु मन स्वयं अपना अतिक्रमण नहीं कर सकता और इसलिए मातृशक्ति के प्रति समर्पण की आवश्यकता है।

समग्र दर्शन

राजयोग में जिस प्रकार मन को शान्त किया जाता है, पूर्णयोग उसकी आवश्यकता नहीं समझता। पूर्णयोग में बल के प्रयोग की भी आवश्यकता नहीं। हम में सभी कुछ उच्च दिव्य से पैदा हुआ है और उसका उपयोग ईश्वर के कार्य के लिए किया जाना चाहिए। इसलिए मन के समर्पण का यह अर्थ है कि हम उसकी समस्त शक्ति को माता के हाथों में सौंप दें ताकि वह उन शक्तियों को रूपान्तरित करके ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बना सकें। वस्तुतः मन अतिमन से उद्भूत हुआ है किन्तु अज्ञानवश वह अपने आपको अपने मूल स्रोत से कटा हुआ मानकर अनन्त का दर्शन नहीं कर पाता। वह प्रत्येक पदार्थ के साथ ऐसा व्यवहार करता है मानों उसका दूसरों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वह सबको अलग अलग मानकर ही चलता है। इसलिए समग्र का ग्रहण नहीं कर पाता। जब तक मन समर्पण न करे तब तक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

समर्पण से दिव्यता

मन के समर्पण का अर्थ है कि वह दिव्य मातृशक्ति के प्रति ही केन्द्रित हो जाये। इससे उसे शान्ति और सामञ्जस्य प्राप्त होगा और उस स्थिति में उसे प्रकाश भी उपलब्ध होगा। इसके लिए आवश्यक है कि साधक अपने सभी विचारों, सम्मतियों और आदतों के प्रति तटस्थ भाव रखे। वस्तुतः हमारे सभी विचार हमारी दृष्टि पर निर्भर करते हैं और यह दृष्टि हमारी चेतना की स्थिति पर निर्भर करती है। यदि चेतना की स्थिति बदल जाये तो हमारी दृष्टि बदल जाती है और तब हमारे विचार भी बदल जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि हमारे विचारों का कोई स्थिर आधार नहीं है; वे हमारे शारीरिक और मानसिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। पूर्णयोग में उन्हें छोड़ना होता है और तब खाली मन में माता का प्रकाश आता है। शिशुवत् माता के प्रति समर्पित हो जाना ही एक मात्र उपाय है। ऐसा होते ही व्यक्तिगत पक्षपात से रहित एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। यह अन्तर्दृष्टि तर्कातीत है। यह स्वयं ही अपना स्वरूप प्रकट करती है, जैसा कि उपनिषद् में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष विवृणुते तनुं स्वाम्

मन का यह समर्पण निष्क्रिय न होकर गतिशील होना चाहिए। यह समर्पण इसलिए किया जाता है कि सम्पूर्ण रूपान्तरण हो सके, न कि इसलिए कि मन निष्क्रियता में चला जाये। मन के निष्क्रियता में जाने पर एक शान्ति मिल सकती है, किन्तु समर्पण का उद्देश्य यह है कि मन ऋतचित् का अर्थात् अतिमानस का वाहक बन सके और जीवन में दिव्यता ला सके।

प्राण का समर्पण

सार्वभौम इच्छा

प्राण के समर्पण का अर्थ है इच्छाओं का समर्पण। अहंकारपूर्ण जीवन में इच्छाओं की एक सुदृढ़ ग्रन्थि है जो हमारे अस्तित्व के हर भाग से जुड़ी है। अतः हमारा क्रियाकलाप इच्छाओं से प्रेरित होता है। यह क्रियाकलाप भौतिक, प्राणिक या मानसिक भी हो सकता है। शरीर में यह भूख और प्यास के रूप में प्रकट होता है। प्राणिक स्तर पर यह वासना बनता है, जो हमें सब प्रकार के संघर्ष और दुःख में से गुजारते हुए अनेक प्रकार के क्रियाकलापों के लिए प्रेरित करता है। यह राजसिक प्रवृत्ति एक स्तर पर आवश्यक भी है ताकि साधक तमस् से निकल कर सक्रिय बन सके। किन्तु विकास के दूसरे क्रम में सात्त्विक स्तर पर आध्यात्मिक प्रगति के लिए यह राजसिक प्रवृत्ति भी छूट जाती है। किन्तु अन्ततोगत्वा सात्त्विक प्रवृत्ति भी बन्धन ही है। प्राणिक चेतना के कारण साधक निरर्थक भागदौड़ में फँसा रहता है और वह सार्वभौम इच्छा अनावृत नहीं हो पाती, जिस सार्वभौम इच्छा का विकृत स्वरूप व्यक्तिगत इच्छा है। इसलिए प्राणिक स्तर पर समर्पण आवश्यक है ताकि व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सार्वभौम इच्छा ले सके।

प्राण के समर्पण का अर्थ यह नहीं है कि प्राण को समाप्त कर दिया जाये अपितु उसका उदात्तीकरण और रूपान्तरण आवश्यक है। प्राण शक्ति का केन्द्र है जिसके बिना जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, चाहे हमारे विचार कितने भी शक्तिशाली हों। संघर्ष का कार्य प्राण ही करता है। यही भोग भी करता है। इसे दबा देना घातक है क्योंकि इसे दबा देने से संसार में विजय प्राप्त करने

की और भोगने की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत यदि इच्छाओं से मुक्त हुआ जा सके तो प्राण प्रकृति के हाथ में आनन्द का साधन बनता है। किन्तु इसके लिए प्राण का पूर्ण समर्पण आवश्यक है। प्राण की इच्छा, लालसा, स्वार्थ, अहंकार, लोभ, ईर्ष्या इत्यादि का निराकरण आवश्यक है। यदि प्राण के स्तर पर समर्पण कर दिया जाये तो फिर प्रकाश, आनन्द और अमृत की यात्रा प्रारम्भ हो जाती है।

शरीर का समर्पण

शरीर के समर्पण का अर्थ है शरीर की सभी गतिविधियों का दिव्यप्रकृति के प्रति समर्पण। इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर की गतिविधियाँ न्यूनतम कर दी जायें, न इसका यह अर्थ है कि शरीर को मानव सेवा के कार्यों में लगा दिया जाये। पूर्णयोग में सभी गतिविधियों को दिव्य के मनोरथ की पूर्ति में लगाना होता है। स्वार्थ की पूर्ति के लिए कर्म करना मनुष्य को अज्ञान और दुःख में घेरे रहता है और कर्म छोड़ देना ईश्वर की इच्छाओं के विरुद्ध जाना है। योग का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि पहले तो फल की इच्छा न की जाये और तब कर्तृत्व का अहंकार भी छोड़ दिया जाये और मातृशक्ति को समस्त कार्य करने दिये जायें। उठना- बैठना, खाना-पीना, चलना-बोलना ये सभी कार्य स्वार्थपरक इच्छा से हटकर मातृशक्ति के द्वारा नियंत्रित होने चाहिए। ऐसा करने पर भेद से अभेद की ओर प्रस्थान किया जा सकता है। किसी भी स्थिति में ऐसा नहीं होना चाहिए कि हमारा एक भाग तो दिव्य से जुड़ा रहे और दूसरा भाग सामान्य रीति से कार्य करता रहे क्योंकि ऐसा होने पर समर्पण पूर्ण नहीं होगा।

शरीर के समर्पण का यह अर्थ है कि सन्देह, अविश्वास, हठ, तुच्छता, आलस्य इत्यादि की प्रवृत्तियाँ छोड़ कर प्रकाश, शक्ति और आनन्द की ओर प्रस्थान किया जाये। योग के प्रारम्भ में सारा कर्म दिव्य की शरीर द्वारा की गयी प्रार्थना में बदल जाता है और अन्त में दिव्य की विजयशील शक्ति का पारदर्शी बिम्ब बन जाता है। पूर्णयोग में साधक की शारीरिक क्रियाओं का भी समर्पण अभीष्ट है। मनुष्य के कार्य निःस्वार्थ हों तो भी जब तक पूर्ण रूपान्तरण न हो जाये तब तक एक

सूक्ष्म अहङ्कार बना ही रहता है। विशेष बात यह है कि **मनुष्य की आत्मा का सम्बन्ध समाज या राष्ट्र से या देश अथवा मानवता से नहीं है बल्कि यह ईश्वरीय अंश है और इसलिए साधक को इस रूप में कार्य करना चाहिए कि मानों वह ईश्वर का ही एक हाथ है।**

YOGA OF SURRENDER

But vain are human power and human love
To break earth's seal of ignorance and death;
His nature's might seemed now an infant's grasp;
Heaven is too high for outstretched hands to seize.

This Light comes not by struggle or by thought;
In the mind's silence the Transcendent acts
And the hushed heart hears the unuttered Word.
A vast surrender was his only strength.

A Power that lives upon the heights must act,
Bring into life's closed room the Immortal's air
And fill the finite with the Infinite.

—Savitri pp. 315

समर्पण की तीन अवस्थायें

प्रथम अवस्था

ईश्वर की ओर हमारी प्रवृत्ति आत्मा के द्वारा होती है। आत्मा ही शरीर, मन, हृदय और प्राण में जब अपना प्रभाव दिखाती है तो हम ईश्वर के सम्बन्ध में सोचना प्रारम्भ करते हैं। तब ही हम यह सोचते हैं कि कैसे अज्ञान और मृत्यु से ऊपर उठा जाये किन्तु हमारे अहंकारी व्यक्तित्व को इस प्रभाव का पता नहीं चलता और वह सोचता है कि वह स्वयं परमात्मा के बारे में चिन्तन कर रहा है। इस प्रकार वह गलती से ईश्वर के प्रति अपने झुकाव का श्रेय स्वयं को दे देता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि वस्तुतः जब तक आत्मा स्वयं हमारी चेतना के सम्मुख न आ जाये तब तक अहङ्कार ही हमें सञ्चालित करता है। तामसिक अहङ्कार शारीरिक सुविधायें ढूँढता है और आलस्य में रहना चाहता है। राजसिक अहङ्कार शक्ति के लिए संघर्ष करता है और सात्विक अहङ्कार बुद्धि के प्रकाश में शान्ति और पवित्रता ढूंढता है। विकास के क्रम में एक ऐसी स्थिति आती है कि साधक को यह पता चल जाता है कि उसका अपने आपको पृथक् मानना एक भ्रम है। उसे यह पता चलता है कि वह अनन्त का एक सान्त भाग है। उसे ईश्वर का अनुभव होने लगता है और तब वह स्वार्थ से समर्पण की ओर जाता है। उसे अपनी लघुता का बोध होता है और उसे यह प्रतीति में आता है कि वस्तुतः उसे अनन्त ने थामा हुआ है। अब उसकी इच्छा ईश्वर की इच्छा का एक साधन मात्र बन जाती है। यह समर्पण की प्रथम अवस्था है। यद्यपि यह स्थिति आत्मा की प्रेरणा से आती है तथापि साधक इसे अपने द्वारा किया गया

ही समर्पण मानता है। यह समर्पण इस अर्थ में संश्लिष्ट होता है कि इसमें मन के समस्त विचार, प्राण की सारी इच्छायें और शरीर का सारा कर्म समर्पित कर दिया जाता है। यह ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वित रूप है। साधक इनमें से किसी एक या दो से प्रारम्भ कर सकता है अथवा तीनों को ही साथ लेकर चल सकता है। अब उसके आकर्षण का केन्द्र स्वार्थ न होकर दिव्य हो जाता है। श्री अरविन्द ने हमारा ध्यान इस ओर दिलाया है कि तामसिक समर्पण में अपने आपको निष्क्रिय बना देना एक प्रवंचना है जिसके कारण मनुष्य न स्वतंत्र हो पाता है न पूर्ण।

द्वितीय अवस्था

इस अवस्था में साधक यह अनुभव करता है कि उस पर स्वार्थ की पकड़ शनैः शनैः कम हो रही है अब वह अपने को ईश्वर का दास न मानकर ईश्वर की इच्छा की पूर्ति का एक निमित्त मात्र मानता है। यह कार्य सरल नहीं है। किन्तु धीरे धीरे साधक यह अनुभव करता है कि उसके बाह्य कर्म भी मातृशक्ति को ही समर्पित है और वह उनका साक्षी मात्र है। जैसे जैसे यह भाव बढ़ता है मातृशक्ति की अनुभूति बढ़ने लगती है। इस अवस्था में साधक में कर्तृत्व का भाव सदा के लिए लुप्त हो जाता है। वह अपने आपको मातृशक्ति के सम्मुख उसी प्रकार समर्पित कर देता है जिस प्रकार किसी मैकेनिक के हाथ में मशीन रहती है। उसे कोई दमन करने की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु इस अवस्था में उसे दो खतरों से बचना होता है। (१) पहला खतरा यह है कि क्योंकि साधक उदासीन हो जाता है इसलिए उसमें छिपी हुई तमोमयी शक्तियाँ इस स्थिति का लाभ उठाकर उस पर हावी हो सकती हैं। साधक को यह सावधानी बरतनी चाहिए कि वह मातृशक्ति के सम्मुख ही समर्पित हुआ है न कि विरोधी शक्तियों के प्रति। यदि उसका समर्पण निर्दोष और पूर्ण है तो दिव्य उसकी रक्षा करता है। (२) दूसरा खतरा यह है कि मातृशक्ति के निमित्त बनने का भाव कहीं साधक को अहङ्कार से न भर दे और उसमें छिपी हुई महत्त्वाकांक्षा को जाग्रत न कर दे। ऐसी स्थिति में उसे अपना दास्यभाव बनाये रखना चाहिए और यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसने परिपूर्णता को उपलब्ध कर दिया है। वस्तुतः निमित्त बन

जाने का सूक्ष्म अहङ्कार बना रह सकता है। इस अहङ्कार को भी तृतीय अवस्था में जीतना होता है।

तृतीय अवस्था

तृतीय अवस्था में साधक अपनी चेतना को मातृशक्ति की चेतना से पूर्णतः एकाकार कर देता है। अब वह न दास रहा और न निमित्त। उसकी आत्मा प्रकृति से मुक्त हो जाती है और वह मातृशक्ति की भुजाओं में पूर्णतः विश्राम पाता है। इस अवस्था में उसका अहङ्कार और इच्छायें पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं। तब वह माँ के हाथों में एक बच्चे की तरह रहता है। साधक और मातृशक्ति एक रूप हो जाते हैं। साधक उस समय मातृशक्ति के सत्, चित् और आनन्द का एक भाग हो जाता है।

यह तृतीय अवस्था समर्पण की उच्चतम स्थिति है। इस स्थिति में कामात्मा का स्थान अन्तरात्मा ले लेता है। यही सच्चिदानन्द का रूप है और पूर्णयोग का यही अन्तिम लक्ष्य भी है।

MIND IS LIMITED,
IT CAN'T SEE BODY OF GOD

If Mind is all, renounce the hope of bliss;
If Mind is all, renounce the hope of Truth.

For Mind can never touch the body of Truth
And Mind can never see the soul of God;
Only his shadow it grasps nor hears his laugh
As it turns from him to the vain seeming of things.

—Savitri pp. 645-646

अहङ्कार कामात्मा

अहङ्कार की समझ

सामान्यतः हम यह मान लेते है कि आधे-अधूरे आचार-मीमांसीय नियमों का पालन करके और तदनुसार दमन करके हम अहङ्कार को जीत लेंगे। वस्तुतः साधक के लिए अहङ्कार के स्वभाव को समझना आवश्यक है क्योंकि ऐसा आभास होता है मानो अहङ्कार शक्ति का सूचक है जबकि अहङ्कार वस्तुतः अज्ञानजनित शक्ति का सूचक है जबकि वास्तविक शक्ति तो ज्ञान है और जब तक ज्ञान न हो तब तक शक्ति प्राप्त नहीं होती और जब तक शक्ति न हो तब तक अध्यात्म में प्रगति नहीं हो सकती। मनुष्य की प्रकृति अत्यन्त जटिल है और इसे धैर्यपूर्वक ही पवित्र किया जा सकता है ताकि प्रकृति पराप्रकृति में बदल सके। इसके लिए दमन की अपेक्षा समझ से काम लेना आवश्यक है।

अहङ्कार से मुक्ति

अहङ्कार के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यतायें हैं— १. एक मान्यता तो यह है कि अहं से ही विश्व बना है और अहं एक सार्वभौम अहं का अंश है। अहं के द्वारा उत्पन्न विश्व मुक्ति की अवस्था में समाप्त हो जाता है और व्यष्टि समष्टि में लीन हो जाता है यह शाङ्करवेदान्त का मत है। २. दूसरी मान्यता यह है कि मुक्ति की अवस्था में व्यष्टि का अहं सारे विकारों से मुक्त हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में बनी रहती है। यह जैन मत है।

भूत

जहाँ तक अहं की उत्पत्ति का सम्बन्ध है उपनिषद् में कहा गया है कि प्रजापति ने यह कामना की कि वह एक है और अनेक हो जाये— **एकोऽहं बहुस्याम्**। इस कामना के कारण सर्वप्रथम भूतात्मक जगत् बना जिसका आधार अणु है। ये अणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं और अनन्त हैं। इस प्रकार एक अनेक हो गया और अणुओं से ही सूर्य, चन्द्र तथा ग्रहनक्षत्र बने। इनके परस्पर आकर्षण और विकर्षण से भूतात्मक सृष्टि का स्वरूप बनता है। किन्तु अणुओं से बनने वाला जगत् जड है और यांत्रिक है।

प्राण

इस जड जगत् से प्राण का विकास हुआ जो चेतना का प्राथमिक स्वरूप है। वनस्पति में प्राण का अविकसित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ये अन्तःसंज्ञ कहलाती है। भूत सृष्टि में अहं दिखाई नहीं देता किन्तु वनस्पति जगत् में अहं प्रकट होता है। किन्तु यह अहं अभी अवचेतन रूप में है जो विकसित नहीं है। यह अहं सामान्य है, विशिष्ट नहीं। इस अहं के कारण वनस्पति की संरचना में वह जटिलता आ जाती है जो भूत सृष्टि में नहीं है। वनस्पति सोती और जागती है, सुख दुःख का अनुभव करती है और बाहर होने वाली क्रिया की प्रतिक्रिया भी करती है तथा अपनी आत्मरक्षा का प्रयत्न भी करती है—**अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः**। मानों जो चेतना भूत सृष्टि में सोयी थी वनस्पति सृष्टि में वह जाग जाती है।

मन

प्राण के बाद मन का विकास होता है। पशु सृष्टि में निम्नस्तर के पशुओं में यह मन बुभुक्षा के रूप में कार्य करता है। यह चेतना का अधिक विकसित रूप है। जहाँ यांत्रिक गतिविधि के स्थान पर प्रेम, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या इत्यादि भावनायें प्रकट होती हैं। कुछ अधिक विकसित पशुओं में तर्क की शक्ति भी झलकती है। यह अवचेतन अहंकार का स्वरूप है। इस अहंकार के कारण पशु को अपने

स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध होता है, यद्यपि वह कोई अपना व्यक्तित्व नहीं बना पाता और एक जाति के सभी पशुओं में प्रायः एक ही प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

मनुष्य

पशु के अर्धचेतन अहं से आगे विकसित होकर मनुष्य का चेतन अहं बनता है, जो वर्तमान तक के विकास का अन्तिम चरण है। मनुष्य का मन तर्क कर सकता है और कल्पना भी कर सकता है। यहाँ व्यष्टिगत अहं मुख्य हो जाता है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरे अहं से संघर्ष करता रहता है। इस अहं को यह भ्रम रहता है कि यह स्वतन्त्र है। मनुष्य में आकर प्रजापति की एक से अनेक होने की इच्छा पूरी होती दिखाई देती है। किन्तु मनुष्य अभी अज्ञान में जी रहा है। वह ज्ञान प्राप्त तो करना चाह रहा है किन्तु उसे ज्ञान प्राप्त हुआ नहीं है। इसलिए वह विकसित है किन्तु पूर्ण नहीं है; वह पूर्ण होने के लिए संघर्ष कर रहा है। उसे अभी अभेद का आभास नहीं है। वह प्रत्येक दृष्टि से सीमित है। इस प्रकार अहं वर्तमान में मनुष्य के बीच मानसिक चेतना के रूप में आ गया है किन्तु दिव्य चेतना से दूर है। इस प्रकार प्रजापति की एक से अनेक होने की इच्छा अभी इस अर्थ में पूरी नहीं हो पायी है कि वह अनेक होने पर भी अनेक दिव्यों को जन्म नहीं दे सकता है। इसके लिए मनुष्य को अपने अहं का अतिक्रमण करके अनन्त में फैलना होगा। अहं ने अपना कार्य कर दिया है और अब इसे विलीन होना होगा ताकि दिव्य मानव का जन्म हो सके और व्यक्ति 'अनन्त पुरुष' का रूप ले सके।

विकास का क्रम

इस प्रकार अहं का कार्य अज्ञान से ग्रस्त पृथक् व्यक्तित्व का निर्माण है। अहं के बिना व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता था। जड से एक दम दिव्य तक पहुँचने के लिए अहं-केन्द्रित विभाजन में से गुजरना आवश्यक था। विकास के सभी चरणों में पीछे से अज्ञान से आवृत्त आत्मा ही कार्य कर रही है। किन्तु उसका कार्य क्रमिक रूप से हो रहा है। पाषाण और धातुओं में वह गहराई में दबी हुई

है और उसकी उपस्थिति का पता नहीं चलता। वनस्पति जगत् में वह प्रतिक्रिया करने की सामर्थ्य के कारण अपनी उपस्थिति स्पष्ट रूप से दर्ज कराती है। पशु जगत् में वह भावना के रूप में अपना कार्य करती है और इस प्रकार धीरे धीरे सामने आती है। उच्चस्तरीय पशुओं में अहं भी प्रकट होता है। किन्तु मनुष्य में अहं स्पष्ट रूप से आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य में तर्क ही नहीं अन्तर्दृष्टि की भी सामर्थ्य दिखाई देती है। अब मनुष्य अपना अतिक्रमण करना चाहता है और इसलिए अहं के विलीन होने की आवश्यकता है। किन्तु मनुष्य को ईश्वर के मनोरथ का पता नहीं है और वह अपनी ही इच्छाओं के बीच जकड़ा रहता है। उसकी मानसिक चेतना के मध्य वह सीमाओं के बीच तर्क के आधार पर अपना जीवन चलाता है। वह भेद मान कर जीवित रहता है। उसे अभेद का आभास नहीं होता। इन कमियों के बावजूद विकास में वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी है क्योंकि वह अभेद की ओर प्रस्थान कर रहा है। वह इच्छाओं में रहते हुए भी अनन्त की कामना करता है। वह भूत जगत् और दिव्य जगत् के बीच एक सेतु है। वह प्रजापति के निकटतम है— **प्रजापतेर्वै नेदिष्टः पुरुषः**।

अहं के तीन प्रकार

अहं तामसिक, राजसिक या सात्विक हो सकता है। तामसिक अहं आलस्य से भरा रहता है और वह किसी प्रकार का ऐसा प्रयत्न नहीं करता जिसका लक्ष्य ऊँचा हो। राजसिक अहं अपने को सर्वोपरि मानता है। वह अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है। तामसिक अहं मूढ है जबकि राजसिक अहं गतिशील है। सात्विक अहं शान्त है किन्तु उसकी शान्ति मन के कारण सीमित है। सात्विक मन में अपने प्रति अभिमान का भाव रहता है। राजसिक अहं में इच्छा और वासना है, तामसिक अहं में आलस्य है किन्तु सात्विक अहं में ऐसे गुण रहते हैं जिनके कारण सात्विक व्यक्ति मानवकल्याण के कार्य करता रहता है। सात्विक मन का अहंकार सेवाकार्य अथवा ईश्वर की पूजा से पुष्ट होता रहता है; वह ईश्वर को भी अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए काम में लेता है; उसकी ईश्वर पूजा निष्काम नहीं होती। यह सात्विक अहं भी है बन्धन

ही, जिसके तोड़े बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। श्री अरविन्द का दिव्य जीवन तो मुक्ति के भी आगे की बात है।

अहंकार मनुष्य की प्रकृति में सर्वव्यापक है। वह शरीर, इन्द्रियाँ, हृदय, बुद्धि और सभी कर्मों में व्याप्त है। मुक्ति और पूर्णता की प्राप्ति अहं के निराकरण के बिना सम्भव नहीं है। उसे सभी ओर से निकालना आवश्यक है। यह अहं आत्मा की छायामात्र है जिसका दूर होना आवश्यक है ताकि आत्मा प्रकट हो सके। अहं की समाप्ति मनुष्य में दिव्यता का प्रारम्भ बिन्दु है।

अहं तथा कामात्मा

श्री अरविन्द के अनुसार जीव का लक्ष्य यह है कि वह परमात्मा से जुड़ कर सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति का एक केन्द्र बन सके और अपने समस्त व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर सके। उनके अनुसार व्यक्तित्व का विलय नहीं करना है अपितु सार्वभौम सत्ता के वैभव को प्रकट करना है। यह तभी सम्भव है जब वह अपने व्यक्तिगत उद्देश्य और स्वार्थ को छोड़ सके। उसे वह अहं भी छोड़ना है जिस अहं के कारण वह दूसरों से अपने कृत्रिम और ऊपरी सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यदि वह दूसरों से अपने को पृथक् अनुभव करता है तो चाहे वह बुद्धि, पद अथवा मानवीय कार्यों की दृष्टि से कितना भी ऊँचा क्यों न हो किन्तु वह अभी अज्ञान में ही जी रहा है। अपने अहंकार को विस्तार देकर व्यक्ति दूसरों से सामाजिक रूप से जुड़ सकता है, किन्तु यह जुड़ाव मानसिक अथवा भावात्मक ही है, अनुभवात्मक नहीं। चाहे वह दूसरों के लिए ही क्यों न जी रहा हो, किन्तु उसका आधार सूक्ष्म या स्थूल अपनी वे वरीयतायें और पसन्द हैं जिन्हें वह अपने अज्ञान में पाल लेता है। अहं को छोड़े बिना वह अनन्त से और नित्य से नहीं जुड़ सकता। यदि वह अध्यात्म में प्रवेश भी करेगा तो वह आभु और अभ्व में विरोध मानेगा क्योंकि उसकी आदत विरोध में विभक्त करके देखने की है। इसलिए साधक को यह सावधानी बरतनी है कि वह व्यक्ति के रूप में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखते हुए भी सब के साथ और दिव्य के साथ अपने को एकाकार अनुभव करे।

बाह्य भाग का अहङ्कार

श्री अरविन्द यह मानते हैं कि यदि साधक के आन्तरिक भाग अहंकार से मुक्त हो जायें और बाह्य भाग मुक्त न हों तो योग का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि उनके अनुसार योग का उद्देश्य आत्मा की मुक्ति ही नहीं है, प्रकृति की मुक्ति भी है और जब तक अहंकार का थोड़ा सा भी अंश शेष रहता है तब तक पूर्ण मुक्ति नहीं हो सकती।

समर्पण

अहङ्कार से मुक्त होने का सबसे प्रथम साधन यह है कि साधक मातृशक्ति के प्रति अपने आपको समर्पित कर दे। उसे मातृशक्ति पर पूरा विश्वास रखना चाहिए। कोई भी मनुष्य केवल अपने बल पर अतिमानस का अवतरण नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक मातृशक्ति के प्रकाश को अपने में कार्य करने दें। मनुष्य एक प्रकार का बन्द कमरे जैसा है इसलिए उसे मातृशक्ति के लिए खिड़कियाँ खोलनी होगी ताकि वह शक्ति अपना कार्य कर सके। इसके लिए उसे किसी प्रकार का प्रतिरोध किये बिना प्रकाश और शक्ति को आने देना होगा। मातृशक्ति चारों ओर सदा उपस्थित है, केवल पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ उसकी उपस्थिति को अनुभव करने की आवश्यकता है।

सिद्धान्त तथा विचार का भी समर्पण

इसके लिए समर्पण आवश्यक है। यदि हमारा प्रतिरोध बना रहता है तो वह शक्ति अपना कार्य नहीं कर सकेगी। यह समर्पण सम्पूर्ण व्यक्तित्व का होना चाहिए। होता यह है कि हम प्रायः अपने शरीर और प्राण का समर्पण करने का प्रयत्न तो करते हैं किन्तु अपने विचार और सिद्धान्तों का बचाये रखते हैं; इसके कारण मातृशक्ति अपना कार्य नहीं कर पाती। **यह आशा नहीं करनी चाहिए कि दिव्य शक्ति हमारे मानसिक विचारों के अनुसार कार्य करेगी। वस्तुतः हमारे विचार अज्ञान में घिरे हैं। इसलिए यदि मातृशक्ति हमारे मानसिक विचारों के अनुसार कार्य करने लगे तो वे कार्य अज्ञान को ही बढ़ायेंगे।**

कर्म में समर्पण

'मैं' के स्थान पर 'तू' तथा 'मेरे' के स्थान पर 'तेरा' कहना चाहिए। जिस प्रकार अज्ञान में हम अपने को ही केन्द्र में रखे हैं उसी प्रकार साधना में दिव्य को केन्द्र में रखना चाहिए। साधक अपनी प्रत्येक गतिविधि में दिव्यता को देख सके, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। अहंकार का विस्तार सर्वव्यापक है। इसलिए उसका निराकरण भी प्रत्येक क्रिया में से करना होगा। अभिप्राय यह है कि साधक जो भी क्रिया करे उसमें दिव्यता का अनुभव करे क्योंकि क्रिया में ही हमारी पूरी ऊर्जा लगती है और हमारा अहंकार उभर कर हमारे सामने आता है। ऐसी स्थिति में क्रिया में ही अहंकार को पहचान कर उस पर मातृशक्ति का प्रकाश डाला जा सकता है। निवृत्तिपरक मार्ग में यह सम्भव नहीं है क्योंकि इस मार्ग में साधक अपने को क्रियाओं से विमुख कर लेता है। श्री अरविन्द का मत है कि साधक को जीवन में ही दिव्यता लानी चाहिए न कि किसी एकान्त, शान्त स्थान में।

पुरुषार्थ

अहङ्कार के पाश से मुक्त होने के लिए जीव का पुरुषार्थ आवश्यक है। जीवात्मा ही यह प्रयत्न करती है कि सामञ्जस्य प्रकाश, प्रेम और आनन्द प्राप्त हो सके। इनकी प्राप्ति प्रथम मन या हृदय में होती है और बाद में दूसरे भागों में। जीवात्मा का यह प्रयत्न पृष्ठभूमि से तो सदा होता रहता है। किन्तु साधना के द्वारा उसे सामने लाना चाहिए। जीवात्मा के प्रयत्न के बिना अहंकार अपनी कामनाओं की पूर्ति में लगा रहेगा। परोपकार में अपना सब कुछ त्याग देने वाला भी सूक्ष्म अहंकार को पाले रखता है। जीवात्मा के प्रयत्न करने पर भी अहंकार अकस्मात् नहीं जाता क्योंकि इसकी जड़ें बहुत मजबूत हैं। इसके लिए मातृशक्ति से कृपा की प्रार्थना करनी चाहिए।

कामना

अहङ्कार कामनाओं से घिरा रहता है। यह कामना तामसिक, राजसिक या सात्विक हो सकती हैं। **वासना, लोभ तथा ईर्ष्या जैसी वृत्तियों को आसानी से पहचाना जा सकता है। किन्तु दान, परोपकार और समाजकल्याण की सूक्ष्म इच्छाओं को**

पहचानना कठिन है। इन प्रवृत्तियों के कारण व्यक्ति को प्रशंसा और सम्मान भी मिलता है और उसे ये पता ही नहीं चलता कि उसका अहंकार पुष्ट हो रहा है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि अशुभ के स्थान पर शुभ को लाना चाहिए। किन्तु शुभ अहंकार के स्थूल रूप को ही दूर कर सकता है। वस्तुतः अपने को दूसरों से भिन्न मानने वाली चेतना अहङ्कार को ही पुष्ट करती है। इसलिए साधक का उद्देश्य केवल दिव्य की प्राप्ति होना चाहिए, परिवार, समाज, देश अथवा मानवता उसका लक्ष्य नहीं है। छोटी से छोटी इच्छा भी अध्यात्म में बाधक बन जाती है। इसलिए गीता में सभी प्रकार की इच्छाओं को समाप्त करने की बात कही गयी है। इच्छा के बने रहने का अर्थ है, अहंकार का बने रहना। अतः सर्वप्रथम आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए क्योंकि यदि अपने स्वरूप को ठीक से जान लिया जाये तो इच्छाओं से मुक्त हुआ जा सकता है। जीवात्मा को सामने लाने पर भी इच्छाओं से मुक्त हुआ जा सकता है, क्योंकि जीवात्मा की स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती; वह केवल दिव्य को चाहती है।

श्री अरविन्द ने सचेत होने पर बल दिया है। सचेत होने का अर्थ है कि साधक अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सचेत रहे। हमारा वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक है। यह आनन्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता इसलिए इसका किसी और के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है और न इसका कोई पृथक् अहंकार है। जब हम अपनी सत्य चेतना में रहते है तो उस समय समन्वय और सन्तुलन बना रहता है और तब देख सकते है कि किस प्रकार अहंकार नये नये चेहरे लाकर हमें धोखा देता है। उस समय अहंकार हास्यापद दृष्टिगोचर होता है। जिसे आत्मसाक्षात्कार हो गया वह किसी पुरस्कार या सम्मान की इच्छा नहीं करता। तब उसे यह पता चलता है कि अहंकार अज्ञान से पैदा होता है।

कर्मशीलता

इसका यह अर्थ नहीं है कि आध्यात्मिक व्यक्ति कोई कार्य नहीं करेगा। बल्कि उसकी सर्जनात्मक शक्ति और प्रतिभा और अधिक बढ़ जायेगी। इतना ही है कि वह अपनी प्रतिभा को अपनी न मानकर ईश्वर का वरदान समझेगा और वह इसे एक साधन से अधिक महत्त्व नहीं देगा। वह दूसरों की उपलब्धि में भी उतना

ही सुख अनुभव करेगा जितना सुख वह अपनी उपलब्धि में अनुभव करता है। क्योंकि उसके लिए सभी उपलब्धियाँ ईश्वर की उपलब्धियाँ है। ऐसी स्थितियों में मनुष्य को अपनी इच्छाओं और अहङ्कार का पता चलता है और वह मातृशक्ति से इन्हें दूर करने की प्रार्थना करता है।

चेतना का विस्तार

अहङ्कार को दूर करने का एक दूसरा उपाय यह है कि चेतना का विस्तार किया जाये। यदि अन्दर का केन्द्र पता चल जाता है तो यह कार्य सरलता से किया जा सकता है। जीवात्मा के केन्द्र में स्थित होने पर साधक मन से ऊपर उठ सकता है। यदि अहंकार की ग्रन्थि शिथिल कर दी गयी है तो दिव्य का अवतरण सरलता से हो सकता है और व्यक्ति अहंकार से बाहर आकर विश्वात्मा से जुड़ सकता है। इस अवस्था में अलौकिक अनुभव हो सकते हैं। साधक को यह पता चलता है कि वाक्, प्राण और मन एक छोटी सी ग्रन्थि मात्र है। उस समय इसे पूर्ण अस्तित्व का कार्य दिखायी देता है। किन्तु नीचे की ओर उसका अहंकार उसे अपनी ओर खींचता है और वह अनेक बार उच्च स्तर से नीचे गिर जाता है। किन्तु ऐसा थोड़े समय के लिए ही होता है। उत्थान और पतन दोनों के बीच में मातृशक्ति उसे अन्ततोगत्वा मुक्ति की ओर ले जाती है। उसकी चेतना अन्ततोगत्वा ऊर्ध्वगामी बन जाती है और अहंकार समाप्त हो जाता है। ऊपर का प्रकाश निम्न स्तर पर भी अपना कार्य करता है तो साधक को एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है किन्तु अभी भी अहंकार बना रहता है।

मूलभूत अहम्भाव

इस समय होने वाला परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है यद्यपि यह मौलिक परिवर्तन नहीं है क्योंकि अहंकार निम्नस्तर पर अपना कार्य करता रहता है और स्वैच्छिक गतिविधियों, आदतों और प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति अहंकार को दूर कर भी दे तो भी मूलभूत अहम्भाव बना रहता है। श्री अरविन्द ने इसे 'केवल अहं' (Sheer Ego) कहा है जो अज्ञान का कार्य चलाता रहता है। जब तक इससे छुटकारा न हो तब तक पूर्ण मोक्ष नहीं होता। यह

विस्तृत, शुद्ध और अधिक लचीला होता है इसलिए इससे छूटना आसान है। इससे छूटकर हम उस पुरुष तक जाते हैं जिस पर यह अहं टिका है और जिसकी यह अहं एक छायामात्र है। इस अहंकार से छुटकारा पाने के लिए साधक को उच्चतर मन, अलौकिक मन और अन्तर्दर्शन से ऊपर उठकर अधिमन तक जाना होता है। अधिमन के स्तर पर चेतना सार्वभौम हो जाती है और सारे अहंकार के बन्धन टूट जाते हैं और पृथक्त्व का भाव काफी मात्रा में दूर हो जाता है। साधक इस अवस्था में अपने को सार्वभौम एकता से जुड़ा हुआ अनुभव करता है। किन्तु उसे कभी कभी अहंकार का छुपा हुआ अंश प्रभावित कर सकता है। अधिमन में यद्यपि एकता का भाव रहता है किन्तु एकता के साथ पूर्ण संश्लेष नहीं हो पाता। अहंकार का पूर्ण निराकरण अतिमन के स्तर पर ही होता है जिसके लिए मातृशक्ति की अतिमानस शक्ति का अवतरण आवश्यक है।

गतिशील मुक्ति

श्री अरविन्द के अनुसार अहंकार से मुक्ति का अर्थ समाधि में जाना नहीं है अपितु यह एक गतिशील मुक्ति की स्थिति है, जिस पर अहंकार का प्रभाव नहीं है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति का पूरा व्यक्तित्व रूपान्तरित हो जाता है और अवचेतन भी बदल जाता है। इसका अर्थ पूर्ण एकाकारिता है। यह अतिमानस महाशक्ति का पदार्थ में अवतरण है। अहंकार के चले जाने पर द्वैत का दुःस्वप्न समाप्त हो जाता है और नैतिक द्वन्द्व से मुक्ति हो जाती है। उस समय साधक अपने में सबको और सब में अपने को देखता है और पूर्ण आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

आनन्दमय चैत्यपुरुष

अहंकार वाली कामात्मा के साथ व्यक्ति में चैत्यपुरुष की आनन्दात्मा भी है। कामात्मा अहंकार के कारण पृथक्त्व का अनुभव करती है किन्तु आनन्दात्मा अमृत रूप है। कामात्मा एक सीमा तक मन के विकास में सहायक होती है किन्तु अन्त में रूपान्तरण में सबसे बड़ी बाधा भी यही है।

आनन्दात्मा की प्रकृति

आनन्दात्मा प्रकृति का नित्य रूप है जिसमें प्रेम और आनन्द है। जिस प्रकार मन विज्ञान-पुरुष से आता है और शरीर सत् से आता है उसी प्रकार आनन्दात्मा आनन्द से आती है। प्रारम्भ में यह आनन्दात्मा हमारी औपाधिक प्रकृति के पीछे छिपी रहती है जहाँ से ये अपना कार्य करती है। यह अनश्वर है और यह कभी दूषित नहीं होती। इसे सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का सीधा ज्ञान होता है। यह ईश्वरत्व की ज्योति है जो जडता से कभी बुझती नहीं है। यह अज्ञान को ज्ञान में बदलती है। यह साक्षी है। मृत्यु इसे छू नहीं पाती। यह नैतिकता से ऊपर है। यह सत्य और सुन्दरता तथा प्रेम और सामञ्जस्य की ओर इङ्गित करती है। यह हम में दिव्यता की सम्भावना है।

इसका स्थान हृदय के पीछे है। यह हमारे शरीर, प्राण और मन के विकास में सहायक है। इसमें दिव्य के प्रति प्रेम और भक्ति भरी हुई है। मातृशक्ति के विकास के क्रम में इसका अवतरण होता है और यह उसकी इच्छा को जानती है।

जीव

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि श्री अरविन्द जीव अथवा जीवात्मा का प्रयोग एक विशेष अर्थ में करते हैं। सामान्यतः जीव का अर्थ देही आत्मा समझा जाता है जो जन्म जन्मान्तर में भ्रमण करती है। किन्तु परम्परा में इसके संसार में आने का प्रयोजन नहीं बताया जाता। श्री अरविन्द के अनुसार पराप्रकृति ही असंख्य जीवात्मा बन गयी है— **पराप्रकृतिर्जीवभूता**। सभी जीव परमात्मा से जुड़े हैं। यह जीवात्मा विकास की अधिष्ठात्री है। चैत्यपुरुष इसका प्रतिनिधि है। जीवात्मा में प्रकृति के विकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जीवात्मा मनोमय पुरुष, प्राणमय पुरुष और अन्नमय पुरुष का प्रक्षेपण करती है। चैत्यपुरुष मध्य में है और यह तीन पुरुष उसके साधन हैं। जब चैत्यपुरुष जाग जाता है तो वह जीवात्मा से जुड़ जाता है और तब चैत्यपुरुष को अपनी सार्वभौमिकता और एकाकारिता का आभास होता है। वहाँ से यह अतिक्रमण कर सकता है।

चैत्यपुरुष का कार्य

चैत्यपुरुष आत्मा है जो विकास के क्रम में भागीदार है। यह अज्ञान को ज्ञान में रूपान्तरित कर देती है। यह अन्तरात्मा अथवा चैत्यपुरुष जीवात्मा से भिन्न है। जीवात्मा का विकास में कोई स्थान नहीं जबकि चैत्यपुरुष विकास के केन्द्र में है। इसलिए चैत्यपुरुष का बहुत अधिक महत्त्व है। जब तक यह चैत्यपुरुष न जागे तब तक कोई विकास नहीं हो सकता। हमारी सामान्य प्रकृति चैत्यपुरुष के प्रभाव के बिना दिव्य के प्रति कभी आकृष्ट नहीं होती। जहाँ भी अनन्त के लिए अभीप्सा होती है अथवा अहंकार के रूपान्तरण की इच्छा होती है वहाँ चैत्यपुरुष ही कार्य करता है। यदि व्यक्ति भौतिक जगत् में ही फँसा है तो यह मानना चाहिए कि उसका चैत्यपुरुष अभी जागा नहीं है। चैत्यपुरुष सत्य और मिथ्या में, सुन्दर और कुरूप में, अच्छे और बुरे में, दिव्य और अदिव्य में भेद कर सकता है। जब यह जाग जाता है तो आनन्द और शक्ति के साथ प्रकाश की यात्रा पर निकलता है। यह दिव्य की पुकार को तत्काल सुन लेता है। चैत्यपुरुष दिव्य के प्रति उसी प्रकार समर्पित होता है जिस प्रकार अहंकार लौकिक विषयों के प्रति

आकृष्ट होता है। यह दिव्य का मन्दिर है। इसके कारण कभी दुष्ट व्यक्ति भी बदल कर साधु हो जाता है। यही व्यक्ति को आध्यात्म के लिए प्रेरित करता है।

चैत्यपुरुष का उद्देश्य

चैत्यपुरुष का संसार में आने का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म को छोड़कर सभी धर्मों में आत्मा को माना गया है। बौद्ध धर्म में आत्मा की कोई स्थिति नहीं इसलिए वहाँ जीवन का उद्देश्य दुःख से छुटकारा पाकर शून्य में चला जाना है। इसाईयों के अनुसार जीवन एक तैयारी की स्थिति है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वर्ग में जा सकता है बशर्ते है कि वह पवित्र और दानशीलता का जीवन जिये। वह जो कुछ भी करना चाहे, इस छोटे से जीवन में ही कर सकता है। वेदान्त के निवृत्तिमार्ग में जीवन मिथ्या है और इसलिए इससे छुटकारा पा जाना ही बुद्धि मत्ता का कार्य है। भक्ति मार्ग के अनुसार नित्यलीला में लीन रहना जीवन का उद्देश्य है। प्रश्न यह है कि आत्मा संसार में आयी ही क्यों? श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा दिव्य के अनन्त केन्द्रों में से एक केन्द्र है जिसका उद्देश्य दिव्य को विकास के द्वारा व्यक्तिगत स्तर पर प्रकट करना है। परमसत्ता जब अपने को अभिव्यक्त करना चाहती है तो आत्मा उसमें सहायक होती है। आत्मा का संसार में होना इस बात का सूचक है कि दिव्यता है और वह अभिव्यक्त होना चाहती है।

चैत्यपुरुष की अभीप्सा यह है कि शरीर, प्राण और मन में दिव्यता का अवतरण हो सके। यह सम्भव है कि शान्ति की खोज में चैत्यपुरुष अपने को नीरवता में लीन कर दे किन्तु यह उपलब्धि ईश्वर द्वारा दिये गये उद्देश्य से भटका देती है। इसलिए श्री रामकृष्ण ने विवेकानन्द को अपने जीवन का उद्देश्य पूरा करने के लिए कहा, न कि समाधि में जाने के लिए। समाधि की खोज में चैत्यपुरुष निर्वैयक्तिक होने की कामना कर सकता है। किन्तु इतने मात्र से उसका सन्तोष नहीं हो सकता। उसे सभी शारीरिक क्रियाओं में और हृदय तथा मन में भी दिव्यता का अवतरण करना होता है। इसलिए उसका अवतरण हुआ है। उसे शनैः शनैः जडता और अस्पष्टता पर विजय पाकर सामञ्जस्य की ओर बढ़ना होता है। इस प्रकार वह मृत्यु, अंधकार और भेद की भावना से ऊपर उठता है।

समर्पण

चैत्यपुरुष के जागरण के दो उपाय हैं। पहला उपाय दिव्य के प्रति प्रेम और भक्ति का है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति को अपने आपको समर्पित करना होता है ताकि चैत्यपुरुष सामने आ सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने को देह से भिन्न समझे और अपने को ईश्वर का अंश माने। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। प्रतिकूल शक्तियों के विरोध में यह भाव चट्टान की तरह खड़ा रहता है। शनैः शनैः साधक दिव्य के प्रति समर्पित होता है और अज्ञान तथा अहंकार से छूट जाता है। इसके लिए साधक को अपनी अभीप्सा निरन्तर बढ़ाती रहनी चाहिए। किन्तु चैत्यपुरुष का जाग जाना ही पर्याप्त नहीं, उसे सामने भी आना चाहिए और प्रकृति पर नियंत्रण बनाना चाहिए। इस प्रकार व्यक्ति के दूसरे भाग भी प्रेम, भक्ति और समर्पण से भर जाते हैं। तब वह केवल दिव्य के प्रति ही आकृष्ट होता है।

उच्चतर चेतना का अवतरण : दूसरा उपाय

चैत्यपुरुष के जागरण का दूसरा साधन यह है कि उच्चतर चेतना का मन में अवतरण हो। यह तब होता है जब साधना में मन मुख्य हो जाये और भावना मुख्य न हो। इन दोनों उपायों में से कोई सा भी उपाय क्यों न हो किन्तु परिपूर्णता और मोक्ष के लिए चैत्यपुरुष का जागरण आवश्यक है।

माताजी ने चैत्यपुरुष के साक्षात्कार का उपाय बताते हुए कहा है, 'हृदय पर ध्यान केन्द्रित करें और जितना अधिक गहरा और दूर से दूर जा सकें, जायें। अपनी चेतना के समक्ष विस्तार को एकत्रित करके छलांग लगा दें और डूब जायें। वहाँ हृदय के गहरी शान्ति में एक अग्नि जल रही है वो साधक की आन्तरिक दिव्यता है। उसकी आवाज सुनें और उसका पालन करें।' पहली आवश्यकता यह है कि हमारा प्रेम आनन्दपूर्ण हो। हम शान्त और समता में रहें तथा जीवन के साधारण स्वरूप के प्रति हमारा असन्तोष बढ़ता रहे। जैसे जैसे हम दिव्य के प्रति बढ़ते हैं सांसारिक विषय हमें नीरस नजर आने लगते हैं। एक दिन प्रकाश ही शेष रह जाता है। ऐसा अनुभव सामान्य जीवन में कभी नहीं होता। उसकी हम कल्पना

भी नहीं कर सकते। वह चेतना का दूसरा स्तर है। उस समय हमें पता चलता है कि हम वस्तुतः अनन्त और अमर हैं। हम विचार या भावना के द्वारा उसे नहीं जान सकते। वह अधिक गहरा और मौलिक है। वह हमारी चेतना का मूल स्वरूप है। तब हमें पता चलता है कि हम संघर्ष और दुःख में नहीं पल रहे। तब एक आवरण हट जाता है। तब हमारा दिव्य के प्रति प्रेम और भक्ति उमड़ पड़ती है। यह मानसिक या प्राणिक प्रयत्न से नहीं होता अपितु इसी प्रकार स्वाभाविक होता है जिस प्रकार सूरजमुखी का फूल स्वतः सूर्य की ओर मुड़ जाता है। उस समय वस्तुतः अभीप्सा भी समाप्त हो जाती है और कृतकृत्यता का भाव प्रकट हो जाता है। वह स्थिति शब्दातीत है। एक अनन्त शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है और कोई उतार चढ़ाव नहीं होता।

निष्कर्ष

यह अनुभव व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुसार एक जैसा होने पर भी भिन्न होता है। कुछ साधक अपने व्यक्तित्व को खो देना चाहते हैं किन्तु यह प्रवृत्ति वर्तमान में सौभाग्य से कम होती जा रही है। आज मनुष्य अधिक विस्तृत हो गया है और वह पलायन की अपेक्षा गतिशील रहना चाहता है।

अभीष्ट नीरव एकान्त नहीं अपितु गतिशील सक्रियता है

शाङ्कर वेदान्त में एक ऐसी मोक्ष की अवधारणा है जहाँ व्यष्टि समष्टि में खो जाता है, तब निर्वैयक्तिक शान्त, नीरव, मौन शेष रह जाता है तथा इन्द्रिय और मन के माध्यम से जाना गया जगत् मिथ्या हो जाता है। वहाँ सब कुछ अचिन्त्य है, नामरहित है, दिक् काल से परे है। जहाँ जीवन का बोझा नहीं है। वहाँ न सुख है न दुःख। वहाँ अहंकार नहीं है, जन्म-मरण नहीं है।

दिव्यता में गतिशीलता

किन्तु श्री अरविन्द के पूर्णयोग में जीवन का उद्देश्य यह नहीं है। पूर्णयोग के अनुसार जीवन का उद्देश्य दिव्य के साथ गतिशील एकता स्थापित करना है। यह व्यक्तिगत मोक्ष या शान्ति से सिद्ध नहीं होता। चैत्य पुरुष का अनुभव हमारी चेतना में एक मूलभूत अन्तर ले आता है। वह ऐसा अनुभव है जहाँ से फिर हम वापिस नहीं लौटते। वह नित्य है।

अर्न्तदर्शन और अनुभव

अन्तर्दर्शन और अनुभव में अन्तर है। अन्तर्दर्शन से भी परिवर्तन आता है, किन्तु चेतना का रूपान्तरण नहीं होता। कभी कभी अन्तर्दर्शन के बाद अनुभव होता है, तो रूपान्तरण हो जाता है। किन्तु वह रूपान्तरण अनुभव के कारण होता है अन्तर्दर्शन के कारण नहीं। अन्तर्दर्शन सुन्दर और आकर्षक हो सकता है किन्तु उसके साथ मानसिक संरचना जुड़ी रहती है। उसका प्रभाव भी शरीर और मन

पर पड़ता है किन्तु वह चेतना के अन्तस्तम को नहीं छू पाती। किन्तु अनुभव तादात्म्य के द्वारा होता है जिसमें द्रष्टा और दृश्य का भेद नहीं रहता। अन्तर्दर्शन शनैः शनैः मन्द पड़ जाता है या केवल उसकी धुन्धली स्मृति शेष रह जाती है। किन्तु अनुभव सदा बना रहता है।

चैत्यपुरुष सर्वसमावेशी है

चैत्यपुरुष का दृष्टिकोण आनन्द और प्रेम का है। वह दिव्य की ओर झुकता है किन्तु वह सर्वसमावेशी है जिसमें किसी का भी निराकरण नहीं होता। चैत्यपुरुष की इस स्थिति में दिव्यप्रेम पार्थिव प्रकृति से जुड़ा रहता है। साधक का यह सोचना कि उसे संसार की सभी प्रवृत्तियों से दूर हो जाना है, केवल एक मानसिक अवधारणा का परिणाम है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी न सोचने की बात अधूरी है।

माता जी की प्रार्थनाओं में चैत्यपुरुष की स्थिति स्पष्ट होती है। उनकी प्रार्थनाओं से स्पष्ट है कि सब कुछ ब्रह्म है और ब्रह्म सब कुछ है। इसलिए उसमें न अपने आपको सबसे काटने की आवश्यकता है, न कोई जल्दी है, न अशान्ति, न तनाव। वहाँ ब्रह्म को अपने से भिन्न मानने का कारण नहीं है। यदि व्यक्ति अपने को खो देगा तो वह संसार में दिव्यता की अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं रहेगा। इसलिए एकता के बीच में भी एक सूक्ष्म द्वैत बना रहता है। वह ब्रह्म को देखता भी है और ब्रह्म रूप भी होता है। इस प्रकार वह विश्वव्यापी होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण होता है। चैत्यपुरुष का प्रेम सेवा का रूप है। वह अपने लिए कुछ नहीं चाहता। वह निरन्तर जाज्वल्यमान ज्योति है। वह केवल दिव्य का प्रेम चाहता है और पृथिवी पर प्रेम का प्रकाश चाहता है। उसकी सेवा उपयोगिता अथवा मानवता पर नहीं टिकी है, अपितु दिव्य की अभिव्यक्ति की साधन भूत है।

पुनर्जन्म का प्रयोजन

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य जड जगत् में चेतना को जाग्रत करना है ताकि पदार्थ और आत्मा के बीच एक गतिशील एकता स्थापित कर सके। किन्तु यह कार्य

एक जन्म में सम्भव नहीं है, क्योंकि जड़ पदार्थ बहुत गहरे अन्धकार में है और उसे एक साथ दिव्य स्तर पर नहीं लाया जा सकता। उसे शनैः शनैः पवित्र करना होता है और परिष्कृत करना होता है। यह कार्य करने में अनेक जन्म लग सकते हैं। यदि यह कार्य पृथिवी के अतिरिक्त अन्य कहीं हो सकता होता तो पृथिवी पर जन्म लेने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु इसका उपाय केवल पृथिवी पर बारम्बार जन्म लेना ही है।

पृथिवी पर जब हम दुबारा जन्म लेते हैं तो हमारा रूप दूसरा होता है। हमारा हर जन्म हमें एक कदम आगे बढ़ाता है और हमारी छिपी हुई सम्भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। यह विकास का क्रम भी उतार-चढ़ाव वाला है। इसमें कभी एक तत्त्व मुख्य हो जाता है कभी दूसरा तत्त्व। जिसके परिणाम स्वरूप धीरे धीरे सभी तत्त्वों के बीच सामञ्जस्य स्थापित होता है। यह विकास केवल नये शरीर के कारण नहीं होता अपितु चैत्यपुरुष के कारण होता है। मृत्यु के द्वारा दृश्य बदल जाता है और स्थूल शरीर छूट जाता है और तब सूक्ष्म शरीर रह जाता है। तब सूक्ष्म शरीर में अपने कर्मों को भोगने के बाद जीव मानस शरीर में आता है। और मानस शरीर में भी कर्मों से मुक्त होकर चैत्यशरीर के स्तर पर विश्राम पाता है। उस समय में वह अपने सभी अतीत के अनुभवों को आत्मसात् करता है। विश्राम का समय समाप्त होने पर वह पुनः मनोमय कोश में, प्राणमय कोश में और अन्नमय कोश में आता है और नया जीवन प्रारम्भ करता है।

यह सारी प्रक्रिया यांत्रिक नहीं है अपितु इसका एक प्रयोजन है। इस सम्बन्ध में प्रथम तो यह ध्यान देने की बात है कि चैत्यपुरुष का जड पदार्थ से निरन्तर विकास होता है और साथ ही ऊपर से दिव्य चेतना का प्रभाव भी पड़ता है। यह दिव्य चेतना सार्वभौम भी है और व्यक्तिगत भी है और इस कारण विकास में दोनों का ही योगदान रहता है। यदि पुनर्जन्म न हो तो जीव धुन्धले प्रकाश में से स्पष्ट प्रकाश में कभी नहीं आयेगा। इसलिए पुनर्जन्म विकास का अवसर प्रदान करता है। परम्परा में पुनर्जन्म का कारण कर्म माना गया है और वह बन्धन रूप है जिससे छुटकारा पाना एक मात्र लक्ष्य है। किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार पुनर्जन्म में विकास का मार्ग है। जन्म से अमृतत्व की प्राप्ति होती

है— **सम्भूत्यामृतमश्नुते**। इसलिए जीवन्मुक्त भी दिव्य की इच्छा पूरी करने के लिए बारम्बार जन्म ले सकता है। उसका जन्म पार्थिव अन्धकार पर प्रकाश के अवतरण का कारण बनता है और दुःख में आनन्द का अनुभव कराता है।

चैत्यपुरुष का विकास

इस प्रकार दिव्य चेतना व्यक्ति के विकास को प्रभावित करती है और उसे एक दिशा भी प्रदान करती है। दिव्य चेतना का ये कार्य सूक्ष्म रूप में होता है और प्रायः साधक की समझ में नहीं आता। यदि वह अपने भौतिक शरीर की आवश्यकताओं पर ही अटका रहता है तो वह मृत्यु के अनन्तर अतिभौतिक स्तर पर बहुत दूर तक नहीं जा सकता किन्तु यदि उसने अपने प्राणिक और मानसिक स्तर का विकास कर लिया है और अतिभौतिक जगत् के साथ सम्पर्क बना लिया है तो वह अतिभौतिक संसार में मरणोपरान्त जा सकता है। उदाहरणतः साधक सूक्ष्म भौतिक के माध्यम से प्राणमय जगत् तक जाता है और तब तक उसका प्राणमय कोश भी विलीन हो जाता है तब वह मानसिक जगत् में जा सकता है। उसे विविध प्रकार के अनुभव होंगे। परिणाम यह होगा कि वह मनोमय कोश को भी भेद कर चैत्यपुरुष तक पहुँच जायेगा जहाँ वह अपने पुराने अनुभवों को शान्ति पूर्वक आत्मसात् करेगा। चैत्यपुरुष अपने साथ अनुभवों का सार ही ले जाता है और उन सबको छोड़ देता है जो अपने समय में आवश्यक था किन्तु अब विकास के लिए अनावश्यक है। उसके आधार पर ही उसका दूसरा जन्म होता है। वह जन्मजन्मान्तर में चैत्यपुरुष के विकास की विभिन्न धाराओं को ग्रहण करता है। चैत्यपुरुष कारण-कार्य की परम्परा से बँधा नहीं होता; वह अपने जन्म का प्रयोजन स्वयं निर्धारित करता है। वह भौतिक जगत् की सीमाओं को स्वीकार करता है क्योंकि उनके बिना बहुआयामी पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती।

चैत्यपुरुष का विकास कर्म के आधार पर नहीं होता किन्तु उसका विकास सार्वभौम विकास के साथ जुड़ा अवश्य रहता है। श्री अरविन्द का कहना है—

वैश्व अपनी सत्ता की श्रेणियों को और अपने विश्वत्व की व्यवस्थित परिवर्तनशीलता को अपनी सत्ता के विकसित रूपों के क्रम में विकसित करता है। व्यष्टिगत अंतरात्मा इस वैश्व-क्रम को रेखा का अनुसरण करती है और आध्यात्मपुरुष के विश्वत्व में जो कुछ तैयार हो गया है उसे अभिव्यक्त करती है। वैश्वमानव या मानव-जाति में वैश्व-पुरुष मानव-जाति के अंदर उस शक्ति को विकसित कर रहा है जो मानव-जाति में नीचे से बढ़ती आयी है और अतिमानस और आध्यात्म-पुरुष तक चढ़ती जायेगी और मनुष्य के अंदर वह परम देव बन जायेगी जो अपनी सच्ची और समग्र आत्मा और अपनी प्रकृति की दिव्य सार्वत्रिकता के बारे में अभिज्ञ है। व्यष्टि ने विकास की इस रेखा का अनुसरण किया होगा, मानव विकास तक आने से पहले उसने अंतरात्मा के अनुभव का जीवन के नीचले रूपों में अधिष्ठातृत्व किया होगा। जिस भांति एकमेव अपने विश्वत्व में वनस्पति और पशु के निचले रूप धारण करने में समर्थ था, उसी तरह व्यष्टि , जो अब मानव है, अपनी सत्ता की पूर्व-स्थितियों में उन्हें धारण करने में समर्थ रहा होगा। अब वह मानव-अंतरात्मा प्रतीत होता है, आध्यात्म-पुरुष ने मानवता के भीतरी और बाहरी रूप को धारण करना स्वीकार कर लिया है लेकिन जैसे वह अपने पहले के धारण किये हुए वनस्पति या पशु-रूपों से सीमित न था उसी तरह वह इससे सीमित नहीं है। वह इससे प्रकृति के एक उच्चतर सोपान में , एक महत्तर आत्माभिव्यक्ति में जा सकता है (दिव्य जीवन पृष्ठ ७४९ पर दिया गया हिन्दी अनुवाद)।

यहाँ श्री अरविन्द सामान्य मान्यता से हटकर पहली बात यह कहते हैं कि व्यक्ति का विकास अपने आप में एक पृथक् प्रक्रिया नहीं है। यदि प्रकृति एक ही है तो कर्म अपना काम सामूहिक रूप में करेगा; कोई एक ईकाई स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य नहीं कर सकती। वस्तुतः व्यष्टि समष्टि की आत्माभिव्यक्ति का एक अंग है। दूसरे सामान्यतः यह समझा जाता है कि मानसिक चेतना के अध्यात्म में विलीन होने पर पुनर्जन्म नहीं होता किन्तु श्री अरविन्द यह मानते हैं कि मानसिक चेतना ही उच्चतम चेतना नहीं है; कुछ और उच्चतर चेतनायें भी है जिन तक

मनुष्य अपने आपको विलीन किये बिना प्राप्त कर सकता है और पुनर्जन्म का यही उद्देश्य भी है। पदार्थ से आत्मा तक की यात्रा में भिन्न भिन्न पड़ावों के कारण जीव अनेक प्रकार के अनुभवों को आत्मसात् करता है और अन्त में यह यात्रा शान्ति और आनन्द में परिणत होती है।

जीव अथवा चैत्यपुरुष अनुभवों को आत्मसात् करने के अनन्तर अपना दूसरे जन्म का स्वरूप निर्धारित करता है अर्थात् वह स्थान, परिस्थिति, परिवार और घटनाओं को पहले से ही निश्चित कर लेता है। वह दुःख-सुख दोनों को आत्मविकास का साधन मानकर समान रूप से स्वीकार करता है। वह प्रत्येक परिस्थिति से लाभान्वित होता है इस कारण उसकी असफलता भी सफलता में बदल जाती है। इसी कारण भयंकर परिस्थितियों के बावजूद हमारा नाश नहीं होता। गहरे से गहरे अन्धकार में प्रकाश की एक किरण बनी रहती है। चैत्यपुरुष विपरीत परिस्थिति में भी विकास की सम्भावना ढूँढता रहता है। मन संकीर्णता के कारण चैत्यपुरुष की गहराई को नाप नहीं पाता और जीवन में निराश का अनुभव करता है। किन्तु यदि उसमें आध्यात्मिक दृष्टि का विकास हो जाये तो वह यह समझेगा कि चैत्यपुरुष विकास के लिए अपना मार्ग निर्धारित किये रहता है। इसलिए उसके साथ जुड़े रहना सफल जीवन का रहस्य है।

इच्छा का स्वरूप

जहाँ तक इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता का प्रश्न है यह हमारे अनुभव में आती है और व्यवहार में काम भी देती है। किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह एक कल्पना है; हमें वस्तुतः दिव्य की इच्छा के आधीन काम करना होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम असहाय हैं और हमारी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं है। व्यक्तिगत इच्छा वैश्विक इच्छा से जुड़ने का साधन है। साधक को अन्ततः यह प्रतीत होता है कि वह पूरे विश्व से जुड़ा हुआ है और इसलिए अनन्त की स्वतन्त्रता में ही उसकी स्वतन्त्रता निहित है।

चैत्यपुरुष का नेतृत्व और उसके प्रति समर्पण आध्यात्मिक विकास का साधन है। हमारा बहुत सा संघर्ष और कष्ट इस कारण है कि हम चैत्यपुरुष द्वारा निर्दिष्ट

मार्ग पर नहीं चलते। मन तपस्या के द्वारा अपने अन्दर स्थित दिव्य को कष्ट ही पहुँचाता है। ऐसी प्रवृत्ति अनेक महापुरुषों में भी देखी जा सकती है किन्तु इसके स्थान पर चैत्यपुरुष के मार्गदर्शन में अपने को समर्पित कर देने से स्वतः विकास हो जाता है।

चैत्यपुरुष का अर्थ अन्तरात्मा नहीं है। अन्तरात्मा एक मानसिक और नैतिक अवधारणा है जिसका आधार शुभ और अशुभ है। यह शुभ और अशुभ व्यक्तिगत चुनाव का परिणाम है। चैत्यपुरुष के मार्गदर्शन के लिए मन से और मानसिक सिद्धान्तों से और हृदय की प्रियता-अप्रियता से परे जाना होता है। इसके लिए शान्त मन और पवित्र हृदय चाहिए ताकि चैत्यपुरुष अपने को प्रकट कर सके। इसके लिए इच्छाओं का छोड़ना आवश्यक है।

निष्कर्ष

जब हमें चैत्यपुरुष का मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं होता है तब भी वह हमारे अहंकार के पीछे रहता है किन्तु अहंकार के कारण उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। कष्ट से भी अहंकार को शिक्षा मिलती है और वह असफलता तथा पराजय में भी कुछ न कुछ सीखता है। अन्त में अहंकार क्षीण पड़ जाता है। वस्तुतः चैत्यपुरुष के प्रति समर्पण का अर्थ दिव्य और उसकी शक्ति के प्रति समर्पण है। समर्पण से चैत्यपुरुष की उपस्थिति अनुभव होने लगती है और सभी मैल कटने लगता है। चैत्यपुरुष का प्रभाव शान्ति, पवित्रता, प्रेम और आनन्द लाता है। चैत्यपुरुष के अभिव्यक्त होने पर असीम आनन्द , दिव्य की भक्ति, पूर्ण समर्पण, सहज प्रेम और सहानुभूति, अस्तित्व की अखण्डता का बोध तथा सौन्दर्य और सामञ्जस्य प्रकट होते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार यह स्थिति प्रथम उपलब्धि है किन्तु इसके बाद भी दिव्य के साथ एकता प्राप्त होना शेष रहता है। चैत्यपुरुष जिस कार्य को प्रारम्भ करता है दिव्य उसे पूरा करता है।

अपरा प्रकृति और परा प्रकृति

त्रिगुणात्मक प्रकृति की सीमा

श्री अरविन्द के पूर्णयोग के सन्दर्भ में अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के स्वरूप का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। सांख्य दर्शन की स्थिति यह है कि प्रकृति मात्र साधना में बाधक है। क्योंकि प्रकृति बन्धन का कारण है और इसलिए साधक को आत्मा में लीन हो जाना चाहिए और प्रकृति से अपना सम्बन्धविच्छेद कर लेना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि या तो वह व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त कर लेगा जैसी कि सांख्य की स्थिति है या ब्रह्म में विलीन हो जायेगा जैसी कि वेदान्त की स्थिति है और यही आध्यात्मिक साधना का अन्तिम लक्ष्य भी मान लिया जाता है। किन्तु पूर्णयोग में लक्ष्य यह है कि प्रकृति का रूपान्तरण हो सके न कि उसका निषेध क्योंकि प्रकृति के रूपान्तरण के बिना जगत् में दिव्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रकृति से रहित आत्मा न अपने आपको अभिव्यक्त कर सकती है और न दिव्य को अभिव्यक्त कर सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि आत्मा अपने में अन्तर्निहित सम्पदा को किसी माध्यम से अभिव्यक्त कर सके, किन्तु यह कार्य अस्थिर और सीमित त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा नहीं हो सकता। सत्वगुण भी सीमित है और साधक को सुख से बाँधता ही है। इसलिए त्रिगुणात्मक प्रकृति में स्वतन्त्रता नहीं है। अतः स्वतंत्रता के लिए तीन गुणों का अतिक्रमण आवश्यक है।

परा प्रकृति

प्रश्न होता है कि अपरा प्रकृति के परे अनन्त ज्ञान के प्रकाश में दिव्य गतिशीलता देने वाला कोई तत्त्व है या नहीं। क्योंकि यदि कोई ऐसा तत्त्व है ही नहीं तो

फिर प्रकृति का अतिक्रमण करने का अर्थ होगा कि असीम शून्य या संसारातीत कूटस्थता लीन होना ही साधना का एक मात्र उद्देश्य है। किन्तु वैदिक और उपनिषद् की परम्परा का अनुसरण करते हुए गीता अपरा प्रकृति के ऊपर उस परा प्रकृति की चर्चा करती है जो समस्त विश्व का आधार है। अपरा प्रकृति इसी परा प्रकृति का निम्न रूप है। यद्यपि परा प्रकृति अपरा प्रकृति का नियमन करती है किन्तु फिर भी अपरा प्रकृति अज्ञान की सीमा में ही विकास का कार्य करती रहती है, क्योंकि उस पर परा प्रकृति का नियन्त्रण सीधा नहीं है। अन्ततोगत्वा अपरा प्रकृति परा प्रकृति के प्रभाव से अपने मल को धो डालती है।

अपरा प्रकृति का रूपान्तरण

श्री अरविन्द का मत है कि अपरा प्रकृति उस परा प्रकृति में बदल सकती है जो द्वैत और विसंगति के स्थान पर प्रकाश, शान्ति, एकता और आनन्द को अभिव्यक्त कर सके। यदि हम अपरा प्रकृति का सर्वथा निषेध कर देंगे तब तो दिव्यता की अभिव्यक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी। भेद और विसंगतियाँ जडता से जीवन की ओर विकास की यात्रा के अंग हैं। अतः उनसे पलायन करने की अपेक्षा उन पर विजय पाना अभीष्ट है। अज्ञान के कारण हमें मृत्यु, विभाजन और विसंगति प्राप्त होती है किन्तु जब तक हम अज्ञान में हैं तब तक हमें उनमें से गुजरते हुए ही मृत्यु को जीतना है– **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा**। वस्तुतः मृत्यु, विभाजन और विसंगति के कारण ही तो हम में अमृत, अद्वैत और सामञ्जस्य को प्राप्त करने की इच्छा होती है। इनकी पीड़ा ही हमें साधना करने की प्रेरणा देती है।

जीवन में ही साधना

प्रश्न यह है कि एकता, सामञ्जस्य और अमृतत्व को क्या जीवन के अतिरिक्त कहीं और पाया जा सकता है। यदि ऐसा है तब तो जीवन का निराकरण ही एकमात्र उपाय शेष रह जाता है। किन्तु मनुष्य जीवन की समस्याओं का समाधान जीवन में ही ढूँढना चाहता है। भले ही अपवाद के रूप में कुछ व्यक्तियों ने जीवन से पलायन करके भी अस्तित्व की मूलभूत सच्चाई को पा लिया हो किन्तु वे पूरी

मनुष्य जाति के मनोरथ को पूरा नहीं कर सकते; उसके लिए तो परा प्रकृति के माध्यम से निम्न को उच्च में बदलना होगा; भेद में ही अभेद को ढूँढना होगा। मृत्यु में ही अमृतत्व को पाना होगा। वस्तुतः दुःख आनन्द का ही एक विपरीत रूप है। अतः परा प्रकृति के माध्यम से ही दुःख में होकर ही आनन्द को पाना होगा।

परा प्रकृति सच्चिदानन्द की चित् शक्ति

श्री अरविन्द के अनुसार सात्विक प्रकृति या आध्यात्मिक मानसिकता भी अन्ततोगत्वा मानसिक गुण हैं और वे अपरा प्रकृति के ही अंग हैं। वे अनन्त के द्वार तो खोल सकते हैं किन्तु स्वयं अनन्त में प्रवेश नहीं कर सकते। श्री अरविन्द के अनुसार परा प्रकृति सच्चिदानन्द की चित् शक्ति है जो संसार का निर्माण करती है। यह ब्रह्म का वह स्वरूप है जिसे ऋग्वेद ने 'स्वधा' कहा है—**आनीदवातं स्वधया तदेकम्**। इसमें पुरुष और प्रकृति का द्वैत नहीं है; इसमें गति और स्थिति, चेतना और शक्ति, ज्ञान और इच्छा का एक ही ताना-बाना अनन्त का निर्माण करता है।

गुणों का रूपान्तरण

परा प्रकृति में अपरा प्रकृति के सत्वगुण का स्थान ज्योति और प्रकाश, रजोगुण का स्थान तेज और तप और तमस् का स्थान शान्ति और शम ले लेते हैं। इसका यह अर्थ है कि अपरा प्रकृति के सत्व, रजस और तमस् गुण क्रमशः ज्योति, तेज और शान्ति से उद्भूत होते हैं। परा प्रकृति में ये तीन गुण अस्थिर नहीं हैं। ये तीनों मिलकर सर्जन करते हैं। इन तीनों के बीच विरोध नहीं है अपितु सामञ्जस्य है। इनके कारण मौन में से शब्द का प्रादुर्भाव होता है।

परा प्रकृति में सारा ज्ञान तादात्म्य से होता है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता में ही दृष्टिगोचर होता है न कि ज्ञाता के बाहर। इसके अतिरिक्त इस ज्ञान में पदार्थ के सार का ही ज्ञान नहीं होता अपितु पदार्थ के विभिन्न आकार-प्रकारों का भी ज्ञान होता है। भेद और अभेद में कोई विरोध नहीं होता है वे दोनों अविभक्त अस्तित्व का हिस्सा होते हैं। अभिप्राय यह है कि इस ज्ञान में आभु और अभ्व दोनों का ही ज्ञान समाहित रहता है। काल भूत,

वर्तमान और भविष्य में विभक्त नहीं रहता अपितु एक ऐसा प्रवाह हो जाता है जो कालातीत में से ही निकलता है और कालातीत में ही लीन हो जाता है।

ज्ञान-विज्ञान

श्री अरविन्द ने ज्ञान और विज्ञान में अन्तर किया है। उनके अनुसार ज्ञान में सभी भेद लुप्त हो जाता है, शाश्वत का तेज अनेकता को निगीर्ण कर लेता है, किन्तु विज्ञान में एकता के साथ अनेकता का और कूटस्थ के साथ गति का भी ज्ञान होता रहता है।

ज्ञान और इच्छा

बड़ी बात यह है कि परा प्रकृति में ज्ञान और इच्छा में वैसा अन्तर नहीं रहता जैसा अन्तर नैतिकता के स्तर पर रहता है। वहाँ ज्ञान का जैसा रूप प्रकट होता है इच्छा भी उसे देश और काल में वैसा ही अभिव्यक्त करना चाहती है। ऐसा कभी नहीं होता कि ज्ञान किसी और सत्य का हो और अभिव्यक्त कुछ और होना चाहे। इतना अवश्य है कि इच्छा एक सीमा के भीतर अपना काम करती है किन्तु यह सीमा वह स्वेच्छा से ही अपने पर आरोपित कर लेती है ताकि उसका उद्देश्य पूरा हो सके। इसका अर्थ यह है कि चाहे मनुष्य यह समझ न पाये कि वह सीमायें क्यों बनाती है, किन्तु स्वेच्छा से आरोपित सीमा के कारण उसकी स्वतन्त्रता बिल्कुल बाधित नहीं होती।

परा प्रकृति का स्वरूप

परा प्रकृति में सभी कर्म आत्माभिव्यक्ति के रूप में स्वतः प्रकट होते हैं। इसलिए वे कर्म बन्धन का कारण न होकर आत्माभिव्यक्ति के आनन्द का कारण होते हैं। यह आत्माभिव्यक्ति दिव्य की शक्ति का प्रवाह है। इसमें कोई पृथक् अहं नहीं होता। इसलिए न कोई इच्छा होती है और न किसी फल के प्रति आसक्ति। व्यक्ति का कर्म सार्वभौम कर्म का भाग बन जाता है और सभी की इच्छाओं की पूर्ति का साधन हो जाता है। किन्तु व्यक्ति तब भी विश्वोत्तीर्ण चेतना के अनेक केन्द्रों में से एक केन्द्र के रूप में बना रहता है और सार्वभौम गति में भागीदार होता

है। वह सब की सफलता में अपनी सफलता मानता है। प्रकाश, शक्ति, आनन्द और सौन्दर्य पदार्थ में आकार ले लेते हैं। परा प्रकृति की शक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता, पवित्रता और शान्ति पर टिकी रहती है।

इस परा प्रकृति से ही अपरा प्रकृति का उद्‌भव होता है। इसलिए अपरा प्रकृति अन्ततोगत्वा परा प्रकृति में बदल जाती है। यह समझ लेने पर प्रकृति के निषेध की निरर्थकता समझ में आ जाती है। निवृत्तमार्गी संन्यास में ऐसा निषेध किया गया है। इस मार्ग में आत्मा मुक्त हो जाता है किन्तु प्रकृति अन्धकार में ही बनी रहती है। यह प्रकृति उन आत्माओं पर,जो अभी मुक्त नहीं हुई हैं, अपना प्रभाव बनाये रखती है। यद्यपि वेद में परा प्रकृति का संकेत है किन्तु व्यवहार में इसका विनियोग करना भारत भूल गया था। श्री अरविन्द ने हमारा ध्यान उस ओर दिलाया। सांख्य ने जिस प्रकृति का उल्लेख किया वह वस्तुतः बन्धन का कारण है किन्तु परा प्रकृति विकास में सहायक है।

इसका यह अर्थ है कि जीवन सत्य ही नहीं है अपितु सार्थक भी है जिसके माध्यम से आत्मा अपने को अभिव्यक्त करके पूर्णता को प्राप्त कर सकती है। आत्मा सर्जनात्मक है। यह जड पदार्थ से प्रारम्भ होकर अमृतत्व तक जाती है। वहाँ उसका दिव्यता के साथ तादात्म्य हो जाता है।

मनुष्य जाति का उद्देश्य

मनुष्य का व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से यह उद्देश्य है कि वह उच्चतर दिव्य प्रकृति तक आरोहण कर सके। इस उद्देश्य के द्वारा मनुष्य जाति उस अतिमानस स्थिति को प्राप्त कर लेगी जहाँ संघर्ष और दुःख के स्थान पर प्रकाश और आनन्द है। इसके लिए एक तो यह मानना आवश्यक है कि आत्मा जड़ से अतिमानस तक विकास की यात्रा पर है और दूसरे यह मानना होगा कि अपरा प्रकृति को परा प्रकृति में बदला जा सकता है।

मनुष्य अपने मन की पूरी शक्ति लगाकर भी जीवन में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका है। हम ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा के अनेक प्रस्थान बनाते रहते हैं। हम

शरीर, मन और वाणी के समीचीन उपयोग के उपाय सोचते हैं किन्तु तब भी अधूरी खुशी ही मिल पाती है। इसका कारण यह है कि मन स्वभावतः विनाश, क्षय और विध्वंस की ओर झुका रहता है और स्थायी रूप से सत्य पर नहीं टिक सकता। यही स्थिति उनकी भी होती है जिनका हम से सम्पर्क होता है। चाहे हमारी मानसिक कुशलता कितनी भी क्यों न हो, हम अपनी अपूर्ण प्रकृति का उल्लंघन नहीं कर सकते। अज्ञान के कारण हम न अपना ज्ञान ठीक प्राप्त कर सकते हैं न संसार का। विज्ञान यंत्र के निर्माण में आश्चर्यजनक कुशलता प्राप्त कर सकता है। किन्तु वह हमारे अस्तित्व के आधार को न जानने के कारण हमारी प्रकृति को पूर्ण नहीं कर सकता और उसके बावजूद भी जीवन अपूर्ण ही रह जाता है। यदि हम अपनी प्रकृति का अतिक्रमण कर सकें तो ही हम परिपूर्णता को प्राप्त कर सकेंगे और तब हमें सच्ची प्रसन्नता मिलेगी। परा प्रकृति ही हमारा सच्चा स्वभाव है, अपनी वर्तमान स्थिति में उसे न जान पाने के कारण रहस्य मान लेते हैं।

निष्कर्ष

श्री अरविन्द का योग इस अर्थ में पूर्ण है कि वह केवल मनुष्य की ही मुक्ति का लक्ष्य लेकर नहीं चलता अपितु प्रकृति की मुक्ति का लक्ष्य लेकर भी चलता है। यह सत्य है कि यह एक कठिन कार्य है। यह भी सत्य है कि तंत्र अपने इसी प्रकार के प्रयोग में सफल नहीं हो पाया। किन्तु श्री अरविन्द यह मानते हैं कि अतिमानस के प्रकाश में यह लक्ष्य पूरा हो सकता है। सीमित मन के लिए यह असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु दिव्यशक्ति के लिए यह असम्भव नहीं है। मातृशक्ति उसे सम्भव बना देती है जो हमारे लिए सम्भव नहीं है। यह शक्ति विज्ञानशक्ति है। यह सत्य है कि इस कार्य के लिए साधक को आत्मसमर्पण करना होगा और प्रकृति के प्रत्येक अंश को परिष्कृत करना होगा। दूसरी ओर इसके लिए अतिमानस शक्ति का अवतरण भी आवश्यक है ताकि परा प्रकृति जन्म ले सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव प्रकृति के परिष्कार करने की प्रक्रिया को जाना जाये।

प्रकृति का परिष्कार

सामान्यतः योग की अन्य पद्धत्तियों में मन, बुद्धि, चित् और अहंकार को शान्त करने का अथवा दमित करने का उद्देश्य रहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न पद्धतियों में भिन्न भिन्न साधन हैं किन्तु साध्य सबका एक ही है कि किसी प्रकार प्रकृति के जटिल जाल से आत्मा मुक्त हो जाये और या तो वह ब्रह्म में लीन हो जाये या अपने स्वरूप में स्थित हो जाये। ब्रह्म में लीन होने का उद्देश्य वेदान्त का है और अपने स्वरूप में स्थित होने का उद्देश्य सांख्य दर्शन का है। प्रकृति का इतना परिष्कार पर्याप्त समझा जाता है कि आत्मा शरीर से भिन्न रूप में स्थित हो जाये और साधक आत्मा में जिस शान्ति का अनुभव करता है वह शान्ति उसके व्यवहार में भी प्रतिबिम्बित हो।

प्रकृति का मोक्ष में सहयोग

किन्तु श्री अरविन्द के पूर्णयोग में इतना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि पूर्णयोग के अनुसार आत्मा का ही नहीं अपितु प्रकृति का भी मोक्ष अपेक्षित है ताकि वह दिव्य की अभिव्यक्ति के द्वारा अतिमानस रूपान्तरण में सहायक हो सके। अभिप्राय यह है कि प्रकृति की वे समस्त शक्तियाँ जाग जायें जो प्रायः सुप्त रहती हैं अथवा आधी सक्रिय रहती हैं। पूर्णयोग में शुद्ध आत्मा का अनन्त में डूब जाना ही पर्याप्त नहीं है अपितु यह भी आवश्यक है कि आत्मा और प्रकृति दोनों दिव्य के हाथों इस योग्य बन सकें कि भौतिक जगत् में दिव्य की इच्छा पूरी करने में सहयोग कर सकें। इसलिए पूर्णयोग में परिष्कार का ज्यादा गहरा अर्थ है जिसके अनुसार प्रकृति की शक्तियों को जगा कर अध्यात्म के

लिए प्रयुक्त किया जाना आवश्यक है। इसके लिए उसके सभी भागों को काम में लिया जाता है; उसके अहंकार को समाप्त किया जाता है, अवरुद्ध मार्गों को खोला जाता है, क्रियाकलापों को सुधारा जाता है और उसकी विशेषताओं को स्वतः स्फूर्त बनाया जाता है। इस प्रकार पूरी प्रकृति में संघर्ष और विसंगति के स्थान पर सामञ्जस्य और समरूपता स्थापित की जाती है। मातृशक्ति के द्वारा उच्चतर प्रकाश, शक्ति, शान्ति और पवित्रता का अवतरण होता है और प्रकृति आध्यात्मिक रूप ले लेती है।

परिष्कार का अर्थ

पूर्णयोग में परिष्कार का अर्थ नैतिक या किसी मानसिक अवधारणा के अनुसार जीवन को ढालना नहीं है; परिष्कार का अर्थ है कि आत्मा का स्वरूप स्पष्ट और सघन होता चला जाये। पूर्णयोग में साधक की यात्रा आत्मा की पवित्रता और शान्ति के अनुभव से प्रारम्भ होती है। साधक आत्मा की ओर आकृष्ट अनुभव करता है। इस आकर्षण के बिना मानसिक या सामाजिक धरातल पर किसी आदर्श का अनुसरण करना प्रायः कष्टप्रद होता है। साधक को पता चलता है कि उसकी चेतना जब संघर्ष करना चाहती है तो अपवित्रता की जड़ें बहुत गहरी सिद्ध होती हैं और साधक सफल नहीं हो पाता। इससे उसके जीवन में कटुता और नीरसता आ जाती है और अधिक से अधिक उसकी निम्न प्रवृत्तियाँ दब कर रह जाती हैं किन्तु वे निर्मूल नहीं होतीं। इसके विपरीत यदि उसे आत्मा का आकर्षण अपनी ओर खींचता है तो स्वतः ही निम्न प्रवृत्तियों का आकर्षण रुक जाता है। आत्मा के प्रकाश में उसे अपनी प्रकृति की जटिलता दिखती है और उसे अन्दर से ही मार्ग दर्शन मिलने लगता है। वह स्वतः ही आत्मा की शान्ति और पवित्रता को नष्ट करने वाले तत्वों को छोड़ देता है और इस प्रक्रिया में पीडा की जगह आनन्द अपना स्थान ले लेता है। यद्यपि उसे भी कभी निम्न प्रकृति अपनी ओर खींच सकती है किन्तु ऐसा थोड़े समय के लिए होता है।

परिष्कार की प्रक्रिया

पूर्णयोग में परिष्कार की प्रक्रिया के दो भाग हैं— १. आत्मा के स्वरूप का शनैः शनैः स्पष्ट होते जाना तथा २. दिव्य के मार्गदर्शन में विश्वास। जैसे जैसे आत्मा

का शान्त स्वरूप सामने आता है उसका आकर्षण बढ़ता जाता है। वह सबके साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करता है और भौतिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है। उसका दिव्य के प्रति आकर्षण बढ़ता जाता है। प्रकृति में आत्मा की दिव्यता अवतरित होने लगती है। वह प्रकृति के सतही परिवर्तन से सन्तुष्ट नहीं होता और न ऐसे नैतिक परिवर्तन से ही उसे सन्तोष मिलता है जिसमें मूल का स्पर्श नहीं होता। यह उसका दूसरा जन्म है जो उसे द्विज बना देता है। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है; अन्तिम लक्ष्य तो अतिमानसिक पूर्णता है। जैसे जैसे अज्ञान दूर होता है प्रेम का प्रादुर्भाव होने लगता है। तब वह प्रकृति को तटस्थ भाव से देख सकता है। उसकी स्थिति मनोविश्लेषक से भिन्न होती है क्योंकि मनोविश्लेषक तटस्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह तो स्वयं ही प्रकृति में लिप्त रहता है। उसका प्रयत्न ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति लहरों में गोते खाते हुए समुद्र को देखना चाहे। किन्तु योगी तट पर खड़ा होकर समुद्र को देखता है। इसके बिना मनुष्य अपनी प्रकृति को ठीक से नहीं जान सकता। मनोविश्लेषण में यह सीमा है कि हम अपने ऐन्द्रिक अनुभव के आधार पर ही निर्णय लेते हैं। हमारे ऐसे निर्णयों में हमारा व्यक्तिगत झुकाव भी शामिल रहता है। परिणाम यह होता है कि मनोविश्लेषक आपस में भी सहमत नहीं हो पाते।

प्रकृति का ज्ञान

प्रकृति को जानने के लिए दो चीजें आवश्यक हैं- १. अतिक्रमण और २. तादात्म्य। जब तक साधक प्रकृति का अतिक्रमण नहीं करेगा तब तक वह उसे जान नहीं पायेगा और साथ ही यह ज्ञान तादात्म्य के द्वारा होना चाहिए। साधक को एक स्थिर स्थिति से अपनी प्रकृति को देखना होता है। इसका यह अर्थ है कि प्रकृति का ज्ञान आत्मज्ञानपूर्वक ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में अनन्त के परिप्रेक्ष्य में ही सान्त को ठीक से जाना जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर ही प्रकृति के सम्बन्ध में ठीक ज्ञान हो सकता है। जिन साधकों ने इस दृष्टि से देखा उन्होंने पञ्चभूत, तीन गुण तथा आत्मा की अमरता के सिद्धान्तों को पाया। इस सम्बन्ध में सभी परम्परायें एकमत हैं। यदि इस सम्बन्ध में कोई मतभेद है तो वह अभिव्यक्ति की भिन्नता के कारण है। आत्मज्ञान होने पर सब कुछ जान लिया जाता है— **तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**।

इसका यह अर्थ है कि जब हम आत्मस्थित होकर तटस्थ भाव से प्रकृति को देखते हैं तो प्रकृति का कोई भी भाग हमसे छिपा नहीं रहता। तब हम प्रकृति के सतही स्वरूप को नहीं जानते प्रत्युत आन्तरिक स्वरूप को भी जानते हैं जिसे प्रायः सामान्यतः नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में हम यह अनुभव करते हैं कि हम प्रकृति पर काबू पा सकते हैं। **आत्मा का बोध हमें प्रकृति के निम्न स्तर से दूर रखता है। ऐसी स्थिति में हम यह अनुभव नहीं करते कि निम्न प्रकृति पापपूर्ण है जिसका दमन करना है अपितु यह अनुभव करते हैं कि वह ऊर्जा का ऐसा विकृत रूप है जो आत्मा के स्वरूप को ढक लेता है। इस अनुभव से परिष्कार की प्रेरणा मिलती है और यह प्रतीत होने लगता है कि अज्ञानमय प्रकृति को दिव्य प्रकृति में बदलना आवश्यक है।**

अपवित्रता का कारण

अपवित्रता का एक कारण तो भिन्नता का अनुभव है। हम विकास के क्रम में भेद का अनुभव करते रहे हैं और इस भेद के आधार पर टिके हुए अहंकार से ही प्रेरित होते रहे हैं। इस कारण हम जाने अनजाने दूसरों के स्वार्थ से टकराते रहे हैं। भेदात्मक अहंकार के कारण हमारी गतिविधि विपरीत दिशा में होती रही है। एकीकृत मानव प्रकृति को दूसरे व्यक्तियों के साथ सामञ्जस्य बनाकर चलना चाहिए किन्तु अहंकार के कारण वह सहयोग की अपेक्षा संघर्ष को जन्म देती है। इस स्थिति को एकता का अनुभव करके ही बदला जा सकता है।

अपवित्रता का एक दूसरा कारण विकास का क्रम है। जब जड में से जीवन प्रकट होता है तो वह जड के आलस्य और अन्धकार से घिरा रहता है और इसलिए पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब प्राण में से मन का विकास होता है तो वह प्राण की इच्छाओं से दूषित हो जाता है और सत्य का चिन्तन नहीं कर सकता। प्राण की भावुक प्रवृत्तियों के कारण मन शान्तिपूर्वक सत्य पर विचार नहीं कर सकता; उसके ऊपर जडता का आलस्य और जीवन का संघर्ष हावी रहता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह सबके साथ मेल मिलाकर चलें। यह तब ही सम्भव है कि जब मातृशक्ति अपना कार्य करके प्रकृति को सीधा प्रभावित करे और प्रकृति में अतिमानस शक्ति का समावेश करे।

पवित्रीकरण की प्रक्रिया

पवित्रीकरण के प्रारम्भ में अपवित्रता अवरोध डालती है और साधक स्वयं ही अपने ऊपर विश्वास नहीं कर पाता। जड पदार्थ का आलस्य और प्राणिक विरोध साधक की चेतना को परिवर्तित नहीं होने देते। प्रकृति लम्बे समय से पुरुष को घेरे हुए है और इसलिए वह उस घेरे को तोड़ने नहीं देती। किन्तु यदि इच्छाशक्ति अपवित्रता को दूर करने का निश्चय कर ले तो फिर मार्ग प्रशस्त हो जाता है। तब साधक को यह लगता है कि वह अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना चाहता है। अन्ततोगत्वा अपवित्रता समाप्त होने लगती है। किन्तु फिर भी अवसर पाकर हमारे असावधानी के क्षणों में वह कभी कभी प्रवेश पा लेती है। इस प्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिए अपवित्रताओं को सार्वभौम प्रकृति में समाहित कर देना होता है ताकि वह हमारी व्यक्तिगत प्रकृति में सक्रिय न हो सके।

पवित्रता का प्रारम्भ प्रकृति के प्रवाह से अपने आपको मुक्त करने से होता है, आत्मस्थित होकर साधक यह कह सकता है कि प्रकृति अज्ञान के द्वारा नीचे की ओर ले जाती है। किन्तु वह प्रकृति मेरी नहीं है। इसका यह अर्थ है कि साधक अपने को प्रकृति से पृथक् कर लेता है। वह ऐसी किसी भी प्रवृत्ति को, जो अध्यात्म में बाधक हो, कार्य करने की अनुमति नहीं देता। किन्तु इसके लिए वह दमन नहीं करता। यह साक्षी पुरुष है और यही अनुमन्ता भी है। अपवित्रताओं से संघर्ष नहीं करना होता किन्तु शान्त भाव से उनका प्रत्याख्यान करना होता है। इस प्रत्याख्यान में साधक जितना अधिक शान्त होता है उतना ही अधिक बलवान् हो जाता है। पाप के प्रति प्रायश्चित का और पाप-बोध का भाव साधक की सहायता नहीं करता बल्कि उसे कमजोर बना देता है। उसके स्थान पर आत्मा की स्वतन्त्रता और पवित्रता पर ध्यान देना चाहिए। सभी विरोधों के बावजूद आत्मा की निर्मलता स्वतः ही अशुद्ध प्रवृत्ति को कम कर देती है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि साधक अपने आपको मातृशक्ति के प्रति समर्पित कर दे ताकि वह शक्ति उसमें प्रवेश करके उसे पवित्र कर सके। इसका यह अर्थ है कि साधक अपनी सारी इच्छाओं को छोड़कर मातृशक्ति की कृपा की अभीप्सा करे। इस प्रकार पवित्रीकरण की प्रक्रिया के तीन आधार बनते हैं—तटस्थता का भाव, इच्छाशक्ति का सहयोग और समर्पण।

उपर्युक्त तीन आधारों में भी मुख्य मातृशक्ति की सहायता है जो समर्पण से प्राप्त होती है। अपने मानसिक और प्राणिक इच्छाओं से बाधित हुए बिना साधक मातृशक्ति की सहायता से सफलता के मार्ग पर चल पड़ता है। यह प्रक्रिया मनुष्य की समझ से बाहर की है। इसके लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। इसका अनुभव अधूरे प्रकाश में मन नहीं कर सकता। इस स्थिति में साधक अज्ञान से ऊपर उठ जाता है, मातृशक्ति उसका आवरण दूर कर देती है। प्रकृति की ग्रन्थि बहुत सुदृढ़ है, मातृशक्ति ही उसे काट सकती है।

पवित्रीकरण की इस प्रक्रिया के साथ साथ रूपान्तरण की प्रक्रिया भी परोक्ष रूप में चलती रहती है। इस प्रकार ग्रन्थियाँ शिथिल होती जाती हैं, पृथक्त्व का भाव शनैः शनैः कम होता जाता है और सामञ्जस्य स्थापित होता जाता है। मातृशक्ति में आस्था ही इस स्थिति का आधार है। किन्तु यह स्थिति भी अन्तिम नहीं है; पूर्ण पवित्रता होने पर मुक्ति स्वतः हो जाती है। किन्तु उसके बाद भी प्रकृति का आनन्द बना रहता है।

भौतिक प्रकृति का पवित्रीकरण

भौतिक प्रकृति का अर्थ जीवन का वह भौतिक पक्ष है जिसमें मन तथा प्राण का भौतिक अंश निहित रहता है। भौतिक मन हमारे स्नायु मण्डल से जुड़ा है और मस्तिष्क के द्वारा इन्द्रियों के स्थूल विषयों में संलग्न रहता है। यह हमारे मन का सबसे अधिक निम्नस्तरीय पक्ष है। इसमें भौतिक पदार्थ की जडता का प्रभाव रहता है और इसलिए यह सूक्ष्म में प्रवेश नहीं कर पाता। इसके कारण हम में सन्देह बना रहता है। यह भौतिक लक्ष्यों के प्रति प्रवृत्त रहता है और अपनी भौतिक उपलब्धियों में गर्व का अनुभव करता है। इसे सूक्ष्म और कल्पनाप्रधान विषयों में कोई रुचि नहीं क्योंकि इसकी दृष्टि अत्यन्त सङ्कीर्ण है। साधक इसे चाहे जितना भी ऊपर उठाना चाहे किन्तु यह इन्द्रियों के विषय पर ही वापिस आ जाता है। इसे अतिभौतिक पदार्थों में कोई विश्वास नहीं होता और यह संग्रह तथा भोग और सुविधाओं के पीछे दौड़ता है।

भौतिक मन

यह भौतिक मन एक प्रकार से शूद्र मन है। यह कल्पना की उड़ान नहीं ले सकता जो कि ब्राह्मण मन का कार्य है। इसमें क्षत्रिय मन का साहस और शक्ति भी नहीं है और वैश्य मन का उपलब्धि-केन्द्रित पुरुषार्थ भी नहीं है। यह तमस् से अभिभूत रहता है। यह एक रूढ़ि में बँध कर चलता है। इसकी कार्यप्राणाली यांत्रिक है। यह पूर्णतः व्यावहारिक है और इसके लिए किसी भी चीज का महत्त्व केवल उसकी भौतिक उपयोगिता में है। यद्यपि यह सौन्दर्य और लय को पकड़ता तो है किन्तु यह भौतिक सीमा से बाहर नहीं जा सकता। यह सुविधा ही ढूँढता है और अनियंत्रित शक्ति के प्रभाव में रहता है।

भौतिक मन रूढियों में जकड़ा रहता है और रटी पिटी लकीर पर ही चलता रहता है। यह परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता। आलस्य के कारण यह जड पदार्थ के ही प्रभाव में अपना कार्य करता है। यह किसी भी नये विचार को स्वीकार नहीं करता क्योंकि यह मानता है कि उनमें खतरा है। यह यथास्थितिवाद का समर्थक है और अनजान क्षेत्रों के खतरों को नहीं उठाना चाहता क्योंकि यह डरता है कि कहीं कोई अनिष्ट न हो जाये। यह सदा यथास्थिति के समर्थन में तर्क ढूंढता रहता है। यह अतीत का भक्त होता है और अतीत में ही रहना चाहता है। किन्तु समय बदलता है और कोई भी चीज स्थिर नहीं रह पाती। इस प्रकार यह भौतिक मन समय के प्रवाह को रोकना चाहता है किन्तु उसे रोक नहीं पाता।

भौतिक मन की दूसरी विशेषता सन्देह उत्पन्न करते रहना है। इसकी स्थूल दृष्टि में जो स्थूल पदार्थ आते हैं उनके अतिरिक्त यह कुछ भी मानने को तैयार नहीं है। यह किसी भी अलौकिक अनुभव की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता। इसके प्रभाव से मुक्त हुए बिना श्रद्धा नहीं टिक पाती। तर्क इसकी सहायता करता है। इसके कारण कुछ भी नवीन नहीं हो पाता। यद्यपि भौतिक मन के अतिरिक्त भी मनुष्य में मन के और स्तर भी हैं किन्तु प्रायः अधिकतर लोगों में यह भौतिक मन ही मुख्य हो जाता है। भौतिकता के क्षेत्र में इसे ही मुख्य माना जाता है।

मार्क्सवाद की समीक्षा

मार्क्सवाद भौतिक और प्राणिक स्तर पर कार्य करके ही मनुष्य जाति के भविष्य को सुधारना चाहता है। वह यह चाहता है कि सभी भेदों को समाप्त करके समानता स्थापित कर दी जाये। इसके विपरीत अध्यात्म में आत्मा के स्तर पर समानता का लक्ष्य रहता है। **प्राचीन आदर्श यह था कि शूद्र को भी ब्राह्मण के स्वतन्त्रता, शान्ति और पवित्रता के लक्ष्य तक लाया जाये। किन्तु वर्तमान में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को भी आर्थिक, भौतिक, राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर नीचे लाने का प्रयत्न है अर्थात् साम्यवाद मनुष्य के उस पाशविक अंश पर टिका है जिसमें संग्रह और भोग ही मुख्य है। साम्यवाद भेद को समाप्त करना चाहता है। किन्तु 'भेद में अभेद' का प्राकृतिक नियम इसके विरुद्ध है। भेद के मिट जाने पर नीरस मरुस्थल की एकरूपता विविधता के सौन्दर्य को समाप्त कर**

देती है। वस्तुतः मनुष्य की यात्रा जड पदार्थ से आत्मा की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर की यात्रा है। इसके लिए भौतिक और मानसिक स्तर से ऊपर उठना आवश्यक है। इसके लिए हमें साम्यवाद और भौतिक विज्ञान की सीमाओं से भी ऊपर उठना होगा।

विकास यात्रा

वस्तुतः मनुष्य के पास भौतिक मन के अतिरिक्त इन्द्रियमन और प्राणिकमन तो है ही, वह मन भी है जो समझ, तर्क और ऊँची बौद्धिक दृष्टि रखता है। विकास के क्रम में मनुष्य निचले स्तर से प्रारम्भ होता है। किन्तु उसे ऊपर के स्तर की यात्रा करनी होती है। ऊपर के स्तर पर बौद्धिक स्तर से भी ऊपर आध्यात्मिक स्तर है, जहाँ आनन्द का स्पर्श होता है।

हमारी चेतना निरन्तर गतिशील है और इसका उत्थान और पतन हमारे विचार, भावना और कर्म पर निर्भर करते हैं। इन तीनों का प्रवाह हमारी चेतना पर पड़ता है और हमारे जीवन तथा प्रकृति को भी प्रभावित करता है। यह तथ्य साधक के ध्यान में निरन्तर रहना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही एक दूसरा पक्ष भी है कि चेतना हमारे विचार, भावना और कर्म को प्रभावित करती है। वस्तुतः हमारा जीवन चेतना के कार्य करने का एक उपकरण है। चेतना और जीवन के पारस्परिक आदान प्रदान से विकास होता रहता है। किन्तु इस विकासोन्मुख गति के पीछे एक स्थिर तत्व भी है, यह नहीं भूलना चाहिए।

वर्णव्यवस्था तथा स्वधर्म

साधक के जीवन में भौतिक, प्राणिक या मानसिक चेतना मुख्य रह सकती है और यह तीनों चेतनायें न्यूनाधिक रूप में अपना कार्य करती हैं। किन्तु फिर भी इन तीनों चेतनाओं में से कोई एक चेतना मुख्य रहती है और वही उसका स्वधर्म निर्धारित करती है। यही वर्णव्यवस्था का आधार है। विकास के साथ आज हमें यह मानना होगा कि हर व्यक्ति में चारों ही वर्णों की प्रवृत्ति रहती है यद्यपि उन प्रवृत्तियों में कोई एक प्रवृत्ति मुख्य अवश्य होती है।

अध्यात्म के विकास में जड पदार्थ के आकर्षण मुख्य बाधा है। प्रायः जड पदार्थ के आकर्षण की प्रतिक्रिया में साधक एकान्त में जाना चाहता है और अपनी सभी भौतिक इच्छाओं का दमन करता है। साधक प्रायः अन्तर्मुख होकर सक्रिय जीवन से विरत हो जाता है। किन्तु श्री अरविन्द इसके पक्ष में नहीं है क्योंकि उनका योग समग्रता पर आधृत है जिसमें भौतिक मन का भी अपना स्थान है यद्यपि इसके लिए भौतिक मन का पवित्रीकरण आवश्यक है।

अन्य परम्पराओं के समान श्री अरविन्द मन के पवित्रीकरण के लिए वैराग्य पर बल देते हैं। इसका यह अर्थ है कि साधक को भौतिक मन से अपने आपको अलग करके यांत्रिक और वर्तुलाकार गति से मुक्त करना चाहिए। उसे शरीर की आवश्यकताओं और सुख सुविधाओं के प्रति लालायित नहीं रहना चाहिए किन्तु शरीर की उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। शरीर धर्म का प्रथम साधन है— **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**। भौतिक मन से मुक्त होने का यह अर्थ है कि हम अध्यात्म में उड़ान ले सकें। यह भौतिक मन सदा इस प्रतीक्षा में रहता है कि साधक यदि थोड़ा सा भी प्रमाद करे तो यह उसे अभिभूत कर ले। सदा शरीर की ही सुख सुविधाओं की चिन्ता करते रहना अध्यात्म में बहुत बड़ा बाधक है।

वैराग्य के अतिरिक्त विचारों को केन्द्रित करना भी आवश्यक है। जब जब भौतिक मन इन्द्रियों के विषयों की ओर उन्मुख हो तब तब उसे दिव्य के प्रेम के प्रति मोड़ना चाहिए। इसके लिए मातृशक्ति का भी आह्वान किया जाना चाहिए। धीरे धीरे भौतिक प्रकृति में भी प्रेम स्वाभाविक हो जाता है।

यान्त्रिक विचार

ध्यान के समय साधक में यांत्रिक विचारों का आक्रमण होता रहता है। ये सब विचार केवल ध्यान को भंग करते हैं और इनका कोई महत्त्व नहीं है। श्री अरविन्द का कहना है कि अत्यन्त शान्त भाव से इन विचारों से अपने आप को वापस खींच लेना चाहिए। हम जितना शान्त रहेंगे उतना ही इन विचारों से मुक्त रह सकेंगे।

एक कठिनाई यह है कि साधक में जो प्रेम, भक्ति और समर्पण के भाव आते हैं, वे स्थिर नहीं रह पाते। इस स्थिति में साधक को निराश नहीं होना चाहिए किन्तु बारम्बार उन्हीं उच्च भावों के साथ जुड़ते रहना चाहिए। यदि आत्मा का आलोक भौतिक मन तक व्याप्त हो जायेगा तो निराशा और सन्देह की आदत छूट जायेगी और यह भाव स्थिर हो जायेंगे। भौतिक मन से हटकर चेतना पर अपने आपको टिकाना चाहिए। इसके लिए निवृत्ति की पद्धति अपनानी चाहिए।

अवचेतन और चेतन

वस्तुतः भौतिक मन के पवित्रीकरण के लिए अवचेतन को जीतना आवश्यक है। यदि केवल शान्ति प्राप्त करनी हो तो अपने आपका भौतिक मन से सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता है। किन्तु श्री अरविन्द निम्न प्रकृति के भी पवित्रीकरण के पक्ष में हैं। जिसका यह अर्थ है कि भौतिक मन को जड पदार्थ की दासता से मुक्त करके उच्च स्तर पर लाया जा सके जहाँ यह अतिमानस चेतना को स्वीकार कर सके और सर्वत्र दिव्य का अनुभव कर सके। इस स्थिति को गीता ने **सर्वः वासुदेवमिति** कहकर स्पष्ट किया है।

भौतिक प्रकृति का पवित्रीकरण पूरा तब ही हो सकता है जबकि अवचेतन और अचेतन की शुद्धि की जाये क्योंकि भौतिक की जड़ें अवचेतन और अचेतन में ही हैं और वहीं से हमारी आदतें और प्रवृत्तियाँ आती हैं। क्योंकि भौतिक स्थूल, सघन और प्रमाद में है इसलिए वहाँ तक उच्चतर आलोक या इन्द्रियातीत सत्य नहीं जा पाता। यह परिवर्तन नहीं चाहता क्योंकि इसकी गति यांत्रिक है। अवचेतन और अचेतन की क्रिया अस्त व्यस्त है और वहीं से बहुत से रोग तथा विकार उत्पन्न होते हैं। इसलिए अवचेतन और अचेतन को आलोकित करना आवश्यक है।

भौतिक प्रकृति को मातृशक्ति के प्रति संवेदनशील बनाया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि हमारी चेतना का जो अंश विकसित है उसे भौतिक प्रकृति से जोड़ा जाये। यह कार्य कठिन है और धीरे धीरे होता है। पुरानी आदतें प्रायः बने रहना चाहती हैं। इसलिए निरन्तर प्रयत्न आवश्यक है। साधक को प्रारम्भ में यह पता नहीं चल पाता कि मातृशक्ति अपना काम किस प्रकार करती है, किन्तु यह

काम होता अवश्य है। बौद्धिक ज्ञान इस सम्बन्ध में अधिक सहायक नहीं होता बल्कि कभी कभी बाधक भी होता है। इसके लिए साधक को आत्मा का स्पर्श करना चाहिए। जैसे जैसे यह होगा वह निम्न प्रवृत्तियों, वासनाओं और आदतों से स्वतन्त्र होता जायेगा। पवित्र होने पर प्रकृति पारदर्शी हो जाती है।

दमन नहीं

एक समय साधक को यह प्रतीति में आता है कि वह केवल शरीर है। उस समय साधक को अनासक्ति और सावधानी बरतनी होती है। साथ ही उसे पूर्णरूप से समर्पण भी कर देना चाहिए। अवचेतन मन से ही वासना, लोभ और सेक्स उत्पन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में योग की दृष्टि नैतिकता और धर्म की दृष्टि से भिन्न है, जिसका यह अर्थ है कि दमन के स्थान पर अनासक्ति और समानता का प्रयोग करना चाहिए। **श्री अरविन्द की दृष्टि में दमन में भी इच्छा उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार भोग में इच्छा रहती है। अतः दमन कोई समाधान नहीं कर पाता।**

आहार

आहार के सम्बन्ध में भी साधक को अनासक्ति भाव रखना चाहिए। यदि भोजन स्वादिष्ट न हो तो उसे परेशान नहीं होना चाहिए। भोजन न बहुत अधिक हो न बहुत कम। भोजन को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। जहाँ तक सेक्स का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं बरतनी चाहिए। श्री अरविन्द के मतानुसार तंत्र की दृष्टि या भक्ति का मधुर भाव खतरनाक सिद्ध हो सकता है। साधना में प्रेम के नाम पर प्राणिक सम्बन्धों को स्थान नहीं देना चाहिए। समर्पण के मार्ग में सैक्स बाधक है। दिव्य के प्रति प्रेम का यह अर्थ है कि हम किसी व्यक्ति के प्रति आसक्त न हों। अनन्त की खोज करने वाला अनित्य सान्त पदार्थों से नहीं जुड़ता है। यह सत्य है कि यदि सैक्स को दबाया जाये तो वह विकृत रूप ले सकता है। किन्तु यदि अध्यात्म का सहारा लेकर ब्रह्मचर्य का पालन किया जाये और वीर्य को ओज में बदला जा सके तो बहुत लाभ होता है। भौतिक के पवित्रीकरण से व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक रहता है। इतना ही नहीं साधक अन्ततोगत्वा अतिमानस रूपान्तरण के लिए तैयार हो जाता है।

कर्मयोग

कर्मयोग का यह अर्थ है कि दिव्य केवल निर्गुण ही नहीं है अपितु सर्वव्यापक गतिमान् भी है और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए कर्म आवश्यक है। उसके कालातीत स्वरूप के साथ सम्बन्ध जोड़ने के साथ उसक वैश्विक स्वरूप के साथ भी सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। जो साक्षी है व कर्त्ता भी है। श्री कृष्ण ने इसलिए कहा— **वर्त एव च कर्मणि**। यद्यपि साधक को कुछ भी करना शेष नहीं है तथापि यदि वह कर्म न करे तो संसार की व्यवस्था बिखर जायेगी इसलिए वह लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है। गीता में श्री कृष्ण ने अपना विराट् रूप दिखाया जो निरन्तर कर्म कर रहा है। यह पुरुषोत्तम है जो एक होते हुए भी अनेक है, निराकार होते हुए भी साकार है। इसी आधार पर कर्मयोग टिका है। कर्मयोगी जहाँ दिव्य के शान्त स्वरूप से जुड़ता है वहाँ उसके विश्वरूप से भी जुड़ता है। उसका उद्देश्य दिव्य के कार्य में सहयोग करना है। उसके लिए सब कुछ दिव्य का ही अंश है। वह यह अनुभव करता है कि वह पूर्णरूप से ईश्वर का है और वह केवल अपने मन या हृदय को ही समर्पित नहीं करता बल्कि स्वयं अपने आपको भी समर्पित कर देता है। वह अपने सब कर्मों को भी समर्पित कर देता है। वह यह मानता है कि उसका अस्तित्व दिव्य के लिए ही है। जब वह अपने कर्मों को समर्पित करता है तो वह केवल मोक्ष ही नहीं, परिपूर्णता भी चाहता है। उसके लिए संसार माया या मिथ्या नहीं है अपितु दिव्य की अभिव्यक्ति है। इसलिए वह संसार के संघर्ष से डरता नहीं है अपितु इस संघर्ष को एक अवसर मानता है। उसके सामने ईश्वर का यह आदर्श है कि वह सब कुछ करते हुए भी अकर्ता बना रहता है।

अपरा और परा प्रकृति

यह प्रश्न रहता है कि त्रिगुण में और द्वैत में रहते हुए साधक किस प्रकार मुक्त हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि प्रकृति के दो स्वरूप हैं—अपरा और परा। परा प्रकृति शुद्ध और स्वतंत्र है। इस परा प्रकृति के द्वारा साधक संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त हो सकता है। **जब उपनिषद् यह कहते हैं कि जो विद्या की उपासना करता है वह उससे भी अधिक गहरे अन्धकार में जाता है जो अविद्या**

की उपासना करता है, तो इसका यह अभिप्राय है केवल विश्वोत्तीर्ण और शान्त स्वरूप में लीन होने की इच्छा अनुचित है, विश्वव्यापक और सक्रिय स्वरूप की भी उपासना करनी चाहिए। कर्मयोग के द्वारा ही साधर्म्य मुक्ति हो सकती है, जिसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार दिव्य कर्म करते हुए भी ईश्वर कर्मों से बँधता नहीं है उसी का अनुकरण साधक को भी करना चाहिए।

श्री अरविन्द के अनुसार मोक्ष का यह अर्थ तो है ही कि आत्मा मुक्त हो जाये किन्तु उसके साथ ही प्रकृति को भी तीन गुणों के निम्न स्तर से मुक्त होना चाहिए। प्रकृति के रूपान्तरण के लिए कर्मयोग आवश्यक है। पूर्णयोग का उद्देश्य प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं है अपितु दिव्य प्रकृति का उपयोग और भोग करना मनुष्य की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

संन्यास

परम्परा में कर्म का उद्देश्य चित्तशुद्धि माना गया है। चित्तशुद्धि हो जाने के बाद या तो कर्म छोड़ने की बात कही जाती है या सेवा की बात कही जाती है। इस मत के अनुसार कर्म कम से कम करने चाहिए। यह मत निवृत्ति का समर्थक है इसके अनुसार प्रारम्भ में कर्म सहायक हो सकता है, किन्तु अन्त में उसे छोड़ना होता है। श्री अरविन्द ने बारम्बार इस बात पर बल दिया है कि उपनिषदों के अनुसार समस्त संसार ब्रह्म है और एक ही आत्मा ने प्राणियों के हृदय में रहकर भिन्न भिन्न रूप धारण किये हैं। ऐसी स्थिति में संसार को मिथ्या नहीं माना जा सकता। किन्तु शाङ्करवेदान्त संसार को मिथ्या मानता है। इसका सहारा लेकर साधक संसार से पलायन करना चाहता है। श्री अरविन्द के अनुसार इस सिद्धान्त ने भारत की बहुत हानि की है।

ज्ञान-कर्म-समुच्चय

पूर्णयोग में कर्म ज्ञान और प्रेम की शक्ति है। ज्ञान में एकता है, प्रेम में आनन्द है और यह दोनों कर्म को प्रकाश और मधुरता प्रदान करते हैं। कर्म ईश्वर की शक्ति का सूचक है। कर्मयोग का आधार ज्ञान का प्रकाश और भक्ति का आनन्द

है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का साधन है। वस्तुतः एकत्व के ज्ञान और प्रेम के अनुभव के बिना साधक अपने कर्म ईश्वर को अर्पण नहीं कर सकता। इस प्रकार श्री अरविन्द ने कर्म को ज्ञान और भक्ति से जोड़ कर देखा है।

वस्तुतः हमारी इच्छायें कर्मयोग के द्वारा ही निर्मूल हो सकती हैं। सक्रिय जीवन में ही इच्छायें प्रकट होती हैं जबकि निष्क्रिय जीवन में वे दबा दी जाती हैं। इसलिए सक्रिय जीवन में हम इच्छाओं का सामना करते हैं और वहीं उनके निराकरण का अवसर भी मिलता है। इच्छाओं के निराकरण का अर्थ यह है कि वे हमारी अहंकार की तृप्ति का साधन न बनें, किन्तु इच्छाशक्ति का प्रयोग अतिमानस को साकार करने के लिए किया जाना चाहिए। जब इच्छा उत्पन्न हो तो उसे शान्त मन से देखना चाहिए। किन्तु यदि व्यक्ति कर्म ही छोड़ देगा तो उसे अहंकार को शिथिल करने का अवसर ही नहीं मिलेगा। निष्काम कर्म के द्वारा प्राणशक्ति पवित्र होती है। गीता में इसलिए सब कर्मों को भगवदर्पण करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार इच्छायें शिथिल हो जाती हैं और अन्त में समाप्त हो जाती हैं। शान्ति की स्थिति में उत्पन्न होने वाली इच्छा को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

कर्तृत्व का त्याग

कर्मयोग में फल की इच्छा को ही छोड़ना पर्याप्त नहीं है अपितु कर्म के प्रति भी आसक्ति छोड़नी चाहिए। सभी कर्म मातृशक्ति के कर्म है। इसलिए कर्मयोगी के लिए सभी छोटे बड़े कर्म इस दृष्टि से बराबर महत्वपूर्ण हैं कि हम उनके प्रति अपने कर्तृत्व की भावना से मुक्त हो सकें। कर्मयोग की दो स्थितियाँ हैं; एक स्थिति में साधक दिव्य से जुड़ने के लिए कर्म करता है और दूसरी स्थिति में दिव्य से जुड़े होने के कारण कर्म करता है। दोनों स्थितियों में 'जुड़ना' मुख्य है। यदि अनन्त और नित्य से जुड़ने का भाव नहीं है तो वह कर्म मनुष्यता के लिए कितना भी उपयोगी क्यों न हो किन्तु वह कर्मयोग नहीं है। कर्मयोगी को अपने कर्म पूर्ण सावधानी से और कुशलता से करने चाहिए और कर्म करते हुए स्वयं कर्म से मुक्त रहना चाहिए। किन्तु पूर्ण समर्पण के बिना यह सम्भव नहीं है।

साथ ही स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपने आपको कर्म से भिन्न मानें और आन्तरिक रूप से नैष्कर्म्य से जुड़े रहें।

दिव्य कर्मठता

कुछ साधक स्वभाव से ही अधिक कर्मठ होते हैं किन्तु कर्मयोग के लिए कर्मठता पर्याप्त नहीं है। कर्म के साथ दिव्य से जुड़ने की और दिव्य की सेवा की भावना भी रहनी चाहिए। वह विवश होकर कर्म नहीं करता है। अपितु उसके कर्म का उद्देश्य अहंकार को जीतना है। इस प्रकार वह कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उसके लिए कर्म बन्धन का कारण न होकर बन्धन से मुक्ति का कारण बनता है। उसके सभी कर्म चेतना के अंश बन जाते हैं। यदि दिव्य की इच्छा हो तो वह अधिक कर्म भी कर सकता है। किन्तु कर्म का परिमाण महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण यह है कि कर्म के पीछे दृष्टि क्या है। कर्म प्रकृति के दास के रूप में नहीं किया जाना चाहिए, अपितु उस दासता से मुक्त होने के लिए किया जाना चाहिए।

भक्ति का यह अर्थ नहीं है कि हर समय व्यक्ति नाचता रहे और न कर्मयोग का यह अर्थ है कि व्यक्ति हर समय कर्म में लगा रहे। यह नहीं भूलना चाहिए कि कर्म एक योग है और कोई भी योग शान्त मन से ही किया जा सकता है। जो कर्म दिव्य की प्रेरणा से होता है वही वास्तविक योग है। यदि कर्म हमारे अहंकार को बढ़ावे तो वह बन्धन का कारण है और हमें मार्ग से विचलित कर देता है।

कर्म के लिए साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि उसके पीछे मातृशक्ति है जो उसका मार्गदर्शन कर रही है। मुक्त पुरुष को भी कर्म इस रूप में करने होते हैं कि वह दिव्य की इच्छा का एक निमित्त मात्र है। साधना की उच्चतर अवस्था में साधक कर्म के चयन को भी मातृशक्ति की इच्छा पर छोड़ देता है। इसके लिए निरन्तर उसे मातृशक्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। ऐसी स्थिति में साधक यह अनुभव करेगा कि उसके अन्दर बैठी हुई मातृशक्ति ही काम कर रही है और वह केवल एक निमित्त है। ऐसी स्थिति में प्रेरणा का स्रोत मनुष्य न रहकर दिव्यता होती है। इस प्रकार यदि साधक ग्रहणशील होगा तो वह पायेगा

कि उसका कर्म निरन्तर विकसित होता जा रहा है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि इस प्रकार साधकों ने अद्‌भुत कर्म किये हैं। इस प्रकार नये विचार और सुझाव प्राप्त हो सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य मन के कारागार से मुक्त हो जाये। श्री अरविन्द के अनुसार कर्म का प्रयोजन प्रकृति से मुक्त हो जाना ही नहीं है अपितु प्रकृति का रूपान्तरण कर देना है।

मातृशक्ति और कर्म

कर्म के बीच दिव्य पर ध्यान बनाये रखना प्रारम्भ में कठिन होता है। यदि हम दिव्य का ध्यान करें तो कर्म को ठीक से नहीं कर सकते और यदि कर्म को ठीक से करना चाहें तो दिव्य को भूल जाते हैं। यह प्रारम्भ की स्थिति है किन्तु जैसे जैसे हमारा समर्पण का भाव दृढ़ होता है हम यह अनुभव करने लगते हैं कि कर्म करते हुए भी हम अन्दर से मुक्त रहते हैं। यदि हम दिव्य से प्रेम करेंगे तो यह कार्य सरल हो जायेगा। अन्त में ऐसी स्थिति आ जाती है कि साधक को लगता है कि मातृशक्ति ही उसके अन्दर कार्यरत है। कर्मों में यह स्थिति व्यक्ति के समत्व को दृढ़ बना देती है।

दिव्य जीवन

शास्त्र की भाषा में श्री अरविन्द के अनुसार पुरुष केवल साक्षी और अनुमन्ता ही नहीं है वह कर्ता और भोक्ता भी है। वस्तुतः पुरुष तो सदा ही मुक्त है चाहे हमें इसका पता न चले किन्तु वास्तविक लक्ष्य यह है कि हम प्रकृति गुणों के कारण क्षुब्ध न हों। यह कर्म में शान्त रहने की कला है। गुणों के द्वारा कार्य करते हुए केवल पुरुष ही नहीं प्रकृति भी मुक्त रह सकती है। यह स्थापना श्री अरविन्द की अपनी मौलिक है। इस मार्ग पर चलकर साधक पृथ्वी पर दिव्यता के अवतरण का साधन बनता है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञान का संश्लेष श्री अरविन्द के दर्शन का मूल आधार है। इसके लिए केवल आत्मा की पवित्रता का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है शरीर, मन और बुद्धि का भी पवित्रीकरण आवश्यक है।

PURIFICATION OF HUMAN MIND

Our sight and sense are a fallible gaze and touch
And only the spirit's vision is wholly true.

—Savitri p. 525

X X X

Now mind is all and its uncertain ray,
Mind is the leader of the body and life,
Mind the thought-driven chariot of the soul
Carrying the luminous wanderer in the night
To vistas of a far uncertain dawn,
To the end of the Spirit's fathomless desire,
To its dream of absolute truth and utter bliss.

There are greater destinies mind cannot surmise
Fixed on the summit of the evolving Path
The Traveller now treads in the Ignorance,
Unaware of his next step, not knowing his goal.

Mind is not all his tireless climb can reach,
There is a fire on the apex of the worlds,
There is a house of the Eternal's light,
There is an infinite truth, an absolute power.

—Savitri p. 704

मन का पवित्रीकरण

चित्त

जब हम मन की बात करते हैं तो उसमें केवल बुद्धि, तर्क, विचार और समझ ही नहीं अपितु भावनायें भी आ जाती हैं। हमारे स्वभाव के मनोविज्ञान का ज्ञान अध्यात्म के लिए आवश्यक है। अन्तः-आलोक के द्वारा हम अपने स्वभाव की कार्यप्रणाली को जान सकते हैं। इसके लिए चित्त, बुद्धि और अहंकार को जानना आवश्यक है। ये तीनों अन्तः करण हैं। इनमें चित्त मुख्य है। आज की परिभाषा में यह अवचेतन मन है। निष्क्रिय रूप में चित्त संस्कारों को ग्रहण करता रहता है और उन्हें अवचेतन में संग्रह करता जाता है जहाँ से मन उन्हें स्मृति में ले आता है। चित्त उन चीजों को भी ग्रहण कर लेता है जो मन के ध्यान में नहीं आती। ये सब संस्कार चित्त में अव्यवस्थित रूप में पड़े रहते हैं और जाग्रत तथा सुषुप्त अवस्था में चित्र-विचित्र रूप से आते रहते हैं। चित्त की यह क्रिया स्वतः चलती रहती है। चित्त का सक्रिय रूप चित्तवृत्ति के रूप में चारों ओर चलने वाली क्रियाओं की प्रतिक्रिया करता रहता है। वनस्पति जगत् में चित्त सुख दुःख की संवेदनाओं को स्नायविक स्तर पर ग्रहण करता है। किन्तु पशुओं के स्तर पर यह मानसिक रूप भी धारण कर लेता है। किन्तु पशुओं में भी यह भौतिक आवश्यकता से आगे नहीं जा सकता। इसके आधार पर पशुओं की आदतों का निर्माण होता है।

विचार शक्ति

मनुष्य में विचारशक्ति का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। यह विचारशक्ति स्थूल रूप में विकसित पशुओं में भी पायी जाती है। मनुष्य में भी यह विचारशक्ति ऐन्द्रिक अनुभव पर ही टिकी रहती है और स्वतन्त्र नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त वातावरण में होने वाले क्रियाकलापों की प्रतिक्रिया भी मनुष्य का चित्त करता है। उसका चिन्तन प्रतिक्रियाओं पर ही टिका है। इसलिए वह मूलरूप से पशु के मन से भिन्न नहीं है। विज्ञान और तकनीक इसी विचारशक्ति का परिणाम है। यद्यपि विज्ञान अद्‌भुत परिणाम देता है तथापि योग की दृष्टि से वह भी इन्द्रियों से ही जुड़ा रहता है।

इच्छा

सामान्यतः मनुष्य का मन तर्क पर न टिक कर ऐन्द्रिक अनुभवों का ही व्यवस्थापन करता है। बाहर के स्पर्शों की प्रतिक्रिया भी यही मन करता है। इन्द्रियों से प्राप्त सूचनाओं से और चित्त के संस्कारों से यह मन उपहित रहता है। इसके तर्क भी इच्छाओं से ही प्रेरित होते हैं। प्राणिक आवश्यकताओं को यह तर्क द्वारा उचित सिद्ध करता रहता है। यह अभी निम्न प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हुआ है। यदि साधक मन की इसी स्थिति से सन्तुष्ट हो जाता है और इसके पार नहीं जाता तो वह पशुता से बहुत ऊपर नहीं उठ सकता। किन्तु वैज्ञानिक और दार्शनिक इच्छाओं से मुक्त होकर विचार के स्तर पर ज्ञान का अर्जन करते हैं। उनमें से भी अधिकतर इच्छाओं से और रागद्वेष से मुक्त नहीं हो पाते।

तर्क

बुद्धि के तीन कार्य हैं— १. समझ, २. तर्क, ३. ज्ञान। समझ का अर्थ है इन्द्रियों से थोड़ा ऊपर उठ जाना। किन्तु इसमें भी अभी प्रतिक्रिया का भाव ही बना रहता है। तर्क समझ से भी ऊपर की स्थिति है। तर्क के द्वारा व्यक्ति विश्लेषण करता है और प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण करता है। इस स्तर पर ही हमारी आचार मीमांसा और सौन्दर्य दृष्टि निर्मित होती है। तर्क निम्न प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने

की कोशिश करता है। तर्क का आधार भी इन्द्रियों का अनुभव ही है। किन्तु समझ से ऊपर उठकर तर्क ऐन्द्रिक ज्ञान का अधिक परिष्कृत उपयोग करता है। इसके द्वारा ही विज्ञान के सिद्धान्तों का निर्माण होता है। इसके द्वारा मनुष्य को भौतिक शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं और उसका मानसिक विकास हुआ है। उपयोगिता की दृष्टि से तर्क जीवन की स्थितियों को सुधारने का प्रयत्न करता है। जो तर्क ऐसा न कर सके उसका कोई विशेष उपयोग पश्चिम नहीं मानता। उपयोगितावाद से पश्चिम का विकास भी हुआ किन्तु यही उसकी सीमा भी है। दूसरी ओर तर्क का उपयोग समग्र दृष्टि के लिए किया जाता है। जीवन को अपने पूर्णरूप में देखा जाता है। तर्क का यह उपयोग जीवन की सार्थकता ढूंढने के लिए किया जाता है। किन्तु इस स्तर पर भी विचार-विमर्श ही मुख्य है।

ज्ञान

बुद्धि का तीसरा स्तर ज्ञान का है। इसके द्वारा सत्य की खोज की जाती है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य की चेतना इच्छाओं से ऊपर उठती है। उदारता, गम्भीरता और शान्ति ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। यह ज्ञान अनन्त है और यह अमृतत्व की ओर प्रेरित होता है। इसे सत्य के एक अंश का अनुभव होता है किन्तु यह पूर्ण सत्य को नहीं जान सकता। यह भी क्योंकि विभक्त करके देखता है इसलिए अविभक्त अनन्त को नहीं जान सकता। विशेष बात यह है कि यह ज्ञान को व्यवहार में नहीं ढाल सकता। ज्ञान के प्रति इसकी रुचि इसे कल्पना में ले जाती है और यह अपने ही विचारों में खोया रहता है। इन सब कमियों के बावजूद बुद्धि ही हमारी सबसे अधिक सहायक है जो सत्वगुण के द्वारा त्रिगुणातीत तक पहुँचा सकती है। यह प्रकाश और पदार्थ के बीच की सोपान है।

विकास के परिणाम

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. विकास के क्रम में जैसे जैसे हम आगे बढ़ते है हमारी चेतना का विस्तार होता है और नीचे के स्तर की यांत्रिकता से हम मुक्त होते जाते हैं।

विकास के क्रम में पहले हम अपने प्रति और संसार के प्रति जागरूक होते हैं किन्तु इच्छायें हमें घेरे रहती हैं। बुद्धि में धीरे धीरे हम प्रकृति की यांत्रिकता से मुक्त होते हैं और बाह्य स्पर्शों से कम प्रभावित होते हैं। अन्ततोगत्वा साधक प्रकृति की गतिविधियों का साक्षी बन जाता है।

२. विकास के हर सोपान में जहाँ नीचे के सोपान का अंश रहता है वहाँ ऊपर के सोपान की शक्ति भी निहित रहती है। अतः पदार्थ में रहने वाला चित्त भी ऐन्द्रिक मन का अंश लिये रहता है। इसी प्रकार ऐन्द्रिक मन में भी वैचारिक मन का अंश रहता है। बुद्धि में वैराग्य और स्वतन्त्रता ही नहीं रहती, संयम का अंश भी रहता है।

३. जैसे जैसे हम विकास करते हैं वैसे वैसे स्वतन्त्र होते जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि नीचे की प्रकृति समाप्त हो जाती है। वस्तुतः नीचे की प्रकृति अधिक विकसित होती जाती है और वह एक जैविक एकता में बदलती रहती है। उसका परिष्कार होता रहता है। व्यक्ति का चित्त अधिक जाग्रत होता है, परिष्कृत होता है और व्यवस्थित होता है। उसमें सौन्दर्य और लयात्मकता बढ़ती है। उसकी वासना भी व्यवस्थित और परिष्कृत होती है। बुद्धि के स्तर पर उसके सहयोग का भाव बढ़ता है और वह अतिक्रमण करने के सामर्थ्य प्राप्त करता है।

परिपूर्णता

इस प्रकार चेतना का जागरण और प्रकृति का पवित्रीकरण साथ साथ चलता है। यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य भी है। किन्तु मोक्ष ही पर्याप्त नहीं है, परिपूर्णता भी होनी चाहिए। मोक्ष परिपूर्णता की ओर पहला कदम है। जैसे पुरुष प्रकृति से मुक्त होता है और प्रकृति निम्न प्रवृत्तियों से मुक्त होती है वैसे ही पुरुषोत्तम की पराप्रकृति सर्जनात्मक शक्ति बन जाती है। पवित्रता का उद्देश्य अपरा प्रकृति को परा प्रकृति में बदल देना है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्णता का अर्थ केवल आचार सम्बन्धी पूर्णता नहीं है अपितु दिव्य पूर्णता है। यह दिव्य पूर्णता दमन से अथवा किसी कर्मकाण्ड से नहीं आ सकती। इसके लिए किसी भी अंश

के निराकरण की आवश्यकता नहीं है अपितु सभी अंशों को अपने उचित स्थान पर स्थापित करना चाहिए। इसके लिए मनुष्य का मन पर्याप्त नहीं है, मातृशक्ति की कृपा और मार्गदर्शन भी चाहिए।

बुद्धि का नेतृत्व

अन्तःकरण जटिलताओं में घिरा है इसलिए अन्तःकरण के विकसित अंश पर ध्यान देना आवश्यक है। इस विकसित अंश को ऋजुता से अधिक पवित्र किया जा सकता है। किन्तु कोई भी अंश तब तक पूर्णतः पवित्र नहीं हो सकता जब तक सभी अंश पूर्णतः पवित्र न हो जायें क्योंकि एक अंश की अपवित्रता दूसरे अंश को प्रभावित करती है। हम पहले देख चुके हैं कि अन्तःकरण में बुद्धि सबसे अधिक विकसित है। इसलिए पवित्रता के अभियान में बुद्धि का नेतृत्व आवश्यक है। बुद्धि के द्वारा हम प्रकृति के क्रिया कलापों को देख सकते हैं और उन्हें बदल भी सकते हैं। बुद्धि केवल देखती ही नहीं है नियंत्रित भी करती है। बुद्धि के द्वारा प्रकृति के अंशों को नियन्त्रित किया जा सकता है। बुद्धि इन्द्रियों से परे जा सकती है। बुद्धि हमें उन प्रतिक्रियाओं से बचा सकती है जो बाह्य क्रियाओं से पैदा होती हैं। यह भावनाओं को सन्तुलित कर सकती है और आचार की सीमाओं में हमारे व्यवहार को बाँधे रख सकती है।

बुद्धि की सीमायें

यह सब होने पर भी बुद्धि की अपनी सीमायें हैं। पहले तो बुद्धि प्राण की क्रियाओं के आधीन है। उसकी क्रियायें भी इच्छाओं से दूषित रहती हैं। इच्छायें ही उसे प्रेरित करती हैं। यह सच है कि सामान्य मनुष्य की इच्छाओं की अपेक्षा बौद्धिक रूप से विकसित मनुष्य की इच्छायें परिष्कृत होती हैं। किन्तु वह सूक्ष्म इच्छाओं से मुक्त नहीं हो पाता। वह कुछ मानसिक सिद्धान्तों से बँधा ही रहता है। उसके सभी सिद्धान्त और निर्णय इच्छाओं से प्रेरित होते हैं। तथापि यदि वह चाहे तो वह इन्द्रियों की चंचलता और हृदय की भावनाओं से अप्रभावित रह सकता है।

इच्छाओं से मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। इच्छाओं के कारण बुद्धि अशुद्ध हो जाती है और सत्य को खण्डित कर देती है। वह आत्मा की गति को विकृत कर देती है। इच्छाओं पर विजय पाना ही वास्तविक पुरुषार्थ है। जब तक इच्छायें हैं तब तक मनुष्य कितना भी बुद्धिमान् हो वह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि बहुत बुद्धिमान् मनुष्य भी इच्छाओं के प्रभाव में गलत निर्णय ले लेते हैं। ऐसे में बुद्धि साधक का नेतृत्व नहीं करती; वह प्राणिक प्रभाव के आधीन हो जाता है, उसकी दिव्यता प्रकट नहीं होती।

बुद्धि की दूसरी कमी यह है कि वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सूचनाओं पर निर्भर रहती है। इसलिए वह कोई ऊँचा आदर्श लेकर नहीं चल सकती क्योंकि जीवन की उच्चतर सम्भावनायें तभी साकार हो पाती हैं जब हम इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त हो सकें। कवि, कलाकार और ऋषि इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त होकर ही अपना कार्य कर सकते हैं। तर्क के अत्यधिक प्रभाव के कारण और केवल पदार्थ को ही सत्य मान लेने के कारण आज साहित्य, कला और दर्शन के क्षेत्र में कोई विशेष उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं हो रही। इसके लिए यह आवश्यक है कि अनन्त और नित्य के प्रति अभीप्सा जागे। ऐसा होने पर इन्द्रियों के बन्धन से मन मुक्त होगा। जैसे जैसे ऐसा होगा वैसे वैसे लघुत्व आयेगा, पारदर्शिता होगी और नये नये अनुभवों का संसार खुलेगा। शान्त मन पवित्र हो जाता है। हमें समस्त बौद्धिक क्रियाओं को भगवदर्पण कर देना चाहिए– ***मय्यर्पितमनोबुद्धिः***। इसका यह अर्थ है कि बुद्धि निम्न प्रवृत्तियों से मुक्त होकर उच्चतर प्रवृत्तियों में लगे। पूर्णयोग में वैराग्य और समर्पण साथ साथ चलते हैं।

बुद्धि का एक दोष यह है कि यह अहंकार की प्रतिष्ठा है। यह भेद-चेतना की सीमा में चलती है। इस अहंकार के कारण साधक एक सीमा में बँधा रहता है। बुद्धि में अहंकार सबसे अधिक शक्तिशाली है। अपना अतिक्रमण करे बिना यह अभेद को नहीं देख सकती। अद्वैत की प्रतीति बुद्धि को अहंकार से मुक्त कर सकती है।

बुद्धि की एक कमी यह है कि यह जब कभी अलौकिक तत्व को प्राप्त करती है तो संसार की और प्रकृति की बुराइयों से दूर हट कर एकान्त सेवन करना

चाहती है। इसके लिए वह किसी एक लक्ष्य को दृष्टि में रखकर अपने जीवन को उसी लक्ष्य के प्रति समर्पित कर देती है। पूर्णयोग में इस ऐकान्तिक प्रवृत्ति से बचने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। हमें शिखर के आकर्षण के साथ साथ तलहटी की आवश्यकता को भी समझना चाहिए। बुद्धि का कार्य शिखर और तलहटी के बीच सेतु बनाना है। इसलिए बुद्धि को अहंकार ही नहीं छोड़ना चाहिए, अपितु अपनी कल्पनाओं को भी विस्तार देना चाहिए।

इतना स्पष्ट है कि बुद्धि का पवित्र होना प्रकृति की पवित्रता के लिए आवश्यक है। इसके लिए केवल बुद्धिमत्ता ही पर्याप्त नहीं है, प्रकाश भी चाहिए। इसके लिए हृदय में माधुर्य और इच्छा में सामर्थ्य होना चाहिए। बुद्धि यदि अपरा प्रकृति से मुक्त हो जाती है तो अतिक्रमण करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। निष्काम, विरक्त और उच्च अभिलाषाओं से पूर्ण बुद्धि सारी प्रकृति को पवित्र कर देती है।

राग-द्वेष

मन इन्द्रियों के विषयों में रागद्वेष के कारण सुख और दुःख ढूँढता है। मन की यह क्रिया यान्त्रिक है जिसके पीछे कोई तर्क नहीं होता। जब मैं किसी को देखता हूँ, उस समय मेरी प्रतिक्रिया मेरे चित्त की स्थिति और मेरे मन की संरचना पर निर्भर करती है। इस कारण मैं किसी के प्रति आकर्षण, विकर्षण या उदासीनता का भाव रख सकता हूँ। उसके कारण मेरे हृदय में सुख या दुःख का भाव पैदा होता है। यह सब अन्तःकरण की जटिल प्रक्रिया कभी कभी गलत दिशा में ले जाती है। अभिप्राय यह है कि संसार का ज्ञान जिस प्रक्रिया से हमें होता है वह प्रक्रिया निर्दोष नहीं है अपितु अनेक उपाधियों के कारण हमारे निर्णयों को गलत दिशा में ले जाती है।

निष्कर्ष

मन की इस प्रक्रिया के स्थान पर बुद्धि की स्थिरता आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि मन का नियन्त्रण बुद्धि के द्वारा होना चाहिए ताकि बँधे बँधाये पसन्द-नापसन्द के मार्गों की अपेक्षा हम तटस्थ और शान्त भाव से निर्णय ले

सकें। इसके लिए बुद्धि को पुराने संस्कारों से और आदतों से मुक्त होकर सत्य की ओर विकास करना होता है। इसलिए उपनिषदों में इन्द्रियों को अश्व, मन को लगाम और बुद्धि को सारथी कहा गया है। अभिप्राय यह है कि यदि बुद्धि मन पर नियंत्रण रखेगी तो इन्द्रियों के अश्व शरीर के रथ को अपने लक्ष्य तक पहुँचा पायेंगे अन्यथा यह रथ जिसमें आत्मा रूपी रथी बैठा है, गर्त में जा गिरेगा। हमारी क्रियाओं की प्रेरणा इच्छाओं की अपेक्षा बुद्धि से प्राप्त होनी चाहिए। इसके लिए चित्त का पवित्रीकरण भी आवश्यक है।

चित्त का पवित्रीकरण

हमारा चित्त अतीत के संस्कारों को लिए रहता है। उन संस्कारों के कारण हम अनेक प्रकार की इच्छाओं को पाले रहते हैं जिनके कारण हम विभिन्न दिशाओं में प्रवृत्त होते हैं। उन्हीं संस्कारों के कारण हमारे विचार और निर्णय प्रभावित होते हैं। यह कार्य इतनी तेजी से होता है कि हमें पता भी नहीं चलता कि किस प्रकार संस्कार हमें प्रभावित करते हैं। यह कार्य यांत्रिक रूप से होता रहता है।

चित्त की विकृति

साधक जब तक हिरण्यमय पुरुष से दर्शन देने की प्रार्थना करता है तब तक चित्त की इच्छायें उस पर हावी हो जाती हैं और हिरण्यमय पुरुष अदृश्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि साधक कुछ विशेष अभीप्सा को लेकर उसे पूरी करना चाहता है। किन्तु पीछे से उसे कोई चीज पकड़ कर घसीट लेती है जो उसे आगे नहीं बढ़ने देती। इस प्रकार चित्त हमारे विचार और कार्यों पर एक नियन्त्रण रखता है। इससे पहले कि हम उसके प्रभाव को जान सकें वह विचार और कार्य पूरा हो जाता है और हमारा तर्क और निर्णय विकृत हो जाता है। चित्त की इस मूढ़ता के प्रभाव से साधक कम ही बच पाता है।

परिग्रह और भोग

चित्त की अपवित्रता के दो कारण हैं– परिग्रह की प्रवृत्ति और भोग की इच्छा। ये दो ही इच्छा के पीछे काम करते हैं। चित्त के पवित्रीकरण के लिए इन दोनों पर नियन्त्रण आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि अवचेतन पर मातृशक्ति

का आलोक अपना काम करे। जैसे जैसे चैत्यपुरुष प्रकट होता है वैसे वैसे चित्त की कार्यप्रणाली स्पष्ट होती जाती है। किन्तु फिर भी मातृशक्ति के आलोक से ही अवचेतन मन में रहने वाला अन्धेरा दूर किया जा सकता है। इसके लिए मातृशक्ति पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए समर्पण करना आवश्यक है। अवचेतन और चेतन स्तर पर अन्धकार बहुत गहरा है।

निम्न स्तरीय प्रवृत्तियाँ

वस्तुतः निम्नस्तरीय प्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक प्रवृत्ति के ही विकृत रूप हैं। उदाहरणतः क्रोध रुद्रशक्ति के तेज का विकृत रूप है। रुद्रशक्ति के तेज का प्रयोजन यह है कि अनभीप्सित को नष्ट किया जा सके किन्तु ऐसा करते समय कोई क्रोधात्मक प्रतिक्रिया न हो अपितु यह कार्य शान्तिपूर्वक किया जाये ताकि व्यर्थ के स्थान पर नये का सर्जन हो सके। इसी प्रकार वासना प्रेम का विकृत रूप है, दुःख और कष्ट अस्तित्व के आनन्द का विकृत रूप हैं। पूर्णयोग में मातृशक्ति के आलोक और शक्ति के द्वारा यह विकार निर्मूल हो सकता है और आध्यात्मिक स्वरूप प्रकट हो सकता है।

इच्छा शक्ति

वस्तुतः इच्छा एक शक्ति है जिसका प्रयोग सुख के लिए भी हो सकता है और दुःख के लिए भी हो सकता है। वह इच्छा हमें प्रगति की ओर भी ले जा सकती है और पतन की ओर भी ले जा सकती है। इच्छा के द्वारा हम में ऊर्जा पैदा हो जाती है जिसका प्रयोग हम उस वस्तु की खोज में करते हैं जो हमें अभीष्ट प्रतीत होती है। इस खोज के कारण हम प्रायः उस ओर चल पड़ते हैं जो हमारे विकास में बाधक होता है। इच्छायें क्योंकि चंचल हैं इसलिए वे परस्पर विरोधी दिशाओं में हमें ले जाती हैं जिसके परिणाम स्वरूप हम दिङ्मूढ हो जाते हैं और हमारे हाथ संघर्ष और दुःख के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लगता। हम निरुद्देश्य रूप से भटकते रहते हैं। हम मृगतृष्णा से प्रेरित होकर एक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति की ओर जाते हैं और सुख दुःख के झूले में झूलते रहते हैं। इस प्रकार इच्छा हमें कोल्हू के बैल की तरह वर्तुलाकार घुमाती रहती है।

मनोरथ

भगवान् बुद्ध ने इच्छा की इस दुष्प्रवृति को देखा था किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार वे ये नहीं देख पाये कि ये इच्छायें उस मनोरथ (Will) का ही विकृत रूप हैं जो हमारी शक्तियों को एकीकृत करके हमें स्वभाव तक ले जा सकता है। यह मनोरथ दिव्य मनोरथ का व्यष्टि रूप है। प्राणशक्ति का इसी मनोरथ में उपयोग किया जाना चाहिए। इसके द्वारा चित्त का पवित्रीकरण हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि **आनन्द की प्राप्ति का मनोरथ विकृत होकर भौतिक भोगों की इच्छा में बदल जाता है। इस प्रकार हम प्राण की आक्रामक शक्ति को वश में करके उसका उपयोग एक आज्ञाकारी साधन के रूप में कर सकते हैं।**

अनासक्ति

इच्छा के अतिरिक्त भावना के स्तर पर चित्त राग-द्वेष के रूप में कार्य करता है। यदि हम बुद्धि के स्तर पर देखें तो यह पायेंगे कि यह राग-द्वेष बाहरी संसार के कारण हमारी भावनाओं में आक्रामक रूप से कार्य करते रहते हैं। यह भावनायें समुद्र के समान हैं जिसमें आशा और भय, प्रेम और घृणा तथा सुख और दुःख की लहरें उठती रहती हैं। यह भावनायें सदा आन्दोलित रहती हैं और बुद्धि को आवृत्त कर लेती हैं। इनका मूल राग है। अनासक्ति से इस पर काबू पाया जा सकता है। राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर या तो साधक उदासीन और निष्क्रिय हो जाता है या शान्त स्थिति में रहता है। एक तीसरी सम्भावना यह है कि वह प्रेम में पगा रहे और हर परिस्थिति में आनन्दित रहे। पूर्णयोग में चित्तवृत्ति का निरोध इष्ट नहीं है अपितु उनका पवित्रीकरण आवश्यक है। आन्दोलित हृदय के पीछे चैत्यपुरुष का शान्त आलोकित हृदय भी है। चैत्यपुरुष के इस पक्ष को सामने लाने की आवश्यकता है। चैत्यपुरुष का आलोकित हृदय भय, दुःख, घृणा आदि से मुक्त है।

भावनाओं का कार्य लयात्मकता उत्पन्न करना है। भावनाओं का कार्य मन और प्राण को निर्देश देने का नहीं है किन्तु वे प्रायः ऐसा करती हैं और साधक को पथ भ्रष्ट कर देती हैं। वस्तुतः विचार और कर्म का संचालन बुद्धि का कार्य है। विकसित अवस्था में यह कार्य अतिमानस की सत्यचेतना ले लेती है।

मन के पवित्रीकरण के दो पक्ष हैं—चैत्यपुरुष अथवा आत्मा का नियन्त्रण तथा मातृशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण। चैत्यपुरुष में जहाँ एक ओर वीतरागता है वहाँ दूसरी ओर प्रेम भी है। ये दोनों साधक को अहंकार के अन्धकार से बाहर लाते हैं। वस्तुतः मनुष्य का मन अवचेतन और अचेतन को नहीं पकड़ पाता जबकि इन दोनों का मनुष्य की प्रकृति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मनोविश्लेषण की प्रक्रिया के अपने खतरे हैं अतः वह प्रक्रिया चित्त को पवित्र नहीं कर सकती। मनोविश्लेषण करने वाला व्यक्ति स्वयं भी राग-द्वेष से मुक्त नहीं होता और इसलिए उसके निर्णय तटस्थ नहीं होते। इसलिए भारतीय परम्परा में अध्यात्म की यात्रा में मार्गदर्शक आत्मा को माना गया है। बुद्धि के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता। अचेतन के स्तर पर तो यह कार्य मातृशक्ति की ऋतं ज्योति ही कर सकती है। इसके बिना तन्त्र का प्रयोग असफल हो गया। तांत्रिक अवचेतन में गया किन्तु वहाँ से उभर नहीं पाया क्योंकि अवचेतन की शक्ति बहुत अधिक है और उसका अपना आकर्षण भी है।

कर्मयोग की पूर्णता

संश्लिष्ट दृष्टि

मनुष्य के विभिन्न अंग परस्पर अखण्ड रूप में संश्लिष्ट हैं, परस्पर शिथिल रूप में जुड़े हुए नहीं हैं। अतः कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग एक दूसरे से पृथक् रहकर पूर्ण नहीं बन सकते अपितु तीनों मिलकर ही पूर्ण होते हैं। जिसका यह अर्थ है कि कर्मयोग के साथ ज्ञान और भक्ति भी आवश्यक है। इसी प्रकार केवल ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का विचार इस अर्थ में अपने आप में अपूर्ण है कि ज्ञानमार्ग में विश्व की गतिमत्ता का कोई स्थान नहीं। भक्ति भी साधक को ईश्वर के निकट लाकर ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करती है। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के सहायक हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। इनमें कर्मयोग के साथ भक्ति और ज्ञान का सहयोग रहता है। इसलिए कर्मयोग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जीवन्मुक्त

श्री अरविन्द के अनुसार कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के संश्लिष्ट रूप को मन से ऊपर उठा कर अतिमानस के स्तर पर ले जाना है। क्योंकि मन के स्तर पर यह कार्य नहीं हो सकता और उसके बिना दिव्य की इच्छा पूरी नहीं हो सकती। यह तो तब ही होता है जब शरीर सहित अपने सभी भागों का रूपान्तरण कर दिया जाये। यह स्थिति जीवन्मुक्त की है। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने एक कविता लिखी है। इस कविता में वे यह प्रतिपादित करते हैं कि जीवन्मुक्त के मौन में से

भी एक दिव्य मनोरथ प्रकट होता है। उसके जीवन में वह जो कुछ भी करता है, वह शाश्वत के द्वारा किया जाता है। उसका ज्ञान सामान्य मनुष्य का ज्ञान नहीं होता। उसमें शान्ति ही नहीं है, शक्ति भी है। वह कोमल भी है और रुद्र भी है। वह आनन्द में लीन रहता है। उसका एक का प्रेम सबका प्रेम बन जाता है। वह जिसके भी सम्पर्क में आता है वह दिव्य का ही सम्पर्क होता है। वह सबके कष्ट दूर करता है, किन्तु स्वयं कष्ट से अछूता रहता है।

कर्मयोगी काल के प्रवाह से मुक्त रहता है। वह नित्य के रहस्य को अभिव्यक्त करता है। भौतिक शरीर में भी रहते हुए वह अमृत का पुत्र है– **अमृतस्य पुत्रः**। उसकी कोई सीमा नहीं। वह ईश्वर की लीला में उसका साथी है। वह जन्म-जन्मान्तर में ईश्वर की शक्ति को प्रकृति में लाता है। किन्तु उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। वह संसार में रहते हुए भी संसार से परे है। वह निन्दा या प्रशंसा की चिन्ता नहीं करता। उसका एक मात्र उद्देश्य दिव्य मनोरथ की पूर्ति है। इसके लिए वह अपने मन या समाज के बन्धन में रहकर कार्य नहीं करता है। उसके कार्य का मूल्याङ्कन देश और काल के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसके कर्म उसके स्वभाव में से उत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका मूल्याङ्कन मनुष्यों के द्वारा निर्धारित मानदण्डों से नहीं हो सकता। वह संसार के विभिन्न कार्यों में लगे अथवा लोगों का मार्ग दर्शन करे, सफल हो या असफल हो इसका निर्णय अज्ञानी मनुष्य नहीं कर सकते– **द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्**। यह वर्णन कुमारसम्भव में दिये गये शिव के विवरण से मेल खाता है।

कर्मयोग की पूर्णता का यह अर्थ है कि सिद्ध पुरुष दिव्य के साथ पूरी तरह जुड़ गया है। सायुज्य के कारण जीवात्मा और परमात्मा में भेद मिट गया है; सालोक्य के कारण अभेद के बीच भी भेद बना हुआ है जिसके कारण प्रेम प्रकट होता रहता है और साधर्म्य के कारण दिव्य और व्यक्ति के बीच पूर्ण समानता स्थापित हो गयी है। इस प्रकार कर्मयोग की पूर्णता के लिए साधक एक साथ दिव्य के विश्वोत्तीर्ण, सार्वभौम और वैयक्तिक स्वरूप से जुड़ा रहता है। विश्वोत्तीर्ण के कारण उसकी शक्तियाँ एकीकृत रूप में कार्य करती हैं, सार्वभौम के कारण उसे अपेक्षित अवसर प्राप्त होते हैं और वैयक्तिक रूप में उसका अपना वैशिष्ट्य बना

रहता है। इन तीनों प्रकार की स्थितियों के बिना परमसत्ता का वह कार्य, जिसके लिए हम बनें हैं, पूरा नहीं हो सकता।

निष्कर्ष

कर्मयोग की पूर्णता के लिए हमारा पूर्णरूपान्तरण आवश्यक है; यदि हमारा कोई भी एक अंश रूपान्तरित नहीं होता तो हमारा कार्य अधूरा रह जायेगा। यह रूपान्तरण अवचेतन और अचेतन के स्तर पर भी होना चाहिए। हम में कोई ऐसा अंश न रह जाये जो अज्ञान या दुःख से प्रभावित हो। हमारे भौतिक शरीर का प्रत्येक कोष्ठ दिव्य हो जाये। इस प्रकार जब हमारा पूर्ण अस्तित्व बाहर के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, तब कर्मयोगी व्यक्तिगत कर्त्तव्यों से मुक्त होकर पूर्ण समता और एकत्व में अपना जीवन बिताता है। वह शान्ति और आनन्द में डूबा रहता है। वह देख पाता है कि विश्व के सभी भाग आपस में जुड़े हुए हैं और बाहर से अव्यवस्था दिखाई देने पर भी आन्तरिक रूप में पूर्ण सामञ्जस्य है। वह सबके प्रति प्रेम से भरा रहता है। इस स्थिति को प्राप्त करना कठिन है, किन्तु मनुष्य जीवन की अर्थवत्ता इसी में है कि वह इस स्थिति को प्राप्त करे।

भक्ति का स्वरूप

भक्ति में भावनाओं का आध्यात्मीकरण किया जाता है। यह शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य अथवा मधुरभाव का रूप ले सकता है। इनमें मधुर भाव सर्वोत्कृष्ट है—**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्**। राधा इस मधुर भाव का उदाहरण है। नारद के भक्तिसूत्रों में भक्ति का स्वरूप विस्तार से बताया गया है। मधुर भाव में वियोग में भी आनन्द रहता है। **भक्त अपने लिए न ज्ञान माँगता है, न शक्ति, न प्रसिद्धि। उसके लिए परमात्मा का होना ही पर्याप्त है**।

परम्परा में भक्ति में द्वैत आवश्यक माना गया है, क्योंकि अद्वैत में दो का मिलन नहीं होता अपितु साधक मिट ही जाता है। किन्तु भक्त का द्वैत, अभेद से जुड़ा रहता है इसलिए उसे अचिन्त्यभेदाभेद कहा जाता है। प्रेम में जहाँ भक्त भगवान् से प्रेम करता है वहाँ बदले में भगवान् भी भक्त को चाहता है।

प्रेम

श्री अरविन्द के अनुसार प्रेम का उद्‌भव दिव्य है। वस्तुतः प्रेम दिव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। हमारी जितनी उच्च अभिलाषायें हैं प्रेम उनकी आत्मा है जो हमें अहंकार की सीमाओं से मुक्त करती है। प्रेम के प्रवाह के बिना मनुष्य नित्य को नहीं ढूँढ पाता। प्रेम प्रारम्भ में दो परस्पर पूरक गतियों के रूप में रहता है। इसमें आत्मसमर्पण आवश्यक है। प्रेम में जड दिखाई देने वाले पदार्थ भी परस्पर जुड़ना चाहते हैं। प्रेम में हम सीमित की इच्छा नहीं करते अपितु अनन्त को चाहते हैं। किन्तु चंचलता के कारण हमें सन्तोष नहीं मिल पाता। तब हम अन्तर्मुख होकर

यह देखते हैं कि अहंकार सबसे बड़ा बाधक है। इस प्रकार हम अपने सङ्कीर्ण स्वरूप का अतिक्रमण कर जाते हैं—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
र्न हि बहिरूपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते

लीला

भक्ति में जीवन एक लीला है जिसमें एक ओर विकसनशील प्रकृति है दूसरी ओर नित्य ईश्वर है। इस लीला के द्वारा अचेतन जड से आत्मा मुक्त हो जाती है और इच्छा आनन्द में बदल जाती है। पूर्णयोग का प्रारम्भ प्रेम से होता है। प्रारम्भ में यह स्पष्ट नहीं होता किन्तु बाद में यह महाशक्ति की ओर मुड़ जाता है। इसके अनेक रूप हैं; कभी हम ईश्वर को गुरु के रूप में देखते हैं, कभी सखा के रूप में।

देवियाँ

भक्ति का उत्कृष्ट रूप मातृशक्ति के प्रति भक्ति में है। महेश्वरी के रूप में हम उसके पास ज्ञान के लिए जाते हैं और वह हमारे अन्धकार को दूर करती है। शक्ति के लिए हम महाकाली के पास जाते हैं जो हमारे सारे भय को दूर कर देती है। सम्पन्नता के लिए हम महालक्ष्मी के पास जाते हैं जो सौन्दर्य को देती है। महासरस्वती के रूप में वह हमें कलायें सिखाती है। महेश्वरी हमारी बुद्धि को आलोकित करती है, महाकाली शक्ति देती है और महालक्ष्मी सुख देती है। महासरस्वती हमारी भौतिक अभिलाषाओं को पूरा करती है। इस प्रकार से मातृभक्ति में सम्पूर्णता है। ऐसी सम्पूर्णता वेदान्त के निर्वैयक्तिक, निर्गुण निराकार ब्रह्म में प्राप्त नहीं होती।

निष्कर्ष

जब साधक पुरुषोत्तम या परमेश्वर के पास जाना चाहता है तो उसे प्रथम आद्याशक्ति ही मिलती है। दूसरे शब्दों में पुरुष पराप्रकृति के रूप में दिखाई देता है। रामकृष्ण परमहंस ने जीवन भर मातृशक्ति की उपासना की। उनके सानिध्य

में वेदान्ती तोतापुरी ने यह पाया कि ब्रह्म और ब्रह्म की शक्ति एक ही है। गीता में भी भक्ति ही केन्द्र में है। भक्ति के बिना साधना सम्भव नहीं है अतः भक्ति का स्थान सर्वोच्च है। ज्ञान प्रेम का ही प्रकाश है और कर्म प्रेम की ही शक्ति है। सारी क्रिया प्रेम से ही उत्पन्न होती है। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि ज्ञान पुरुष है, भक्ति स्त्री है; ज्ञान ईश्वर के बाहरी कक्ष में ही प्रवेश कर सकता है किन्तु भक्ति अन्दर के कक्ष में भी जाती है। श्री कृष्ण ने भक्ति को गुह्यतम रहस्य बताया है और यह आश्वासन दिया है कि जो उनकी शरण में जाता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। समर्पण ही भक्ति का सार है।

भक्ति

प्रारम्भ में भक्ति का स्वरूप पूर्णतः शुद्ध नहीं होता क्योंकि हम जिस स्थिति में होते हैं उसी स्थिति से भक्ति की ओर जाते हैं। यदि हमारी चेतना शारीरिक होती है तो हम यांत्रिक रूप से प्रमादपूर्ण स्थिति में दिव्य की ओर प्रस्थान कर सकते हैं; हमारी सारी क्रियायें बाह्य और कर्मकाण्डपरक होती है; हमारे सम्बन्ध मानवीय स्तर के होते हैं। यदि हम दिव्य की ओर प्राण और भावना के स्तर से चलते हैं तब हमारी भावनायें घनीभूत होती हैं किन्तु यह भावनायें उत्तेजित और अशान्त होती हैं। इनके साथ इच्छा जुड़ी रहती है; अभिमान का भाव रहता है और यदि वे इच्छायें और आवश्यकतायें पूरी न हों तो विद्रोह का भाव भी पैदा होता है। ऐसी भक्ति में परिणाम के प्रति अधीरता का भाव रहता है। इसका यह अर्थ है कि हमारी भक्ति शुद्ध और निष्काम नहीं है और इसमें अहंकार का अंश बना हुआ है। यदि भक्ति में अभिमान का भाव है तो विरोधी शक्तियाँ अपना प्रभाव दिखलाने लगती हैं।

भावना

जहाँ तक भावना का सम्बन्ध है, वे शुद्ध, गम्भीर और शान्त होनी चाहिए। भावनाओं की सघनता से चैत्यपुरुष जाग जाता है, किन्तु भावुकता भक्त की कमजोरी को दिखाती है और अहंकार का ही एक रूप है। वैदिक परम्परा में बुद्धि, भावना, प्राण और शरीर, सब पर नियंत्रण रखने की बात कही गयी है

और यह बहुत आवश्यक है। चैत्यपुरुष से प्रकट होने वाली भक्ति सबसे अधिक पवित्र होती है।

प्रेम तथा भक्ति

भक्ति में पूज्य भाव रहता है और जिसके प्रति भक्ति की जाती है उसे अपने से बड़ा माना जाता है जबकि प्रेम में निकटता का भाव प्रमुख रहता है। अध्यात्म के स्तर पर प्रेम सार्वभौमिक और निर्वैयक्तिक होता है। चैत्यपुरुष के स्तर पर प्रेम दिव्य के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। चैत्यपुरुष भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् के बीच का सेतु है जिसके माध्यम से भौतिकता अध्यात्म की ओर अग्रसर होती है और भौतिक में अध्यात्म का अवतरण होता है, जिसका यह परिणाम होता है कि प्रकाश, शक्ति, सामञ्जस्य और शान्ति का प्रभाव बढ़ने लगता है। चैत्यपुरुष का प्रेम अदम्य होता है। इस प्रेम में दिव्य की अभिव्यक्ति के कार्य करने की तत्परता रहती है। यह प्रेम एक धवल ज्योति के समान है। जैसे ही चैत्यपुरुष हमारे व्यक्तित्व में आगे आता है, हम उस सबसे विमुख हो जाते हैं जो दिव्य नहीं है।

चैतसिक स्तर पर भले ही हमारा मन अहंकार में रहे, हमारे प्राण इच्छाओं की पूर्ति करते रहें और हमारा भौतिक अंश सांसारिक सुखों को भोक्ता रहे किन्तु आत्मा में केवल दिव्य से जुड़ने की लालसा रहती है। ईश्वर के प्रेम के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं होता। श्री अरविन्द ने चैत्यपुरुष के मार्ग को सूर्य से आलोकित मार्ग बताया है। इसमें दैन्यभाव नहीं होता और न ही कठोर तपस्या का भाव रहता है। चैत्यपुरुष के स्तर पर गम्भीरता रहती है, न कि अधीरता। वह पूरे जीवन भर कृपा की प्रतीक्षा कर सकता है। उसमें अगाध श्रद्धा होती है। चैत्यपुरुष में दिव्य की सेवा का अजेय भाव रहता है। मनुष्य के शरीर और पृथ्वी पर दिव्य की अभिव्यक्ति का कार्य इसके लिए महत्त्वपूर्ण होता है। निर्गुण-निराकार निर्वाण चैत्यपुरुष के अपूर्ण जागरण के सूचक है क्योंकि पूरी तरह जागा हुआ चैत्यपुरुष निरन्तर प्रकृति के रूपान्तरण के लिए संघर्ष करता है। इसके लिए उसमें प्रेम और करुणा का भाव होता है। उसकी प्रार्थना होती है कि प्रभु उसका

मार्ग दर्शन करे। चैत्यपुरुष का प्रेम अनन्त है। वह अपने समस्त उपकरण प्रभु के प्रति समर्पित कर देता है ताकि वे उपकरण भी रूपान्तरित हो सकें।

निष्कर्ष

जब चैत्यपुरुष का प्रेम और इच्छा दिव्य के प्रेम और इच्छा से एकाकार हो जाते हैं तो दिव्य अनेक रूप में अभिव्यक्त होने लगता है। चौतसिक प्रेम के द्वारा ही मनुष्य के जीवन में दिव्य प्रकाश और दिव्य शक्ति का अवतरण होता है। मन का पूज्य भाव और हृदय का प्रेम भी चौतसिक प्रेम के विकास में सहायक हो सकता है। किन्तु वे स्वयं दिव्य प्रेम तक नहीं पहुँच सकते। मन का मनोरथ जीवन के संघर्ष में दब सकता है और हृदय की प्यास भी शान्त हो सकती है। किन्तु चैतसिक प्रेम दिव्य प्रेम की प्राप्ति तक निरन्तर बना रहता है। चौतसिक प्रेम में ऐसी शान्ति रहती है जो कभी भंग नहीं होती। वस्तुतः चौतसिक प्रेम दिव्य जीवन है जिसमें अहंकार और इच्छाओं का अभाव है। इसमें बिना शर्त के आत्म-समर्पण का भाव रहता है। चैत्यपुरुष एक ऐसा धवल प्रकाश है जिससे स्वतन्त्रता, शुद्धता, शान्ति, आनन्द, शक्ति और ज्ञान प्रस्फुटित होते हैं। चौतसिक प्रेम को मानव प्रकृति से ऊपर उठना होता है। यह अतिमानस रूपान्तरण का परम रहस्य है।

PATH OF KNOWLEDGE

Inheritor of the brief animal mind,
Man, still a child in Nature's mighty hands,
In the succession of the moments lives;
To a changing present is his narrow right;
His memory stares back at a phantom past,
The future flees before him as he moves;
He sees imagined garments, not a face.

Armed with a limited precarious strength,
He saves his fruits of work from adverse chance.

A struggling ignorance is his wisdom's mate:
He waits to see the consequence of his acts,
He waits to weigh the certitude of his thoughts,
He knows not what he shall achieve or when;
He knows not whether at last he shall survive,
Or end like the mastodon and the sloth
And perish from the earth where he was king.

He is ignorant of the meaning of his life,
He is ignorant of his high and splendid fate.

—Savitri p. 53

ज्ञान मार्ग

बौद्धिक ज्ञान का स्वरूप

योग में ज्ञान का अर्थ बौद्धिक ज्ञान या मानसिक ज्ञान नहीं है। मानसिक ज्ञान में पदार्थों का ज्ञान पृथक् पृथक् होता है। जबकि वस्तुतः पदार्थ परस्पर अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं। किन्तु मानसिक ज्ञान जब संश्लिष्ट रूप में भी कुछ जानता है तो वह खण्ड खण्ड को जोड़कर एकता का ज्ञान करता है और इसलिए पदार्थों की मौलिक एकता को नहीं देख पाता। इसके अतिरिक्त वह वस्तुओं के ऊपरी रूप को ही जान सकता है, वास्तविक रूप को नहीं। बुद्धि चेतना का एक परिमित रूप है जो पदार्थों को पृथक् पृथक् कर देती है। वह यह मानती है कि पदार्थों का भिन्न भिन्न रूप में निरूपण किया जा सकता है। जबकि पदार्थ वस्तुतः मूल रूप से परस्पर जुड़े हुए हैं। इस कारण हमारा बौद्धिक ज्ञान अधूरा होता है। उसका आधार गणित है और वह अनन्त को नहीं पकड़ पाता; वह गुणा-भाग और जोड़-बाकी के गणित को ही जान पाता है।

तादात्म्य से ज्ञान

सच्चा ज्ञान तादात्म्य के द्वारा होता है। हम दूसरे को तब तक नहीं जान सकते जब तक हम उसके साथ तादात्म्य स्थापित न कर लें। दूसरे व्यक्ति का व्यवहार, उसके शब्द और उसकी प्रकृति केवल उसके बाहरी स्वरूप का ज्ञान देते हैं और इसलिए हमारा ज्ञान इन्द्रियों पर अथवा अनुमान पर आधृत होने के कारण प्रायः गलत सिद्ध हो जाता है। हम असज्जन को सज्जन और सज्जन को असज्जन

मान बैठते हैं। उसका कारण यह है कि हमारी इन्द्रियाँ और मन हमें धोखा देते हैं। किन्तु जब हम किसी व्यक्ति के साथ आध्यात्मिक रूप में जुड़ते हैं तब हमारी चेतना उसकी चेतना के साथ एकाकार हो जाती है और तब हम उसके अन्दर क्या है ये जान पाते हैं। वस्तुतः उसका आन्तरिक स्वरूप ही सच्चा स्वरूप है। इसलिए तादात्म्य के द्वारा होने वाला ज्ञान सच्चा होता है। तब हम दूसरे की चेतना में होने वाले स्पन्दनों को सही रूप में जान पाते हैं।

तादात्म्य के द्वारा होने वाले ज्ञान का आधार यह है कि चेतना मूल रूप से एक ही है। इसलिए हम किसी भी व्यक्ति से जुड़ सकते हैं। इसके लिए हमारी चेतना का विकास आवश्यक है। हमारा अहंकार जितना कम होगा उतना ही हम संसार और ईश्वर से जुड़ पायेंगे। वस्तुतः आत्मा ही परमात्मा है और संसार परमात्मा की अभिव्यक्ति है। सच तो यह है कि मैं केवल अपने को ही जान सकता हूँ; जो मुझसे मूल रूप में विजातीय है और जिसके साथ मेरा कोई भी सामान्यता का बिन्दु नहीं है उसे मैं जान ही नहीं सकता। मूल बात यह है कि मेरी अपनी आत्मा ही सब कुछ बन गयी है— **आत्मवत् सर्वभूतानि** और इसलिए आत्मा के जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है— **तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**।

आन्तरिक अविभक्तता

तादात्म्य के द्वारा जानने के लिए साधक को अपने अन्दर गहराई में जाना होता है। ऊपरी तौर पर हम परस्पर विभक्त हैं किन्तु आन्तरिक रूप से अविभक्त हैं। हमारा ऊपरी रूप अनित्य है, उसमें हमारा नित्य रूप प्रकट नहीं हो पाता। इसके लिए हमें अन्तर्मुख होना पड़ता है और तब हम 'आवृत्तचक्षु' होकर 'गुहाहितम्' को जान सकते हैं। हमारी जाग्रत अवस्था में हमारे विचार तथा तर्क से उसे नहीं जान सकते जो पदार्थों का और प्राणियों का मौलिक रूप है; जहाँ एकता है और न उसे जान सकते हैं जो देश और काल में उस एकता के अभिव्यक्त होने का प्रयोजन है। इन्द्रियों से जुड़े हुए मन के अहंकार में हम भले ही उस सच्चाई को नकार दें किन्तु वह है सत्य। वस्तुतः हम उस सच्चाई को बहुत समय तक नकार भी नहीं सकते क्योंकि वह हमारे हृदय में सदा विद्यमान है और कभी न कभी अभिव्यक्त हो ही जाती है।

ज्ञान के चार प्रकार

श्री अरविन्द ज्ञान के चार प्रकार मानते हैं– प्रथम प्रकार तादात्म्य के द्वारा जानने का है। दूसरी स्थिति में हम पदार्थों को सीधे सम्पर्क के द्वारा जानते हैं और उनके तादात्म्य का ज्ञान रहते हुए भी हम उनके स्रोत से टूटे रहते हैं। यह ज्ञान शक्तिशाली है किन्तु अपूर्ण है। तीसरा ज्ञान अधूरे तादात्म्य पर टिका रहता है और पदार्थों को भिन्न भिन्न रूप में जानता है। चतुर्थ ज्ञान का प्रकार वह है जब हम पदार्थों को बिल्कुल पृथक् पृथक् रूप में जानते हैं। यह ज्ञान परोक्ष होता है। हमारा ज्ञान प्रायः चतुर्थ प्रकार का ही होता है। इसलिए जिस प्रकार हम अपने अन्दर के विचार, भावनाओं और संवेदनाओं को जानते हैं, उस प्रकार बाह्य पदार्थों को नहीं जान सकते। यह ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है और इसलिए इसमें पदार्थों का और व्यक्तियों का प्रतिबिम्ब ही आ पाता है, मूल रूप नहीं। इसके आधार पर ही हमारा व्यवहार चलता है। तीसरे प्रकार के ज्ञान में सीधा सम्पर्क रहता है इसलिए उसमें तादात्म्य का एक अंश बना रहता है। इस ज्ञान के द्वारा हम अपनी गतिविधियों को जानते हैं। किन्तु इसमें क्रिया की ही प्रधानता रहती है, मौलिक तादात्म्य की नहीं। तीसरे प्रकार के ज्ञान में भेद और भी अधिक बलवान् हो जाता है। चतुर्थ प्रकार के ज्ञान में क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय के बीच बहुत बड़ी खाई रहती है इसलिए गलती की बहुत सम्भावना रहती है। दूसरे और तीसरे प्रकार के ज्ञान में भी गलती की सम्भावना है किन्तु वह सम्भावना कम है और इसलिए उसके द्वारा सत्य तक पहुँचने की सम्भावना बहुत अधिक है। किन्तु वास्तविक ज्ञान तो तादात्म्य के द्वारा ही होता है। तादात्म्य के ज्ञान का आधार यह है कि सभी में चेतना है और इसलिए हम अपनी चेतना के द्वारा उनसे जुड़ सकते हैं। चेतना की सर्वव्यापकता के कारण दूसरों में और हम में भेद की दीवार गिर जाती है। गीता ने इसे इस रूप में कहा है कि हम आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा को ही देखते हैं।

सिद्ध पुरुषों के जीवन में तादात्म्य द्वारा ज्ञान प्राप्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस ज्ञान के सामने वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक ज्ञान बहुत फीका ठहरता है। यह सारा ज्ञान अस्थायी, आनुमानिक और काल्पनिक है। ईसामसीह

का यह वक्तव्य कि स्वर्ग में मैं और मेरे पिता एक हैं, उस चेतना का सूचक है जो अपने आपको अनन्त चेतना से एकाकार कर लेती है। यह दार्शनिक वक्तव्य तो है ही नहीं, अन्तर्दृष्टि से भी प्राप्त होने वाला ज्ञान नहीं है। जब श्री चैतन्य महाभाव में आते हैं तो परम सत्ता के साथ उनका तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार श्री रामकृष्ण सच्चिदानन्द से तदाकार होकर शक्ति, प्रकाश और आनन्द का ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें लगता है कि वह सूर्य को तोड़कर चकनाचूर कर सकते हैं। इसी प्रकार वे यह अनुभव करते हैं कि मानों वे प्रकाश में स्नान कर रहे हैं। जब वे एक बार लॉन में घूम रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक मनुष्य घास पर चल रहा है और तब वे पीड़ा से छटपटाने लगे। वे किसी व्यक्ति को देखकर तत्काल पहचान जाते थे कि वह पिछले जन्म में कौन रहा होगा।

मदर ने इस स्थिति का जो वर्णन किया है उस से स्पष्ट होता है कि तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान से निराकार दिव्य अस्तित्व तथा अनेक आयामी अभिव्यक्त संसार के बीच का सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस ज्ञान में मदर भौतिक विश्व के साथ अपने आपको पूर्णतः एकाकार कर देती हैं और भौतिक जगत् की कार्य प्रणाली का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। इसके अतिरिक्त वे उस प्रणाली को भी जान लेती हैं जो भौतिक जगत् का संचालन कर रही है। वे अपने आपको उस अगाध मौन के साथ एकाकार कर लेती हैं जो उस सारी प्रणाली के पीछे है। वह उस एक के साथ और उस एक के अनेक रूपों के साथ भी तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। वे जिसे जानती हैं उससे अपने आपको भिन्न अनुभव नहीं करती।

बुद्धि का अतिक्रमण

अध्यात्म में ज्ञान का उद्देश्य बौद्धिक समझ पैदा करना नहीं है अपितु अस्तित्व के साथ एकाकार हो जाना है। उपनिषद् बारम्बार कहता है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म रूप ही हो जाता है— **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**। इसका यह अर्थ होता है कि जब हम बौद्धिक ज्ञान से परे चले जाते हैं तभी वास्तविक ज्ञान होता है— **यो बुद्धेः परतस्तु सः**। जब तक हम बौद्धिक ज्ञान के कारागार में बन्द हैं तब तक

हम अनन्त से दूर हैं। अतः विकास के लिए बुद्धि का अतिक्रमण आवश्यक है। इतना अवश्य है कि बुद्धि के द्वारा हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के साधन ढूँढ सकते हैं। किन्तु इच्छाओं की पूर्ति का साधन अन्त में विनाश की ओर ले जाता है। मुक्ति तो सत्य को प्रकाशित करने वाले ज्ञान से ही सम्भव है। गीता कहती है— **न हि ज्ञानात्परतरं किञ्चित्, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**। जब ज्ञान का प्रकाश होता है तो मरणधर्मा मानवीय आवरण हट जाता है और हम अपने शुद्ध स्वरूप के साथ जुड़ जाते हैं, समस्त बन्धन और दुःख दूर हो जाते हैं और स्वतन्त्रता तथा आनन्द प्रकट हो जाता है। उस समय हम दिव्य के प्रति प्रेम से भर जाते हैं। ज्ञान के बिना भक्ति संकीर्ण रहती है और कर्म दिव्य नहीं बन पाते। स्वतंत्रता तो ज्ञान का प्रकाश ही देता है।

ज्ञान के साधन

हम यह कह चुके हैं कि इन्द्रियों का अन्तर्मुख होना ज्ञान की प्राप्ति का प्रथम साधन है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने अन्तरतम में डूब सकें। हम अपनी बुद्धि और हृदय से उस अन्तर्यामी को जान सकें जिससे हम सदा से जुड़े हैं। यह केवल एक बौद्धिक जिज्ञासा ही नहीं है अपितु पूरी चेतना की पिपासा है जिसके द्वारा हम वह कार्य कर सकते हैं और जिसके बिना जीवन निरर्थक और नीरस है। इसके द्वारा हम चीजों के बाहरी स्वरूप को भेद कर आन्तरिक स्वरूप को समझ सकते हैं। वस्तुतः यही हमारे विकास का आधार है। यह प्रकाश की अभीप्सा है। पौधे भी इसी से प्रेरित होकर प्रकाशोन्मुख होते हैं। पशु भी प्रकाश के प्रेम के कारण धूप पसन्द करते हैं। अभिप्राय यह है कि जीवन का स्तर जितना ऊँचा होता है प्रकाश की प्यास उतनी ही अधिक होती है। अन्धकार मनुष्य को निराशा में ले जाता है। प्रकाश उसे आशा बँधाता है। उपनिषदों में सूर्य को **प्राणः प्रजानां** कहा गया है। मनुष्य में प्रकाश की यह अभीप्सा अतिभौतिक रूप ले लेती है अर्थात् आन्तरिक प्रकाश की अभीप्सा में बदल जाती है। जैसे जैसे चेतना का विकास होता है वैसे वैसे मनुष्य अपने अन्दर प्रकाश के केन्द्र की ओर आकृष्ट होता है। वह ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना परम लक्ष्य मानता है और भौतिक लाभ की चिन्ता नहीं करता। कठोपनिषद् कहता है कि ऐसा ज्ञान अग्रबुद्धि से ही प्राप्त होता है—**दृश्यते तु सूक्ष्मदृष्ट्या**? वहाँ यह क्रम दिया गया है कि वाणी को मन में, मन को आत्मा में और ज्ञान को परमात्मा में लीन कर देना चाहिए।

पवित्रीकरण

उपर्युक्त प्रक्रिया तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम पवित्र न हो जायें। पवित्रता का अर्थ है—इच्छाओं का उन्मूलन। जब तक इच्छायें और रागद्वेष बने हैं तब तक अन्दर जाना कठिन हो जाता है। इसलिए अन्तर्यात्रा के लिए पवित्रता आवश्यक है। पतञ्जलि ने ध्यान, धारणा और समाधि के लिए यम और नियम को आवश्यक माना है। किन्तु पतञ्जलि के राजयोग में प्रयोजन यह है कि मनुष्य की चित्तवृत्ति उसके स्वरूप को बाधित न करे, किन्तु श्री अरविन्द के पूर्णयोग में पवित्रता का यह प्रयोजन तो है ही कि मनुष्य अपने अन्तरतम को जान सके किन्तु साथ ही यह प्रयोजन भी है कि प्रकृति का रूपान्तरण भी हो सके। श्री अरविन्द के अनुसार पवित्रता और चित्त की एकाग्रता एक ही चीज के निष्क्रिय और सक्रिय अथवा स्त्रैण तथा पौरुष रूप हैं।

पवित्र होने का यह अर्थ तो है ही कि समस्त इच्छाओं से मुक्ति हो जाये। किन्तु जैसे जैसे पवित्रता बढ़ती है वैसे वैसे प्रकृति में सामञ्जस्य भी स्थापित होता है। पूर्णयोग में प्रकृति का निषेध अपेक्षित नहीं है अपितु अपेक्षा यह है कि प्रकृति का ऐसा रूपान्तरण हो कि वह दिव्य को अभिव्यक्त कर सके।

एकाग्रता

पूर्णयोग में एकाग्रता का बहुत अधिक महत्त्व है। श्री अरविन्द कहते हैं कि एकाग्रता का अर्थ भारत में यह है कि परम सत्य में बाधा डालने वाले सभी विचारों का निराकरण कर दिया जाये। विचारों के कारण हम प्रातिभासिक स्वरूप में अटके रहते हैं। चित्त की एकाग्रता के द्वारा हम पदार्थ को जान सकते हैं, उसके रहस्य को समझ सकते हैं और इस प्रकार हम उसके द्वारा अपनी सभी इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं। किन्तु एकाग्रता का यह उद्देश्य नहीं होना चाहिए, अपितु पदार्थ का अतिक्रमण होना चाहिए। श्री अरविन्द इससे भी आगे जाकर कहते हैं कि एकाग्रता का उद्देश्य विविध क्रियाओं की स्थिति को जानना भी

है। वह केवल विश्वोत्तीर्ण को ही न जाने अपितु विश्व को भी जाने। वह सगुण और निर्गुण दोनों को जाने। श्री अरविन्द स्पष्ट कहते हैं कि हमें सर्वोच्च को तो जानना ही चाहिए किन्तु उस 'सर्व' को भी जानना चाहिए जिसका वह सर्वोच्च अतिक्रमण करता है। हम विश्व का निषेध नहीं करते अपितु विश्व में ओतप्रोत ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

समाधि

एकाग्रता की गहनतम स्थिति समाधि है। किन्तु पतञ्जलि की समाधि की अवधारणा से पूर्णयोग की अवधारणा इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें समस्त इच्छायें बहिष्कृत हो जाती हैं, वे चित्त को अस्थिर नहीं कर सकती किन्तु साथ ही उसमें आनन्द भी अभिव्यक्त हो जाता है। वह बाहर क्रियाशील रहते हुए भी आन्तरिक शान्ति को भंग नहीं करती। समाधि का यह स्वरूप गीता के वर्णन से मेल खाता है। यह साधना सरल नहीं है किन्तु इसके बिना उस उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं हो सकती जो उद्देश्य श्री अरविन्द ने हमारे सामने रखा है। दिव्य एक तो है ही किन्तु अनेक भी उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। वह कूटस्थ होते हुए भी गतिशील है। वह अचिन्त्य है किन्तु समस्त सापेक्ष स्वरूप भी उसी के हैं। यह मानने पर ही हम उसे **सर्वभावेन** जान सकते हैं। वह विश्व के रूप में परिणत होते हुए भी अपनी एकता को खो नहीं देता, वह वैश्विक क्रियाओं में रहते हुए भी अपनी शान्ति को बनाये रखता है वह काल में वर्तमान होते हुए भी कालातीत रहता है। समाधि का जो स्वरूप पतञ्जलि ने बताया है वह प्रारम्भ में आवश्यक हो सकता है, किन्तु अन्ततोगत्वा हमें उससे भी आगे जाकर उस स्थिति में जाना होगा जहाँ हम बाहर से कर्म करते हुए भी अन्दर से परमात्मा से जुड़े हैं। पूर्णयोग की समाधि में वस्तुओं के बाहरी रूप को जानते हुए भी हम उनके आन्तरिक स्वरूप को जानते हैं। दूसरे शब्दों में हम बीज और वृक्ष को एक साथ जानते हैं।

समाधि का साधन

प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार की समाधि प्राप्त करने का साधन क्या है। साधक को इसके लिए आन्तरिक यात्रा के साथ साथ रात-दिन दिव्य पर केन्द्रित

रहना होता है; यहाँ तक कि सोते समय वह दिव्य में केन्द्रित रहे। अभिप्राय यह है कि दिव्य का ध्यान केवल किसी विशेष समय में ही न किया जाये अपितु निरन्तर बना रहे। वह जो कुछ भी देखे, अनुभव करे, सोचे अथवा स्पर्श करे उस सब में दिव्य का भान बना रहे। वह प्रेम करे या सेवा करे, उसमें भी दिव्य की प्रतीति बनी रहे। यह प्रेम के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इसके लिए उग्र साधना की आवश्यकता नहीं है। **वस्तुतः प्रेम में दिव्य का ध्यान बनाये रखना कठिन नहीं है, कठिन तो दिव्य को भूलना हो जाता है**। ऐसी स्थिति में साधक निरन्तर दिव्य से आदेश प्राप्त करता है और दिव्य के ही मार्ग दर्शन में चलता है। वह दिव्य के साथ एकाकार हो जाता है। श्री अरविन्द बार बार इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि दिव्य के साथ ऐसी एकाकारता गतिशील होनी चाहिए, निष्क्रिय नहीं। यह तब ही सम्भव है जब साधक की बुद्धि, हृदय और अभीप्सा एक साथ जुड़ जाये। संश्लिष्ट योग का यही स्वरूप है। इस योग में भक्ति और कर्म एकाकार हो जाते हैं और ज्ञान भी उसी के साथ जुड़ जाता है। सामान्यतः ज्ञानयोग का सम्बन्ध बुद्धि से माना जाता है। किन्तु बुद्धि भी अपने उद्देश्य में प्रेम के बिना सफल नहीं हो सकती।

साक्षिभाव

जहाँ तक एकाग्रता और ध्यान के भेद का सम्बन्ध है, एकाग्रता में एक बिन्दु अथवा पदार्थ पर चित्त को केन्द्रित किया जाता है, किन्तु ध्यान में यह आवश्यक नहीं है; ध्यान में साधक शान्त मन से साक्षिभाव बनाये रख सकता है। वस्तुतः साधना के लिए मन का शान्त होना सबसे अधिक आवश्यक है। शान्ति के साथ प्रेम का भाव भी सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति मिलकर साधक को मुक्त ही नहीं करते अपितु पूर्ण भी बनाते हैं।

ज्ञान के प्रकार

एकत्व का ज्ञान

भारतीय परम्परा में तीन प्रकार के ज्ञानों की चर्चा है— आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और भागवतज्ञान। श्री अरविन्द के पूर्णयोग को समझने के लिए इन तीन प्रकार के ज्ञानों में भेद करना आवश्यक है। सामान्यतः इनमें आत्मज्ञान को सर्वोच्च माना जाता है; सांख्य में पुरुष का ज्ञान और जैन धर्म में केवलज्ञान सर्वोच्च है। अनेक महापुरुषों ने यह माना है कि पूर्ण ज्ञानी वह है जिसे आत्मा के आनन्दरूप का ज्ञान हो जाये। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है कि आत्मज्ञान प्राप्त करना महत्त्वपूर्ण है; यह भी सत्य है कि आत्मज्ञान होने पर प्रकृति अथवा कर्म का भी ज्ञान हो जाता है। किन्तु उनके मत में आत्मज्ञान से भी ऊपर एक ज्ञान है जो सम्पूर्ण अस्तित्व के मौलिक एकत्व का ज्ञान कराता है। इस ज्ञान के होने पर व्यक्ति अपने व्यष्टि रूप से ऊपर उठ जाता है और उसे यह ज्ञान हो जाता है कि सम्पूर्ण अस्तित्व का एक ऐसा आधार है जिसमें एकत्व और अनेकत्व दोनों समाहित हैं।

इस प्रकार आत्मज्ञान के अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान भी आवश्यक है। यह ज्ञान सांख्य और जैन के आत्मज्ञान से अधिक व्यापक है। साधना के प्रारम्भ में आत्मा कूटस्थ दृष्टिगोचर हो सकती है और संसार माया या मिथ्या प्रतीत हो सकता है किन्तु यदि हम यहीं न रुक कर आगे तक चलें तो पता चलेगा कि ब्रह्म सर्वव्यापक है और सब में अन्तर्यामी के रूप में रह रहा है।

उपनिषद् के अनुसार 'आत्मा में सब' और 'सब में आत्मा' का दर्शन होने के साथ साथ यह भी अनुभव होना चाहिए कि 'आत्मा ही सब कुछ बन गयी है'। सारा नाम रूपात्मक जगत् ब्रह्म रूप है, मिथ्या नहीं। यह मत शास्त्र सम्मत है क्योंकि उपनिषद् कहते हैं—**नामरूपे सत्यम्** अथवा **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। इस दृष्टि से आत्मा और भूत भिन्न भिन्न नहीं हैं। विश्लेषण की दृष्टि से इन दो के बीच भेद किया जा सकता है किन्तु प्रामाणिक ज्ञान में ये दोनों 'एक' ही हैं क्योंकि एक और पूर्ण अस्तित्व के बीच कोई खाई नहीं हो सकती। यही अनुभव होने पर कृतकृत्यता प्राप्त होती है।

ज्ञान-विज्ञान

सर्वव्यापक ब्रह्म का ज्ञान अपने में पूर्ण है किन्तु यह ज्ञान ही है, विज्ञान नहीं, जबकि परम ज्ञान में ज्ञान और विज्ञान दोनों का समन्वय होना चाहिए— **ज्ञानं विज्ञानसहितम्** अर्थात् केवल एक का ही नहीं अनेक का भी ज्ञान होना चाहिए— **एकं ज्ञानं ज्ञानम्, विविधं ज्ञानं विज्ञानम्**। नित्य मौन के साथ नित्य गति का भी ज्ञान होना चाहिए; मौन सत्य है, गति ऋत है। पुरुषोत्तम के ज्ञान में दोनों समाहित हैं। इस ज्ञान से ही यह समस्या समाहित होती है कि परब्रह्म अनेक नाम और रूप धारण करके दुःख और मृत्यु का वरण क्यों कर लेता है। वह निर्गुण भी है और उसमें अनन्त गुण भी हैं। वह निर्गुण होते हुए भी संसार का स्रष्टा है। उपनिषद् कहता है कि अव्यक्त ही अन्तिम सत्य नहीं है, अव्यक्त से परे पुरुष है— **अव्यक्तात्तु परः पुरुषः**। गीता कहती है कि अक्षर से भी परे एक तत्व है—**अक्षरादपि चोत्तमः**। पुरुष से परे कुछ भी नहीं है— **पुरुषान्न परं किञ्चित्**। अक्षर का ज्ञान विद्या है— **सा विद्या यया तदक्षरमधिगम्यते** और क्षर पुरुष का ज्ञान अविद्या है। परमात्मा के ज्ञान में विद्या और अविद्या दोनों समाहित है— **विद्याञ्चाविद्याञ्च**।

दूसरे शब्दों में पूर्णज्ञान केवल सत् का नहीं है अपितु सच्चिदानन्द का है अर्थात् उसमें चित् और आनन्द भी समाहित है। पूर्णयोग में यह सम्भव माना गया है कि हम ब्रह्म के शान्त रूप में स्थित रहते हुए भी उसके अभिव्यक्त रूप को

जानते रहें, उसके निर्गुण रूप को जानते हुए भी हम सक्रिय रह सकते हैं। श्री अरविन्द मानते हैं कि वह एक है किन्तु अनेक रूप में लीला कर रहा है। वह चेतन है किन्तु प्रकृति में अनेक रूप धारण कर लेता है। श्री अरविन्द को यह विषय अत्यन्त प्रिय है क्योंकि यही उनकी दृष्टि में वेद का सच्चा सन्देश है।

यह ज्ञान अतिमानस है जिसमें देश और काल से अतीत तथा देशकालावच्छिन्न का ज्ञान एक साथ हो सकता है। इस ज्ञान में आनन्द के साथ शक्ति भी समाहित है। इसके द्वारा केवल हम ही अज्ञान और दुःख से मुक्त नहीं होते, अपितु प्रकृति भी दिव्य हो जाती है। अध्यात्म की दूसरी परम्पराओं में व्यक्ति की मुक्ति तो है, किन्तु प्रकृति का रूपान्तरण नहीं है। अतिमानस ज्ञान ही प्रकृति को रूपान्तरित कर सकता है। वह आत्मा को ही नहीं प्रकृति को भी मुक्त कर देता है। इस प्रकार मनुष्य को पूर्ण कृतकृत्यता प्राप्त होती है। साधक जहाँ एक ओर ऋत की चेतना में रहता है वहाँ दूसरी ओर संसार में परमपुरुष के साधन के रूप में प्रकाश, शक्ति और आनन्द का भी अवतरण करता है।

ज्ञान का उद्देश्य

ज्ञान का उद्देश्य केवल अक्षर या अव्यक्त को जानना ही नहीं है अपितु चतुष्पाद ब्रह्म को जानना है। पण्डित मधुसूदन ओझा ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म के चार पाद हैं— परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर। इस प्रकार चतुष्पाद ब्रह्म केवल अन्तर्यामी ही नहीं है बहिर्गामी भी है। मुण्डकोपनिषद् में इसका स्पष्ट उल्लेख है। परमात्मा केवल अन्तरात्मा ही नहीं है, बहिरात्मा भी है और इन दोनों से परे भी है। वह हमें अन्धकार और अज्ञान से मुक्त करता है और हमारा दिव्य के रूप में रूपान्तरण कर देता है। वह हमारा स्वामी भी है और मित्र भी है। आनन्द के रूप में वह हमें आत्मसात् कर लेता है। किन्तु साथ ही वह ऐसा भेद भी बनाये रखता है कि हम उसके प्रेम का अनुभव कर सकें। यह एक प्रकार का द्वैताद्वैत है।

पूर्णयोग हमें पवित्र ही नहीं करता अपितु उस प्रयोजन की भी सिद्धि करता है जिसके लिए हम भौतिक जगत् में आये हैं। ज्ञानयज्ञ में हम एक अनुभव से दूसरे अनुभव में जाते हैं। कभी प्रेम और प्रकाश का अनुभव होता है, कभी शान्ति और

मौन का और कभी सक्रियता का। किन्तु हम इस अनुभव में किसी एक अनुभव के प्रति आसक्ति नहीं रखते। यह विष्णु का परम पद है। वेद इसका वर्णन इन शब्दों में करता है कि वह स्थायी सत्य है जो सत्य से आवृत्त है और जहाँ सूर्य अपने घोड़ों को जुए से मुक्त कर देता है और उसकी दस हजार किरणें एक साथ जुड़ जाती हैं। पूर्णयोग में अगाध प्रेम है और कभी न थकने वाली जीवनी शक्ति है। पूर्णयोग में परम पुरुष के साथ तादात्म्य सम्बन्ध तो होता ही है किन्तु एक ऐसी गतिमत्ता भी आती है जो उस परम पुरुष के मनोरथ को पूरा करती है।

FORMLESS GOD

O soul, it is too early to rejoice!
Thou hast reached the boundless silence of the Self,
Thou hast leaped into a glad divine abyss;
- - -
Escape brings not the victory and the crown!

—Savitri p. 310

X X X

MOKSHA IS NOT THE CROWN

O soul, it is too early to rejoice!
Thou hast reached the boundless silence of the Self,
Thou hast leaped into a glad divine abyss;
But where hast thou thrown Self's mission and Self's power?
On what dead bank on the Eternal's road?

One was within thee who was self and world,
What hast thou done for his purpose in the stars?
Escape brings not the victory and the crown!

—Savitri p. 310

X X X

MOKSHA IS ONLY AN INTERMEDIATE AND NECESSARY STATE

A high and blank negation is not all,
A huge extinction is not God's last word,
Life's ultimate sense, the close of being's course,
The meaning of this great mysterious world.

In absolute silence sleeps an absolute Power.

Awaking, it can wake the trance-bound soul
And in the ray reveal the parent sun:

It can make the world a vessel of Spirit's force,
It can fashion in the clay God's perfect shape.

To free the self is but one radiant pace;
Here to fulfil himself was God's desire.

—Savitri p. 311

पूर्णमुक्ति

अध्यात्म के क्षेत्र में मुक्ति का स्थान सर्वोच्च है। साधक मुक्ति की प्राप्ति के लिए कठोर जीवनचर्या सहर्ष स्वीकार करता है। इसके लिए वह सभी प्रकार की सुख सुविधायें छोड़ देता है और आत्मसाक्षात्कार करता है। यदि उसे इस जीवन में सफलता न मिले तो वह अगले जीवन में सफलता की आशा रखता है। वह निरन्तर जागरूक रहता है।

दासता

किन्तु इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि मोक्ष का स्वरूप क्या है। इतना तो स्पष्ट है कि **जब तक अपने बन्धन की पीड़ा का अनुभव न हो तब तक मोक्ष की इच्छा पैदा नहीं होती। जो जन्म से ही दास है वह दासता में सन्तुष्ट रहता है। यदि उसे मुक्त भी कर दिया जाये तो उसे मुक्ति सहन नहीं होती।**

सामान्यतः हमारी यही स्थिति है। हमारा जीवन इच्छाओं, वासनाओं, संघर्षों और वेदनाओं में बीतता है। हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि इनके बिना निर्द्वन्द्वता का जीवन कैसा होगा। क्या वह जीवन नीरस और रुक्ष नहीं होगा? इच्छाओं की प्रेरणा के बिना हम कुछ भी कार्य क्यों करेंगे? हमें इस बात का आभास भी नहीं होता कि हम इच्छाओं के दास हैं और स्वतन्त्र नहीं हैं। वस्तुतः हम जो कुछ करते हैं उसके पीछे इच्छा ही उत्प्रेरक होती है। किन्तु हमें लगता है कि हम किसी उच्च उद्देश्य के लिए कुछ कर रहे हैं। सच यह है कि हमारे सभी विचार एक सीमा में बँधे हैं। हम वासनाओं में लिप्त हैं। शरीर और इन्द्रियों की

मांग ही पूरी करने में हमारा समय बीत जाता है। गीता ने स्पष्ट किया है कि सामान्यतः हम निम्न प्रकृति से प्रेरित होकर कार्य करते हैं किन्तु समझते यह हैं कि यह कार्य हमने किया— **प्रकृतेः क्रियमाणानि अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**।

आत्मा की स्वतन्त्रता का पहला चरण तो यही है कि हम निम्न प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो सकें। ये तभी हो सकता है जब हमारा चौतसिक व्यक्तित्व जाग जाये। जैसे जैसे यह जागता है वैसे वैसे हमारी वेदना बढ़ती है क्योंकि हमें हमारी दासता का अनुभव होने लगता है। हमारा अस्तित्व ही दूसरों पर निर्भर है। हमें अपने अस्तित्व का अनुभव इन्द्रियजन्य स्पर्शों से ही होता है। जब इन्द्रियों से हमें संसार की प्रतीति नहीं होती तो हम मूर्च्छित हो जाते हैं या सो जाते हैं क्योंकि हमारा जीवन इन्द्रियों की संवेदनाओं से ही चल रहा है। हमारे सुख भी जागतिक अनुभवों पर निर्भर हैं। हम जिससे जो चाहते हैं, यदि वह मिल जाये तो हम प्रसन्न हो जाते हैं, अन्यथा दुःखी हो जाते हैं। दूसरों की प्रशंसा से हमारे अहंकार की पुष्टि होती है तो हम प्रसन्न होते हैं। यह हमारी पराधीनता है। यदि हम परिस्थिति के साथ लड़ना चाहते हैं तो हमारी प्रकृति सहयोग नहीं करती। जब तक परिस्थिति अनुकूल होती है तब तक हम सुरक्षित अनुभव करते हैं। किन्तु जैसे ही प्रतिकूलता का सामना करना पड़ता है हम निराश हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि हम अपने सुख और दुःख के लिए दूसरों पर आश्रित हैं। मान, माया, क्रोध और लोभ हमारी इस पराधीनता को और भी बढ़ा देते हैं। इस स्थिति ने हमें सम्मोहित कर रखा है।

बन्धन के कारण

जैसे ही यह सम्मोहन टूटता है हम में अनन्त की भूख जागती है। तब हम बन्धनों को तोड़ना चाहते हैं। हमें अपनी अन्तर्ज्योति का आभास होता है और हम सीमाओं से मुक्ति पाना चाहते हैं। हम देश और काल से परे जाना चाहते हैं। श्री अरविन्द ने इस स्थिति का वर्णन एक कविता में किया है। संक्षेप में हमारे बन्धन के चार कारण है— अहंकार, इच्छा, द्वन्द्व और तीन गुण। इनमें भी अहंकार मुख्य है। अहंकार के कारण हम अपने आपका शरीर, मन तथा बुद्धि के

साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान लेते हैं जबकि वस्तुतः शरीर, मन और बुद्धि केवल हमारे उपकरण हैं। यह तीनों सीमित हैं और इन तीनों के साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण हम भी सीमित हो जाते हैं और हमारा असीम चेतना के साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता।

मुक्ति

मुक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति है। मुक्ति में हमारा जागतिक अनुभवों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। विचार अथवा संवेदनायें हमारी चेतना की शान्ति को भंग नहीं कर पाती। हम शुद्ध-बुद्ध आनन्द की स्थिति में रहते हैं। सुख या दुःख हमें विचलित नहीं कर पाते। चेतना का प्रकाश अन्धकार से अस्पृष्ट रहता है। मान-अपमान, लाभ-हानि, सफलता-असफलता तथा जय-पराजय के द्वन्द्व से हम ऊपर उठ जाते हैं। इस चेतना की स्थिति में मृत्यु का कोई अर्थ नहीं रहता क्योंकि मृत्यु चेतना में बाधा नहीं डालती है। प्रारब्ध कर्मों के कारण अनुकूलता और प्रतिकूलता आती जाती रहती है किन्तु हम उससे प्रभावित नहीं होते। काल की गति और देशकृत विभाजन हमारे लिए व्यर्थ हो जाता है। हम नाम-रूप-रहित आनन्द में डूब जाते हैं।

मोक्ष का यह स्वरूप सामान्यतः सभी प्रस्थानों में स्वीकृत है। इस मुक्ति की प्राप्ति के लिए तपस्या की जाती है। उद्देश्य यह है कि जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाया जा सके। जीवन्मुक्त लोकसंग्रह के लिए कर्म कर सकता है। किन्तु उसकी भी प्रकृति का रूपान्तरण नहीं होता अर्थात् वह स्वयं मुक्त हो जाता है किन्तु उसकी प्रकृति मुक्त नहीं होती। उसमें सत्वगुण का उद्रेक रहता है किन्तु उसके गुणों का इस रूप में परिवर्तन नहीं होता कि सत्व ज्योति में, रजस् तप में और तमस् शान्ति में बदल जाये। इस प्रकार श्री अरविन्द के अनुसार जीवन्मुक्त की मुक्ति भी अधूरी ही है। उन्होंने जीवन्मुक्त की अवधारणा पर एक स्वतन्त्र कविता भी लिखी है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि हम जो वस्तुतः चाहते हैं, परमसत्ता से हमें वो ही प्राप्त हो जाता है क्योंकि परमसत्ता में वस्तुतः सभी कुछ है। यदि हम शान्ति

चाहे तो शान्ति, आनन्द चाहें तो आनन्द भी मुक्ति में मिल सकता है। बौद्धों के निर्वाण, जैनों के मोक्ष, सांख्य के कैवल्य और वेदान्त की मुक्ति में मूलभूत अन्तर नहीं है किन्तु इतना अवश्य है कि उनमें भिन्न भिन्न पक्षों पर भिन्न भिन्न प्रस्थानों में अधिक बल दे दिया गया है; इतना ही अन्तर है। इनमें से साधक जिसकी आकांक्षा करता है उसे वही प्राप्त हो जाता है।

पूर्णयोग में शान्ति या आनन्द आनुषङ्गिक हैं; किन्तु मुक्ति का अर्थ दिव्य में लीन हो जाना है। यहाँ शून्य की आकांक्षा नहीं है अपितु प्रभु से एकाकार होने की आकांक्षा है। उसके अतिरिक्त श्री अरविन्द आत्मा के साथ साथ प्रकृति का भी मोक्ष चाहते हैं। यह उनकी अपनी मौलिक देन है। दूसरे प्रस्थानों में यह अवधारणा नहीं है कि तीन गुण भी अपनी निम्न स्थिति से मुक्त हो सकते हैं और दिव्य रूप धारण कर सकते हैं।

परा प्रकृति

श्री अरविन्द पराप्रकृति की चर्चा करते हैं। यह पराप्रकृति चेतना की शक्ति है। इसमें प्रकाश और शक्ति, मौन और कर्म, स्थिति और गति का समन्वय है। मोक्ष की दूसरी अवधारणाओं में चेतना की चर्चा है किन्तु शक्ति की नहीं, जबकि शक्ति के बिना परमसत्ता वैश्विक क्रिया का सञ्चालन नहीं कर सकती। यह सत्य है कि साधक को अपने को प्रकृति से भिन्न समझना होता है। उसे अपने आपको मातृशक्ति के प्रति समर्पित भी करना होता है। किन्तु यह मोक्ष का प्रारम्भिक चरण है। जिसमें साधक अविचलित रहता है और संसार के पराधीन नहीं होता। वह पूर्ण समता में रहता है और अहंकार से मुक्त हो जाता है। किन्तु इसके बाद साधक को अपनी चेतना को सार्वभौम बनाते हुए दिव्य चेतना से जोड़ना होता है और अपने आपको मातृशक्ति के प्रति समर्पित करना होता है ताकि वह उसे अपने कार्य के योग्य बना सके। ऐसी स्थिति में साधक एक ज्ञान से उच्चतर ज्ञान, एक शक्ति से अधिक शक्ति और एक आनन्द से अधिक गहरे आनन्द की ओर गति करता है। वह जैसे जैसे आगे बढ़ता है उसकी इच्छा मातृशक्ति की इच्छा के साथ एकाकार हो जाती है।

इस सारी प्रक्रिया में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो अहंकार के स्थान पर आत्म-समर्पण चाहिए और कामना के स्थान पर निष्काम-भाव चाहिए। दूसरी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रकृति में जो हमें अपने शत्रु नजर आते हैं वे वस्तुतः हमारे मित्र होते हैं, इसलिए उनका दमन नहीं करना है अपितु मातृशक्ति के आलोक में उन्हें दिव्यता प्रदान करनी है। इस प्रकार अध्यात्म के मार्ग में आने वाली बाधायें वस्तुतः साधक के लिए सहायक बन जाती हैं। इसके द्वारा केवल मुक्ति ही नहीं होती, प्रकृति का रूपान्तरण भी होता है। यह प्रक्रिया लम्बी है, क्योंकि कण कण का रूपान्तरण सरल नहीं है।

तीन गुणों का रूपान्तरण

प्रकृति के तीन गुण केवल चेतन मन तक ही सीमित नहीं हैं अपितु अवचेतन और अचेतन तक में फैले हुए हैं। परम्परा में सत्वगुण को महत्त्व दिया गया है और सत्व के द्वारा रजस् तथा तमस् को अभिभूत करने की बात कही गयी है। इस कार्य में तमस् भी इस अर्थ में सहयोग करता है कि साधक कर्म के प्रति उदासीन हो जाता है। किन्तु पूर्णयोग में तीनों गुणों को अपने शुद्ध रूप में कार्य करने की स्वतन्त्रता दी जाती है। माना यह जाता है कि तीनों गुण परस्पर अविभाज्य रूप में सम्बद्ध हैं और केवल सत्व का उपयोग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः तीनों गुणों के बीच परस्पर संघर्ष रहता है। किन्तु यह संघर्ष निम्न स्तर पर ही है, दिव्य स्तर पर नहीं। दिव्य स्तर पर तमस् दिव्य शान्ति का रूप ले लेता है जो कर्म का अभाव नहीं है अपितु दिव्यशक्ति है। यह शान्ति सारे संघर्ष के बीच भी बनी रहती है। इसी प्रकार रजस् आत्मा की अभीप्सा बन जाता है, जो आनन्दपूर्ण कर्म को जन्म देती है। सत्वगुण बौद्धिक ज्ञान न रहकर स्वयंसिद्ध ज्योति बन जाता है। इस ज्योति के आलोक में हमें अपने कर्मों की दिव्यता दृष्टिगोचर होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि प्रकृति के दो रूप हैं, एक मौलिक रूप और दूसरा तूल अथवा उपकरणात्मक रूप। उपकरण के रूप में हमारे सामने अन्तःकरण और बाह्यकरण आते हैं। जो करण है उसका कोई साध्य अवश्य होना चाहिए। करण का यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि उसे मिटा दिया जाये। करण निष्प्रयोजन

ही है तो सृष्टि निरर्थक हो जाती है। योग की अन्य परम्पराओं में यही स्थिति बनी हुई है। किन्तु उपनिषदों का कहना है कि जो कुछ यहाँ है वही वहाँ भी है। इसका यह अर्थ है कि ये करण नकारे जाने के लिए नहीं है अपितु इनका कुछ प्रयोजन है। यह तो स्पष्ट है कि यदि कोई करण है तो उसका कोई प्रयोजन तो होना चाहिए। श्री अरविन्द के अनुसार वैदिक ऋषि इन करणों का दिव्य उपयोग मानते हैं और वह उपयोग यह है कि इनके द्वारा दिव्य को अभिव्यक्त किया जा सके। यह प्रयोजन बन्धन में पड़े हुए करणों से सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए इन्हें पवित्र बनाना होगा और मुक्त करना होगा। ये जड में से आये हैं इसलिए ये निम्नाभिमुख हैं। किन्तु विकास के क्रम में यह परिष्कृत होते चलते हैं और हमारे अस्तित्व का अनिवार्य अंग बन जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि हमारी मुक्ति में इन साधनों की मुक्ति भी शामिल है। जब हम इन करणों को अशुद्ध पाते हैं तो हमारा मन इन्हें नकारने का हो जाता है। किन्तु ऐसी स्थिति में हम संसार के प्रयोजन को भी नकार देते हैं। इस मार्ग पर हम जब मोक्ष की आकांक्षा करते हैं तो हम संसार के प्रयोजन को भूल जाते हैं। किन्तु यदि हम इन करणों को भी शुद्ध कर लेते हैं तो फिर सब कुछ दिव्य हो जाता है। उस समय हमारी सारी गतिविधियां अतिमानस के स्तर पर सञ्चालित होती हैं तब जन्म और मृत्यु का भेद खो जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य की अन्तिम कामना मौत से छुटकारा पाने की होती है। किन्तु वास्तविक ज्ञान होने पर मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं रहता, यही वास्तविक अमृततत्व है। वेद में इसे ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय कहा गया है—

श्री अरविन्द ने इसे प्रकाश और शक्ति तथा आनन्द और ज्ञान का समन्वय कहा है— Light and might and bliss and immortal wisdom clasping for ever— Collected Poems & Plays, Page 578.

संश्लिष्ट रूपान्तरण

श्री अरविन्द का कहना है कि अध्यात्म के द्वारा मनुष्य अन्तःचेतना को जान सकता है, सर्वत्र दिव्य का दर्शन कर सकता है, अपने को सबमें और सब को अपने में देख सकता है, स्वयं को समष्टि में लीन कर सकता है और भक्ति का आनन्द भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु इस सबके बावजूद यह सम्भव है कि वह प्रकृति के बाह्य भाग पर जैसा का तैसा बना रहे, दुःख और सुख को अनुभव करे, शारीरिक कष्टों को सहन करे तथा रोग और मृत्यु का समभाव से सामना करे। अन्तर केवल इतना होगा कि वह इन सब परेशानियों का मध्यस्थ भाव से साक्षी बना रहेगा और इसे प्रकृति का ऐसा कार्य मानेगा जिसका कोई विकल्प नहीं है। श्री अरविन्द के मत में यह स्थिति रूपान्तरण नहीं है। उनके अनुसार यह ज्ञान की एक दूसरी भी शक्ति है जो भौतिक चेतना को भी अतिमानस परिवर्तन के द्वारा बदल देती है। अभिप्राय यह है कि आन्तरिक चेतना का रूपान्तरण होने पर भी संश्लिष्ट योग का लक्ष्य पूरा नहीं होता। कोई साधक अपने को सुख और दुःख से परे मान ले और उसे प्रारब्ध का फल माने—यह सम्भव है। यह भी सम्भव है कि वह उनसे बाधित न हो और पूर्ण समता के भाव से उनका साक्षी बना रहे। यह स्थिति कितनी भी ऊँची क्यों न हो और परम्परा इसका पूर्ण समर्थन भी क्यों न करती हो किन्तु इतना स्पष्ट है कि इस स्थिति में साधक अभी प्रकृति के तीन गुणों से बंधा रहता है। उसकी आत्मा समता में है किन्तु उसकी प्रकृति में विषमता है। उसके अन्दर प्रकाश है किन्तु सतह पर अन्धकार है। वह दुर्गम कठिनाइयों के बीच रहता है। यह स्थिति आत्मा की मुक्ति की तो है किन्तु इसे जीवन की पूर्णता नहीं कह सकते।

अब तक के रूपान्तरण के प्रयत्न

रूपान्तरण, नैतिक या आध्यात्मिक निर्मलता ही नहीं है अपितु मानव प्रकृति का संश्लिष्ट रूपान्तरण है। यह सिद्धि भी नहीं है, दीर्घ स्वस्थ जीवन भी इसका प्रयोजन नहीं है, जब भौतिक और प्राणिक स्तर से मानसिक विकास हुआ तब जैसा परिवर्तन हुआ था, संश्लिष्ट रूपान्तरण का परिवर्तन उससे भी अधिक मौलिक है। इस प्रकार का प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर पर वैदिक ऋषियों ने किया था। किन्तु वह प्रयत्न सामूहिक नहीं था। तन्त्र में भी ऐसा प्रयत्न हुआ किन्तु वह आंशिक ही था और खतरनाक भी था। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य केवल आत्मिक उपलब्धि से संतुष्ट नहीं होता है, वह अपनी प्रकृति को भी रूपान्तरित करना चाहता है। किन्तु इस प्रयत्न में हमें इसलिए सफलता नहीं मिली कि इसके पीछे कोई गंभीर दृष्टि नहीं थी। दूसरे इस प्रयत्न को परम दिव्य शक्ति की सहायता से करने का भी उपक्रम नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त ऐसी उपलब्धि का समय भी नहीं आया था। आज इस प्रकार के मौलिक परिवर्तन का समय आ गया है किन्तु सम्यक् ज्ञान और सम्यक् अभीप्सा के बिना यह प्रयत्न सफल नहीं हो पा रहा।

वैदिक सङ्केत

प्रकृति के रूपान्तरण की चर्चा श्री अरविन्द की मौलिकता है। यह आशा बनती है कि मनुष्य अपनी पतित अवस्था से ऊर्ध्वगमन करेगा। एक दिन वह शरीर के आलस्य, प्राण की वासना और मन के उच्छृङ्खल विचारों से मुक्त हो जायेगा किन्तु इस कार्य के लिए प्रकाश और शक्ति दोनों की आवश्यकता होगी। यह शक्ति आत्मा की होगी और प्रकाश सत्य का होगा। यह दोनों मिलकर ही नये का सर्जन कर सकते हैं। वैदिक शब्दावलि का प्रयोग करें तो यह शक्ति ही 'पणियों की गुफा' में प्रकाश प्रेषित कर सकती है। अभिप्राय यह है कि पणि ऐन्द्रिक चेतना के द्वारा सूर्य के प्रकाश को अचेतन में छुपा देते हैं। अचेतन की उस गुफा में से उन किरणों को अर्थात् गायों को मुक्त कराने का कार्य यह शक्ति ही कर सकती है।

संश्लेषण

जैसा पहले कहा जा चुका है, रूपान्तरित प्रकृति में आद्या शक्ति की चार प्रतिनिधि हों— महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। महेश्वरी ज्ञान का विस्तार करेगी और आलोक फैलायेगी, महाकाली उस प्रकाश को शक्ति देगी, महालक्ष्मी प्रेम और आनन्द प्रवाहित करेगी और सरस्वती उसे लयबद्ध करेगी। ये चारों शक्तियाँ मिलकर एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करेंगी जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों का समन्वय होगा। अभिप्राय यह है कि मनुष्य की सभी शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जायेंगी अथवा यह कहना चाहिए कि वैष्णव सम्प्रदाय के चारों व्यूह इसमें समाविष्ट हो जायेंगे— ज्ञान, शक्ति, सहयोग और कर्मठता। इस अवस्था में शरीर भी दिव्य हो जायेगा। श्री अरविन्द के रूपान्तरण का यह लक्ष्य है।

इसका यह अर्थ है कि हमें दिव्य के साथ एकाकार हो जाना है। यह दिव्य विश्वोत्तीर्ण ही नहीं है अपितु विश्व भी है। वह आत्मा भी है और प्रकृति भी है, काल भी है और कालातीत भी है। वह नामरूप रहित भी है और वह सब कुछ भी है जो दिखाई देता है। हमें उसके साथ एकाकार होने के लिए पराप्रकृति के साथ भी एकाकार होना होगा। वह आभु भी है और अभ्व भी। इसके लिए प्रकृति का रूपान्तरण भी आवश्यक है। प्रकृति अपूर्ण है और अशुद्ध है। इसके लिए हमें दिव्य को उसका स्वामी बनाना होगा। इस प्रकार के रूपान्तरण से हम केवल समाधि में ही दिव्य से नहीं जुड़ेंगे अपितु व्युत्थान के समय भी दिव्य से जुड़े रहेंगे। इसका यह अर्थ है कि हम इस पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन जी सकेंगे। इस प्रकार के रूपान्तरण के बिना मोक्ष का यह अर्थ होगा कि कुछ व्यक्ति तो शांति और आनन्द को अवश्य प्राप्त कर लेंगे किन्तु संसार अन्धकार, अज्ञान और दुःखमय बना रहेगा। किसी प्रकार की आचार संहिता मनुष्य को उसके जीवन की पाशविकता से मुक्त नहीं कर सकेगी। कोई भी नैतिकता सतह पर ही काम कर सकती है किन्तु अन्तश्चेतना के उस स्तर पर कार्य नहीं कर सकती जहाँ से अपूर्णता उत्पन्न होती है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि क्योंकि मनुष्य की प्रकृति भी पराप्रकृति से आई है इसलिये उसकी प्रकृति का भी रूपान्तरण हो सकता है।

प्रकृति का रूपान्तरण

यदि हम विकास के क्रम को देखें तो उसमें दोनों पक्ष उपलब्ध होंगे—रूपान्तरण और अतिक्रमण। जैसे-जैसे चेतना अन्धकार से मुक्त होती है वैसे-वैसे भूत भी अपना अतिर्कमण करता है और उसकी प्रकृति विकसित होती जाती है। सभी विकास में यह अतिक्रमण चेतना के साथ-साथ प्रकृति में भी होता है। एक कृमी में और पशु में जो अन्तर है वो चेतना का ही नहीं है, प्रकृति का भी है। इसी प्रकार का अन्तर पशु और मनुष्य की चेतना के साथ-साथ प्रकृति में भी है। श्री अरविन्द यह प्रश्न करते हैं कि क्या मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से आगे जायेगा और यदि आगे जायेगा तो क्या वह विकास केवल चेतना का ही होगा या प्रकृति का भी।

भारतीय चिन्तन के अनुसार भूत में भी सच्चिदानन्द निहित है। विकास का यह अर्थ है कि वह सच्चिदानन्द अभिव्यक्त हो। अब तक वह अभिव्यक्ति मनुष्य के मन के रूप में हुई है जो ज्ञान के लिए संघर्ष तो कर रहा है किन्तु जिसे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। इसका यह अर्थ है कि अभी और आगे विकास की सम्भावना है और यह विकास प्रकृति का भी रूपान्तरण करेगा।

रूपान्तरण की प्रक्रिया

उपनिषद् में सात लोकों की चर्चा है- भूः, भुवः, स्वः, महः जनः, तपः और सत्यम। सत्य का सत् अन्न अथवा भूत बनता है। तपस् का चित् प्राण बनता है और महः मन बनता है। इसलिए पदार्थ जो सत् में से आया है वह मूलतः क्षर नहीं है। इसी प्रकार प्राण भी मूलतः जीर्ण अशुद्ध नहीं है और मन भी महः अथवा अतिमन से निकला है इसका यह अर्थ है कि ये तीनों मन, प्राण और अन्न जो उपनिषद् के पाँच कोशों में तीन कोश है, सदा अन्धकार और अपूर्णता में ही रहें यह आवश्यक नहीं है। पदार्थ सत् में बदल सकता है। प्राण तप के चित् में और मन विज्ञान में बदल सकता है। विकास के क्रम में यह होना अपरिहार्य है। इस रहस्य को हम उनके उद्‌भव के आधार पर जान सकते हैं।

अभीप्सा

रूपान्तरण के लिये पहली शर्त तीव्र और निरन्तर चलने वाली अभीप्सा है, परम्परागत योग में जिस प्रकार मुमुक्षा की तीव्रता होती है उसी प्रकार की तीव्रता रूपान्तरण की भी होनी चाहिये। रूपान्तरण के लिये दिव्य के साथ संश्लिष्ट एकता आवश्यक है जिसके बिना पूर्ण रूपान्तरण नहीं हो सकता। शाश्वत कूटस्थ शान्ति की इच्छा अथवा सायुज्य मोक्ष की इच्छा पर्याप्त नहीं है। मुमुक्षु केवल इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं कि उनकी प्रकृति समाधि में बाधक न बने किन्तु रूपान्तरण के साधक पूर्ण मानव चेतना को दिव्य चेतना में परिवर्तित करना चाहते हैं।

समर्पण

अभीप्सा के साथ समर्पण भी आवश्यक है—इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। संक्षेप में यह जानना चाहिये कि कोई साधक केवल अपने मनोबल पर प्रकृति का रूपान्तरण नहीं कर सकता। एक अन्य आवश्यकता यह है कि साधक की प्रकृति में अतिमानस चेतना का अवतरण हो; आरोहण के साथ अवतरण भी आवश्यक है। अतिमानस चेतना से कम किसी चेतना के द्वारा रूपान्तरण नहीं हो सकता। अतिमानस का प्रकाश अवचेतन और अचेतन तक जाना चाहिये और वहाँ के अन्धकार को मिटना चाहिये। अतिमानस चेतना का अवतरण श्री अरविन्द के योग का वैशिष्ट्य है।

कोष्ठ की दिव्यता

रूपान्तरण के लिये यह भी आवश्यक है कि हमारे अस्तित्व के सभी भाग रूपान्तरण के लिये प्रस्तुत हों। प्रारम्भ में मन का प्रबुद्ध भाग दूसरे भागों को आदेश दे सकता है किन्तु अन्ततोगत्वा सभी भागों का सहयोग आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है कि सभी भाग अपने में परिपूर्ण हैं और सबकी अपनी चेतना है। अन्नमय पुरुष, प्राणमय पुरुष और चैत्यपुरुष रूपान्तरण को स्वीकार करने न करने में स्वतन्त्र हैं। जब तक ये सभी भाग अपना समर्पण न करें तब तक

रूपान्तरण सम्भव नहीं है। शरीर का भी एक-एक कोष्ठ दिव्य की खोज में लगना चाहिये। सभी भाग स्वतन्त्र हैं कि वे बन्धन में रहना चाहते या मुक्त होना चाहते हैं और इसीलिये उनकी बिना इच्छा के उन पर कुछ भी थोपा नहीं जा सकता।

जागतिक दिव्यता

जीवात्मा का संसार में आने का प्रयोजन यही है कि दिव्य को जागतिक रूप में भी अभिव्यक्ति मिल सके। किन्तु चौतसिक जागृति के बिना साधक व्यर्थ के संघर्ष में पड़ा रहता है। प्रकृति के विकास के साथ चौतसिक जागृति आती है। दिव्य के प्रति प्रेम और भक्ति शरीर, प्राण और मन में व्याप्त होने लगते हैं। अतः रूपान्तरण का प्रथम प्रयास चित्य का जागरण है। कर्म में, भावनाओं में और विचारों में समर्पण का अंश रहना चाहिये। सबसे पहला प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप साधक निर्वैयक्तिक तथा कूटस्थ की ओर झुकता है किन्तु अधिक प्रभावशाली परिणाम हृदय के रूपान्तरण से होता है क्योंकि हृदय चित्य के निकट है। वस्तुतः चित् के चयन से ही चित्य का निर्माण होता है। प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द चित्य के धर्म है। चैतन्य महाप्रभु का यह भाव मीराबाई में देखने को मिलता है। उनका सारा अहंकार विलीन हो गया था। इस भाव तक पहुँचने के लिए निर्वैयक्तिक से उठकर परम पुरुष तक जाना होता हैं। धीरे-धीरे साधक आत्मा के प्रति सचेत हो जाता है। यह भक्त की स्थिति है।

अतिमानस में दमन नहीं

किन्तु मनुष्य में केवल बुद्धि और हृदय ही नहीं है, उसमें इच्छायें भी हैं। जब प्राण शक्ति पर चैत्य का दबाव आता है तो वह दिव्य की ओर उन्मुख हो जाता है। तब उसकी चेतना विस्तृत हो जाती है। इस प्रकार बुद्धि, इच्छा और हृदय मिलकर ईश्वर की ओर उन्मुख होते हैं। तब चैत्य पुरुष साधक का मार्गदर्शन करने लगता है। साधक मिथ्या, अस्पष्ट और दिव्य विरोधी तत्त्वों के प्रति वितृष्णा से भर जाता है; उसके प्रत्येक भाव, कर्म और इच्छा, चैत्य के प्रकाश से आलोकित हो जाते हैं। तब आत्मा का अनुभव होने लगता है। बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश, हृदय में प्रेम का प्रकाश, शरीर में उच्चतर अनुभव का प्रकाश, क्रिया में

सत्य और उदारता का प्रकाश तथा इच्छा और आचरण में दिव्य शक्ति के आनन्द का अस्तित्व इस स्थिति के लक्षण हैं। ये सभी लक्षण भी मौलिक रूपान्तरण नहीं हैं। रूपान्तरण मन की पहुँच से परे की स्थिति है। इसलिये दूसरा कदम मन से परे जाने का है। साधक को अन्दर के साथ ऊपर की ओर भी खुलना होता है और उच्चतर मन तथा अधिमन में प्रवेश करना होता है। यदि वह मानसिक अनुभव से भी संतुष्ट हो जाता है तो यह आरोहण नहीं पाता। इस स्थिति में असीम प्रकाश, शक्ति और आनन्द का अनुभव होता है। यह अनुभव स्थायी नहीं होता। किन्तु शनैःशनैः लम्बे समय तक चलने लगता है। तब अनन्त का और शाश्वत का अनुभव होता है। किन्तु यह रूपान्तरण भी मनुष्य की पूरी प्रकृति को पराप्रकृति में नहीं बदल सकता। श्री अरविन्द जो आदर्श हमारे सामने रखते हैं उसके लिए आध्यात्मिक रूपान्तरण भी पर्याप्त नहीं है। उच्चतर प्रकाश भी अहंकार को दूर नहीं करता। क्योंकि वह प्रकाश अपने शुद्ध रूप में अवतरित नहीं होता है अपितु साधक की निम्नतर प्रवृत्तियों से क्षीण हो जाता है। वस्तुतः केवल विज्ञान या अतिमानस का चित् तपस ही पूर्णतः समर्थ है न कि उच्चतर मन। विज्ञान में ही सर्जन की सामर्थ्य है। अतः अतिमानस की शक्ति ही पूर्ण रूपान्तरण कर सकती है। यह शक्ति केवल ऊपर से ही अवतरित नहीं होती अपितु नीचे भी अन्तर्निहित रहती है और ऊपर की ओर आरोहण करती है। ऊपर से अवतरण और नीचे से आरोहण मिलकर पूर्ण सफलता देते हैं। आध्यात्मिक रूपान्तरण से मनुष्य का चेतन अंश भी सार्वभौम बन पाता है, किन्तु अचेतन अंश परिवर्तित नहीं होता। साधक को विश्वोत्तीर्ण की झांकी मिल सकती है। किन्तु विश्वोत्तीर्ण को गतिशीलता नहीं मिलती। अतिमानस इच्छा ही पूर्णतः स्वतन्त्र होती है, जो जानती है कि कब प्रकृति के साथ कैसा व्यवहार किया जावे। जैसे-जैसे अतिमानस रूपान्तरण होता है वैसे-वैसे साधक के सभी अंश अतिमानस की क्रिया को सहर्ष स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में जो परिवर्तन होता है उसमें दमन का अंश नहीं रहता। वहाँ सब कुछ पुरुष की अनुमति से होता है। अतिमानस का सबसे अधिक प्रभाव हमारे भौतिक स्वभाव पर पड़ता है। हमारा अचेतन अंश वर्तमान में अज्ञान में कार्य कर रहा है। किन्तु अतिमानस हमारे शरीर के कोष्ठों को प्रकाश और शक्ति से भर देता है। हमारा शरीर स्थूलता और आलस्य को छोड़कर सार्वभौम भूत जगत् से शक्ति ग्रहण करने लगता है।

सतही परिवर्तन नहीं

वर्तमान समय में हम मनुष्य के व्यक्तित्व को संश्लिष्ट बनाना चाहते हैं किन्तु संश्लेष मनुष्य के भिन्न-भिन्न भागों को परस्पर जोड़ देने से नहीं बन पायेगा क्योंकि हम मानव चेतना के उच्चतम शिखर तक नहीं पहुँच पायेंगे। हम सतही तौर पर सक्रिय भागों को ही जानते हैं जो हमारे असीम अस्तित्व की परिधि पर है। हमारा तार्किक मन अर्धचेतन और अचेतन को नहीं जान पाता, हम केवल अपनी ऊपरी आदतों को जानते हैं। संश्लेषण के लिये प्रथम तो हमें आत्मतत्त्व को जानना चाहिये, दूसरे अर्धचेतन और अचेतन को जानना चाहिये। हमारा सान्त भाग अनन्त से घिरा है और मरणधर्मिता शाश्वत में उठी एक लहर मात्र है। इसलिये जब तक हम अनन्त और शाश्वत को न जानें तब तक पूरा संश्लेषण नहीं हो सकता। हमारा एक समृद्ध राज्य है जिसे खोजना आवश्यक है। तभी व्यष्टि और समष्टि में सामंजस्य बन पायेगा। तभी सार्वभौम और विश्वोत्तीर्ण के बीच सामंजस्य बनेगा। हमारा व्यक्तित्व तभी पूर्ण हो सकता है, जब वह वैश्विक व्यक्तित्व बन जाये। पराप्रकृति से जुड़ने पर साधक केवल दिव्य इच्छा और शक्ति का साधन ही नहीं रहता अपितु उसके साथ भागीदारी भी निभाता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि रूपान्तरण के तीन क्रमिक विकास एक क्रम में होंगे अपितु चौतसिक रूपान्तरण से पहले ही आध्यात्मिक रूपान्तरण प्रारम्भ हो सकता है। मनुष्य का स्वभाव बहुत जटिल है और समर्पण के बाद क्या घटित हो इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। विशेषकर दिव्य महाशक्ति के कार्य तूफानी ढंग से चलते हैं जो एक साथ ऊँचाई और निचाई, गहराई और उथलापन तथा खुलापन और मुद्रित अंश को एक साथ अपने में समेट लेते हैं। इस प्रकार संश्लिष्ट रूपान्तरण दिव्य जीवन का आवश्यक अंग है।

संश्लिष्ट पूर्णता

संश्लिष्ट योग में मनुष्य की संतुलित पूर्णता की बात की जाती है, केवल आत्मा की पूर्णता की बात नहीं की जाती; वस्तुतः आत्मा तो सदा से ही पूर्ण है। ऐसी पूर्णता की इच्छा मानव चेतना में सदा से रही है और जब यह प्राप्त न हो तब तक मनुष्य का पुरुषार्थ विश्राम नहीं ले सकता। वस्तुतः जीवन स्वयं एक अभिव्यक्ति है और इसीलिए मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य अभिव्यक्ति की परिपूर्णता है। इसके बिना आत्मा का संसार में अवतीर्ण होना व्यर्थ है। मनुष्य बहुत जटिल है और इसलिए उसकी पूर्णता बहुआयामी होनी चाहिए तथा उसे आध्यात्मिक, मानसिक और भावनात्मक रूप से भी पूर्ण होना चाहिए क्योंकि ये सब भौतिक जगत् में दिव्य अभिव्यक्ति के उपकरण हैं। परिपूर्णता का अर्थ है—दिव्य के साथ सारूप्य या साधर्म्य प्राप्त करना। इसका अर्थ हैं—पराप्रकृति की दिव्य गतिशीलता को प्राप्त करना। यह लक्ष्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है और इसकी आकांक्षा भी कम ही की गई है। विशेषकर शरीर की दिव्य संभावनाओं को अभी तक लक्ष्य नहीं बनाया गया अपितु शरीर को स्थूल और तमोगुणी मानकर इसकी उपेक्षा की गई है। किन्तु पूर्णयोग में शरीर को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है जितना अन्य उपकरणों को।

परिपूर्णता की अपेक्षायें

परिपूर्णता के लिये चार अपेक्षाएं है— शक्ति, वीर्य, दैवी प्रकृति और श्रद्धा। शक्ति का अर्थ है—प्रकृति के उपकरणों का पूर्ण विकास। वीर्य का अर्थ है—आत्मशक्ति की पूर्ण गतिमत्ता और इन शक्तियों का दिव्य शक्ति में उपयोग दैवी प्रकृति है।

श्रद्धा का अर्थ है— मनुष्य दिव्य शक्तियों को अपने में धारण कर सकता है—यह विश्वास। अतिमानस प्रकाश की क्रीड़ा में समता का भाव रखना दिव्य परिपूर्णता का सर्वोत्तम साधन है। जब यह सब एक साथ मिलते हैं तो हम दिव्य अस्तित्व के सत्य, शक्ति और आनन्द का अनुभव करते हैं।[1]

शरीर का महत्त्व

स्वयं शरीर में कितनी अपरिमित शक्ति है और वह सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर से किस प्रकार जुड़ा है—इसका अनुमान हम प्रायः नहीं करते। हमारे स्थूल शरीर के पीछे एक सूक्ष्म शरीर है और सूक्ष्म शरीर के पीछे एक कारण शरीर है। यह कारण शरीर उस प्रकाश और आनन्द से भरपूर है जिसे स्थूल शरीर अभिव्यक्त करना चाहता है अर्थात् हमारा भौतिक शरीर यदि कारण शरीर से जुड़ सके तो उसमें परिपूर्णता की ओर अग्रसर होने की संभावनाएं बनती हैं। शेष योगों में स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर की कुछ संभावनाएं प्रकट की गई किन्तु क्योंकि अन्ततोगत्वा भौतिकता और शरीर को छोड़ने की बात थी इसलिए चमत्कारों से आगे पूर्णता की बात नहीं की गई। पूर्णयोग में विज्ञानमय कोश की शक्तियों को स्थूल शरीर में प्रकट करने का लक्ष्य रखा गया है। जैसे ही विज्ञानमय कोश उद्घाटित होता है आनन्दमय पुरुष सहज ही अभिव्यक्त हो जाता है। इस आनन्द के दो पक्ष हैं—प्रेम और सौन्दर्य, जो आनन्द और शक्ति से संबल पाते हैं। आनन्द उच्चतम सर्जनात्मक शक्ति है। शरीर की पूर्णता के चार पक्ष हैं—महत्-तत्व, बल, लघुता और धारण-सामर्थ्य। महत्-तत्व धारक शक्ति की महत्ता है, बल वह शक्ति है जो व्यवस्था करती है, लघुता स्नायु का लचीलापन है और धारण-सामर्थ्य सारे भौतिक यन्त्र में प्रतिक्रिया करने वाली वह शक्ति है जो इसे जोड़े रखती है। परिपूर्णता की स्थिति में शरीर अपने भारीपन और आलस्य को छोड़ देगा और हल्का तथा लचीला बन जायेगा। इसकी शक्ति असीम हो जाएगी और दिव्य इच्छा से इसमें स्वतन्त्रता और लचीलापन अवतरित होगा। परम्परा यह मानती है कि विकास के साथ अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट हो जाता है किन्तु पूर्णयोग में लक्ष्य यह रख गया है कि स्थूल शरीर भौतिक जगत् के आक्रमणों से अस्त-व्यस्त नहीं होगा, इसका दैवीकरण हो जायेगा। इसका क्षय नहीं होगा और मृत्यु नहीं होगी।

प्राण की पूर्णता

इसी प्रकार प्राण की पूर्णता के भी चार अंश हैं—पूर्णता, प्रसन्नता, समता और भोग-सामर्थ्य। पूर्णता का अर्थ है कि प्राण को शक्ति से भरा हुआ होना चाहिए। वैदिक ऋषि ने इसके लिए अश्विनी कुमारों से प्रार्थना की है। अश्वमेध का अर्थ भी यह था कि प्राणशक्ति को दिव्य के प्रति समर्पित कर दिया जाये ताकि वह इसमें अपने वैभव को उड़ेल सके। प्रसन्नता का अर्थ है—विशुद्धता और प्रसन्नता अर्थात् प्राण को व्यर्थ के कार्यों में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए और न कठोरतापूर्वक उसका दमन किया जाना चाहिए। समता का यह अर्थ है कि प्राण राग-द्वेष के द्वारा विचलित न हो अपितु सभी इच्छाओं से मुक्त होकर स्वतन्त्रता का अनुभव करे। ऐसा प्राण, जो कुछ भी दिव्य से प्राप्त होगा उसे बिना विचलित हुए स्वीकार करेगा। इसमें सारे भोगों के भोगने की शक्ति होनी चाहिए। इसे सभी प्रकार के अनुभव और सम्बन्धों में आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करना चाहिए।

हृदय की पूर्णता

हृदय की पूर्णता के चार पक्ष हैं—सौम्यता, तैजस, कल्याण-श्रद्धा तथा प्रेम-सामर्थ्य। सौम्यता का अभिप्राय माधुर्य्य और नम्रता से है। यह महालक्ष्मी का गुण है किन्तु इसके साथ ही हृदय में वह रौद्र भाव भी होना चाहिए जो अवसर आने पर न केवल तपस्या कर सके अपितु संघर्ष भी कर सके। जो महाकाल की शक्ति है, वह तैजस है। कल्याण-श्रद्धा उस विश्वास का नाम है कि सर्वत्र दिव्य है जो केवल शान्त ही नहीं सक्रिय भी है। वह सर्वशक्तिमान् है और उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। गहरे से गहरे संकट में भी हमारी भलाई छिपी है, जिसमें दिव्य करुणा का अंश है। किसी भी प्रकार का कष्ट, अपमान या असफलता साधक की आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होने के कारण दिव्य के प्रेम का फल है। प्रेम-सामर्थ्य का अर्थ है कि साधक में प्रेम की असीम शक्ति है। प्रेम हृदय का मुख्य कार्य है जिसके द्वारा हम दिव्य तथा सभी प्राणियों के साथ सक्रिय एकता प्राप्त कर सकते हैं। प्रेम का यह सामर्थ्य इतना विस्तृत होना चाहिए कि सभी लोक और लोकातीत इसमें समाविष्ट हो जायें। शत्रु हो या मित्र, संत हो या

पापी सभी को अपने समान ही प्रेम करना चाहिए क्योंकि सब एक ही नित्य के भिन्न रूप हैं। अतिमानस स्थिति से पूर्व की यह उच्चतम पूर्णता की स्थिति है।

बुद्धि की पूर्णता

बुद्धि की पूर्णता का अर्थ है— विशुद्धि, प्रकाश, विचित्रबोध और सर्वज्ञान-सामर्थ्य। बुद्धि को निर्मल और स्पष्ट होना चाहिए। उसमें कोई भी ऐसी प्राणिक इच्छा न रह जाये जो सत्य की खोज में बाधक हो उसे सत्य के प्रति सदा ग्रहणशील होना चाहिए।[2] प्राणिक इच्छायें उसमें बाधा न दें, भावना, विसंवाद और मिथ्यात्मक से बुद्धि सर्वथा अस्पृष्ट रहे। इसमें आलस्य, ग्रहणशीलता का अभाव और तर्काभास का अंश होना चाहिए। यह सत्य को प्रतिबिम्बित करे तथा नपी-तुली रीति से समन्वय स्थापित करे। यदि यह शांत और स्पष्ट होगी तो बिना तोड़े मरोड़े उच्चतर प्रकाश को प्रतिबिम्बित कर सकेगी। इसमें विविध प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए।[3] सर्वज्ञान-सामर्थ्य का अर्थ है सभी प्रकार के ज्ञानों को आत्मसात् करने की क्षमता और किसी प्रकार के आदत या पक्षपात से बाधित न होना। इसका अर्थ यह है कि बने बनाये सङ्कीर्ण यान्त्रिक सूत्रों का अनुसरण नहीं किया जाये।

पूर्णता का अर्थ है ऊपर बतलाये गये सभी साधनों की पूर्णता, ताकि वे आत्मा की शक्ति को अभिव्यक्त कर सकें। इस प्रकार सभी उपकरण रूपान्तरित हो जायेंगे और सार्वभौम तथा निर्वैयक्तिक को प्रदर्शित कर सकेंगे। तब वे शरीर, प्राण तथा मन की अपेक्षा स्वतंत्र आत्मा की शक्ति का कार्य करेंगे।

अन्तिम पूर्णताः अतिमानसिक स्थिति

अन्तिम पूर्णता तब होगी जब आत्मशक्ति के सभी क्रियाकलापों में दिव्य और उसकी शक्ति उजागर होगी और इन उपकरणों की सभी गतिविधि अतिमानस की आभा को प्रकट करेगी। अभी तक मनुष्य ने अतिमानस पूर्णता पर चिन्तन नहीं किया है। यह दिव्य की अनन्त पूर्णता है जो अचिन्त्य है। साधक की प्रकृति के सभी भाव परम की शक्ति से भावित हो जाते हैं तब दिव्य अपने आप को हमारे सभी क्रियाकलापों में अभिव्यक्त करता है। वह हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को

अपने वश में कर लेता है और हमारे सभी कार्यों का अनुशास्ता बन जाता है। हमारी चेतना उसकी चेतना बन जाती है, हमारा ज्ञान उसका ज्ञान बन जाता है, हमारा विचार उसका विचार बन जाता है, हमारी इच्छा उसकी इच्छा बन जाती है, हमारे अनुभव उसका आनन्द बन जाते हैं और हमारे सभी कर्म उसके कार्य हो जाते हैं। शक्ति और ईश्वर में भेद नहीं रहता। हमारी सभी भाव क्रियाओं में दिव्य उपस्थित रहता है। अहंकार की माया दूर हो जाती है। जीव सनातन का अंश बन जाता है। यह पूर्णता का उच्चतम रूप है। इससे ऊपर केवल अवतार की चेतना ही संभव है।[4] अतिमानस पूर्णता का अर्थ सभी मानव सफलताओं का अतिक्रमण कर जाना है। तब मनुष्य प्रथमतः प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित कर लेता है, दूसरे एक अखण्ड संश्लेष को प्राप्त हो जाता है और तीसरे दिव्यता ही सब कुछ करती है।

अतिमानस पूर्णता में बुद्धि सर्वज्ञ तो होगी ही किन्तु उसकी कार्यपद्धति भी मौलिक रूप से रूपान्तरित हो जायेगी। वह बुद्धि सत्य का साक्षात्कार कर सकेगी। वेद में जिसे सरमा, सरस्वती, दक्षिणा और इळा कहा गया है, वह अन्तर्दृष्टि, अन्तःप्रेरणा, विवेक और अनावरण है। केवल पृथ्वी पर ही नहीं बल्कि सभी स्तरों पर जो कुछ मनुष्य जान सकता है, वह वहाँ जाना जायेगा।[5] वह भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी धाराओं को समाहित करेगा अर्थात् त्रिकालदर्शी होगा। यह अनेक को देखते हुए भी मौलिक एकता को भूलेगा नहीं। इसका ज्ञान विशाल होगा। यह एकता के साथ-साथ विकसनशील अनेकता को भी देखेगा। साधक की इच्छा परम की इच्छा होगी। कहीं कोई लडखड़ाहट नहीं होगी।

अतिमानस इच्छा और भावना उस दिव्य प्रेम की लहरें होंगी जो स्वयं स्थिर है और जिसमें लयात्मकता पूर्ण रूप से बनी रहती है। अतिमानस के स्तर पर इन्द्रियाँ सभी में दिव्य को देखेंगी, सुनेंगी और छुएंगी। हमारा मन इन्द्रियों के बिना देख, सुन और छू सकता है। अर्थात् मन छठी इन्द्रिय है जो प्रकृति ने सबसे अधिक सूक्ष्म बनायी है। मन पदार्थों के आन्तरिक संबंधों को भी जान सकता है।

मन इन्द्रियों की सीमाओं से बँधा रहता है इसका कारण केवल आदत है। योग के उच्चतर अनुभव होने पर यह पता चलता है कि मन भी मौलिक नहीं है

अपितु केवल एक उपकरण मात्र है। मौलिक इन्द्रिय मन से भी परे है जो आत्मा की शक्ति है, संज्ञान है, जो सच्चिदानन्द को सीधा अनुभव कर सकता है; उसके द्वारा दिव्य अस्तित्व का अनुभव होता है। वह दिव्य चेतना दिव्य शक्ति और दिव्य आनन्द का भी अनुभव कराता है। अतिमन इन्द्रियों के माध्यम से सभी कुछ ईश्वरमय होने का अनुभव करता है— **ईशावास्यमिदं सर्वम्**। अतिमन किसी भी पदार्थ को पृथक् अनुभव नहीं करता। वह प्रत्येक परिमित में अपरिमित का अनुभव करता है। उसकी संवेदना आलोकित होती है। वह दिव्य आनन्द के सोम का पान करता है।

संज्ञान भौतिक इन्द्रियों को भी बदल देता है। उदाहरणः उसे वस्तुओं का वैसा परिवर्तित रूप दिखाई देने लगता है जैसा कवि या कलाकार को दिखाई देता है। मानो हम दिव्य कवि और कलाकार की दृष्टि से देख रहे हैं और पूर्ण सत्य को देख सकते हैं। वह केवल पदार्थों के भौतिक पक्ष को नहीं देखता अपितु उसमें आत्मा के गुण को भी देखता है।[6] दूसरे शब्दों में संज्ञान अथवा अतिमानस भौतिक में प्रविष्ट हो जाता है।

विज्ञान और आनन्द के कोश का अनावृत होना शरीर को पूर्णतः रूपान्तरित कर देता है। जिन परमाणुओं से शरीर बना है वे सचेत हो जाते हैं जिसके कारण शरीर में से ह्रास होने का कारण दूर हो जाता है। यह अतिमानस चेतना हर सम्भव स्तर पर आरोहण करती जाती है। इस प्रकार शरीर भी अधिक से अधिक पूर्ण होता जाता है और दिव्यता को धारण करने लगता है। वस्तुतः परम इच्छाशक्ति के कारण कुछ ऐसे परिवर्तन भी हो सकते हैं जो कल्पनातीत हैं और कुछ ऐसे अङ्ग समाप्त हो सकते हैं जिनका उपयोग अब नहीं रहा। जिन चीजों को हम अभी नहीं जान पाते उन्हें भी हम जान लेते हैं। यह सभी विकास आन्तरिक रूप से होता है और ऊपर से आरोपित नहीं किया जाता। अतिमानस शरीर दिव्य के सौन्दर्य को प्रकट कर देगा और स्थूलता के दोष को दूर कर देगा। अब तक शरीर योगी के मार्ग में बाधक बनता रहा है। किन्तु अतिमानस पूर्णता प्राप्त करने पर यह निराकार का वह साकार रूप बन जायेगा जो पारदर्शी होगा।

1. The gnosis once effectively called into action will progressively take up all the terms of intelligence, will, sensemind, heart, the vital and sensational being and translate them by a luminous and harmonising conversion into a unity of the truth, power and delight of a divine existence. It will lift into that light and force and convert into their own highest sense our whole intellectual, volitional, dynamic, ethical, aesthetic, sensational, vital and physical being —*The Synthesis of Yoga, p.* 694

2. It must be free too from its own defect, inertia of the thought-power, obstructive narrowness and unwillingness to open to knowledge, intellectual unscrupulousness in thinking, prepossession and preference, self-will in the reason and false determination of the will to knowledge —*Ibid., p.* 738

3. But, again, it must become not merely a thing of concentrated dry or white light, but capable of all variety of understanding, supple, rich, flexible, brilliant with all the flame and various with all the colours of the manifestation of the Truth, open to all its forms —*Ibid., p.* 738

4. He is felt in us as the possessor of our being and above us as the ruler of all its workings and they become to us nothing but a manifestation of him in the existence of the Jiva. All our consciousness is his consciousness, all our knowledge is his knowledge, all our thought is his thought, all our will is his will, all our feeling is his Ananda and form of his delight in being, all our action is his action. The distinction between the Shakti and the Ishwara begins to disappear; there is only the conscious activity in us of the Divine with the great self of the Divine behind and around and possessing it; all the world and Nature is seen to be only that, but here it has become fully conscious, the Maya of the ego removed, and the Jiva is there only as an eternal portion of his being, am? s´a sana¯ tana, put forth to support a divine individualisation and living now fulfilled in the complete presence and power of the Divine, the complete joy of the Spirit manifested in the being. This is the highest realisation of the perfection and delight of the active oneness; for beyond it

there could be only the consciousness of the Avatara, the Ishwara himself assuming a human name and form for action in the Lila. —*Ibid., p.* 769-770

5. The range of knowledge covered by the supramental thought, experience and vision will be commensurate with all that is open to the human consciousness, not only on the earthly but on all planes —*Ibid., p.* 837

6. As soon as the sight, for example, becomes altered under the influence of the supramental seeing, the eye gets a new and transfigured vision of things and of the world around us. Its sight acquires an extraordinary totality and an immediate and embracing precision in which the whole and every detail stand out at once in the complete harmony and vividness of the significance meant by Nature in the object and its realisation of the idea in form, executed in a triumph of substantial being. It is as if the eye of the poet and artist had replaced the vague or trivial unseeing normal vision, but singularly spiritualised and glorified,—as if indeed it were the sight of the supreme divine Poet and Artist in which we were participating and there were given to us the full seeing of his truth and intention in his design of the universe and of each thing in the universe. There is an unlimited intensity which makes all that is seen a revelation of the glory of quality and idea and form and colour. The physical eye seems then to carry in itself a spirit and a consciousness which sees not only the physical aspect of the object but the soul of quality in it, the vibration of energy, the light and force and spiritual substance of which it is made. Thus there comes through the physical sense to the total sense consciousness within and behind the vision a revelation of the soul of the thing seen and of the universal spirit that is expressing itself in this objective form of its own conscious being. —*Ibid., p.* 868

PURPOSE OF SRI AUROBINDO AND THE MOTHER

My soul and his indissolubly linked
In the one task for which our lives were born,
To raise the world to God in deathless Light,
To bring God down to the world on earth we came,
To change the earthly life to life divine.

—Savitri p. 692

ईश्वरीय समय की घड़ी

नया युग

आधुनिक युग विरोधाभासों का युग है, किन्तु इस युग में ऐसी आशाएं भी बनती हैं जो पहले कभी नहीं रही थी। एक ओर मनुष्य एकता और सामंजस्य के लिए छटपटा रहा है और दूसरी ओर अपने आपको और समाज को विभक्त करते हुए विवाद पैदा कर रहा है। वह शांति भी चाह रहा है और संघर्ष के कारण भी उपस्थित कर रहा है। वह मनुष्य जाति के सामूहिक सामञ्जस्यपूर्ण विकास की कामना कर रहा है। किन्तु आक्रामक व्यक्तिगत प्रवृत्तियों से प्रेरित हो रहा है। इस समय अन्धकार में से प्रकाश की किरण अन्धकार को चीरते हुए आ रही है। उदासी में भी आशा की किरण फूट रही है, तकनीक का ऐसा विकास हुआ है जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। व्यक्ति, राष्ट्र, समाज, संस्था, विचार, वाणी और क्रिया की स्वतन्त्रता का स्वर मुखर है। भेदभाव की जगह समानता प्रतिष्ठित हो रही है। यह उज्ज्वल भविष्य का सूचक है। अनुकूलन और सहयोग का भाव बढ़ रहा है और विरोध के बावजूद सफलता भी मिल रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में यह स्थिति प्रतिबिम्बित हो रही है।

ज्ञान के क्षेत्र में गहरे विरोधों में बहुत सी संभावनाएं अभिव्यक्त हो रही हैं। प्राचीन ज्ञान के प्रति रुझान बढ़ रहा है। पूर्व और पश्चिम में सामञ्जस्य का प्रयत्न हो रहा है। नई पीढ़ी में यह विशेष रूप से दिखाई दे रहा है। धर्म की सङ्कीर्णता समाप्त हो रही है। विज्ञान और धर्म परस्पर आदान-प्रदान कर रहे है। ज्ञान की शाखाओं के बीच की भेदक रेखा मिट रही है।

मनोविज्ञान की खोज

सबसे अधिक मनोविज्ञान की खोजों ने दूरगामी संभावनाओं के द्वार खोल दिये हैं। प्राचीन दर्शन आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अनुभवों पर आधृत था। वह बौद्धिक व्यायाम मात्र नहीं था। जैसा कि युङ्ग ने कहा है– आज वस्तुनिष्ठ सत्य की अपेक्षा व्यक्तिनिष्ठ सत्य में अधिक रुचि बढ़ी है। मनुष्य सत्य को शास्त्र से जानने की अपेक्षा अनुभव से जानना चाहता है। प्रश्न यह है कि इसके लिए उसे किस दिशा में अनुसंधान करना चाहिए। युङ्ग ने कहा है कि इसके लिए हमें स्वयं विशेषज्ञ में रूपान्तरण करना होगा; चिकित्सक को अपने आप को प्रशिक्षित करना होगा। इसका यह अर्थ है कि आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो जाने वाला है। युङ्ग का कहना है कि पश्चिम की सभ्यता बहुत नई है जो दमन में विश्वास करती है। किन्तु उच्चतर सांस्कृतिक स्तर पर दमन की अपेक्षा आत्मविकास अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज मनुष्य जाति के सामने यही एक समस्या है। युङ्ग को योग का ज्ञान नहीं था इसलिए वह अधिचेतना को नहीं समझ पाया। अधिचेतना को समझने का उपाय योग में है। यह कहा जा रहा है कि पश्चिम बाहरी दुनिया में इतना अधिक व्यस्त है कि वह मनुष्य के उस उच्चतम स्तर को नहीं देख पा रहा जिसे पूर्व ने देखा था। मनुष्य के व्यक्तित्व का रूपान्तरण और संश्लेषण आज की सबसे बड़ी समस्या है। जब तक हम दिव्य रूपान्तरण न कर पाये तब सारी सभ्यता और संस्कृति का भविष्य अंधकारमय है। नैतिक निर्बलता और अंधी भौतिकता के बीच समाज कुछ विशेष प्राप्त नहीं कर सकता। आज यह संकट गहरा गया है। यदि मनुष्य का पुनर्जन्म न हो पाया तो अब तक किया गया सारा परिश्रम पथभ्रष्ट विज्ञान के धुंध में खो जायेगा। इस स्थिति से न समाजवाद बचा सकता है और न प्रजातंत्र। नैतिकतावादी यह नहीं समझ पा रहे कि अध्यात्म ही नैतिकता को परिष्कृत करता है और जिस नैतिकता के पीछे अध्यात्म न हो और केवल उपयोगिता ही दृष्टि में रहे, वह नैतिकता जीवन की ऊर्जा को मार्गभ्रष्ट होने से नहीं रोक सकती। वह केवल हमारे घावों को ढक लेती है। वस्तुतः जब अध्यात्म की पकड़ खो जाती है तब नैतिकता मुख्य हो जाती है।

शिक्षा

शिक्षा भी तभी अपना काम कर सकती है जब उसमें पुनः सर्जन और रूपान्तरण का जीवन दर्शन दिया जाये। इसके लिए सर्वप्रथम जीवन का लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। अभी सामान्य मनुष्य येन केन प्रकारेण पैसा और शक्ति प्राप्त करके अपनी तुच्छ इच्छाओं को पूरा करना ही जीवन का लक्ष्य समझता है। वह साम्यवाद के दर्शन के द्वारा आर्थिक स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय की प्राप्ति संभव मानता है। इस स्थिति में मनुष्य में अन्तर्निहित दिव्य गुण विकसित नहीं हो सकते। इसीलिए वर्तमान शिक्षा में कोई दिव्य जीवन का आदर्श हमारे सामने उपस्थित नहीं हो सका है। शिक्षा को उच्च, उदात्त, निर्मल, आलोकित और अमृतमय लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए ताकि मनुष्य में रहने वाली दिव्यता अभिव्यक्त हो सके।

रूपान्तरण

चेतना का परिवर्तन और मन का रूपान्तरण ही यह कार्य कर सकता है। इसके लिए मनुष्य की ऊपरी सतहों को जानना पर्याप्त नहीं है। केवल नैतिक और उपयोगी क्रियाएं भी इसके लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अतिचेतना को जानना होगा। इसके द्वारा मनुष्य स्वयं पर संयम कर सकेगा। विज्ञान इस पक्ष की उपेक्षा करता है और इसीलिए हम इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सके।

अतिचेतन के रहस्य उद्घाटित होने चाहिए क्योंकि उससे बड़ी कोई शक्ति नहीं है। यदि मनुष्य अतिचेतन का उपकरण बन जायेगा तो वह अधिक सर्जनात्मक और प्रज्ञाशील होगा। मनुष्य जैसे-जैसे इस स्थिति में आयेगा वह अपने ऊपर संयम कर सकेगा, अपने अहंकार को नियन्त्रित कर सकेगा और ईश्वर को आदर्श मान सकेगा। अतिचेतन में हमारी आशा है। इसका साधन योग है; किन्तु योग को सम्पूर्ण जीवन को स्वीकार करना चाहिए ताकि वह विश्वोत्तीर्ण को अभिव्यक्त कर सके और गतिशील अतिचेतना में सत्य प्रकाश के द्वारा रूपान्तरण ला सके। आज की समस्या का हल मायावादी या आत्यन्तिक निवृत्तिपरक जीवनदृष्टि से नहीं हो सकता। मायावाद और संन्यास का आकर्षण आज नहीं रहा अपितु

मनुष्य दिव्य पूर्णता चाहता है, आज जीवन से भागना उचित नहीं समझा जा रहा और संसार में ही दिव्यता की अभिव्यक्ति का लक्ष्य हमारे सामने है।

पूर्णयोग

श्री अरविन्द का पूर्णयोग इसी लक्ष्य को लेकर चलता है। इस योग में मनुष्य की सभी आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रावधान है। यह मनुष्य को मानसिक चेतना की अपेक्षा सत्य की चेतना में ले जाता है। आज यह नहीं कहा जा रहा कि मनुष्य जीवन की गतिविधियों को कम कर दे और अर्थ या काम पुरुषार्थ को छोड़ दे, क्योंकि ऐसा करना पराजय स्वीकार कर लेना है और ऐसा मानने पर अध्यात्म का भौतिक आधार ही खिसक जाता है। आज यह कहा जा रहा है कि मनुष्य अपने अस्तित्व के शाश्वत आधार को खोजे और उसी के आधार पर अपने जीवन को ढाले। वह सत्य, शिव और सुन्दर को प्राप्त करे और उन्हें अपने कार्यों में अभिव्यक्त होने दे।

पूर्णयोग किसी एक सम्प्रदाय या धर्म से जुड़ा हुआ नहीं है अपितु सभी के सार को लेकर चलता है। यह मानसिक कोटियों में विभक्त सिद्धान्तों पर नहीं टिका है अपितु भूत में ईश्वर की अभिव्यक्ति का प्रयोजन लेकर चलता है। इसका आकर्षण सार्वभौम है जिसकी विधि समर्पण है। यह हमारे विचार, भावना और मनोरथों को ऊपर उठाते हुये दिव्य तक ले जाता है। गीता ने आज के युग की परिस्थिति को **'धर्मस्य ग्लानिः'** शब्दों के द्वारा प्रकट किया है। ऐसे समय में धर्म की स्थापना के लिये दिव्य शक्ति का अवतरण होता है। कलियुग के गर्भ में सतयुग छिपा रहता है। यही स्थिति आज बनी है। जैसे मनुष्य का अहङ्कार समाप्त होगा, ईश्वरीय शक्तियों की विजय का समय आ जायेगा। इस समय को श्री अरविन्द ने ईश्वर की घड़ी कहा है।

संक्षेप में मनुष्यजाति के जीवन में ऐसा अवसर भी आता है जब उसका जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से संचालित होता है और ऐसा भी समय आता है जब वह अपने अहंकार से प्रेरित होता है। जब आध्यात्मिक दृष्टि रहती है तो थोड़ा सा प्रयत्न भी अधिक फलदायी होता है किन्तु अहङ्कार की स्थिति में बहुत अधिक

प्रयत्न का भी फल बहुत थोड़ा होता है। यह सत्य है कि दूसरी स्थिति भी प्रथम स्थिति के लिये पृष्ठभूमि तैयार करती है। जब दिव्य क्षण आते हैं तो दुर्भाग्यवश कुछ व्यक्ति या राष्ट्र उसका लाभ नहीं उठा पाते क्योंकि वे दिव्य क्षणों के आह्वान को सुन ही नहीं पाते। किन्तु इससे भी अधिक शोचनीय स्थिति उनकी है जो इस क्षण का दुरुपयोग करते हैं।

आज की घड़ी

इस घड़ी में हमें दिव्य के आह्वान को सुनना चाहिए। जो इसे नहीं सुनेंगे वे अस्थायी विजय प्राप्त करने पर भी अन्त में पतन को प्राप्त होंगे। ऐसे समय में व्यक्ति को निर्भय होना चाहिए क्योंकि ऐसा समय प्रायः भयङ्कर होता है जिस समय तूफान आता है, मानों ईश्वर क्रुद्ध है। ऐसे समय जो व्यक्ति सत्य पर दृढ़ रहेगा वह गिरकर भी उठ जायेगा और हवा में उड़ने पर भी वापिस आ जायेगा। ऐसे समय में सामान्य समझ काम नहीं देगी क्योंकि एक आशातीत घटना की यह घड़ी है, नया युग और नया प्रकाश आने वाला है। सब जगह ईश्वरीय शक्ति का साम्राज्य होगा। सब जगह शांति, विजय, विपुलता और चमत्कार होगा। यह प्रकाश की शुद्ध किरण है जो आ रही है। यह सब घड़ियों में सबसे अधिक सुन्दर है अपनी उदासी चिन्ता और दुर्भावना को समाप्त कर दें। नयी दुनिया की रोशनी आ रही है और कह रही है- 'मैं यहाँ उपस्थित हूँ।'

भाष्य साहित्य

MANTRA

As when the mantra sinks in Yoga's ear,
Its message enters stirring the blind brain
And keeps in the dim ignorant cells its sound;
The hearer understands a form of words
And, musing on the index thought it holds,
He strives to read it with the labouring mind,
But finds bright hints, not the embodied truth:

Then, falling silent in himself to know
He meets the deeper listening of his soul:

The Word repeats itself in rhythmic strains:

Thought, vision, feeling, sense, the body's self
Are seized unutterably and he endures
An ecstasy and an immortal change;
He feels a Wideness and becomes a Power,
All knowledge rushes on him like a sea:

Transmuted by the white spiritual ray
He walks in naked heavens of joy and calm,
Sees the God-face and hears transcendent speech:

—Savitri p. 375

श्री अरविन्द के वेदभाष्य की भूमिका

वेद एक अन्तःस्फुरित कविता का विशाल संग्रह है जिन्हें ऋषियों ने स्वयं घड़कर नहीं बनाया अपितु उन्होंने एक महान् अपौरुषेय सत्य का दर्शन किया और उसे मन्त्र में मूर्त रूप दे दिया। ये ऋषि कवि कहलाये जिन्होंने सत्य का श्रवण किया—कवयः सत्यश्रुतः। इनके वचनों को श्रुति कहा गया जिसमें साक्षात्कृतधर्म का प्रतिपादन है। परवर्ती सभी चिन्तक प्रामाणिकता के लिए अपने विचारों के समर्थन में वेद का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार वेद की कर्मकाण्ड-परक व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गयी और उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड को मन्त्र भाग से अलग कर दिया गया, जिसके परिणाम स्वरूप उपनिषत् तथा गीता में वेद को केवल कर्मकाण्ड परक ग्रन्थ मान कर निन्दा भी की गयी किन्तु अध्यात्म ज्ञान के लिए तो वेद को ही परम प्रमाण तथा अभ्रान्त माना जाता रहा।

श्री अरविन्द ने यह प्रश्न उठाया कि वेद के प्रति ऐसी अगाध श्रद्धा होने का कारण तब तक नहीं बनता जब तक कि हम सायणाचार्य की कर्मकाण्ड परक व्याख्या से आगे जाकर यह न मानें कि ऋचाओं में एक उच्चतर सत्य निहित है। यद्यपि सायणाचार्य ने कहीं कहीं इस अभिप्राय की भी झलक दी है तथापि यह केवल अपवाद रूप में है, अन्यथा उनके मत में वेद का मुख्य प्रयोजन यह है कि कर्मकाण्ड के सम्पादन में उसकी ऋचाएं हमारी सहायता कर सकें।

पश्चिम के विद्वानों ने सायण के अभिप्राय को स्वीकार करते हुए भी वेदों की व्याख्याओं में एक नयी खोज यह की कि वेदों में भारत का प्रारम्भिक इतिहास

और उसकी सामाजिक संस्थाओं और रीति-रिवाजों का विवरण है। इस खोज में पश्चिम के विद्वानों ने यह भी मत स्थापित किया कि आर्य भारत के बाहर से आये थे और भारत के मूल निवासी द्रविडों को उन्होंने दक्षिण की ओर धकेल दिया। इसलिए दक्षिण की जनसंख्या द्रविड है और उत्तर भारत की जनसंख्या आर्य है। इस प्रकार वेद की व्याख्या का एक यह परिणाम निकला कि वैदिक सभ्यता भारत के बाहर से आये आर्यों की है और भारत की मूल सभ्यता तो द्रविड है, जो वैदिक नहीं है। श्री अरविन्द का कहना है कि आर्यों के भारत के बाहर से आने का और भारत के मूल निवासियों पर आक्रमण करने का कहीं कोई उल्लेख वैदिक या प्रामाणिक लौकिक साहित्य में नहीं मिलता। पश्चिम के विद्वानों ने यह भी प्रतिपादित किया कि वेद में जो प्रार्थनायें हैं वे आरम्भकालिक हैं जो बहुत विकसित मनुष्य की नहीं हो सकती।

वैदिक देवताओं का स्वरूप

श्री अरविन्द का कहना है कि सभी प्राचीन जातियों में सूर्य, चन्द्र, द्यौ और पृथिवी, वायु, वर्षा और आँधी आदि की देवों के रूप में पूजा होती रही किन्तु अन्य देशों में तथा भारत में भी इन सभी प्राकृतिक क्रियाओं के अधिष्ठाता देवताओं का एक उच्चतर आन्तरिक या आध्यात्मिक अर्थ भी विकसित होता रहा। उदाहरणतः यूनान का जीस (Zeus) देवता प्रारम्भ में वैदिक उषा जैसा रहा होगा किन्तु बाद में रोमन लोगों द्वारा वह मिनर्वा (Minerva) के रूप में विद्या के देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया। यही स्थिति भारत में सरस्वती के साथ हुई जो केवल एक नदी-देवता न रहकर विद्या की देवी हो गयी। इसी प्रकार यूनान में अपोलो (Apollo) सूर्य देवता होने के साथ साथ कविता तथा भविष्यवाणी का देवता भी हो गया, हिफास्टस (Hiphaestus) अग्नि का देवता होने के साथ साथ कारीगर और श्रम का देवता भी हो गया। भारत में वैदिक देवताओं के साथ भी यही हुआ कि उनका एक आध्यात्मिक स्वरूप भी बना किन्तु बाह्य स्वरूप को भी सुरक्षित रखा गया। इसके साथ ही पुराणों में वैदिक देवताओं का ही एक अधिक विस्तृत स्वरूप प्रकट हुआ। उदाहरणतः वेद में विष्णु मुख्य नहीं थे, अग्नि मुख्य था किन्तु पुराणों में विष्णु मुख्य हो गये। वेद के बृहस्पति या

ब्रह्मणस्पति से ब्रह्मा का विकास हुआ। रुद्र शिव के रूप में सामने आये। लक्ष्मी और दुर्गा जैसी नये देवताओं का भी उद्‌भव हुआ।

यूनान और रोम में देवताओं के प्रारम्भिक स्वरूप को सुरक्षित रखने वाला वेद जैसा कोई साहित्य नहीं मिलता, किन्तु भारत में वेदों के बचे रहने के कारण हमें देवों के पुराने स्वरूप का भी परिचय प्राप्त होता है। वस्तुतः वेद में देवता प्रारम्भ से ही केवल बाह्य व्यापार के ही सूचक नहीं थे, उनमें आध्यात्मिक व्यापार भी अन्तर्निहित था। अतः वैदिक देवता अपने दोनों स्वरूपों में बने रहे किन्तु उनका बाह्य स्वरूप तो आज हमारे सामने स्पष्ट है जिस पर पश्चिम के भाष्यकारों ने पूरा बल दिया। किन्तु उनका आध्यात्मिक स्वरूप आज न पश्चिम की परम्परा में उपलब्ध है और न भारतीय भाष्यकारों के भाष्यों में ही। श्री अरविन्द ने इसी अभाव की पूर्ति करते हुए वेद के अनेक सूक्तों पर आध्यात्मिक दृष्टि से भाष्य किया।

रहस्यवाद

वस्तुतः प्रारम्भ से ही रहस्यवादियों की एक ऐसी परम्परा रही है जो धर्म के बाह्य स्वरूप के साथ साथ एक गुह्य विद्या को भी स्थान देती रही है। ग्रीस में और्फिक तथा एलुसीनियल रहस्य थे, मिस्र और खाल्दिया में पुरोहित तथा उनकी गुह्यविद्या और जादू थे, ईरान में मागी तथा भारत में ऋषि थे। इन रहस्यवादियों ने यह पाया कि मनुष्य के बाह्य रूप के पीछे एक अधिक महत्त्वपूर्ण सत्ता है जो आत्मा है और जिसे जानना मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसी प्रकार विश्व के बाहरी रूप के पीछे भी एक सत्य है जो भौतिक शक्तियों का सञ्चालक है। रहस्यवादियों ने इस सत्य को जानने के साथ साथ प्राकृतिक शक्तियों को व्यवस्थित बनाये रखने का उद्देश्य भी अपने सामने रखा। उन्होंने यह भी पाया कि परम सत्य का ज्ञान और प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण एक अत्यन्त शक्तिशाली साधन है जिसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। इसलिए कुपात्रों से बचाने के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष भाषा में न बोलकर परोक्ष प्रतीकों का उपयोग किया। जो दीक्षित नहीं थे उनके लिए ये प्रतीक अपना वास्तविक अर्थ न देकर

भौतिक अर्थ ही देते रहे किन्तु रहस्यवादी परम्परा में दीक्षित इनका वास्तविक अर्थ जानते रहे।

वेदों के रहस्यवादी अर्थ की परम्परा

प्रारम्भ से ही भारत में यह प्रसिद्ध है वैदिक ऋषि एक रहस्यमय आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त थे किन्तु उन्होंने यह सावधानी बरती कि यह ज्ञान कुपात्रों को न दिया जाये। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे वेदों का शाब्दिक ज्ञान तो जैसे तैसे बना रहा किन्तु वास्तविक अभिप्राय लुप्त हो गया। शब्दार्थ की दृष्टि से भी वैदिक भाषा इतनी दूर होती चली गयी कि आज से तीन हजार वर्ष पहले भी यास्क ने चार सौ ऐसे शब्द गिनाये हैं जिनका अर्थ ज्ञात नहीं था। जब शब्दार्थ की भी यह स्थिति है तो प्रतीकार्थ की स्थिति तो और भी दुर्बोध हो गयी। ब्राह्मण ग्रन्थों ने वेद मन्त्रों को समझने के लिए जो मार्ग अपनाया वह स्वयं प्रतीकात्मक था और उसे समझना सरल नहीं था। यास्क ने इस स्थिति को इन शब्दों में प्रकट किया है कि वैदिक ऋषि साक्षात्कृतधर्मा थे किन्तु परवर्ती ऋषियों की स्थिति ऐसी नहीं थी। अतः उनकी सहायता के लिए वेदांगों का निर्माण हुआ। स्पष्ट है कि व्याकरण और निरुक्त जैसे वेदांगों के सहायक होने पर भी वेद का वह रहस्य उद्घाटित नहीं हो पा रहा है जिसके लिए परम्परा में वेद की इतनी प्रशंसा है।

स्वयं वेद में ऐसे अनेक वक्तव्य हैं जो स्पष्ट करते हैं कि वेद का वास्तविक अर्थ ऋषि ही जान सकता है। वामदेव ऋषि अपने चतुर्थ मंडल के एक मंत्र (४.३.१६) में अपने आपका इस रूप में वर्णन करता है कि मैं अंतःप्रकाश से युक्त विप्र अपने विचार (मतिभिः) तथा शब्दों (उक्थैः) के द्वारा पथ प्रदर्शक (नीथानि) और गुह्य वचनों को (निण्या वचांसि) व्यक्त कर रहा हूँ, ये द्रष्टृज्ञान के शब्द (काव्यानि) हैं जो द्रष्टा या ऋषि के लिये अपने आंतर अर्थ को बोलने वाले (कवये निवचना) हैं। ऋषि दीर्घतमा ऋचाओं के विषय में कहता है कि 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः' अर्थात् 'ऋचाएं रहती हैं उस परम आकाश में जो अविनाश्य व अपरिवर्तनीय है, जिसमें सबके सब देव स्थित हैं' और फिर कहता है कि 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' अर्थात् 'वह जो उसको नहीं जानता वह ऋचा से क्या करेगा? (ऋग्वेद १.१६४.३९)। वह ऋषि आगे चार स्तरों का

उल्लेख करता है जहाँ से वाणी की धारा निकलती है, जिनमें से तीन तो गुहा में छिपे हुए हैं, और चौथा स्तर मानवीय है, और वहीं से मनुष्यों के साधारण शब्द आते हैं, परन्तु वेद के शब्द और विचार उन उच्चतर तीन स्तरों से संबंध रखते हैं (१.१६४.४५)। इसी तरह अन्यत्र वेद (मंडल १० सूक्त ७१) में वेदवाणी को परम (प्रथमम्), वाणी का उच्चतम शिखर (वाचो अग्रम्), श्रेष्ठ तथा परम निर्दोष (अरिप्रम्) वर्णित किया गया है। यह (वेदवाणी) कुछ ऐसी वस्तु है जो गुहा में छिपी हुई है और वहाँ से निकलती है और अभिव्यक्त होती है। (प्रथम मंत्र)। यह सत्यद्रष्टा में, ऋषियों में, प्रविष्ट हुई है और इसे उनकी वाणी की पद्धति (पदचिह्नों) का अनुसरण करने के द्वारा प्राप्त किया जाता है। (तीसरा मंत्र)। परन्तु सब कोई इसके गुह्य अर्थ में प्रवेश नहीं पा सकते। वे लोग जो आंतरिक अभिप्राय नहीं जानते ऐसे हैं जो देखते हुए भी नहीं देखते, सुनते हुए भी नहीं सुनते; कोई विरला ही होता है जिसे चाहती हुई वाणी अपने आपको उसके सम्मुख प्रकट कर देती है, जैसे कि सुन्दर वस्त्र पहने हुई पत्नी अपने शरीर को पति के सामने खोलकर रख देती है (चौथा मंत्र)। अन्य लोग जो 'वाणी' के वेद-रूपी गौ के दूध को स्थिरतया पीने में असमर्थ होते हैं, उसके साथ यों फिरते हैं मानो वह गौ दूध देने वाली है ही नहीं, उनके लिये वाणी ऐसे वृक्ष के समान है जो फलरहित और पुष्परहित है (पांचवा मंत्र) वेद का यह सब कथन अत्यन्त स्पष्ट और यथार्थ है। (वेद-रहस्य पूर्वार्द्ध, प्राक्कथन पृष्ठ ७-८)

वेद मन्त्रों की व्याख्या करने का अत्यन्त प्राचीन प्रयत्न यास्काचार्य ने निरुक्त में किया, उनका कहना है कि वेद मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं अधियज्ञ या कर्मकाण्डीय, अधिदैवत या देवता सम्बन्धी और अध्यात्म संबंधी। वे यह भी कहते हैं कि वेद का सच्चा अर्थ ध्यान, योग और तपस्या के द्वारा ही जाना जा सकता है। परम्परा यह मानती है कि वेद में एक ऐसा गुह्य तत्व है जो समस्त भारतीय सभ्यता, धर्म, दर्शन और संस्कृति का मूल स्रोत है। पश्चिम के बुद्धि वादी दृष्टिकोण से वेद के रहस्य को न समझने के परिणाम स्वरूप न केवल पश्चिमी अपितु अनेक भारतीय विद्वान भी वेद में किसी गहरी उन्नत अवधारणा को नहीं देख पाते हैं। रहस्य देख पाने की यह दृष्टि दर्शन और विज्ञान की दृष्टि से भिन्न है।

वेदों के प्रतीकात्मक अर्थ

इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनका सहज ही गम्भीर अर्थ प्रतीत होता है किन्तु ऐसे सूक्त बहुत कम हैं। अधिकतर सूक्त ऐसे हैं जिनमें देवताओं की प्रशंसा है और गाय, घोड़े, पुत्र, अन्न, युद्ध में विजय, वर्षा आदि की प्रार्थना है। श्री अरविन्द का मत है कि वस्तुतः वेद के सभी सूक्तों में दोहरे अर्थ हैं एक गुह्य अर्थ और दूसरा लौकिक अर्थ। इतना अवश्य है कि वैदिक ऋषि यह विश्वास करता था कि 'आंतर साधनों द्वारा आंतरिक ही नहीं किन्तु बाह्य परिणाम भी उत्पन्न किये जा सकते हैं, विचार और वाणी का ऐसा प्रयोग किया जा सकता है जिससे इसके द्वारा प्रत्येक प्रकार की स्वयं वेद में प्रचलित मुहावरे में कहें तो 'मानुषी और दैवी' दोनों प्रकार की सिद्धि या सफलता प्राप्त की जा सकती है।' (वेदरहस्य प्राक्कथन पृष्ठ ११)

वैदिक शब्दों के अर्थ

श्री अरविन्द के अनुसार कुछ ऐसे वैदिक शब्द भी हैं जो अपना सीधा अर्थ देते हैं और किसी चीज के प्रतीक नहीं हैं। उदाहरणतः 'ऋतम्' एक ऐसा शब्द है जिसका सीधा संबंध सत्य से है। कर्मकाण्ड की व्याख्या में इसके अनेक अर्थ किये गये हैं– 'सत्य', 'यज्ञ', 'जल', 'गया हुआ' और 'अन्न'। श्री अरविन्द का कहना है कि इस प्रकार एक शब्द के कर्मकाण्डीय सुविधा के लिए अनेक अर्थ करने से तो वेद का कोई निश्चित अर्थ निर्धारित ही नहीं हो सकेगा। 'ऋत' का सीधा अर्थ सत्य है। वेद के प्रथम सूक्त में ही अग्नि को ऋत का रक्षक बताया गया है–गोपामृतस्य दीदिवम्, वर्धमानं स्वे दमे (१.१.८)। वेद के अनेक वक्तव्यों को देखें तो उनकी रहस्यात्मकता स्पष्ट हो जाती है। स्वयं मित्र और वरुण को ऋत को बढ़ाने वाला और ऋत का स्पर्श करने वाला कहा गया है। इसी प्रकार सरस्वती को ऋत के वचनों की प्रेरयित्री बताया गया है। स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि सत्य को अत्यन्त महत्त्व देता है और अनेक देवी देवता उस सत्य से जुड़े हैं। ऋषि कहता है 'विचार ने हमारे लिये मानुषी वस्तुओं को अमृतों में, बृहत् द्युलोकों में पोषित किया है, यह विचार दूध देने वाली धेनु है जो अपने आप अनेक रूप ऐश्वर्य को देती है' (२.२.९)। स्पष्ट है कि यहाँ भौतिक ऐश्वर्य की

बात नहीं की गयी है अपितु ऐसी वस्तु की कामना की गयी है जिसे मन्त्र दे सकता है, विचार दे सकता है। इसी प्रकार का एक अन्य कथन है 'रात्रि तथा उषा, जो सनातन बहिनें हैं, खूब दूध देने वाली दुधार गौएँ हैं, दो आनंदपूर्ण बुनकर स्त्रियों के समान हैं, जो हमारे पूर्णतायुक्त कर्मों के ताने को एक यज्ञ के रूप में (यज्ञस्य पेशः) बुन रही हैं (२.३.६) स्पष्ट है कि यहाँ ऋषि किसी गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत कर रहा है।

प्रतीकों की बात करें तो गौ शब्द पशु का ही वाचक न होकर प्रकाश का वाचक भी है। सत्य और प्रकाश दो ऐसी अवधारणाऐं हैं जो यूनानी रहस्यवादियों के लिए भी सुपरिचित हैं। श्री अरविन्द के मत में जब ऋषियों के नामों में गो शब्द का प्रयोग होता है तो वहाँ उसका अर्थ प्रकाश ही है। उदाहरणतः गौतम का अर्थ है—प्रकाशिततम। 'धियं घृताचीम्' जैसे प्रयोगों में विचार को प्रकाशमय बताने का अभिप्राय है। इसी प्रकार 'घृतस्नुषा मनसा' का अर्थ प्रकाश की वर्षा करने वाला मन है।

ऋषि द्रष्टा थे, वे वस्तुओं को साकार रूप में देख पाते थे। उनके लिए आन्तरिक अनुभूति और बाह्य आकृति को एक साथ देख पाना सम्भव था। रहस्यवाद के लिए यह सम्भव है कि कोई वस्तु अपने प्रतीकार्थ के साथ तादात्म्य स्थापित कर ले। ऋषि के लिए गौ यदि प्रकाश का प्रतीक है तो अश्व शक्ति का प्रतीक है। जब ऋषि ऐसे अश्वों की माँग करता है जिसके आगे गाय हो (गोअग्राम् अश्वपेशसं रातिम् (२.३.१३), तो वह ऐसी शक्ति का पुञ्ज माँग रहा है जिसका सञ्चालन प्रकाश के द्वारा हो। इसी आधार पर 'गव्यम्' शब्द की तरह 'अश्वयम्' शब्द भी बना है जो पशु का वाचक न होकर शक्ति का वाचक है। 'सुवीर्य' शब्द भी ऐसा ही है।

इसी तरह ऋषि देवताओं से जिस ऐश्वर्य की प्रार्थना करते हैं उसके एक तत्त्व के रूप के रूप में वे पुत्र या पुत्रों की या सन्तान, 'अपत्य' की याचना करते हैं, पर यहाँ पर भी एक गुह्य अर्थ देखा जा सकता है, क्योंकि कुछ संदर्भों में हमारा उत्पन्न हुआ पुत्र स्पष्ट ही किसी आन्तरिक जन्म का रूपक है : अग्नि स्वयं हमारा पुत्र होता है, हमारे कर्मों का अपत्य, वह सूनु जो विश्वमय अग्नि के रूप में

अपने पिता का भी पिता है और अच्छे फ ल या परिणाम वाली, 'स्वपत्य' वस्तुओं पर पैर रखने से ही हम सत्य के उच्चतर लोक का पथ खोज लेते हैं (१.७२.६)। फिर 'जल' भी वेद में एक प्रतीक के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। 'सलिलम् अप्रकेतम्' (ज्ञानरहित जल) यह निश्चेतन समुद्र के लिये कहा गया है जिसमें परमेश्वर निवर्तित हुआ है और जिसमें से वह अपनी महिमा द्वारा उत्पन्न होता है (१०. १२०.३)। 'महो अर्णः' (महान् समुद्र) कहा गया है ऊपर के समुद्र के लिये जिसे जैसा कि एक जगह (१.३.१२) आया है सरस्वती हमारे लिये प्रचेतित कर देती है (प्रचेतयति) या जिससे वह हमें अन्तर्ज्ञान की किरण के द्वारा (केतुना) सचेतन कर देती है। प्रसिद्ध सात नदियों के विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि ये उत्तर भारत की नदियां हैं, परन्तु वेद वर्णन करता है सात महती दिव्य नदियों का (सप्त यह्वीः) जो द्युलोक से नीचे उतरती हैं, ये ऐसे जल हैं जो जानते हैं, जो सत्य के ज्ञाता, 'ऋतज्ञाः' हैं और जब वे मुक्त होते हैं, वे हमारे लिये महान् द्युलोकों के पथ को ढूँढ देते हैं। इसी तरह पराशर ऋषि ज्ञान तथा विश्वव्यापी प्राण के विषय में कहते हैं कि यह 'जलों के घर में' है। इन्द्र वृत्र का वध करके वर्षा को मुक्त करता है, पर यह वर्षा भी दिव्य वर्षा है जो द्युलोक से आती है और यह सात नदियों को प्रवाहमान कर देती है। इस प्रकार जलों की मुक्ति की गाथा, जिसका वेद में इतने अधिक स्थानों पर वर्णन है, एक प्रतीकात्मक कथा का रूप धारण कर लेती है। इसी के साथ दूसरी प्रसिद्ध प्रतीकात्मक गाथा आती है जिसमें देवताओं और अंगिरस् ऋषियों के द्वारा पर्वत की अंधेरी गुफा में से सूर्य की,उसकी गौओं या उसके गोयूथ की अथवा सूर्य लोक की खोज एवं पुनरुद्धार का वर्णन है। सूर्य का प्रतीक सतत रूप से उच्चतर प्रकाश और सत्य के साथ सम्बन्धित है : निम्न कोटि के सत्य के द्वारा ढके हुए सत्य में ही सूर्य के घोड़े खोल दिये जाते हैं : महान् गायत्री मंत्र में हमारे विचारों को प्रेरित करने के लिये जिसका आह्वान किया गया है वह अपने उच्चतम प्रकाश में स्थित सूर्य ही है। इसी प्रकार वेद में शत्रुओं के विषय में कहा गया है कि ये लुटेरे हैं, दस्यु हैं, जो गौओं को चुरा लेते हैं। ये हैं वृत्र और वेद की साधारण व्याख्या में इन्हें बिल्कुल मनुष्य शत्रु ही मान लिया गया है, परन्तु वृत्र एक असुर है जो प्रकाश को ढकता है और जलों को रोके रखता है और वृत्रलोग (वृत्राः) उसकी शक्तियाँ हैं, जो इस व्यापार को सम्पन्न करती हैं। दस्यु अर्थात् लुटेरे या विनाशक हैं अंधकार की

शक्तियाँ जो प्रकाश और सत्य के उपासकों का विरोध करने वाली हैं। सदा ही वेद में ऐसे संकेत विद्यमान हैं जो हमें बाह्य और ऊपरी से एक आन्तरिक और गुह्य अर्थ की तरफ ले जाते हैं।

उपनिषदों की वेदव्याख्या का एक उदाहरण

श्री अरविन्द ने एक उदाहरण के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि वेद मन्त्रों को उपनिषदों ने नई पदावली में रखा है। वेद मन्त्र है

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥

(ऋग्वेद ८.६२.१)

मन्त्र का अर्थ है 'सत्य से ढका हुआ एक सत्य है जहाँ वे सूर्य के घोड़ों को खोल देते हैं। दशशत इकट्ठे ठहरे, वहाँ वह एक था। मैंने सशरीर देवों में से महत्तम (श्रेष्ठ, सबसे अधिक महिमाशाली) को देखा'।

इस अर्थ को ईशोपनिषद् ने इस प्रकार कहा 'सत्य का मुख ढका हुआ है। एक सुनहरे पात्र से, हे पूषन्, तू उसे हटा दे सत्य के नियम (धर्म) की दृष्टि के लिये। हे पूषन्, एक ऋषि, हे यम, हे सूर्य, हे प्रजापति के पुत्र, अपनी किरणों का व्यूहन कर और उन्हें एकत्रित कर; मैं उस प्रकाश को देखता हूँ जो तेरा वह उत्कृष्टतम (कल्याणतम) रूप है; यह जो पुरुष है वह मैं हूँ'। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये॥
पूषन्नेकर्ष यम-सूर्य-प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि॥
योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि।

सुनहरे पात्र से मतलब वही है जो वेदमंत्र में कहे निम्न कोटि के आवरक सत्य, 'ऋतेन' का है। वेदमंत्र का 'देवानां श्रेष्ठं वपुषाम्' उपनिषद् के (सूर्य के) 'कल्याणतम रूप' के समान है यह परम प्रकाश है जो समस्त बाह्य प्रकाश से

भिन्न और बृहत्तर है। उपनिषद् का महावाक्य 'सोऽहमस्मि' वेद के 'तदेकं' (वह एक) के अनुरूप है। 'दशशत का इकट्ठा ठहरना' (सायण भी कहता है कि ये सूर्य की किरणें हैं और यही प्रत्यक्षतः अभिप्राय है) इसे ही उपनिषद् की सूर्य के प्रति की गई प्रार्थना में 'किरणों का व्यूहन करो और उन्हें एकत्र करो जिससे कि परम रूप दृष्टिगोचर हो सके' इस रूप में ले आया गया है। इन दोनों ही वेद और उपनिषद् के सन्दर्भों में, वेद में सतत रूप से ही और उपनिषद् में प्रायशः, सूर्य परम सत्य और ज्ञान का अधिदेवता है और उसकी किरणें वह प्रकाश है जो उस परम सत्य और ज्ञान से निकलता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जहाँ स्पष्ट है कि उपनिषद् के ऋषि को अपने प्रभूत पाण्डित्य सहित मध्यकालीन, कर्मकांडी टीकाकार की अपेक्षा प्राचीन वेद के अर्थ और अभिप्राय का अधिक सच्चा ज्ञान था और आधुनिक तथा बहुत भिन्न प्रकार के मन वाले योरोपियन विद्वानों की अपेक्षा तो बहुत ही अधिक सच्चा। (प्राक्कथन पृष्ठ १८)

कुछ शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ

वेद में अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ कर्मकाण्ड परक न होकर आध्यात्मिक है। 'ऋतम्' का अर्थ सत्य है इसी प्रकार 'धी' का अर्थ विचार है, 'केतु' का अर्थ किरण तो है ही किन्तु यह किरण अन्ततः ज्ञान की किरण है। 'क्रतु' शब्द का अर्थ संकल्प लेने पर वेद मन्त्र अधिक सहज प्रतीत होते हैं। 'श्रु श्रवणे' धातु से निष्पन्न शब्द ज्ञान को बताते हैं। लौकिक संस्कृत में भी 'श्रुत' का अर्थ ज्ञान होता है। इन थोड़े से उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वेद का ऋषि केवल स्थूल भौतिक वक्तव्य नहीं दे रहा था अपितु सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ भी दे रहा था।

वेद का गुह्य आशय

अभिप्राय यह है कि जो आध्यात्मिक सत्य उपनिषदों में विकसित रूप में प्राप्त होता है उसके बीज वेद में उपलब्ध हैं। इसका मूल है सत्य, प्रकाश और अमृतत्व की खोज। बाह्य सत्ता के सत्य से गम्भीरतर और उच्चतर एक सत्य है, एक प्रकाश है जो मानवीय समझ से अधिक उच्चतर है और एक अमरत्व है जिसका सम्बन्ध आत्मा से है।

सत्य और **अमरत्व** के स्पर्श (सम्पर्क) में आने के लिये (ऋतं सपन्तः अमृतम्), सत्य में उत्पन्न होने के लिये, उसमें बढ़ने के लिये, सत्य के लोक में आत्मतः आरोहण करने और उसमें निवास करने के लिये हमें अपना रास्ता निकालना है। ऐसा करना परमेश्वर के साथ अपने को युक्त करना है और मर्त्य अवस्था से अमरत्व में पहुँच जाना है। यह वैदिक रहस्यवादियों की प्रथम और केन्द्रीय शिक्षा है। प्लेटो के अनुयायी, जिन्होंने अपने सिद्धान्त को प्राचीन रहस्यवादियों से लेकर विकसित किया था, मानते थे कि हम दो लोकों के संबंध में रहते हैं—एक उच्चतर सत्य का लोक जिसे आध्यात्मिक जगत् कहा जा सकता है और दूसरा जिसमें हम रहते हैं, शरीरधारी आत्मा का लोक जो उच्चतर लोक से ही निकला है किन्तु जो उसका अवर कोटि के सत्य और अवर कोटि की चेतना में अपभ्रंश है। वैदिक रहस्यवादी इस सिद्धान्त को अधिक मूर्त्त और अधिक व्यावहारिक रूप में मानते थे, क्योंकि उन्हें इन दोनों लोकों का अनुभव प्राप्त था। यहाँ इस लोक का एक अवर कोटि का सत्य है जो बहुत से अनृत और भ्रांति से (अनृतस्य भूरेः, ७.६०.५) मिश्रित है और वहाँ एक सत्य का घर या लोक (**सदनम् ऋतस्य**, १.१६४.४७; ४.२१.३) है, **'सत्यम् ऋतं बृहत्'** है (अथर्व० १२.१.१) जहाँ सब कुछ सत्य-सचेतन है, **ऋत-चित्** है (४.३.४)। इन दोनों के बीच में त्रिदिव् तक अनेक लोक हैं और उनके प्रकाश हैं परन्तु यह है उच्चतम प्रकाश का लोक, सत्य के सूर्य का लोक, स्वर्लोक या बृहत् द्यौ। हमें उस बृहत् द्यौ को ले जाने वाले मार्ग की खोज करनी है, सत्य के मार्ग की, **'ऋतस्य पन्था'** की या, जैसे कि उसे कई बार कहा गया है, 'देवों के मार्ग' की। एक अन्य सिद्धांत यह है कि हमारा जीवन **सत्य** और **प्रकाश** की शक्तियों, अर्थात् अमर देवों, तथा **अंधकार** की शक्तियों के बीच चलने वाला युद्ध है। ये अंधकार की शक्तियाँ विविध नामों द्वारा पुकारी गयी हैं **वृत्र या वृत्राः**, **वल, पणयः, दस्यु** तथा उनके राजगण। इन अंधकार की **शक्तियों** के विरोध को नष्ट करने के लिये हमें देवों की सहायता की पुकार करनी होती है क्योंकि ये विरोधी शक्तियाँ हमारे प्रकाश को छिपा देती हैं या इसे हमसे छीन लेती हैं, क्योंकि ये सत्य की धाराओं (**ऋतस्य धाराः**, ५.१२.२ तथा ७.४३.४), द्युलोक की धाराओं के बहने में बाधा डालती हैं और आत्मा की ऊर्ध्वगति में प्रत्येक प्रकार से बाधक होती हैं। हमें आंतरिक यज्ञ के द्वारा **देवताओं** का आह्वान करना है

और **शब्द** के द्वारा उन्हें अपने अंदर पुकार लाना है मंत्र में ऐसा कर सकने की विशेष शक्ति होती है और उन्हें यज्ञ की हवि की भेंट अर्पण करनी है और इस यज्ञिय दान के द्वारा उनसे आने वाले प्रतिदान को सुरक्षित कर लेना है जिससे इस प्रक्रिया के द्वारा हम लक्ष्य की तरफ अपने आरोहण के मार्ग का निर्माण कर सकें। बाह्य यज्ञ के तत्त्वों को वेद में आंतरिक यज्ञ और आत्म-हवि (आत्म-समर्पण) के प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त किया गया है; हम जो कुछ हैं और हमारे पास जो कुछ है उसे हम देते, प्रदान करते हैं जिससे दिव्य **सत्य** और **ज्योति** के ऐश्वर्य हमारे जीवन में अवतरित हो सकें और **सत्य** के अन्दर हमारे आंतरिक जन्म के तत्त्व बन सकें। एक सच्चा विचार, एक सच्ची समझ, एक सच्ची क्रिया हमारे अंदर विकसित होनी चाहिये जो उस उच्चतर **सत्य** का विचार, प्रेरणा और क्रिया हो, **'ऋतस्य प्रेषाय ऋतस्य धीतिः'** (१.६८.३) और इसके द्वारा हमें अपने आपको उस **सत्य** के अन्दर निर्मित करना चाहिये। हमारा यज्ञ एक यात्रा है, तीर्थयात्रा है और एक युद्ध है देवों के प्रति गमन है और हम भी उस यात्रा को करते हैं **अग्नि** को, आंतरिक **ज्वाला** को अपना मार्गशोधक और नेता (अग्रणी) बनाकर। हमारी मानवीय वस्तुएँ उस रहस्यमय **अग्नि** के द्वारा **अमर** सत्ता के अंदर, **बृहत् द्यौ** के अंदर उठायी जाती हैं और दिव्य वस्तुएँ हमारे अन्दर नीचे उतरकर आती हैं। जैसे ऋग्वेद का सिद्धान्त ही वेदांत की शिक्षा का बीज है, वैसे ही वेद का आंतरिक अभ्यास और क्रिया पीछे के योगाभ्यास और योग क्रिया का बीज है। और अन्त में वैदिक रहस्यवादियों की शिक्षा का चरम शिखर है एक **वस्तुसत्ता** का रहस्य **'एकं सत्'** (१.१६४.४६) या **'तत् एकम्'** (१०.१२९.२), जो उपनिषद् का महावाक्य बन गया। सब देव, **प्रकाश** और **सत्य** की शक्तियाँ, **एक (देव)** के ही नाम और शक्तियाँ हैं, प्रत्येक देव स्वयं सब देवता है और उन्हें अपने में रखे हुए है। वह एक **सत्य** है, **'तत् सत्यम्'** (ऋग्वेद ३.३९.५, ४.५४.४ तथा ८.४५.२७ इत्यादि) और एक आनन्द है जिस पर हमें पहुँचना है। परन्तु फिर भी वेद में यह अधिकतर पर्दे के पीछे से दिखाई देता है। इस विषय में और भी बहुत कुछ वक्तव्य है परन्तु सिद्धान्त का सार, हार्द यही है। (वेदरहस्य प्राक्कथन पृष्ठ २०-२२)

श्री अरविन्द के वेद रहस्य पूर्वार्द्ध के प्राक्कथन के इस सारांश से वेद के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि के मूल आधार संकेतित हो जाते हैं। उनकी दृष्टि को पूरी

तरह समझने के लिए तो उनके वेद रहस्य के दो भागों को तथा (Hymns to Mystic Fire) नामक ग्रन्थ को ही देखना चाहिए किन्तु अभी २०१५ में प्रकाशित श्री चन्द्रप्रकाश खेतान द्वारा लिखित The Vedic Age भी श्री अरविन्द के वेद सम्बन्धी विचारों को थोड़ा विस्तार से जानने में सहायक होगा। अवश्य ही वेद के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखने वाले व्यक्तियों के लिए श्री अरविन्द का साहित्य पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वेद की गरिमा को जितना श्री अरविन्द स्पष्ट कर पाये हैं कोई अन्य भाष्यकार नहीं।

ईशोपनिषद्
सर्वव्यापक ईश्वर : जीवन और कर्म

श्री अरविन्द के अनुसार उपनिषद् उपदेश के ग्रन्थ न होकर ज्ञान के ग्रन्थ है। इनमें अनेक सत्य स्पष्ट रूप से न कहकर केवल ध्वनित किए गए हैं। उनके पीछे जो तर्क है वह भी बौद्धिक नहीं है अपितु ध्वन्यात्मक ही है। उपनिषद् के पाठक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उपनिषद् में कहे गए वक्तव्य को अपनी अन्तर्दृष्टि और अनुभव के आधार पर प्रमाणित करता चलेगा, न कि तर्क के आधार पर। श्री अरविन्द ईशोपनिषद् को चार भागों में बाँटकर उसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

ईशोपनिषद् के चार भाग

इस उपनिषद् के **प्रथम भाग** में उस स्थायी तत्त्व को आधार बनाया गया है जो सभी गतियों का मूल है। इसी के आधार पर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य एक ऐसा दिव्य जीवन व्यतीत कर सकता है जिसमें कामना न हो किन्तु सभी भोगों को अनासक्ति भाव से भोगा जा सके। मनुष्य को कर्मठ और भौतिक जीवन जीने का अधिकार है बशर्ते कि वह ईश्वर से तादात्म्य बनाये रह सके। यदि 'एक' की अभिव्यक्ति में अज्ञान के कारण हस्ताक्षेप किया जाता है तो मृत्यु के उपरान्त अन्धकार छा जाता है।

दूसरे भाग में ईश्वर की कूटस्थता और नाना गतियाँ एक ब्रह्म का ही स्वरूप मानी गयी हैं। किन्तु एकता और नित्यता वे उच्चतर सत्य हैं जिनमें सब कुछ

समाहित है। इस एकता के अनुभव से ही मनुष्य कृतकृत्यता का अनुभव कर सकता है। इस स्थिति में वह अपने आप को समष्टि से जोड़ लेता है और शोक तथा मोह से मुक्त हो जाता है।

तीसरे भाग में जीवन और कर्म को न्यायसंगत ठहराया गया है। यह बताया गया है कि अस्तित्व का एक आन्तरिक नियम है जो ईश्वर द्वारा निर्धारित है। अविद्या और विद्या की उपासना का यह फल है कि मनुष्य क्रमशः मृत्यु से अमृतत्व की ओर यात्रा कर सके। इसलिए इन दोनों का ही महत्त्व है।

चतुर्थ भाग में यह बताया गया है कि सूर्य परम सत्य है और अग्नि अमृत है। इसी आधार पर जीवन और मृत्यु का विवेचन प्रतीकात्मक शैली में किया गया है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

संक्षेप में ईशोपनिषद् की उपर्युक्त विषयवस्तु का विस्तार करते समय श्री अरविन्द कहते हैं कि पिण्ड में पूरा ब्रह्माण्ड है, पिण्ड उस ब्रह्माण्ड के सतही रूप को प्रकट करता है। मानों एक जगत् में दूसरा जगत् या एक गति में दूसरी गति समाहित है। इसलिए व्यष्टि में समष्टि के ही नियम लागू होते हैं। सारी गतियों का स्वामी आत्मा है। यह सब गतियाँ इसलिए है कि एक आत्मा अनेक में निवास कर सके। वही समष्टि में भी है और व्यष्टि में भी। आत्मा अविभक्त है और उसकी अनेकता उसकी लीला का एक भाग है। इसलिए हर व्यक्ति मूलतः अन्तरङ्ग रूप में सबसे जुड़ा हुआ है और वह स्वतंत्र है तथा प्रकृति का स्वामी है।

अविद्या

अविद्या का प्रयोजन यह है कि आत्मा विश्व में भोग कर सके। किन्तु भोग करते हुए भी वह दिव्य और स्वतंत्र रह सके। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मृत्यु, अज्ञान और दुःख का दास है। वह अपनी सीमाओं के कारण भोगों का आनन्द नहीं ले पाता। इसका कारण अज्ञान और अहंकार है। अहंकार का कारण यह है कि व्यक्ति ज्ञान की उपेक्षा करके मानसिक रूप से अपने आप को दृश्य जगत् से जोड़ लेता है। इसलिए वह पदार्थों की आभासित होने वाली प्रकृति से प्रभावित

हो जाता है। वह यह नहीं समझ पाता कि ये पदार्थ विश्व का ही एक सतही रूप हैं, किन्तु वह उन्हें अलग-अलग समझता है इसी प्रकार वह अपने को भी सबसे पृथक् मानता है। यही अहंकार के जन्म का कारण है। इस विभाजन के कारण वह विश्व के साथ तालमेल नहीं कर पाता और न आनन्द ही ले पाता है। अहंकार के कारण वह कामना और भोग को मुख्य मानता है और अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाता। इसके कारण उसका दूसरों से संघर्ष होता रहता है, वह अपने आप को निर्बल और असमर्थ पाता है और समस्त ऊर्जा उसे मृत्यु की ओर धकेलती रहती है। कामना के साथ संघर्ष और दुःख उत्पन्न होता है। जो ईश्वर के साथ अपना तादात्म्य समझ लेता है वह कामना नहीं करता। वस्तुतः वही भोग का भी आनन्द ले सकता है।

दिव्य जीवन का अर्थ यह है कि सभी कामनाएं छोड़कर सुख भोगा जा सके। कामनाओं के त्याग का अर्थ कोई नैतिक दमन नहीं है अपितु आत्मा की पदार्थ के प्रति लालसा से मुक्ति है। इसके लिए अहंकार से मुक्त होना आवश्यक है और व्यक्तिगत कामना से भी मुक्त होना आवश्यक है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य पदार्थों को अपना या दूसरों का परिग्रह न माने और न उसे जीवन का लक्ष्य माने। यह तभी सम्भव है जब वह अपने आप को समष्टि के साथ एकाकार कर दे। जब वह अहंकार का अतिक्रमण कर जाता है तो वह यह देखता है कि वैश्विक चेतना में सभी कुछ है और व्यक्तिगत रूप से किसी भी स्वामित्व की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर से तादात्म्य होने पर सभी में अनन्त आनन्द की सम्भावना खुल जाती है और तब व्यक्तिगत रूप से भौतिक चीजों के पाने की आवश्यकता नहीं रहती। तब वह सभी के आनन्द में अपना आनन्द मानता है। तब वह वस्तुतः स्वतन्त्र हो जाता है और विश्व की गतियों में बिना इच्छा के सक्रिय रहता है।

न तो अक्रिया में स्वतन्त्रता है और न निष्क्रियात्मक साक्षिभाव में स्वतन्त्रता है। उसके लिए साक्षिभाव ही पर्याप्त नहीं है, कर्म में भागीदारी भी होनी चाहिए। भौतिक जीवन के सभी नियमों को स्वीकार करते हुए कर्म करना चाहिए क्योंकि ब्रह्म भी कर्म के द्वारा ही कृतकृत्य होता है। अतः मनुष्य भी कर्म के द्वारा ही कृतकृत्य हो सकता है। यदि मनुष्य निष्क्रिय हो जायेगा तो भी वैश्विक गति में

उसका प्रभाव पड़ेगा। इसलिए कर्म से निवृत्त होने का विचार ठीक नहीं है। जो ऐसा समझते है कि निष्क्रियता से मोक्ष हो जायेगी वे इस अज्ञान में जी रहे हैं कि आत्मा ब्रह्म से पृथक् है।

मनुष्य कर्म से इसलिए भागता है कि वह कर्म को स्वतन्त्रता में बाधक समझता है। वह ऐसा मानता है कि उसकी कर्म के प्रति प्रेरणा में कामना है और उसके मन में कर्म की फलासक्ति है। ऊपर से यह बात सत्य दिखायी दे सकती है किन्तु वस्तुतः यह सत्य नहीं है। कामना भावुक मन की वह पर्याय है जो पदार्थों में आनन्द ढूँढती है किन्तु उस ब्रह्म में आनन्द नहीं ढूँढती, जो पदार्थ में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। इस अज्ञान को दूर कर कर मनुष्य इच्छा के बिना कर्म कर सकता है। ईश्वर सभी कर्म करते हुए पूर्णतः स्वतन्त्र है। जब हम प्रकृति के पीछे उसके स्वामी को देख लेते है तो उन कर्मों को ईश्वर के प्रति अर्पित कर देते है और हमारा सारा दायित्व ईश्वर पर आ जाता है। कर्म से प्रकृति बँधती है, आत्मा नहीं। आत्मा जैसे ही अपने आप को जानती है वह जान पाती है है कि वह कर्म के फलों से मुक्त है। इसलिए स्वतन्त्रता का अर्थ कर्म से निवृत्त होना नहीं है अपितु अपने आप को कर्म से पृथक् मानकर अपने आपको ईश्वर से जोड़ देना है, जो कि प्रकृति का स्वामी है।

जब साधक अज्ञान के स्थूल रूप में रहता है और स्वार्थ की पूर्ति को ही अपना लक्ष्य मान लेता है, वह गहरे अंधकार में प्रवेश कर जाता है।

ईश्वर और विश्व एक ही है—ईश्वर शाश्वत है और नित्य है। क्योंकि सत् और असत् सब वही है इसलिए उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। देश और काल की गति से परे होने के कारण वह शाश्वत है, जो है वह, या जो हो सकता है वह—सब कुछ वही है। इसलिए न वह घटता है न बढ़ता है। वह कारण-कार्य सम्बन्ध से और सापेक्षता से परे है।

संसार देश और काल में चेतना की चक्राकार गति है। इसका आधार प्रकृति है। यह गति में टिका है और अगति में लीन हो जायेगा। इसकी गति का आधार भौतिक नहीं है। यह सक्रिय चेतना की ऊर्जा की गति है जो विविधता में परस्पर

विरोध भी उत्पन्न करती है। यह विरोध भासित होता है किन्तु पारमार्थिक नहीं है। यह विरोध देश और काल परिस्थिति और कारण–कार्य भाव के कारण पैदा होता है। सभी दृश्यमान पदार्थ सत् का मूर्त रूप है। हमारा मन अनेक कल्पनाएं करता है। वे कल्पनाएं भी मन का ही प्रतिनिधित्व करती हैं किन्तु वे मन से भिन्न हैं। यह विश्व मन की चेतना से उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु मन से भी अधिक शक्तिशाली सर्वशक्तिमान् उस 'पूर्ण' से उत्पन्न हुआ है जिस पर सापेक्षता का कोई नियम लागू नहीं होता है। देवता इसकी अस्थायी सृष्टि हैं। क्योंकि उनकी अवधि को हम नहीं नाप सकते इसलिए वह आपाततः नित्य प्रतीत होते हैं। वे परिवर्तन के नियम हैं इसलिए वे निरन्तर गतिशील हैं। विश्व की गति स्थिरता से नियंत्रित होती है। एक ओर मन से भी अधिक गतिशील शाश्वत तत्त्व है जो चलते हुए भी नहीं चलता और दूसरे सभी चलने वालों का अतिक्रमण कर जाता है।

यह संसार मन की कल्पना नहीं है अपितु एकता की लीला है। अनेकता तभी मिथ्या हो जाती है जब यह अपने आप को एकता से भिन्न कर लेती है। ब्रह्म की एकता का अर्थ यह नहीं कि वह संख्या में एक है अपितु यह अर्थ है कि वह मूलतः एक है। यदि हम उसे संख्या की दृष्टि से एक मानेंगे तो या तो अनेकता को वह अपने में समाहित नहीं कर पायेगा या वह अनेक भागों में विभजनीय हो जायेगा। किन्तु वह विभजनीय नहीं है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि संसार ब्रह्म का उसी प्रकार एक अंश है जिस प्रकार लहर समुद्र का अंश होती है। किन्तु वस्तुतः सभी लहर समुद्र ही हैं; इनकी भिन्नता केवल सतही है जो समुद्र की गति से उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार सभी पदार्थ आपाततः भिन्न होकर भी वे पूरे ब्रह्माण्ड का स्वरूप हैं। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म सभी देश और काल में एक रूप है और देश और काल से परे भी एक रूप है। चित् की शक्ति केवल ज्ञान ही नहीं है, उसमें अभिव्यक्त होने की भी शक्ति हैं। वस्तुतः तो यह दोनों शक्तियाँ एक ही है। चित् सत् का क्रियात्मक रूप है। यह जो कुछ जानता है वही हो जाता है। यह देश और काल के परे भी अपने आप को देखता है। सृष्टि शून्य में से नहीं आई है और न एक चीज से दूसरी बनी है, अपितु यह ब्रह्म का देश और काल में स्वयं का प्रक्षेपण है। सृष्टि कार्य नहीं

है अपितु एक कर्म है। प्रत्येक जीव ब्रह्म है किन्तु वह उसका विविध रूप से प्रतिनिधित्व करता है और वह अपने आप में पूर्ण ब्रह्म है।

ब्रह्म सापेक्षता से पृथक् रह सकता है। वह सापेक्ष को निरपेक्ष से भिन्न देख सकता है। यदि ऐसा न करेगा तो वह निरपेक्ष में खो जायेगा। इसी प्रकार वह दूसरों को भी 'अन्य' समझता है। जीव अपने आप को एक से हमेशा के लिए भिन्न समझ सकता है या हमेशा के लिए उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न समझ सकता है अथवा अपने आप को उससे पूरा अभिन्न समझ सकता है। इसी आधार पर द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत सम्प्रदाय चल रहे हैं। श्री अरविन्द के मत में तीनों ही सत्य है और एक दूसरे के परिपूरक हैं। उन्हें बुद्धि से नहीं समझा जा सकता किन्तु ब्राह्मी चेतना में ही समझा जा सकता है।

एकत्व पर ध्यान देते समय भी हमें यह मानकर चलना चाहिए कि ब्रह्म हमारी मानसिकता से ऊपर है। हमारी चेतना ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु परमार्थतः ब्रह्म को नहीं जान सकती। हम नेति नेति के द्वारा ही उसकी चर्चा कर सकते है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शून्यात्मक है। वह कालात्मक भी है, और काल से परे भी है। एकत्व भी अनेक से जुड़ा हुआ है। किन्तु फिर भी मूल आधार एकत्व ही है, अनेकत्व नहीं। क्योंकि एकत्व ही अनेकत्व को धारण करता है, अनेकत्व एकत्व को धारण नहीं करता। इसलिए एकत्व ही हमारा वास्तविक स्वरूप हैं किन्तु एकत्व और अनेकत्व दोनों ही ब्रह्म का रूप हैं। दोनों सत्य हैं।

चित् का क्रियात्मक रूप प्रकृति है। इसे ही माया भी कहते हैं। देव ब्रह्म के वैश्विक प्रतिनिधि हैं। ब्रह्म लक्ष्य है, वही आदि है, वही अन्त है। देवता भी उसकी ओर ही गति कर रहे है किन्तु जैसे ही देवता एक स्थान पर पहुँचते हैं वे पाते हैं कि ब्रह्म उस स्थान से आगे भी है। सापेक्ष चेतना उसे पूर्णतः नहीं जान सकती। हम जिसको भी जानते हैं ब्रह्म में उसका ज्ञान पहले से ही है क्योंकि उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य एक साथ है। वह आकाश से परे भी है और इसलिए उसे कहीं जाना नहीं होता। वह कारण से ऊपर है और इसलिए कारण के बन्धन से ऊपर रहकर उसमें सभी कुछ घटित होने की सम्भावना रहती है।

प्रश्न होता है कि गति का प्रयोजन क्या है। यह गति दिव्य चेतना की लीला है, जिससे ब्रह्म में कुछ जुड़ता नहीं है क्योंकि वह तो अपने आप में पूर्ण है। वस्तुतः चेतना का एक स्तर नहीं है। वह शुद्ध स्वयंभू के स्तर से पार्थिव स्तर तक आने में अनेक सोपानों को पार करती है। वस्तुतः ब्रह्म ही देश और काल में विस्तार पाकर विश्व बन जाता है। इस विस्तार में प्रकृति के रूप में भूतात्मक सृष्टि बनती है। इस गति में जीवनशक्ति है जिसे मातरिश्वा कहा गया है। यही सबको व्यवस्थित करती है।

हम मन, प्राण और शरीर से परिचित हैं। इन तीन स्तरों पर जन्म और मृत्यु का संघर्ष चलता है। जीवन में निरन्तर सम्भूति या जन्म हो रहा है और सभी जन्मों के साथ मृत्यु भी जुड़ी हुई है। मृत्यु से ही नये जीवन की प्राप्ति होती है अतः मृत्यु को पार करना होता है। जैसे मन, प्राण और शरीर है वैसे ही पराचेतना में सत्, चित् और आनन्द है। सत् हमारा अस्तित्व है, वह भौतिकता का प्रतियोगी है। चित् तप शुद्ध ऊर्जा है, जो प्राण का प्रतियोगी है। आनन्द भावनाओं और ऐन्द्रिक सुख-दुःख का प्रतियोगी है। उच्चतर स्तर पर यह अस्तित्व जन्म मृत्यु से परे है इसलिए इसे अमृत कहा जाता है, जो कि हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

दिव्य का मरणधर्मा भौतिक जगत् से सम्बन्ध क्रम से स्थापित होता है। दिव्य मन, प्राण और शरीर को व्यवस्थित करने का काम करता है। वेद में इसे सत्य कहा गया है क्योंकि इसमें अपनी शक्ति से पदार्थों को उनके स्वभाव के अनुकूल कार्य कराने की क्षमता है। इसमें समस्त बुद्धिमत्ता अन्तर्निहित है इसलिए इसे बृहत् भी कहा जाता है। विज्ञान के द्वारा विभक्त चेतना वस्तुतः एक है। विज्ञान अनेकता को भी देखता है।

चित् की शक्तियों को वेद में आपः कहा गया है। मानों यह चेतना के समुद्र से उठने वाली धारायें हैं। विश्व में ये सभी अविभाज्य रूप में साथ-साथ रहती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। यह अनन्त सत् में लीन भी हो जाती हैं और वहाँ से अभिव्यक्त भी हो जाती हैं। इस प्रकार एक से अनेक और अनेक से एक होने का वर्तुल बना रहता है।

उपनिषद् हमें बताता है कि ब्रह्म को विश्व में और अपने में कैसे देखा जाये? उसे स्थिर और गतिशील दोनों रूपों में देखना होता है। वह कूटस्थ भी है और परिवर्तनशील भी है। सभी पदार्थ देश और काल में स्थित हैं। 'वह' दूर भी है और निकट भी, अतीत और भविष्य के अतिरिक्त वर्तमान में भी है। ब्रह्म इस विश्व में व्यापक भी हैं और विश्वोत्तीर्ण भी है। इस ब्रह्म का साक्षात्कार पूर्णता और अमृतत्व की ओर ले जाता है।

ईशोपनिषद् यजुर्वेद का अन्तिम चालीसवाँ अध्याय है। वेद में ब्रह्म अथवा परमतत्त्व केवल कूटस्थ या 'तन्नैजति' ही नहीं है 'तदेजति' अर्थात् गतिशील भी है। यही श्री अरविन्द के दर्शन का मूल आधार है जिसके कारण वे आत्मा को तो स्वीकार करते ही हैं किन्तु प्राण और अन्न को भी महत्त्व देते हैं और उनके दिव्यीकरण को अपने पूर्णयोग का चरम लक्ष्य मानते हैं। यह उनका योग के क्षेत्र में मौलिक योगदान है।

आत्म-साक्षात्कार

व्यक्तिनिष्ठ रूप में ब्रह्म आत्मा है जो कूटस्थ है। जो कुछ भी मन, जीवन, शरीर अथवा कर्म में बदल रहा है वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है अपितु आत्मा का गतिशील रूप है जिसे जगती कहा जाता है। प्रकृति में सभी कुछ एक आत्मा का ही गतिशील रूप है। जब इस एकत्व का बोध हो जाता है तो व्यक्ति अहंकार और द्वेष से मुक्त हो जाता है। वह पूर्ण आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा स्वयंभू है जिसमें चेतना, शक्ति और आनन्द सभी उसके अपने घटक हैं। वह प्रकाशमय और आनन्दमय है। वह देश और काल से अतीत है। पुरुष और प्रकृति के तीन सम्बन्धों के आधार पर तीन पुरुष बनते हैं। एक अक्षर पुरुष है जो कूटस्थ है और एक क्षर पुरुष है जो गतिशील है। उत्तम पुरुष इन दोनों से ऊपर है।

क्षर पुरुष के रूप में आत्मा प्रकृति की गति को अपने में प्रतिबिम्बित देखती है और उस गति में लीन हो जाती है, इस रूप में वह घटती और बढ़ती है, विभाजन और द्वैत का आनन्द लेती है। यद्यपि वह अपने परिवर्तनों का स्वयं ही नियंत्रण करती है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह उनके द्वारा नियंत्रित की गई है। वह वस्तुतः सुख और दुःख तथा पाप और पुण्य का आनन्द लेती है किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह उनसे पीड़ित है। वह अपने आपको प्रकृति के कर्मों के आधीन मानती है।

अक्षर पुरुष प्रकृति की गति और परिवर्तनशीलता से अलग रहकर शांत, शुद्ध और उदासीन रहता है और कर्मों में लीन नहीं रहता। यह आत्मा आकाश के

समान स्थित है जिसमें कर्म जल के समान होते रहते हैं। इस अक्षर पुरुष को क्षर से स्वतंत्र मानना चाहिए।

पुरुषोत्तम स्थिति और गति दोनों का आनन्द लेता है किन्तु उन दोनों से बँधता नहीं है। यह ब्रह्म है जो अचिन्त्य है। प्रकृति के सात प्रकार के रूपों में आत्मा भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट होता है। अन्नमय रूप में वह पदार्थ बन जाता है, प्राणमय रूप में वह प्राण बन जाता है, इसी प्रकार मनोमय रूप में वह मन और विज्ञानमय रूप में विज्ञान बन जाता है। इस विज्ञान को वेद में सत्यम्, ऋतम् और बृहत् कहा गया है। इसे महान् आत्मा भी कहा जाता है। आनन्दमय पुरुष के रूप में आत्मा सार्वभौम आनन्द बन जाता है। चैतन्य पुरुष के रूप में आत्मा चित्-तपस् है। सत् पुरुष के रूप में वह शुद्ध दिव्य रूप है।

मनुष्य ईश्वर के साथ एक रूप होने के कारण इन सभी उपर्युक्त स्थितियों में रह सकता है और आनन्दमय से चैतन्य और सत् पुरुष में प्रविष्ट हो सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ श्री अरविन्द ने उपनिषद् के पाँच कोशों के साथ चैतन्य पुरुष और सत् पुरुष को जोड़कर प्रकृति के सात रूप प्रस्तावित किए है। इनमें अंतिम तीन सत्, चित् और आनन्द परा प्रकृति हैं और शरीर, प्राण तथा मन अपरा प्रकृति है। सच्चिदानन्द अमृत रूप है, मन मृत्यु रूप है। शरीर, प्राण और मन सच्चिदानन्द का साक्षात्कार न कर सकने के कारण मृत्यु के पाश में बँधे हैं। सच्चिदानन्द का साक्षात्कार करके मन सत्य में और विज्ञान में बदल सकता है। प्राण चैतन्य में बदल सकता है और शरीर सत् में बदल सकता है। जब यह रूपान्तरण पूरी तरह नहीं हो पाता तब तक आत्मा लोक लोकान्तर में भ्रमण करके विकास करता रहता है। शरीर में पूर्ण साक्षात्कार मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। आत्मा के लिये शुद्ध सच्चिदानन्द के रूप में चला जाना भी संभव है। आत्मा सच्चिदानन्द रूप है। यह साक्षात्कार ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

आत्मा का शुद्ध रूप सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द स्वयं अपने में भी लीन रह सकता है और विश्व में विराट् पुरुष के रूप में व्याप्त भी हो सकता है। सच्चिदानन्द वस्तुतः मन से परे है किन्तु वह मन में प्रतिबिम्बित होता है और यदि मन शुद्ध है तो वह ज्ञान में बदल जाता है। उसके सामने दो विकल्प रहते

हैं—या तो वह अहंकार रहित रहे या अहंकार के कारण द्वन्द्व का जीवन जीये। अहंकार आत्मा को सीमित और विभक्त कर देता है। यह सीमा क्षर पुरुष के द्वारा बनाई जाती है। एकत्व का दर्शन प्रज्ञा, पूर्ण और आनन्द का प्रारम्भ बिन्दु है।

जब यह एकत्व अनेकत्व के साथ जुड़ा रहता है तो मनुष्य में सेवा का भाव आता है। तब संगठन बनता है। किन्तु वह वास्तविक एकता नहीं है। उस समय वास्तविकता में अनेकता ही रहती है। यथार्थ ज्ञान तब होता है जब एक आत्मा पदार्थ, जीवन और मन के रूप में लीला करती दिखाई देती है। यह आत्मा सच्चिदानन्द रूप है। पदार्थ जीवन की और जीवन मन की एक लीला मात्र है। मन सत्य की लीला है। सत्य सच्चिदानन्द की लीला है। इस प्रकार सब में आत्मा को और आत्मा में सबको देखा जा सकता है। ऐसा होने पर घृणा या भय नहीं रहता। आत्मा पूर्ण समत्व में आ जाती है। घृणा का प्रश्न वहाँ है जहाँ व्यक्ति का सीमित अस्तित्व बाहर से सामजंस्य न बना पाये। सत्य को जानने के बाद साधक को अपने विचार, भावनाओं और संवेदनाओं को व्यवस्थित करने की क्षमता आ जाती है और तब उसके लिए सभी भूत उसका अपना ही स्वरूप बन जाते है।

अभिप्राय यह है कि अहंकार के भाव में असंख्य प्राणी अपने आप में एक दूसरे से पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं जो दूसरों से अधिक से अधिक लाभ लेना चाहते है किन्तु दिव्य विधान में सभी क्रियाकलापों में ईश्वर का आवास है। इसलिये सभी क्रियाएं समन्वित रूप में सच्चिदानन्द अथवा अमृत की ओर गति करती हैं।

इस प्रकार ईशोपनिषद् विद्या और अविद्या, एक और अनेक, मृत्यु और अमृत तथा मोक्ष और जन्म के बीच संश्लेषण का आदर्श हमारे सम्मुख रखता है। हमें सारे अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए। हृदय को सार्वभौम प्रेम और आनन्द को, इन्द्रियों और मन को, ईश्वर की सर्वव्यापक संवेदना को और जीवन की समस्त शक्तियों को अपने ही हिस्से के रूप में स्वीकार करना चाहिये।

सारे अस्तित्व के पीछे अज्ञेय की दृष्टि रखने पर मोह नहीं रहता और साधक कर्म से बँधता नहीं है। वह विश्व के किसी एक हिस्से को पूर्ण नहीं मान लेता। सभी कुछ भोग का विषय है। सभी कुछ आत्मा की अभिव्यक्ति है। ऐसा मानने

पर इच्छा शांत हो जाती है। जब सब कुछ सच्चिदानन्द है तो शोक का अवसर भी नहीं है। क्योंकि सभी आनन्द रूप है। दुःख आनन्द का ही विकृत रूप है जिस आनन्द को दुःख के द्वारा ढक लिया जाता है किन्तु दुःख का आवरण दूर हो सकता है। ब्रह्म का ज्ञान होने पर ईश्वर और जगती का तादात्म्य संबंध समझ में आ जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं में एक विश्व और प्रत्येक गति सार्वभौम गति का भाग है इसलिए सभी विरोधों का परिहार हो जाता है। ईशोपनिषद् की प्रथम पंक्ति में यह बात कह दी गई है कि आनन्द की प्राप्ति के लिये इच्छाओं का त्याग आवश्यक है। सच्चिदानन्द ही साधक का अपना वास्तविक स्वरूप है। और विश्व सच्चिदानन्द का ही गत्यात्मक रूप है। यह जान लेने पर राग-द्वेष तथा शोक और मोह नहीं रहता।

ईश्वर

ईशोपनिषद् के आठवें मंत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म केवल निर्गुण और निष्क्रिय ही नहीं है अपितु अनेक गुणों से युक्त भी है। वस्तुतः वह पुरुष भी है और अपौरुषेय भी है। जब उसके अपौरुषेय रूप का उल्लेख किया जाता है तो 'तत्' शब्द से कहते है। 'तत्' नपुसंक लिंग है किन्तु वह विश्व का नियन्ता भी है। जब उसे विश्व नियन्ता के रूप में अभिव्यक्त करना होता है तो उसे पुल्लिंग 'सः' द्वारा कहा जाता है और उसके लिए देव, पुरुष इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उसकी शक्ति प्रकृति या माया है। ईशोपनिषद् में यह कह दिया गया है कि व्यक्तिनिष्ठ रूप में ब्रह्म आत्मा है। वह सभी जगह व्यापक है और इससे परे भी है। आत्मा और ईश्वर एक ही है। इसी बात को सोलहवें मंत्र में कहा गया है– **सोऽहमस्मि**। वह स्वयंभू है और सारे जगत् का भोक्ता भी है। अविद्या के द्वारा मृत्यु पार की जाती है और विद्या के द्वारा अमृतत्व की उपलब्धि होती है। ये दोनों ही आवश्यक हैं।

वेद में जब हम पुरुष की चर्चा करते हैं तो उस पुरुष का अर्थ व्यक्ति नहीं होता। ब्रह्म व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त तो होता है किन्तु वह ईश्वर का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वस्तुतः ईश्वर सच्चिदानन्द है। चेतना उसका सारभूत है और चेतना का सार आनन्द है। यह आनन्द ही अनेक रूप में विश्व बन जाता है।

आनन्द प्रेम के रूप में और चेतना विचारात्मक ज्ञान के रूप में, और अस्तित्व सत् के रूप में प्रकट होता है किन्तु प्रेम प्रेमी और प्रेमास्पद के बिना अधूरा है। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के बिना अधूरा है तथा शक्ति कर्ता और कर्म के बिना अधूरी

है। वस्तुतः ब्रह्म के अन्दर भी आनन्द का भोक्ता है। एक चेतयिता है। एक सत् है। चेतना की शक्ति माया या प्रकृति है। ब्रह्म से जो बनता है वह भी ब्रह्म ही है। प्रेमास्पद भी प्रेमी की अपनी ही आत्मा है। कर्म कर्ता की अपनी संरचना है। संक्षेप में विश्व ईश्वर का शरीर है। जब हम अनन्त अस्तित्व की चर्चा करते हैं तो उसे 'तत्' शब्द से कहते हैं, जब हम सत् के आनन्द रूप की चर्चा करते है तो उसे 'सः' शब्द से कहते है। ये दोनों ही अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। ब्रह्म पुरुष और अपौरुषेय के दोनों रूप से परे है। जिस प्रकार 'तत्' निर्गुण है उसी प्रकार 'सः' भी वस्तुतः अप्रमेय ही है। विश्व में एक और अनेक के बीच सतत सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध एक और अनेक के बीच व्यक्तियों और पुरुष के रूप में प्रकट होता है। दो व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध अन्ततोगत्वा एक के साथ सम्बन्ध जोड़ने का साधन बन जाना चाहिए। एक साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध जोड़ लेना धर्म का प्रयोजन है। इसीलिए सत्य को अनेक प्रकार से कहा गया है। स्वयं वेद में भी एक के अनेक रूप उल्लिखित हैं।

उपनिषद् कहता है 'स पर्यगात्', यह ब्रह्म का विस्तार है। यह विस्तार देश और काल के रूप में होता है। ईशोपनिषद् के आठवें मंत्र में चार विशेषण पुल्लिंग में दिये गये हैं– कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू। कूटस्थ ब्रह्म समस्त लीला का आधार है। वह सभी को समान रूप से सहारा देता है। ईश्वर का शुद्ध रूप शुक्र है। वह अशरीर ही है। उसमें कोई न्यूनता नहीं है। न उसका कोई स्नायु मंडल है। इसीलिए उसमें कोई दोष भी नहीं है। वह सबका आधार बनने पर भी अपनी क्षमता नहीं खोता और इसीलिए लिप्त नहीं होता।

कर्म के कारण आत्मा की प्रकृति बदलती नहीं है। कर्म करते हुए भी आत्मा अपने शुद्ध रूप को बनाये रखती है। वह सदा पूर्ण है, किन्तु देश और काल के रूप में मानसिक क्रियाकलापों में भाग लेने पर भी उनसे पृथक् रहती है। जब हम एक अधूरे दृष्टिकोण को ही पूरा मान लेते है तो अज्ञान का जन्म होता है। ब्रह्म की लीला में इस अज्ञान का भी अपना स्थान है किन्तु यह सभी पापों की जड़ भी है। अज्ञान के कारण हम मन, शरीर और प्राण को सच्चिदानन्द से पृथक् देख लेते है, किन्तु सगुण ब्रह्म सदा सच्चिदानन्द ही रहता है जो मन, शरीर

और प्राण को काम में लेता है, किन्तु पाप से स्पृष्ट नहीं होता। जीव भी ईश्वर का अंश होने के कारण सच्चिदानन्द के रूप में पूर्ण ही है। किन्तु वह मन को आधार बनाने के कारण अपूर्ण हो जाता है, जिसके कारण असामंजस्य, कामना और दुःख का जन्म होता है। यह मनुष्य के ऊपरी रूप का स्वरूप है किन्तु मनुष्य का वास्तविक रूप शुद्ध बना रहता है। मुक्त होने के यह आवश्यक है कि साधक अपने आप का दिव्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मान ले। ऐसा करने पर वह प्रकृति के कर्मों को करते हुए भी उनके बन्धनों से मुक्त रह जाता है। इसके लिए उपनिषद् ने कहा – **न कर्म लिप्यते नरे**। मन में फँसा रहने के कारण मनुष्य अपने आपको प्रकृति ही समझ लेता है और उसमें होने वाले परिवर्तनों को अपना परिवर्तन मान लेता है। इसके लिए उसे केवल प्रकृति से निवृत्त होना ही आवश्यक नहीं है अपितु प्रकृति के कार्यों में भागीदारी लेना भी आवश्यक है। इसका उदाहरण हम ईश्वर के क्रियाकलापों में देख सकते हैं। मनुष्य में एक लय बनी रह सकती है यदि वह आत्मा के लिए शान्ति और ऊर्जा के लिए क्रिया उपलब्ध करता रहे। आभु अपनी संवित् को अनन्त रूपों में प्रकट करने के लिए उपयोग में लाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ये अनेक रूप विवर्त है जिनका कोई वस्तुनिष्ठ अस्तित्व नहीं है। इसे विवर्तवाद कहा जाता है। सांख्य के अनुसार ये विभिन्न रूप वास्तविक हैं। जिसे परिणामवाद कहा जाता है। किन्तु दोनों ही परिस्थितयों में आभु के रूप में कोई अन्तर नहीं होता है।

ब्रह्म स्वयं ही ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है। वह अपनी संवित् का ज्ञेय है और वह अपने अस्तित्व का ज्ञाता भी है। स्वयंभू अपने आप को कवि के रूप में जानता है। अपने विकास को मनीषी के रूप में देखता है और देश तथा काल में अपने विस्तार को परिभू के रूप में देखता है। इसका यह अर्थ है कि सभी अनादि काल से अपने नियमों में रहकर अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। सभी पदार्थ सुव्यवस्थित है। वे जैसे हैं वैसे ही पूर्ण हैं–**याथातथ्यतः**। सबके बीच एक सामंजस्य है जो आपाततः प्रतीत होने वाले बेमेल में मेल स्थापित करता है। यदि ये सभी पदार्थ केवल व्यक्तिगत शक्तियों का समूह ही होते और इन सबके बीच ईश्वर ओतप्रोत न होता तो एक अराजकता फैल जाती।

कवि के रूप में ईश्वर क्रियाकलापों के बीच अन्तर्निहित सत्य को देख लेता है। वह सत्य और ऋत को बृहत् रूप में देखता है। भाग्य आत्मा को नियन्त्रित नहीं करता अपितु आत्मा भाग्य को नियन्त्रित करती है, इसीलिए आत्मा स्वतंत्र है। मनीषी के रूप में अनेक संभावनाएं आत्मा के सामने है जिन संभावनाओं में से ही हमारे कर्म प्रकट होते है। कवि के रूप में आत्मा मनीषी को आधार देता है। मनीषी के कर्म सब ओर फैल जाते है जिसे परिभू या विराट् कहा जाता है। इस विराट् में कर्म के सिद्धान्तानुसार पदार्थों का विकास होता है। किन्तु यह विराट् स्वयंभू का ही रूप है। कर्म बन्धन रूप दिखायी देता है किन्तु उसके पीछे जो सच्चिदानन्द है वह स्वतंत्र है।

ऊपर की ओर से देखें तो यह स्थिति है किन्तु नीचे की ओर से मनुष्य की दृष्टि में हम अज्ञान से चलते हैं। और तब कर्म के भिन्न-भिन्न रूप चेतना के ही भिन्न-भिन्न रूप लगने लगते हैं। हमें इसी स्थिति से आगे बढ़ना होता है। यह स्थिति अज्ञान की स्थिति है जिसमें मनुष्य मनु के रूप में व्यवस्था करता है। वह मृत्यु और विभाजन से प्रारम्भ करता है और एकता तथा अमृतत्व तक पहुँचता है। वह सापेक्ष में निरपेक्ष को देख पाता है।

विद्या और अविद्या

श्री अरविन्द के अनुसार विद्या चेतना की एकता से जुड़ी है और अविद्या अनेकता से। एकता नित्य है और मूलभूत है उसके बिना अनेकता केवल एक भ्रम सिद्ध होगी। अनेकता एक की लीला है जो विभाजन करके एक को अनेक केन्द्रों में स्थापित कर देती है। एकता में अनेकता अन्तर्निहित है। अनेकता के बिना एकता शून्य हो जाएगी जिसमें कोई शक्ति न होगी। अनेकता की चेतना एकता से टूटकर अहंकार में बदल जाएगी और मोह उत्पन्न कर देगी। मनुष्य में यही मुख्य होती है। इसलिए इसे अविद्या कहा गया है। दूसरी ओर ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है और सीमाओं से परे है। वह अनेक होते हुए भी अनेकता से बँधता नहीं है। वह विद्या और अविद्या दोनों का स्वामी है। वह ईश है क्योंकि विद्या और अविद्या दोनों से परे है। किन्तु मनुष्य अविद्या के कारण अनीश है। उसके सभी कर्म व्यावहारिक हैं जो परमार्थ की दृष्टि से मिथ्या हैं। उसे स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एकत्व तक लौटना होगा। तब वह दिव्य कर्म कर सकेगा। अनेकता को एकता का आभास होना चाहिए और एकता को अनेकता का आलिङ्गन करना चाहिए।

विद्या अथवा अविद्या में किसी एक के द्वारा सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अविद्या सीमा और संकोच को बढ़ाकर विभाजित करती है और प्रकृति के यांत्रिक व्यवहार में बँध जाती है। इसके विपरीत जो केवल विद्या की उपासना करते हैं वे ब्रह्म की संश्लिष्टता को भूल जाते हैं और एक दूसरे प्रकार के अन्धकार में प्रवेश करते हैं। सबको जानकर सबका अतिक्रमण कर जाना विद्या का मार्ग है। अविद्या के

मार्ग पर चलने वाले एक दिन एकत्व तक पहुँच सकते हैं। किन्तु जो एकत्व के उपासक असत् या शून्य में जाते हैं उनके उद्धार की आशा और भी कम है।

वस्तुतः मनुष्य के लिए विद्या और अविद्या दोनों ही उपयोगी हैं किन्तु अपने आप में दोनों अधूरी हैं। विद्या के द्वारा मनुष्य अक्षर पुरुष तक पहुँच सकता है और चिदानन्द में विलीन रह सकता है। वह मोह और शोक से मुक्त भी रह सकता है। किन्तु मनुष्य का उद्देश्य वह उत्तम पुरुष है जो क्षर और अक्षर दोनों को अपने में समेटे है। मनुष्य के जीवन का वह ही लक्ष्य है। अविद्या के द्वारा मनुष्य इन्द्र तक पद प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह अनेकत्व को स्वीकार करने से अपना विस्तार कर लेता है। किन्तु यह देव पद भी दिव्य नहीं है। इसके द्वारा वह मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है किन्तु अमृतत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता या यह कहें कि वह भले ही शोक से मुक्त हो जाये किन्तु आनन्द को प्राप्त नहीं हो सकता। उसे मृत्यु और शोक तथा अज्ञान का भी सही उपयोग करना सीखना होगा। अभिप्राय यह है कि साधक को विद्या या अविद्या के प्रति आसक्ति का भाव नहीं रखना चाहिए। धीर पुरुषों ने इस सत्य को जाना था। उन्होंने सम्पूर्ण सत्य को जाना।

अस्तित्व में विद्या और अविद्या दोनों ही हैं। विद्या अविद्या को आधार देती है और विस्तार के लिए विद्या अविद्या पर निर्भर करती है। गहरे से गहरे अज्ञान में भी ज्ञान का अंश रहता है और एकत्व का आभास रहता है जो किसी भी चीज को पूर्णतया विभक्त नहीं होने देता। यदि वह पूर्ण विभक्त हो जाये तो शून्य में चली जायेगी। एकता का ज्ञान ऐसा है कि उसमें अनेकता का ज्ञान छिपा ही रहता है। विद्या का कार्य यह है कि वह अनेकता को एकता की ओर आकृष्ट करे। अविद्या का विद्या को, अनेकता का एकता को और अहंकार को ईश्वर को समर्पित कर देना अस्तित्व का लक्ष्य है।

मृत्यु का अर्थ है—दुःख और सुख में पाप और पुण्य में तथा राग और द्वेष में बँधे हुए अहंकार का बारम्बार जन्म लेना और मरना। यह मृत्यु विभाजन से उत्पन्न होती है। इस स्थिति में मनुष्य अहंकार के कारण स्वयं को कर्मो का समूह मान

लेता है। इस कारण वह प्रकृति की लीला का एक अंश ही अपने साथ जोड़ पाता है और शेष अंश को विजातीय समझता है। अहंकार के कारण उसकी शक्ति सीमित हो जाती है। यह सीमित शक्ति सार्वभौम क्रियाकलाप को सहन नहीं कर पाती। इसलिए बारम्बार जन्म लेती है और मरती है। वह सत्य को केवल अपने ही दृष्टिकोण से देख पाती है, दूसरे के दृष्टिकोण से नहीं। इसलिए उसका सारा ज्ञान अधूरा होता है और जो वह नहीं जान पाता कि वह तो अज्ञान ही है। वह अपने आपको कुछ ही अनुभवों के साथ जोड़ पाता है। इसलिए उसका सुख थोड़ा सा ही होता है। वह कुछ ही क्रियाओं के अनुकूल प्रतिक्रिया कर सकता है और उसका उतना ही सुख है। मृत्यु अहंकार के इस तुच्छ स्वरूप को स्वीकार नहीं करती। सीमित ज्ञान के कारण ही मनुष्य गलतियाँ करता है। मनुष्य जब सार्वभौम आनन्द को सीमित सुख में बाँधने का प्रयत्न करता है तो मन और शरीर की पीड़ा उसके इस प्रयत्न को अस्वीकार कर देती है। किन्तु जब साधक सब कुछ को ब्रह्म रूप ही मान लेता है तो मृत्यु अमृतत्व में बदल जाती है।

अमृतत्व का अर्थ यह नहीं है कि स्वयं प्रकृति के क्रियाकलापों में लीन हो जाएँ या ब्रह्म में लीन हो जायें। अविद्या मृत्यु से पार ले जाने का मार्ग है, अविद्या की सीमा का अर्थ है कि मनुष्य सीमा का अतिक्रमण कर सके, वह अज्ञान को ज्ञान में, दुःख को सुख में और निर्बलता को शक्ति में बदल सके। साधक अपनी सीमाओं में सबको समेट ले और वह अनुभव करे कि सब कुछ उसका अपना ही स्वरूप है। वह यह भी अनुभव करे कि सारी क्रिया आभु की है। इस प्रकार अविद्या और विद्या एक ही हो जाती हैं। अविद्या के द्वारा दुःख और मोह से दूर होकर विद्या के द्वारा एकत्व का दर्शन किया जा सकता है। इस प्रकार साधक सांसारिक स्थिति में भी अमृतत्व का आनन्द ले सकता है।

वस्तुतः आत्मा तो शरीर के बाद भी सदा ही बनी रहती है क्योंकि वह शरीर के जन्म से पहले भी थी। अहंकार के कारण अविद्या के अनुभव होते रहते हैं किन्तु वह अनुभव विद्या में बदल सकते हैं। अमृतत्व का अनुभव जन्म और मृत्यु के अनुभव से परे कारणकार्यातीत है जहाँ कोई बन्धन नहीं है। इस आधार पर साधक विश्व में स्वतन्त्र रहकर भी कर्म कर सकता है। इसके बाद मनुष्य के

जीवन का कोई लक्ष्य स्वार्थपरक नहीं होता, किन्तु ईश्वर और विश्व की सेवा ही उसके कर्म का लक्ष्य बन जाता है। सार्वभौम अमृतत्व का अनुभव तो आत्मा को सदा ही है, अतः यह उसके विश्व में आने का प्रयोजन नहीं है। **विश्व में मनुष्य के अस्तित्व का प्रयोजन यह है कि आत्मा मनुष्य के माध्यम से भी अमृतत्व का आनन्द ले सके। व्यक्तिगत मोक्ष भी लक्ष्य नहीं है क्योंकि वह तो अहंकार का सूक्ष्म रूप है**। अमृतत्व का साक्षात्कार कर लेने के बाद साधक को विश्व में दिव्य कार्य के लिए अपने को समर्पित कर देना है। यह कार्य शरीर में रहते हुए भी हो सकता है।

सम्भूति और असम्भूति

आत्मा जब प्रकृति से जुड़ती है तो उसका जन्म होता है और उसमें परिवर्तन होता रहता है। किन्तु प्रकृति से बाहर उसमें कोई गति नहीं है। इसे ही इस प्रकार कहा गया है कि वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं उनमें से एक वृक्ष का फल भोग रहा है और दूसरा केवल साक्षी है। मनुष्य का जीवन सम्भूति या जन्म से होता है। जन्म का कारण अहंकार है जब अहंकार नहीं रहता तो व्यक्ति असम्भूति में चला जाता है। इस असम्भूति को ही इसलिए विनाश कहा गया है कि इसमें व्यक्ति का लय हो जाता है। सम्भूति और असम्भूति केवल भौतिक स्थितियाँ नहीं हैं अपितु आत्मा की अवस्थाएँ हैं। इसलिए एक मनुष्य अहंकार के बाहर आकर भी भौतिक शरीर धारण किये रह सकता है। किन्तु यदि वह अहंकार से मुक्त होने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करे तो वह दुबारा शरीर धारण नहीं करता। जब तक प्रारब्ध कर्म रहते हैं तभी तक उसका शरीर रहता है।

वस्तुतः सम्भूति या असम्भूति से आसक्ति रखना उचित नहीं है क्योंकि आसक्ति अज्ञान के कारण होती है और सत्य को बाधित करती है। असम्भूति के प्रति राग साधक को शून्य में ले जाता है और सम्भूति के प्रति राग निरन्तर शरीर की सीमाओं में बाँधता रहता है। सम्भूति के प्रति राग रखने वाला व्यक्ति अज्ञान से संतुष्ट रहता है। इसलिए उसका अंधकार असम्भूति से राग रखने वाले व्यक्ति की अपेक्षा भी अधिक गहरा होता है। वस्तुतः यह दोनों ही एक दूसरे के परिपूरक हैं। असम्भूति के द्वारा साधक निर्गुण ब्रह्म में चला जाता है और सम्भूति के द्वारा वह निरन्तर प्रगति करता है।

ब्रह्म सम्भूति और असम्भूति दोनों है। जब हम यह समझ लेते है कि आत्मा अजन्मा है और जन्म तथा मृत्यु के द्वन्द से परे है तो हम कर्म करते हुए भी दिव्य जीवन जी पाते हैं। अक्षर ब्रह्म के साथ एकत्व होने पर आत्मा कर्मधारा में डूबता नहीं है। वह अभिव्यक्त रूप में भी अमृतत्व का आनन्द लेता है। वस्तुतः दिव्य नित्य होते हुए भी गतिशील है। अहंकार के मिट जाने पर और जन्म के प्रति आसक्ति न रहने पर आत्मा मृत्यु को पार कर लेता है।

इस प्रकार सम्भूति और असम्भूति के अन्तर्गत जीवन के लिए कर्म की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। जीवन ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। अमृतत्व की प्राप्ति जीवन से बाहर नहीं है। विरोधी परिस्थितियों के बीच ही दिव्य जीवन की संभावना खोजनी होती है।

सूर्य

उपनिषद् के तीसरे मंत्र में अंधकार की चर्चा की गई है। विद्या-अविद्या और सम्भूति और असम्भूति के प्रसंग में भी अंधकार की चर्चा है। यह अंधकार चेतना की अवस्था है, कोई लोक नहीं है। वेदान्त के अनुसार शरीर के छूटने पर जीवात्मा या तो ब्रह्म में लीन हो जाता है अथवा भूमि के अतिरिक्त किन्हीं और लोकों में भी शरीर धारण कर सकता है। इसका यह अर्थ है या तो वह भूमि पर शरीर धारण करे या किन्हीं दूसरे लोकों में शरीर धारण करे या जन्म और मृत्यु के चक्र से छूट जाये। तदनुसार साधक या तो भूमि पर ही अधिक सुखी जीवन का लक्ष्य रख सकता है या लोकोत्तर सुखकी आशा कर सकता है जो स्वर्ग में प्राप्त होता है। इस भूमि पर अधिक सुख की आशा से जन्म लेना उपनिषद् का लक्ष्य नहीं है। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति के पूर्व यह भी एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होता है। इसका यह अर्थ है कि साधक अभी अविद्या में ही जी रहा है। किन्तु मोक्ष के बाद स्वतन्त्र होने पर भी आत्मा दूसरों के लिए शरीर धारण कर सकता है।

वेदान्त के अनुसार पुनर्जन्म के तत्काल बाद शरीर नहीं मिलता। इसलिए पृथ्वी पर आने से पहले भौतिक शरीर और प्राण धारण करने के लिए एक अन्तराल की आवश्यकता होती है। वह अन्तराल यदि प्रकाशमय हो तो स्वर्ग हो जाता है, अन्धकारमय हो तो नरक हो जाता है। स्वर्ग और नरक का स्थान भी पृथ्वी के जीवन के समान ही है।

विकास का लक्ष्य अतिक्रमण है, किन्तु अतिक्रमण के साथ ही उसे भी बनाये रखना होता है जिसका अतिक्रमण किया जाता है। अतिक्रमण का अर्थ अहंकार

की सीमाओं को तोड़ देना तो है किन्तु अभिव्यक्ति की संभावना को नकारना नहीं है। इसलिए जीवन्मुक्ति भी संभव है। श्री अरविन्द के अनुसार स्वयं की मोक्ष की इच्छा भी छोड़नी है और यह भ्रम तोड़ना है कि जन्म बन्धन का कारण है।

ईशोपनिषद् में सूर्य को ज्ञान का स्रोत माना है और अग्नि को कर्म का स्रोत माना है। चेतना स्वयं में अदृश्य है किन्तु अभिव्यक्ति में अनेक रूप धारण कर लेती है। अपने आप में आत्मा सच्चिदानन्द है। सत्, चित् और आनन्द वस्तुतः एक ही है क्योंकि जहाँ भी शुद्ध सत् है वहाँ संवित् और आत्मानन्द भी है। सारी क्रिया आभु के संवित् से उत्पन्न होती है। यह संवित् की शक्ति तप कहलाती है। आभु में स्वयंभू एक इच्छा है जिस चित् शक्ति के द्वारा सृष्टि बनती है। सत् पर तपस् का प्रभाव पड़ने पर सत्यलोक का निर्माण होता है। सत्यलोक में आत्मा और उसकी अभिव्यक्ति एकाकार होती है। जब तपस का चित् पर प्रभाव होता है तो तपोलोक बनता है। तपोलोक में भी आत्मा अभिव्यक्ति के साथ एकाकार होती है। किन्तु यहाँ ऊर्जा मुख्य हो जाती है। जब तप का प्रभाव आनन्द पर पड़ता है तो जनःलोक का जन्म होता है। जनःलोक में आत्मा अभिव्यक्ति के सभी आनन्द को भोगती है।

उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में एकता और अनेकता भी अलग-अलग नहीं हुई है। यहाँ कुछ अस्पष्टता नहीं है। यहाँ स्वयं का ही प्रकाश है। इसलिए सूर्य का कोई विशेष योगदान नहीं है। सत्य तप और जनः लोक ऊर्ध्व सृष्टि हैं किन्तु तीन निम्न प्रकार की सृष्टियाँ भी हैं। उसमें सत्य पदार्थ के रूप में शक्ति प्राण के रूप में और आनन्द मन के रूप में बदल जाता है। ये तीन लोक भूः, भुवः स्वः हैं। भूः का सम्बन्ध पदार्थ से है, भुवः का सम्बन्ध प्राण से है और स्वः का सम्बन्ध मन से है। इन तीनों लोकों मे सूर्य लुप्त रहता है और अधिक से अधिक कुछ केन्द्रों में उसकी किरणें प्रतिबिम्बित हो जाती हैं। एक ओर भूः, भुवः और स्वः और दूसरी ओर सत्य, तप और जनः लोक है। इन दोनों के बीच में महः लोक है जिसे विज्ञान कहा जाता है। यह विज्ञान सूर्य लोक है।

सामान्य मनुष्य की चेतना के लिए सत्य एक स्वर्णिम पात्र से ढका रहता है। हम विचारों की दुनिया में रहते हैं जो ज्ञान का साधन तो है किन्तु स्वयं सत्य नहीं

है। विचारों के अनुसार हम अपने ज्ञान को व्यवस्थित करते हैं और प्रतीयमान पदार्थों के पीछे छिपे हुए सत्य का अनुमान करते हैं। वास्तविक ज्ञान अस्तित्व का सत्य है न कि आकृति का सत्य। यदि सूर्य हमारे विचारों के आवरण को दूर कर दे तो हम सत्य का दर्शन कर सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि हम पदार्थों को और अपने आप को वास्तविक रूप से देखें। हम अपनी सत्ता को दूसरे से भिन्न मानने का भ्रम पाले हैं और तब परस्पर पृथक् पदार्थों के सम्बन्ध और उपयोगिता के आधार पर हम विचार करते हैं। किन्तु यदि हम समग्र को देखें तो सत्य के नियम का दर्शन होगा।

हमारे सामान्य क्रियाकलापों में भी कम से कम सत्य का बीज उपलब्ध होता है जो हमें निरन्तर प्रकाश की ओर ले जाता है। हम विभाजन के बीच भी एकत्व की प्रवृत्ति देखते हैं जिससे ज्ञान का संश्लेषण होता है। सूर्य पूषा है अर्थात् पोषण करता है। उसका कार्य ज्ञान और इच्छा का संश्लेषण है। इसके द्वारा एकत्व अथवा अद्वैत को जानने पर ही कर्म के वास्तविक नियम का ज्ञान हो सकता है। इसलिए सूर्य यम है जो नियत्रंण करता है। हम यह जानते हैं कि आभु में ही अभ्व अपना समस्त कार्य कर रहा है। सूर्य प्रथम तो अपनी किरणों के द्वारा विचारों के पीछे छिपे हुए अलग-अलग सार को हमारे सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि हम उनके परस्पर सम्बन्ध को जान सके। सूर्य का प्रकाश जब एकत्रित होता है तो हम उस एकत्व को जानते है। मन की यह सीमा है कि वह एकत्व को अनेकों के जोड़ या शून्य के रूप में ही जान सकता है। होता यह है कि कभी-कभी हम अंश को ही पूर्ण मान लेते हैं।

इस प्रकार हम सूर्य के द्वारा अन्तर्दृष्टि से भी परे उस स्वयं प्रकाश एकत्व को देख लेते हैं। यही सूर्य का सर्वोत्तम रूप है। यह पुरुष है। उस समय साधक अपने आपको सूर्य के साथ एकाकार देखता है और तब सोऽहम् का अनुभव करता है। तब व्यष्टि और समष्टि में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

कर्म और दिव्य मनोरथ

प्रकाश के बढ़ने के साथ जब मन अपना अतिक्रमण कर जाता है तब हम मृत्यु से अमृतत्व की ओर प्रगति करते हैं। सूर्य वह द्वार है जिसमें से साधक सीमित चेतना से पूर्ण चेतना की ओर बढ़ता है। अमृतत्व में चेतना और जीवन दोनों सम्मिलित हैं। कर्म के बिना ज्ञान अधूरा है। चित्त तप के द्वारा सफल होता है और चेतना ऊर्जा के द्वारा। सूर्य दिव्य प्रकाश है तो अग्नि दिव्य शक्ति है इसलिए सूर्य के साथ अग्नि की भी स्तुति की गई है।

चाहे ज्ञान हो चाहे कर्म, एकता ही सच्चा आधार बनता है। जब तक व्यक्ति अहंकार की सीमाओं में है वह मृत्यु और अज्ञान के घेरे में है। इच्छाओं से प्रेरित होकर वह अपने लक्ष्य निर्धारित करता है। उसके विचार निर्धारित आदतों के अनुसार कार्य करते हैं। वह सूर्य के पूर्ण प्रकाश में कार्य न करके एक किरण मात्र से काम चलाता है। उसका ज्ञान सङ्कीर्ण है और उसे विश्व की समग्र कार्य पद्धति का पता नहीं है। वह सत्य को खोजने के लिए असत्य का ही सहारा लेता है। उसकी अद्वैत दृष्टि नहीं होती और इसलिए वह सत्य और अमृतत्व की ओर नहीं बढ़ पाता। वह दुःख और अंधकार में जीता है।

गलतियों के बीच भी साधक प्रेम को ढूँढता है और टेढ़े मेढ़े मार्ग से ऋजु मार्ग की ओर चलता है। अग्नि वह चेतना की दिव्य शक्ति है जो संसार में अपना कार्य कर रही है। वह यात्रा का नेतृत्व कर रही है और मरणधर्माओं में अमृत रूप है। यह अग्नि वैश्वानर है जो कामनाओं और अहंकार का अतिक्रमण करने में सहायता करती है। इसमें समस्त देवताओं का समावेश हैं। इस प्रकार सूर्य और

अग्नि ऐसे दो प्रतीक हैं जिनका उपयोग ईशोपनिषद् में किया गया है। जीवन दिव्य शक्ति का आह्वान करता है। अग्नि मरुतों को जन्म देती है, जो विचारों की शक्ति है। उन मरुतों से इन्द्र बनता है जो अंधकार के वृत्र का नाश करके सूर्योदय में सहायक होता है। सूर्य स्रष्टा के रूप में सावित्री है जो अहंकार का नाश करती है। वेद के देवता मानव जीवन की प्रगति के वाहक है।

पदार्थ से हमारा शरीर बनता है जहाँ गति है। जब प्राण शरीर को छोड़ देते हैं तो भस्म ही शेष रहती है। इसलिए हम शरीर नहीं हैं। पदार्थ जन्म और मरण का स्वरूप है। इसलिए मनुष्य को अपने आपको शरीर नहीं समझना चाहिए। अमृत प्राण जन्म और मृत्यु से ऊपर है। जन्म और मृत्यु पदार्थ में ही रहते हैं। प्राण शरीर के नष्ट होने के साथ नष्ट नहीं हो जाता। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य मृत्यु के बाद निःशेष हो जाता। प्राण से शरीर बनता है, शरीर से प्राण नहीं बनता। प्राण के कारण हम एक जन्म से दूसरे जन्म तक जाते हैं कर्म के पीछे क्रतु है, जो इच्छा है, वह चेतना की शक्ति है। वह चेतना अवचेतन और अतिचेतन सब में ही रहती है किन्तु मुख्य रूप से उसका राज्य मन में है। क्योंकि हमारी स्मृति सीमित है इसलिए मनोरथ चेतना का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। हमें जो वर्तमान में आकृष्ट करता है हम उसे ही उपयोगी समझते हैं। हम जो करते हैं उसी में खो जाते हैं किन्तु हम अतीत के उन कामों से भी नियंत्रित होते हैं जिन कामों को हम भूल गये हैं। हम कर्मों के साक्षी नहीं बन सकते किन्तु शुद्ध आत्मा कर्मों के पीछे खड़ी होकर साक्षी बनती है। उपनिषद् में उस क्रतु का आह्वान किया गया है जिसके द्वारा हम अपने अतीत को याद कर सकें। इस प्रकार हम एक जीवन को दूसरे जीवन से जोड़ते हुए अपने ज्ञान को बढ़ा सकते हैं और हमारा मनोरथ दिव्य मनोरथ बन सकता है। दिव्य मनोरथ में चेतना और ऊर्जा अथवा ज्ञान और ऊर्जा एकाकार हो जाते हैं। जातवेदा के रूप में अग्नि सभी जन्मों को जानती है। यह दिव्य मनोरथ ही विश्व का संचालन करता है। यह जो जानता है वही करता है और जो करता है वही हो जाता है, किन्तु अहंकार के कारण इसमें बाधा आती है। जब तक हम अपनी आत्मा के स्वामी न बन जायें और अहंकार में जीते रहें तब तक हमारा ज्ञान क्रियान्वित नहीं हो सकता। सच्चा ज्ञान और कर्म ही एकाकार हो सकते हैं।

जैसे ही मन दिव्य की ओर बढ़ता है अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वह अग्नि हमें वक्रता से हटाकर ऋजु मार्ग पर ले जाती है। दिव्य मनोरथ और दिव्य ज्ञान मिलकर आनन्द और अमृतत्व की प्राप्ति कराते हैं। इसके द्वारा अहंकार और पृथक्त्व का निराकरण होता है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्ति अपनी सब इच्छाओं को दिव्य की इच्छा के प्रति समर्पित कर दें। यह दिव्य की इच्छा सूर्य के प्रकाश से प्रकट होती है। यह व्यक्तिगत नहीं है। यह उस पुरुष की इच्छा है जो सर्वव्यापक है और सबका अतिक्रमण कर जाता है। अमृतत्व के दो द्वार हैं—प्रथम तो ईश्वर का पूर्ण चेतन के रूप में ज्ञान और दूसरे उसके प्रति अपने सभी कर्मों का समर्पण। ये दोनों मिलकर भक्ति बनते हैं जो मनुष्य के लिए ईश्वर की प्राप्ति का साधन है।

वस्तुतः ईशोपनिषद् छन्दोबद्ध उपनिषदों में प्राचीनतम है इसलिए यह वेद से जुड़ा हुआ है और वैदिक ऋषि के पुराने मनोविज्ञान को प्रतिबिम्बित करता है। बाद के उपनिषदों में वैदिक मनोविज्ञान और विचारधारा के स्थान पर संन्यास की छाया अधिक बलवती हो गई किन्तु ईशोपनिषद में अद्वैत और मानव जीवन के बीच समन्वय का प्रयत्न है। श्री अरविन्द के अनुसार ईशोपनिषद शंकराचार्य के मायावाद से मेल नहीं खाता। बाद के उपनिषदों में संसार सुखभोग कर्म, अनेकता, जन्म और अज्ञान को गौण करके ईश्वर त्याग, शान्त, एक, मोक्ष और ज्ञान को इतना महत्त्व दे दिया गया कि संसार एक माया बनकर रह गया जिसका स्वयं का प्रयोजन नहीं है और जिसे छोड़ देना ही उचित है। किन्तु ईशोपनिषद् के अनुसार त्याग और भोग का समन्वय ही उचित है। इसी प्रकार कर्म करते हुए भी कर्म के बन्धन से मुक्त रहना ईशोपनिषद् का आदर्श है। एकत्व में अनेकत्व का भी समावेश होना चाहिए। विद्या और अविद्या तथा संभूति और असंभूति के संबंध में ईशोपनिषद् ने जो कुछ कहा है वह जीवन को ही अमृतत्व का क्षेत्र बनाता है। ईशोपनिषद् का यह विचार भारत में सदा बना रहा किन्तु संसार के अस्तित्व से मुक्त हो जाने के स्वर में यह दब सा गया।

विरोधों का परिहार

प्रथम विरोध ईश्वर और प्रकृति में है, किन्तु वस्तुतः प्रकृति ईश्वर की ही गति का परिणाम है जिसके द्वारा एक ही आत्मा अनेक शरीरों में रहकर अनेकता का सुख भोगता है। इसके लिए पूर्ण त्याग का भाव आवश्यक है जिसका यह अर्थ है कि कामना और अहंकार को छोड़ा जाये न कि संसार को छोड़ा जाये। वस्तुतः इच्छा और अहंकार दिव्य आनन्द का विकृत रूप है। दिव्य आनन्द से सृष्टि उत्पन्न होती है। जब अहंकार और इच्छा छूट जाती है तो आनन्द ही शेष रहता है। तब मृत्यु से अमृतत्व की ओर गति होती है। अहंकार से मुक्त होकर अस्तित्व का अनन्त आनन्द प्राप्त करना अमृतत्व है।

कर्म और आत्मा की स्वतंत्रता में कोई विरोध नहीं है। मनुष्य कर्म से बँधता नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह कर्म से बँधा है। साधक को ईश्वर के साथ अपनी एकता की चेतना को जागरूक करना है। ऐसा होने पर जीवन और कर्म को स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि संसार में हमारे अस्तित्व का यही प्रयोजन है।

शांति और गति भी ब्रह्म का ही रूप हैं, किन्तु इन दोनों के बीच हमारी चेतना भेद करती है। हमारी चेतना दूर और पास अन्तरङ्ग और बाह्य, मैं और तू तथा एक और अनेक में भेद करती है किन्तु ब्रह्म इन सभी में है और इन सबसे ऊपर भी है। शांति भी एक प्रकार की गति है जो चेतना में रहती है किन्तु हम उसे पकड़ नहीं पाते हैं। अहंकार से हम ऐसा समझते हैं कि हम हमारे अंदर हैं और बाकी सब हमसे बाहर है किन्तु वस्तुतः यह सभी एक अविभक्त गति है जो भौतिक नहीं है।

आभु और अभ्व, एक और अनेक दोनों ही सत्य है। आभु एक है अभ्व अनेक है। किन्तु इसका यह अर्थ है कि एक आभु अनेक अभ्व के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। हम एक आभु को तो देखें ही अनेक अभ्व को भी देखें क्योंकि वह भी ब्रह्म का ही रूप है। एक ही आत्मा अनेक हो गई है। समस्त गति, शक्ति और घटनाएं उसी की हैं ऐसा समझने पर हम अहंकार और कामना से मुक्त हो जायेंगे और अपना व्यक्तिगत पृथक् अस्तित्व का भान भी समाप्त हो जायेगा। अहंकार के कारण हम अपने को अस्तित्व से अलग रहकर संकुचित करना चाहते हैं और उसके कारण ही सब शोक उत्पन्न होता है। भय, निर्बलता, अभाव और द्वेष आदि सब अपने को पृथक् मानने का परिणाम है। इससे मुक्त होने पर जब मनुष्य अपने आपको सब प्राणियों में देख लेता है तो अहंकार लुप्त हो जाता है और कुछ बनने की इच्छा समाप्त हो जाती है। एक का आनन्द कामना का स्थान ले लेता है।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म एक ही ब्रह्म के पक्ष हैं। वह ही गति कर रहा है और गति के कारण होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित भी रहता है। निष्क्रियता क्रिया का आधार है। वह जो कुछ भी करता है उसके प्रभाव से मुक्त रहता है। एक का और अनेक का ज्ञान एक ही चेतना की गति के परिणाम है। अनेकों का ज्ञान अविद्या है। जब मन परिभू अर्थात् चारों ओर के क्रियाकलापों को देखता है तो वह एक के ज्ञान को भूल जाता है। अविद्या का यह परिणाम है कि मनुष्य विभाजन के स्तर पर सभी संभावनाओं को देखने के बाद विद्या की ओर अभिमुख होता है। वस्तुतः हमें जन्म में ही अमृतत्व को देखना है। आत्मा अमर है उसे अविद्या और जन्म की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वह जन्म के द्वारा अनेक में एक को देख लेता है और तब जन्म बाधक नहीं रहता। अतः हमारा उद्देश्य जन्म से बचना नहीं है। बन्धन का कारण अहंकार है न कि शरीर।

सबसे अधिक चर्चा कर्म और ज्ञान के बीच विरोध की होती है। यह विरोध तभी तक है जब तक हम अहंकार को मानसिक धरातल पर सोचते हैं। मानस ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, वह तो ऋषि और कवि की दृष्टि है। मानस ज्ञान तो एक आवरण है जो सत्य पर ढका हुआ है। जब उसे हटा देते हैं तो मानस

के स्थान पर महः आ जाता है। विज्ञान हमें शुद्ध ज्ञान की ओर ले जाता है। उस समय हमारी इच्छा और दृष्टि एक ही हो जाती है। उस समय हमारे कर्म भी हमें सबके साथ जोड़ते है और तब अहंकार का वक्र मार्ग समाप्त हो जाता है तब जीवन का वह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है जो पृथ्वी पर शारीरिक स्थिति में भी प्राप्त किया जा सकता है और परलोक में भी उस दिव्य जीवन का अनुभव किया जा सकता है।

वस्तुतः श्री अरविन्द को ईशोपनिषद् के मन्त्रों में अपने विचारों के समर्थन में इतनी अधिक सामग्री मिली है कि उन्होंने ईशोपषिद् की एक व्याख्या लिखने से पहले नौ लेख अथवा अधूरे भाष्य ईशोपनिषद् पर ही भिन्न-भिन्न शैलियों में लिखे। इनमें एक भाष्य गुरु-शिष्य संवाद के रूप में भी है जिसमें ईशोपनिषद का रहस्य सरल शब्दों में प्रकट किया गया है। श्री अरविन्द का जो कुछ वैशिष्ट्य है उसके लिए उन्हें ईशोपनिषद् में पूरा समर्थन मिला है और उन्होंने यह भी संकेत किया है कि ईशोपनिषद् की भाषा शैली को देखते हुए शांकर वेदान्त के मायावाद का समर्थन नहीं हो सकता। विशेष यह है कि श्री अरविन्द के अनुसार ईशोपनिषद् में निर्गुण और सगुण, त्याग और भोग, ज्ञान और कर्म, एक और अनेक, विद्या और अविद्या जैसे द्वन्दों का ऐसा समाहार किया गया है कि ईशोपनिषद् का लक्ष्य संसार में रहते हुए भी दिव्यता की प्राप्ति का बन जाता है जो कि श्री अरविन्द का भी लक्ष्य है। श्री अरविन्द के ईशोपनिषद् के भाष्य की एक विशेषता यह है कि इसमें जहाँ अपः और मातरिश्वा जैसे शब्दों की वह युक्तिसंगत व्याख्या की गई है जो अन्यत्र भाष्यों में उपलब्ध नहीं है वहाँ ईशोपनिषद् के अन्त में आये हुए सूर्य, अग्नि और पूषण जैसे शब्दों का भी प्रतीकात्मक अर्थ खोला गया है यह अर्थ प्रायः अन्य भाष्यों में उपलब्ध नहीं है। श्री अरविन्द का मत है कि ईशोपनिषद् वेदान्त की उस धारा का प्रतिनिधित्व करता है जो प्राचीन है और परवर्ती वेदान्त से भिन्न है।

उपनिषद् में वाक् की वाक् का उल्लेख है। प्रश्न यह है कि हमारी सामान्य भाषा से ऊपर दैवी वाक् के अस्तित्व का क्या आधार है। उसी प्रकार मन से ऊपर अतिमानस के अस्तित्व का भी प्रश्न है। दैवी वाक् सभी पदार्थों की सर्जक है।

दैवी वाक् को पहचानने वाले अतिमानस की आवश्यकता है। वस्तुतः अतिमानस की आवश्यकता मन की प्रकृति से उत्पन्न होती है। मन के स्तर पर मनुष्य मनु है। मन के न रहने पर मनुष्य का अस्तित्व नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थ से मन का विकास हुआ है और पदार्थ ही अस्तित्व का आधार है। इसलिए वही शरीर के नष्ट होने पर शेष रह जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार पदार्थ से मन का विकास नहीं हो सकता, जब तक कि पदार्थ में मन पहले से ही अन्तर्निहित न हो। वस्तुतः पदार्थ में रहने वाली शक्ति मन को जन्म देती है। इस शक्ति में या तो स्वयं ही चेतना है या मन की चेतना कार्य करती है।

LIMITED MIND

There is a consciousness mind cannot touch,
Its speech cannot utter nor its thought reveal.

—Savitri p. 705

केनोपनिषद्

प्रसिद्ध 12 उपनिषद् ब्रह्मविद्या के भिन्न-भिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। **ईश तथा केन उपनिषदों में से ईश में अस्तित्व के एकत्व पर बल दिया गया हैं जबकि केन में मन की चेतना तथा ब्रह्म चेतना के परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है।**

व्यवहार में संसार में वही है जो हमें इन्द्रियों तथा मन द्वारा ज्ञात होता है। प्रश्न होता है कि क्या मन, प्राण और शरीर ही सब कुछ हैं अथवा ये केवल किसी बृहत्तर शक्ति के आवरण-मात्र हैं? जैसे मन पदार्थ को जानता है किन्तु पदार्थ मन को नहीं जानता उसी प्रकार एक मन से परे की शक्ति मन को जानती है किन्तु मन उस शक्ति को नहीं जान सकता; इसके लिए तो मन से ऊपर उठना होगा। तब ही अमृत की प्राप्ति हो सकती है। यह अवश्य है कि ब्रह्मचेतना संसार से असंपृक्त नहीं है अपितु उसकी सञ्चालिका है। यह शुद्ध आनन्द हैं जो सांसारिक भोगों से भिन्न है। इसे प्राप्त करना ही महत्त्वपूर्ण है।

मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञानेन्द्रियाँ और भौतिक जगत् से सम्पर्क बनाने वाली कर्मेन्द्रियाँ स्नायु मण्डल की प्राणशक्ति पर निर्भर करती हैं। केनोपनिषद् का प्रश्न है कि मन, प्राणशक्ति, वाक् और इन्द्रियों का अन्तिम स्रोत अथवा नियन्ता कौन है? पञ्चभूत अधिभूत का विषय है और अभौतिक देव अधिदैव का विषय है। देव, मन और प्राण के द्वारा अभिव्यक्त होते है किन्तु इन देवों से भी ऊपर आत्मा है जो अध्यात्म का विषय है। अधिदेव मन और प्राण के द्वारा कार्य करता है। केनोपनिषद् में अधिदेव और अध्यात्म के बीच सम्बन्ध की

चर्चा है। मन, प्राण और वाक् इन्द्र, वायु और अग्नि के द्वारा शासित है। प्रश्न होता है कि क्या ये देव ही अस्तित्व का प्रारम्भ बिन्दु हैं? मन अपनी गतिविधि में किसके द्वारा प्रेरित होता है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् में जीवन शक्ति को मुख्य प्राण कहा है। इसमें ही वाक् है जो सर्जनात्मक शक्ति है। प्राण के अपान, समान, व्यान और उदान ये चार भेद हैं। प्रथम प्राण शुद्ध जीवन शक्ति है उसी के कर्म के भेद से पांच भेद हो जाते हैं। वेद में प्राण को अश्व कहा है जो देवों के रथ को खींचता है। इसलिए उपनिषद् में 'युक्त' अर्थात् 'जोतने' शब्द का प्रयोग है। यह प्राण वायु से प्रेरित होता है और अग्नि से मिलकर शब्द को जन्म देता है। इसके पीछे कौनसी रहस्यमय शक्ति है—यह प्रश्न भी उपनिषद् में उठाया गया है। वह कौन देव है जो आँख और कान को अपने काम में लगाता है। सूर्य देखने के लिए और आकाश सुनने के लिए एक अवसर प्रदान करते हैं किन्तु वह देखने और सुनने की क्रिया के उत्प्रेरक नहीं हैं। सारे विश्व में एक महाक्रिया है। देवता उसी शक्ति से कार्य करते हैं। वह शक्ति मन और इन्द्रियों के परे है।

यह सत्य है कि हमें जो कुछ ज्ञान इन्द्रियों से मिलता है उसका भी मूल्य है; उससे हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है और उनसे वह सुख मिलता है, जिसके लिए मनुष्य अधिक से अधिक तपस्या करने को तैयार है। उस आकर्षण को छोड़ने के लिए उससे एक बड़ा आकर्षण होना चाहिए और वह आकर्षण बड़े अभ्व का आकर्षण नहीं है अपितु असीम आभु का आकर्षण है। इसमें सुख की अपेक्षा आनन्द है। मन के स्तर पर वर्धमान प्रकाश है, चेतना है और जीवन है किन्तु अतिमानस स्तर पर अनन्त जीवन, प्रकाश और चेतना है। मन में जो आवृत है अतिमानस स्तर पर वह पूर्ण और स्पष्ट है। अतिमानस स्तर पर जो कुछ मन के स्तर पर हम जानते हैं, उसका रूपान्तरण हो जाता है। वह मन का भी मन है प्राण का भी प्राण है और चक्षु का भी चक्षु है। हम आत्मा की प्राप्ति के लिए अहङ्कार का विसर्जन करते हैं। मन के स्तर पर निरन्तर परिवर्तन है। अतिमानस स्तर पर नित्यता है। मन के स्तर पर हम काल के साथ विकसित होते हैं किन्तु अतिमानस स्तर पर कालातीत चेतना रहती है। अतिमानस ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। यही अमृत है, यही आनन्द है। मन के कारागार में अहङ्कार पदार्थों का आनन्द नहीं ले सकता क्योंकि पदार्थ निरन्तर बदलते रहते हैं और उन पर

आत्मा का अधिकार भी नहीं है किन्तु अतिमानस स्तर पर सब कुछ बिना सङ्घर्ष के ही अधिकार में आ जाता है। मन के स्तर पर जो सतही मनुष्य है, अतिमानस स्तर पर वास्तविक पुरुष है। मन के स्तर पर मृत्यु के बीच से जीवन प्राप्त करने का सङ्घर्ष है, अतिमानस स्तर पर स्वतःसिद्ध अमृतत्व है। **सबका नियन्ता परम तत्त्व ईशोपनिषद् में संश्लेषण के द्वारा निर्दिष्ट हुआ है; केनोपनिषद् में वही विश्लेषण से संश्लेषण की ओर अथवा एकत्व की ओर जाने का उपक्रम है**। दोनों का परिणाम एक ही है। अनेकत्व को छोड़कर एकत्व की प्राप्ति परम लक्ष्य है। ईशोपनिषद् में प्रबुद्ध साधक को सम्बोधित किया गया है। इसलिए उसमें प्रारम्भ में ईश्वर का उल्लेख है। केनोपनिषद् में उस साधक को सम्बोधित किया गया है जिसका बाह्य जगत में आकर्षण शेष है। इसलिए इसमें प्रारम्भ में ब्रह्म को आत्मा के रूप में और बाद में ईश्वर के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

केनोपनिषद् में यह स्पष्ट किया गया है कि मन, प्राण, इन्द्रियाँ और वाक् परम ब्रह्म नहीं हैं। वे केवल बाह्य उपकरण मात्र है। हमारा वास्तविक स्वरूप ब्रह्म-चेतना है। हम काल के प्रवाह में मन और शरीर का निर्माण करते जाते हैं, अहङ्कार भी हमारा अपना स्वरूप नहीं है। अहङ्कार इन्द्रिय और मन के अनुभवों का अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा कर लेता है, जिसके आधार पर गतिचक्र चलता रहता है। यह भी एक उपकरण ही है। तथापि अपने मानसिक धरातल पर हम अहङ्कार को अपना वास्तविक स्वरूप मान लेते हैं। स्मृति भी हमारे वास्तविक स्वरूप का घटक नहीं है, अपितु एक उपकरण ही है जो हमारी चेतन गतिविधियों को व्यवस्थित करता है। स्मृति के द्वारा अहङ्कार की निरन्तरता बनी रहती है। हमारा नैतिक व्यक्तित्व भी वास्तविक नहीं है। नैतिकता के आधार पर हमें परिवर्तन में नित्यता का आभास होता रहता है और पुण्य को ही हम अपना स्वरूप मान लेते हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप शाश्वत चेतना है। जब तक अपने मानसिक आवरण को दूर न कर दें तब तक हम उसे नहीं जान सकते क्योंकि तब तक हम परिवर्तनशील को ही जान पाते हैं। मन को वास्तविकता का आभास तो होता है किन्तु वास्तविक ज्ञान नहीं होता। वेद का कहना है—'जैसे ही मन उसका अध्ययन करना चाहता है वह लुप्त हो जाता है।' किन्तु मन के पीछे एक ब्रह्म चेतना है जो मन का भी मन है। वहीं पर हमें अपने स्वरूप की उपलब्धि होती

है। परम तत्त्व जगत् का उद्गम है और इसका अनुशास्ता भी है। परम तत्त्व मन का विषय तो है ही नहीं किन्तु वह मन पर निर्भर भी नहीं है। वह मन के द्वारा विचार नहीं करता है और न वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति देता है। ब्रह्म अतिमन के द्वारा मन को मनन की शक्ति देता है। वह उसे देखता और सुनता है जो परिवर्तनशील नहीं है। मन के भी मन का अर्थ है कि जो मन के द्वारा नहीं सोचता अपितु जिसके कारण मन सोच पाता है। वह प्राण से प्राणित नहीं होता किन्तु उसके द्वारा ही प्राण सक्रिय होता है। अभिप्राय यह है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा प्रकट होने वाले को जानना पर्याप्त नहीं है।

वाक् के वाक् का अर्थ है कि जो कुछ मनुष्य की वाक् से प्रकट होता है वह कृत्रिम और आभास मात्र ही है। वेद में वाक् का सम्बन्ध सर्जनात्मक शक्ति से है जो विश्व के रूप का निर्माण करती है। वह वाक् मन से ऊपर है। वस्तुतः यह सारा विश्व वाक् की अभिव्यक्ति है। किन्तु जो कुछ शब्द के द्वारा प्रकट होता है वह वास्तविकता की एक प्रतिकृति ही है। वाक् के द्वारा ब्रह्म को मन के सामने प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा केवल मन के सामने एक आकृति बनायी जा सकती है। वाक् में वस्तुतः सर्जन की शक्ति है। मनुष्यों की वाणी में भी वाक् के स्वरूप का अस्पष्ट आभास हो सकता है। हम जानते हैं कि ध्वनि का स्पन्दन आकृति बना सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि सभी आकृतियों के पीछे वाक् का सर्जनात्मक स्पन्दन रहता है। वस्तुतः वायु कण्ठ और मुख के द्वारा जो ध्वनि पैदा करती है वही वाक् बन जाती है। प्रारम्भ में किसी भी पदार्थ या घटना को देखकर स्वतः ही एक संवेदना उत्पन्न होती है जिसे वाक् अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार भाषा कुछ पैदा नहीं करती अपितु केवल प्रस्तुति का माध्यम है। किन्तु वास्तव में भाषा सर्जनात्मक है। यह भावनाओं और मानसिक बिन्दुओं को उत्पन्न करती है। वेद में इस शक्ति को मंत्र कहा गया है। यह मंत्र मानसिक धरातल पर उत्पन्न विचार की अपेक्षा अधिक गहरे स्तर पर पैदा होता है। मौन शब्द का मुखर शब्द की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। मंत्र हमारी मानसिकता को ही नहीं बदलता अपितु दूसरों की मानसिकता को और पर्यावरण को भी बदलता है। अपने प्रतिदिन के व्यवहार में भी हम शब्द के द्वारा विचारों की तरंग पैदा करते हैं और उन विचार तरंगों से प्राण और शरीर में भी परिवर्तन आता है।

इस प्रकार मनुष्य मौन और मुखर शब्द के द्वारा अपने में परिवर्तन ला रहा है। किन्तु प्रकृति में यह परिवर्तन और भी अधिक सशक्त है। हम बाहरी जगत में डूबे रहने के कारण शब्द की उस शक्ति को नहीं पहचान पाते। वैदिक मंत्र शब्द की उस शक्ति के उपयोग का माध्यम है शब्द का प्रथम प्रभाव प्राण पर पड़ता है फिर मन पर और फिर अतिमन पर। किन्तु मन पर स्पन्दन विचार के रूप में है जबकि अतिमानस के स्तर पर वह उच्चतम दर्शन है। मन के धरातल पर कोई भी स्पन्दन विचारात्मक होता है किन्तु उच्च स्तर पर वह वस्तुओं के सत्य का दर्शन कराता है। अतः वाक् का वाक् वह शब्द है जो शुद्ध अस्तित्व का स्पन्दन है। अतिमानस उस शब्द का प्रयोग सर्जन के लिए करता है।

ओम् जैसे बीज मन्त्र का स्पन्दन लयात्मक है, जिसमें वस्तुओं के नियम अन्तर्निहित हैं। जो कुछ जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है वह ब्रह्म का भास मात्र है क्योंकि ब्रह्म को शब्द से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वाक् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि हमें संसार के पदार्थों को ही अपना लक्ष्य बनाना है; हमारा लक्ष्य वह होना चाहिए जो शब्द का मूल स्रोत है। अभिप्राय यह है कि शुद्ध अस्तित्व से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है। मनुष्यों की भाषा दिव्य शब्द की छायामात्र है।

जिस प्रकार केनोपनिषद् में वाक् के पीछे रहने वाली वाक् का वर्णन है उसी प्रकार मन की पीछे रहने वाली ब्रह्म चेतना का वर्णन है। जिस प्रकार वाक् अभिव्यक्त करती है, मन उसी प्रकार जानता है। यदि शब्द सर्जनकर्ता है तो मन ज्ञाता है। मन का स्वभाव जानना है इसलिए एक ऐसी अतिमानस स्थिति का भी होना आवश्यक है जहाँ सब कुछ जाना जा सके। यह स्थिति अतिमानस की है। मानसिकता के तीन अंग हैं— विचार, इच्छा और संवेदना। संवेदना विभक्त चेतना के द्वारा होती है। किन्तु वर्तमान स्थिति में वस्तुतः मन अपने तीनों ही कार्यों को अपूर्ण रूप में कर पाता है। जिस प्रकार प्राण सीमित है, मन भी सीमित है। दूसरे शब्दों में चेतना की सम्पूर्ण संभावनाएँ मन पर समाप्त नहीं हो जातीं। मन सत्य को जानना चाहता है किन्तु पूर्णतः सफल नहीं हो पाता। किन्तु प्रकृति में एक ऐसा भी तत्त्व है जो सत्य को अनावृत्त रूप में जान लेता है। इसे वेद में

ऋत चित् कहा गया है। मन रस अथवा आनन्द को भोगना चाहता है। किन्तु वह इसे सीधा प्राप्त नहीं कर सकता और बाह्य तथा आंशिक रूप से ही जान पाता है। इसलिए एक ऐसा तत्त्व भी होना चाहिए जो इसे सीधा जान सके। वही तत्त्व अतिमानस है। जिस प्रकार पदार्थ में स्पन्दन, क्रिया, प्रतिक्रिया, आकर्षण, विकर्षण, संकोच, विस्तार और वृद्धि के तत्त्व उपस्थित हैं किन्तु वह प्राण के रूप में तभी प्रकट होते हैं जब पदार्थ में अनुकूल शर्ते पूरी होती हैं। इसी प्रकार प्राण में संवेदना, इच्छा और बुद्धि के तत्त्व हैं किन्तु वह मन के रूप में तभी प्रकट होते हैं जब अनुकूल शर्ते पूरी होती हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन में भी सहानुभूति, एकत्व, अन्तर्दृष्टि जैसे अतिमानस के सभी तत्त्व हैं किन्तु वह प्रकट तभी होते है जब उन्हें अनुकूल परिस्थिति मिले।

यह अतिमानस मन की पहुँच से परे है और यह मन के द्वारा विचार नहीं करता अपितु मन ही इसके द्वारा विचारशील बन पाता है। यह ब्रह्म चेतना का अंश है। इसकी अनन्तता में सभी संश्लेषण का अतिक्रमण करने की क्षमता है और यह किसी प्रकार के विश्लेषण से ऊपर है। मुख्य बात यह है कि मन अनेकों को जोड़कर एक तक पहुँचता है जबकि अतिमन के स्तर पर अनेकता एकता की ही गौण अभिव्यक्ति है– **एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।**

श्रीमद्भगवद्गीता

श्री अरविंद ने इस बात पर बल दिया है के गीता का उपदेष्टा एक दिव्य अध्यापक है। सारे उपदेश को हमें महाभारत के उस परिप्रेक्ष्य में समझना होगा जिस परिप्रेक्ष्य में श्री कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। परिप्रेक्ष्य है—कुरुक्षेत्र अर्थात् कर्तव्य के क्षेत्र में धर्म की स्थापना कैसे की जाए। अर्जुन अपने समय का एक विशिष्ट प्रतिनिधि है और श्री कृष्ण तथा अर्जुन के बीच का संबंध पारंपरिक गुरु-शिष्य का संबंध नहीं है। श्री कृष्ण अवतारी पुरुष हैं और अवतार के रूप में विशाल भी हैं। जो उन्हें मनुष्य समझते हैं वे आसुरी लोग हैं और वे अपनी दुःस्थापित तपस्या के द्वारा जो कुछ भी करते हैं उससे श्रीकृष्ण को कष्ट ही होता है। विशेष बात यह है कि गीता में भी मनुष्य के रूप में संसार के सामने उपदेश दे रहे हैं। सामान्य व्यक्ति को यह समझ में नहीं आएगा कि किस प्रकार एक निराकार सत्ता मनुष्य रूप धारण कर सकती है। किंतु वेदांत के अनुसार पूरा अस्तित्व ही साकार रूप धारण कर सकता है। नर और नारायण का विशेष संबंध है। अर्थात् मनुष्य सदा ईश्वर के निकट है। जहाँ तक श्री कृष्ण के ऐतिहासिक होने का संबंध है, छांदोग्य उपनिषद में उल्लेख है कि उन्हें आङ्गिरस घोर ने उपदेश दिया था और वे देवकी के पुत्र थे। अतः श्री कृष्ण के ऐतिहासिक पुरुष होने में तो कोई संदेह है ही नहीं। वेद में एक और भी चित्र है जिसके अनुसार एक ही वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक केवल दृष्टा है और दूसरा केवल भोक्ता है। वेद में ऋषि कुत्स और इंद्र के बीच में चर्चा हुई जिसका विषय ज्ञान था। लेकिन गीता की चर्चा का विषय कर्म है। पुराणों में जिस वंशी का उल्लेख है वह श्री कृष्ण की पुकार है जो मनुष्य आत्माओं को

गोपियों के रूप में बुलाती है। इस प्रकार गीता एक विशेष अवसर पर ही दिया गया उपदेश नहीं है। श्री कृष्ण की दिव्यता के बाद हमें अब एक मनुष्य के रूप में अर्जुन को देखना है जो शिष्य है।

शिष्य के रूप में अर्जुन परम्परागत वर्ण व्यवस्था की चर्चा के साथ-साथ युद्ध से होने वाले अनिष्ट की भी चर्चा करता है। उसके एक ओर क्षात्र धर्म का प्रश्न है तो दूसरी ओर अपने ही भाई-बन्धुओं को मारने का धर्मसंकट है। ऐसी विषाद् और दुविधा की स्थिति में वह शिष्य के रूप में श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है। उसकी समस्या हम सबकी समस्या है। आदर्श और औचित्य के अन्तर्विरोध का समाधान मानवीय चेतना नहीं कर पाती। उसका समाधान न पलायन में है और न जीवन में सामान्य स्थिति में बने रहने में। उसके लिए जीवन में रहकर जीवन से ऊपर उठना होगा। यदि संकट परिस्थिति जन्य है और परिस्थिति बदली जा सकती है तो परिस्थिति का परिवर्तन समाधान है किन्तु यदि उसका संबंध चेतना से है तो चेतना को बदलना होगा। श्री अरविन्द के अनुसार जीवन एक संघर्ष है जिसमें साहस की आवश्यकता है। अर्जुन का युद्ध से विरत हो जाने का प्रस्ताव उसकी दुर्बलता का सूचक है न कि वैराग्य का। वह स्वभाव से योद्धा है। अर्जुन के रथ की बागडोर ही श्रीकृष्ण के हाथों में नहीं है अपितु उसने अपने जीवन की बागडोर भी उन्हें सौंप दी।

अर्जुन के शरणागत हो जाने पर श्रीकृष्ण ने सबसे पहले उसके वीरभाव को जगाया ताकि वह श्रीकृष्ण के उपदेश को ग्रहण कर सके। गीता का उपदेश वीरों के लिए है, कायरों के लिए नहीं। सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य। वस्तुतः अर्जुन की समस्या का समाधान नैतिक अथवा मानवीय स्तर पर सम्भव नहीं है। इसलिए अर्जुन से एक उच्चतर आध्यात्मिक धरातल पर उठने को कहा जा रहा है, जहाँ मनुष्य अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में समता का भाव रख सके। यह आत्मभाव है जहाँ पाप का प्रवेश नहीं है। इस स्तर पर योगस्थ होना आवश्यक है, जहाँ अनासक्ति का भाव मुख्य होता है। इसलिए गीता को योगशास्त्र कहा गया है। श्री अरविन्द के अनुसार निष्काम कर्म एक सामाजिक आदर्श नहीं है अपितु योग की साधना है। इन्द्रियों

के विषयों में लिप्त होने पर साधक की बुद्धि नष्ट हो जाती है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न रखना एक कठिन साधना है जिसका एकमात्र साधन आत्मस्थित हो जाना है। **इन्द्रिय संयम का एक रूप यह है कि हम इन्द्रियों को बाह्य विषयों से बलपूर्वक रोकें। यह दमन का मार्ग है। किन्तु दूसरा मार्ग यह है कि हम आत्मा में स्थित हो जाये तो इन्द्रियाँ स्वतः ही विषयों से विरक्त हो जायेंगी। यह योग का मार्ग है।**

अर्जुन के सामने प्रश्न था कि आत्मस्थिति श्रेष्ठ है या कर्म। श्रीकृष्ण का उत्तर है कि आदर्श यह है कि व्यक्ति आत्मस्थित रहते हुए कर्म करें। इसका यह अर्थ है कि साधक का जीवन समाज की दृष्टि से नैतिक होना चाहिए और अध्यात्म की दृष्टि से योगमय। ये दोनों एक साथ होना सम्भव है।

श्रीकृष्ण अपनी बात का स्पष्टीकरण करने के लिए यज्ञ की चर्चा करते हैं, जो नैसर्गिक आदान-प्रदान का रूप है। हम सब आपस में जुड़े हैं, इसलिए हमारे बीच आदान-प्रदान होना अनिवार्य है। यदि हम स्वार्थवश केवल लेते ही रहेंगे और देंगे नहीं तो इस आदान-प्रदान की व्यवस्था में विघ्न आ जायेगा। यज्ञ में दिया जाने वाला दान किसी एक के प्रति नहीं अपितु विश्वात्मा के प्रति आहुति है। कर्म का एक दूसरा स्वरूप लोकसंग्रह है। लोकसंग्रह केवल एक सामाजिक आदर्श नहीं है अपितु आध्यात्मिक विकास की सीढ़ी है। कर्म की निन्दा अज्ञानियों को तमस् में ले जा सकती है। कर्मयोग की दो शर्तें हैं—निष्कामता और अनासक्त भाव। निष्काम होने के साथ आन्तरिक चेतना में जगना होगा। इसके साथ श्रद्धा भी आवश्यक है।

गीता में स्वधर्म का बहुत महत्त्व है। इसका निर्णय स्वभाव के अनुसार होता है और तद्नुसार स्वकर्म का निर्णय होता है। जहाँ तक अवतार का प्रश्न है, भगवान् के सारे जन्म और कर्म दिव्य होते हैं इसलिए उनमें बन्धन नहीं होता। उनके अवतार लेने का प्रयोजन मनुष्यों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करना है। जो उनके जन्म और कर्म की दिव्यता को पहचान लेता है वह आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अवतार का एक प्रयोजन यह है कि मनुष्य के लिए भगवत् प्राप्ति सुलभ हो जाए और मानव में दिव्य आदर्श के प्रति उन्मुखता

बने। यह स्वतः ही होना चाहिए किन्तु जब इसमें बाधा आती है तो भगवान् का अवतरण होता है।

योगस्थ होकर कर्म करना उच्च चेतना से ही सम्भव है। इसके अन्तर्गत समस्त कर्म का फल ईश्वर को अर्पण कर देना होता है। यहाँ तक कि अपनी इच्छाओं को भी ईश्वर की इच्छा के सामने से हटा लेना होता है। श्री अरविन्द ने गीता में यज्ञ के माध्यम से ज्ञान और कर्म में समुच्चय की स्थापना माना है। हमारे सभी कर्म ज्ञानमय हों और सभी ज्ञान कर्म को शुद्ध बनायें।

ज्ञान साधना सांख्य है, कर्म साधना योग है। दोनों साधना भिन्न हैं। किन्तु किसी एक भी साधना से दोनों का फल प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः ये दोनों एक ही समन्वित साधना के दो अंग है। इसलिए उनकी पद्धति भिन्न होने पर भी अंत में जाकर ये दोनों एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित हो जाते हैं। कर्म संन्यास का अर्थ यह है कि समस्त कर्म प्रकृति स्वतः करती है पुरुष से कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सांख्य का मत है किन्तु गीता के मत में समस्त कर्मों का आधार ब्रह्म ही है। इसलिए समस्त कर्मों को ब्रह्म को अर्पित कर देना चाहिए। स्वयं में कर्म बन्धन का कारण नहीं, आसक्ति और अज्ञान ही कर्म बन्धन का कारण है, आत्म ज्ञान ही व्यक्ति को द्वन्द्व से ऊपर उठाता है। ज्ञान का यह अर्थ है कि आत्म-भाव परमात्म-भाव में बदल जाता है।

गीता जिस समता की चर्चा करती है वह समता तत्त्व-ज्ञान से प्राप्त होती है। मन के स्तर पर समता नहीं रह सकती। यह समत्व इसी जीवन में सधता है। गीता इसे ही ब्रह्म-भाव कहती है। समत्व-दर्शन नित्य-मुक्ति-सम्पन्न ब्रह्मभाव है। क्योंकि भगवान् सबका हित चाहते है इसलिए जो सबका हित चाहता है वह भगवान् का ही कार्य करता है।

गीता के अनुसार ज्ञान हो जाने पर भी कर्म छोड़ना नहीं चाहिए। योगशास्त्र का उद्देश्य केवल समाधि नहीं है, अपितु ब्रह्मभाव है। राजयोग में अभ्यास के साथ भक्ति का भी समावेश है। गीता ध्यान को भी समान महत्त्व देती है। श्री अरविन्द के अनुसार हमारे जीवन के समस्त क्रिया कलाप योगयुक्त होने चाहिए, अर्थात् योग की चेतना सदा बनी रहनी चाहिए। गीता के अनुसार आत्मलाभ

के साथ परमात्म-लाभ भी आवश्यक है। वस्तुतः आत्मतत्त्व और परमातत्त्व की एकता है। आत्मतत्त्व का अर्थ है—देह, प्राण और मन से ऊपर उठना। श्री अरविन्द के अनुसार भगवद् दर्शन केवल अध्यात्म का ही आधार नहीं है अपितु व्यवहारिक जीवन का भी आधार है। साम्य भाव मानवीय भूमिका में रहकर नैतिक भावना से ही सम्पन्न नहीं होता। इसके लिए अध्यात्म बोध आवश्यक है। श्री अरविन्द के अनुसार समस्त जीवन ही एक योग है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति अचेतन है। किन्तु गीता के अनुसार एक परा प्रकृति भी है जो भगवान् की चिन्मयी शक्ति है। वस्तुतः सम्पूर्ण सत्ता तत्त्वतः भगवत् सत्ता है। जो प्रकृति से ऊपर नहीं उठता, वह अहम् भाव से मुक्त नहीं हो सकता। उसके जीवन में अपनी कामनाओं की पूर्ति करना ही मुख्य हो जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार ज्ञानी भक्त भी होता है। सामान्य मनुष्य भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए करते है और वे कामनाएं पूरी भी हो जाती हैं। किन्तु उनकी कामनाओं के पूरा होने का कारण उनकी श्रद्धा है, जिसे भगवान् हिलाते नहीं, प्रत्युत दृढ़ बनाते है।

परम तत्त्व नित्य है। वही, जब व्यक्तिभावापन्न होता है तो, अध्यात्म हो जाता है। सर्जन की प्रक्रिया कर्म है और जो निरन्तर परिवर्तनशील है। वह अधिभूत है। उस परिवर्तन का साक्षी अधिदेव है। सभी यज्ञों के भोक्ता श्रीकृष्ण अधियज्ञ हैं।

गीता में पुरुषोत्तम की अवधारणा है जो अक्षर ब्रह्म से भी श्रेष्ठ है। भगवान का स्मरण नित्य है, नैमित्तिक नहीं। जो सिद्ध है उसके लिए पुनर्जन्म की बाध्यता नहीं है। पुरुषोत्तम सर्वातीत होते हुए भी सर्वगत है। उसकी प्राप्ति ज्ञानमय कर्म और समर्पण से हो सकती है। यह घटना इस लोक में तथा जीवन में ही सम्भव है। भगवान् का स्मरण हमारी सभी प्रवृत्तियों में होते रहना चाहिए।

जगत् में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। कुछ भी नित्य नहीं दिखाई देता। किन्तु इसमें परमात्म तत्त्व ओत-प्रोत है। परमात्मा स्वयं कोई घटना नहीं है। किन्तु वह समस्त घटनाओं का घटक है। वह विश्वाधार होते हुए भी विश्वातीत है। विश्व प्रकृति की अंधी अनिवार्यता से संचालित हैं। जिसमें सब कुछ विवशतापूर्वक होता है। किन्तु यह सब भी भगवान् का ही आत्मविसर्जन है। भगवान् अवतार

भी है, भूत समूह भी है और विश्व की विकासमयी गति भी है। समस्त सृष्टि भगवान् में है। भगवत्ता अव्यय, अविकारी और सर्वातीत ही नहीं है वह सर्वमय, सर्वकर्ता और सर्वअन्तर्यामी भी है। मनुष्य के शरीर में भी भगवान् विराजमान हैं किन्तु मोह से ग्रसित होने वाले व्यक्ति इसे न समझकर क्षुद्र भाव में जीते हैं। इसलिए उसका आन्तरिक जीवन ही नहीं, बाह्य जीवन भी अर्थहीन हो जाता है।

उपासना का विषय लोकातीत ही नहीं है। समस्त भूतों के स्वामी महेश्वर भी हैं। क्योंकि भगवान समस्त जगत् के सर्वस्व हैं इसलिए वे केवल सत् ही नहीं असत् भी हैं। इस तत्त्व को प्राप्त करने के लिए व्यापक साधना करनी होती है। यज्ञादि कर्मों से जो स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है, गीता उसे मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं मानती। श्री अरविन्द के अनुसार इस मर्त्य लोक में ही दिव्य जीवन की प्राप्ति सम्भव है। जो भिन्न-भिन्न देवों की उपासना करते है वे भी वस्तुतः भगवान् की ही उपासना करते हैं। इसलिए उसका भी फल है। श्री अरविन्द के अनुसार छोटे से छोटा कर्म भी यदि भगवान् को समर्पित किया जाये तो दिव्य हो जाता है। समर्पण का अर्थ है कि अहंकार और कामना का लेश भी न रहे, क्योंकि भगवान् सभी में निवास करते हैं इसलिए समर्पण के द्वारा वे सभी को प्राप्त हो सकते हैं।

बाह्य सृष्टि के सब पदार्थ और आन्तरिक जीवन के सब भाव भगवान् से ही उद्भूत होते हैं। ये भगवान् की विभूति हैं। इस विभूति का कोई अन्त नहीं है। गीता में दसवें अध्याय के 22 श्लोकों में इसका उल्लेख किया है। सारांश यह है कि भगवान् सृष्टि का कारण ही नहीं हैं सृष्टि की विकासमय गति भी हैं। श्री कृष्ण ने इस विभूति को विराट् रूप के दर्शन में अभिव्यक्त किया। उस रूप की स्तुति में जो कुछ अर्जुन ने कहा वह वेद के पुरुष सूक्त का ही भाष्य है। उल्लेखनीय यह है कि भगवान् कृपालु भी हैं और संहारक भी हैं। श्री कृष्ण अर्जुन का ध्यान इस ओर दिलाते है कि युद्ध में होने वाली घटना संकल्प के स्तर पर पहले ही हो चुकी है और स्थूल स्तर पर उसका होना अपरिहार्य है।

अर्जुन जब विराट् रूप को देखता है तो भयभीत हो जाता है। क्योंकि उस रूप में कठोर और कटु भी जुड़ा हुआ है। इसलिए अर्जुन भगवान् से उनके सौम्य रूप को ही दिखाने की प्रार्थना करता है।

गीता के 12वें अध्याय में भक्ति पर बल दिया गया है। किन्तु भक्ति में कर्मयोग और ज्ञानयोग समाविष्ट है। इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने साधक के लिए अनेक विकल्प दिये है जिसका कारण यह है कि साधक की रुचि भिन्न-भिन्न हो सकती है।

शरीर क्षेत्र है और उसे जानने वाला क्षेत्रज्ञ है। यह क्षेत्रज्ञ भगवान् ही है। क्षेत्र में इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा अहंकार और इच्छा आदि वृत्तियाँ आती है।

तीनों गुण न्यूनाधिक होते रहते हैं। किन्तु गुणातीत स्थिति दिव्य है। यह गुणातीत स्थिति ज्ञान के साथ-साथ भक्ति से प्राप्त होती है। गीता के 15 अध्याय में विश्व का स्वरूप बताया गया है। जिसमें जीव भगवान् का अंश होकर भी प्रवृत्ति से आकृष्ट हो जाता है। क्षर, अक्षर और अव्यय के रूप में यदि हम संसार को देखें तो क्षर पदार्थ है, अक्षर क्रिया है और अव्यय ज्ञान है।

गीता के 16 अध्याय से श्रीकृष्ण नैतिक गुणों का विवरण देना प्रारम्भ करते हैं और तुलना के लिए आसुरी सम्पदा का भी उल्लेख करते हैं। वे सभी क्रियाओं को सात्विक, राजसी और तामसी रूप में बांट देते हैं। इनमें यज्ञ, दान और तप विशेष महत्त्व के हैं। श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्येक प्राकृतिक क्रिया में एक तपश्चर्या निहित रहती है जिसके कारण हमें कुछ प्राप्ति होती है। प्रत्येक कर्म में हमारे सामर्थ्य का व्यय होता है, वह दान है और प्रकृति के प्रति जो आहुति दी जाती है वह यज्ञ है।

व्यक्ति का जो स्व है वही उसका सत्त्व है। उसके अनुसार ही उसका स्वभाव बनता है और उसके अनुसार ही स्वधर्म तथा स्वकर्म का निर्णय होता है। यही वर्णव्यवस्था का भी आधार है। मनुष्य का जो स्व है उसके स्वामी भगवान् हैं। ब्रह्म ज्ञान का फल यह है कि साधक निर्मल हो जाए, सर्वत्र समदर्शन करे और भगवान् के प्रति समर्पित हो जाये। गीता ने जो मार्ग बताया वह लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की सम्पदाओं का देने वाला है।

मनोविज्ञान

MIND WORKS ON DUALITY

Mind is a tissue woven of light and shade
Where right and wrong have sewn their mingled parts;
Or Mind is Nature's marriage of convenance
Between truth and falsehood, between joy and pain:
This struggling pair no court can separate.

Each thought is a gold coin with bright alloy
And error and truth are its obverse and reverse:
This is the imperial mintage of the brain
And of this kind is all its currency.

—Savitri p. 646

X X X

WITH THE BIRTH OF MIND, INSTINCT'S SURE PATH WAS LOST

A fatal seed was sown in life's false start
When evil twinned with good on earthly soil.

Then first appeared the malady of mind,
Its pang of thought, its quest for the aim of life.

It twisted into forms of good and ill
The frank simplicity of the animal's acts;
It turned the straight path hewn by the body's gods,
Followed the zigzag of the uncertain course
Of life that wanders seeking for its aim
In the pale starlight falling from thought's skies,
Its guides the unsure idea, the wavering will.

Lost was the instinct's safe identity
With the arrow-point of being's inmost sight,
Marred the sure steps of Nature's simple walk
And truth and freedom in the growing soul.

—Savitri pp. 86, 438

मनोविज्ञान

श्री अरविन्द ने अपने प्रथम आध्यात्मिक अनुभव का विवरण इस प्रकार दिया है कि वे सर्वप्रथम योग के माध्यम से निर्वाण की ऐसी स्थिति में पहुँचे जहाँ कोई विचार न था, न कोई प्राणिक या मानसिक गति थी, न अहंकार था, न कोई भौतिक संसार, केवल मौन था, शून्य आकार थे, जिनका कोई वास्तविक स्वरूप नहीं था। न एक था, न अनेक, केवल **'वह'** था। किसी प्रकार के स्वरूप से रहित एक अव्यक्त अचिन्त्य **'पूर्ण'** था किन्तु वह वास्तविक था। कोई मानसिक क्रिया नहीं थी। एक विध्यात्मक वास्तविकता थी। किन्तु देश और काल नहीं था।[1] अहंकार की अवास्तविकता दार्शनिक ग्रंथों में मुख्य रूप से बताई गई है। विशेषकर बौद्ध और वेदान्त परम्परा में इसका उल्लेख है। उल्लेखनीय यह है कि श्री अरविन्द इन अवधारणाओं का उल्लेख दार्शनिक रूप में न कर कर अनुभव के रूप में करते हैं। योग सम्बन्धी ज्ञान का यह प्रथम मौलिक चरण है जिसका आधार विचार या तर्क नहीं अपितु अनुभव है। श्री अरविन्द की परम्परा में योग को एक वास्तविक अनुभव पर आधृत विज्ञान माना गया है, जिसे अनुभव के आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है। श्री अरविन्द का कहना है कि प्रारम्भ के पश्चिमी मनोविज्ञान में विज्ञान का आधार नहीं था; केवल एक शैक्षणिक आधार था किन्तु यदि मनोविज्ञान को वैज्ञानिक होना है तो हमें चीजों का साक्षात् अनुभव होना चाहिए। इसलिए युंग का यह आरोप कि भारत में वास्तविक मनोविज्ञान नहीं है, सत्य नहीं है। श्री अरविन्द का मानना है कि आध्यात्मिक ज्ञान अनुभव से होता है। वह अनुभव एक विचार नहीं है। उस समय शब्दों की आवश्यकता नहीं है। इसका यह अर्थ होता है कि आध्यात्मिक अनुभव में विचार या शब्द नहीं रहते।[2]

स्पष्ट है कि यह अनुभव सामान्य चेतना के अनुभव से भिन्न है। सामान्य चेतना में अहम् का अनुभव बना रहता है और यह अनुभव भी बना रहता है कि मैं दूसरों से भिन्न हूँ। वास्तविक ज्ञान तब प्रारम्भ होता है जब हम इस अनुभव से ऊपर उठ जायें। योग की दृष्टि से मनोविज्ञान चेतना का विज्ञान है इसके लिए हमें सतही ज्ञान से ऊपर उठना होता है। जिसे हम सामान्यतः 'स्वयं' समझते है वह हमारे अस्तित्व का बहुत छोटा सा भाग है। इसके नीचे और अधिक गहरा और विस्तृत भाग है जो हमारा ही हिस्सा है। श्री अरविन्द की इस धारणा की तुलना हम वर्तमान मनोविज्ञान के उस वक्तव्य से कर सकते है जो मन के 9/10 भाग को सतही चेतना के नीचे छिपा हुआ मानता है।

मनोविश्लेषण के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का मत है कि वह उच्चतर प्रकाश को निम्नतर स्तर पर मानता है जबकि अध्यात्म में उनका स्थान ऊपर है, न कि नीचे। दूसरे शब्दों में उनका मूल अवचेतन में नहीं अपितु अतिचेतन में है। रूपक की भाषा में कहें तो कमल का रहस्य कीचड़ में नहीं है अपितु द्युलोक से आने वाले प्रकाश में है। अंश को जानने के लिए पूर्ण को जानना आवश्यक है। मनुष्य विश्व के अस्तित्व का एक भाग है। अतः विश्व को जानना मनुष्य को जानने के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान केवल एक प्राकृतिक विज्ञान नहीं है, उसके साथ तत्त्व-ज्ञान भी मिला हुआ है। जिसका यह अर्थ है कि मनोविज्ञान और दर्शन दोनों साथ-साथ चलते हैं। यद्यपि उनके विषय भिन्न हैं; तत्त्वज्ञान मूल कारण की खोज है, जबकि मनोविज्ञान मन के वास्तविक क्रियाकलापों से सम्बद्ध है।

मन के क्रियाकलापों को केवल योगाभ्यास द्वारा ही समझा जा सकता है। इसके लिए योग की किसी एक पद्धति से बँधना आवश्यक नहीं है। योग का सम्बन्ध आन्तरिक जगत् से है, जिसके अपने नियम हैं। भौतिक विज्ञान भी जब ऐन्द्रिक ज्ञान से आगे जाता है और उस अनन्त के क्षेत्र में प्रवेश करता है जहाँ इन्द्रियाँ नहीं जा सकती—उदाहरणतः इलेक्ट्रॉन को छुआ या देखा नहीं जा सकता—उसी प्रकार अध्यात्म की खोज उस स्तर पर होती है जहाँ सामान्य तर्क या अनुभव नहीं जाता। यदि स्वयं अनुभव तक हम न जा सकें तो हमें गुरु की बात माननी

होती है। विज्ञान में भी हम सारे अनुभव स्वयं न करके प्रामाणिक वैज्ञानिकों के आधार पर चीजों को मान लेते हैं। अध्यात्म के अनुभव नितान्त वैयक्तिक नहीं हैं विज्ञान भी प्रारम्भ में ऐसा मानता था कि अन्तिम सत्य वस्तुनिष्ठ है किन्तु योग के साथ-साथ अब विज्ञान भी व्यक्तिगत प्रयोगों को महत्त्व दे रहा है। वस्तुतः सभी ज्ञान वैयक्तिक होता है क्योंकि मन और इन्द्रियाँ अन्दर की ओर जाकर ही ज्ञान प्राप्त करती हैं। विशेष बात यह है कि जिस प्रकार विज्ञान में सर्वत्र एक ही प्रकार के परिणाम सामने आते हैं उसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में भी यूरोप में रहस्यवादियों को जिस प्रकार का अनुभव हुआ उसी प्रकार का अनुभव भारतीय रहस्यवादियों को भी हुआ।

विक्टोरिया के युग में अज्ञेयवादी यह मानते थे कि अन्तिम सत्य को नहीं जाना जा सकता। वेदान्ती भी इस सत्य को अचिन्त्य मानता है किन्तु वेदान्त का कहना है कि हम मन से भले ही उसे न जान सके किन्तु मानसिक प्रक्रिया से अधिक गहरी जिस प्रक्रिया से उसे जान सकते हैं उस प्रक्रिया का नाम योग है।

निष्कर्ष यह है कि योग का मनोविज्ञान भी आधुनिक मनोविज्ञान की तरह प्रयोगसिद्ध है। दोनों में परीक्षण सम्भव है। किन्तु योग का क्षेत्र सामान्य अनुभव की अपेक्षा अधिक विस्तृत और गम्भीर है। आधुनिक मनोविज्ञान बौद्धिक तर्क-वितर्क के आधार पर निष्कर्ष निकालता है किन्तु योग का मनोविज्ञान अन्तर्दर्शन का भी उपयोग करता है। दोनों ही मनोविज्ञान यह मानते है कि नियम का अनुकरण होना चाहिए किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालता है और आकड़ों के आधार पर सम्भावना देखता है, किन्तु योग मनुष्य को पूरे विश्व का भाग मानकर चलता है और सम्पूर्ण के ज्ञान से अंश का ज्ञान प्राप्त करता है। वह कुछ सत्यों को स्वयंसिद्ध मानता है।[3]

चेतना का वैज्ञानिक अनुशीलन

पदार्थ का आधुनिक विज्ञान ने विश्लेषण किया है किन्तु वह ज्ञान भी सीमित है। श्री अरविन्द के अनुसार जीवन और मन का अध्ययन जिन पद्धतियों से होना चाहिए वे आधुनिक विज्ञान की पद्धतियों से भिन्न हैं और उनके उपकरण

केवल भौतिक नहीं हैं। भौतिक स्तर पर उसका प्रमाणीकरण भले ही न हो सके किन्तु अतिभौतिक स्तर पर वह निश्चित है। अब पश्चिम को यह आभास हो रहा है कि व्यवहार के अध्ययन से चेतना का अध्ययन करना पर्याप्त नहीं हैं। अब वैज्ञानिक भी चेतना के सम्बन्ध में उन प्रश्नों पर विचार करने लगे हैं जिन्हें अब तक रहस्यवादी और दार्शनिक कहा जा रहा था। उदाहरणतः चेतना क्या है, उसके विभिन्न आयाम क्या हैं, चेतना के स्तर किस प्रकार बदलते हैं, चेतना वैश्विक है या वैयक्तिक है, सामान्य चेतना को किस प्रकार बदला जा सकता है। किन्तु यह विषय अभी वैयक्तिक स्तर पर चर्चित हो रहे हैं, शैक्षणिक स्तर पर इन पर विचार नहीं हो रहा।

चेतना के अध्ययन में प्रथम बाधा तो यह है कि वर्तमान दृष्टि भौतिकवादी है और भौतिक पद्धति चेतना के अध्ययन के लिये पर्याप्त नहीं है। अभी तक माना जा रहा है कि पदार्थ का ही एक विशेष व्यवस्था में स्थित हो जाना प्राणिक विकास का कारण है। मस्तिष्क के प्रकम्पन अथवा स्राव चेतना को निर्धारित करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इस दृष्टि के कारण व्यवहार के आधार पर ही चेतना का अध्ययन किया जा रहा है। किन्तु वस्तुतः चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है। इसलिए व्यवहार के आधार पर चेतना के सम्बन्ध में कोई निर्णय लेना ऐसा ही है जैसा किसी पुस्तक का मूल्यांकन इस आधार पर करना कि उसका कागज और स्याही कितनी गुणवत्ता वाली है जब कि जबकि वस्तुतः यह मूल्यांकन पुस्तक की विषयवस्तु के आधार पर किया जाना चाहिए।[4]

इस आधार पर यान्त्रिक विचार की प्रक्रिया का तो विश्लेषण हो सकता है किन्तु तर्क, सर्जनात्मक विचार, चयन, आध्यात्मिक क्रिया और मनुष्य के आत्म-विकास का विश्लेषण नहीं हो सकता। चेतना की अपनी शक्ति है जिसका वह प्रयोग करती है। शरीर उसका उपकरण मात्र है। अतः चेतना के अध्ययन की पहली अपेक्षा यह है कि चेतना को एक स्वतन्त्र सत्ता माना जाये न कि पदार्थ का परिणाम। ऐसा मानने का परिणाम यह होगा कि हम चेतना का गुणात्मक अध्ययन कर सकेंगे और हमें यह ज्ञात होगा कि भौतिक शक्तियों के अतिरिक्त भी शक्तियाँ हैं। ध्यातव्य है कि वेद में जब अग्नि, वायु इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है तो

वह भौतिक अर्थ में न होकर शक्ति के अर्थ में होता है। जिसे 'प्राण' शब्द के द्वारा कहा जाता है।

चेतना के अध्ययन के लिए एक उचित पद्धति की भी आवश्यकता है। आधुनिक काल में वैज्ञानिकों ने भी इस पद्धति के सम्बन्ध में कुछ नया चिन्तन किया है। उनका कहना है कि गणितीय भाषा में किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचने से मूल्यों की गुणवत्ता उपेक्षित हो जाती है।[5] यह भी स्पष्ट हुआ है कि व्यक्तिगत पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है। श्री अरविन्द के अनुसार परीक्षण चेतना के विज्ञान पर भी लागू होता है। वस्तुतः भौतिक स्तर पर और मनोवैज्ञानिक स्तर पर मूलभूत नियम एक ही प्रकार के लागू होते हैं। किन्तु उपकरण दोनों में भिन्न हैं। चेतना के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि और मानसिक क्रियाओं के साथ-साथ प्रत्यक्ष दर्शन का महत्त्व है। इसके लिये आन्तरिक विकास चाहिए और सूक्ष्म दृष्टि चाहिए, क्योंकि बाह्य दृष्टि से केवल परोक्ष ज्ञान हो सकता है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।

योग में परम्परा का महत्त्व इसलिए है कि हमें पिछले योगियों के अनुभव से लाभ लेना होता है, क्योंकि कभी-कभी एक ही जीवन का अनुभव पर्याप्त नहीं होता। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि चेतना के सम्बन्ध में अनुशीलन करने के लिए भिन्न प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता है, अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है और परम्परा से सहायता लेने की आवश्यकता है।

भारतीय चिन्तन में चेतना का वर्णन सच्चिदानन्द के रूप में है। इसके विपरीत भौतिकवाद यह मानता है कि पदार्थ और ऊर्जा की ही क्रिया-प्रतिक्रिया से विचार, वाणी, अनुभव, इच्छा आदि उत्पन्न होते हैं। शरीर तथा मस्तिष्क ही मिलजुलकर यह सब कुछ करता है और इसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति जैसी वस्तु नहीं है।

इन दो परस्पर विरोधी दृष्टियों में प्रथम तो यह भेद है कि भौतिकवादी केवल पदार्थ की सत्ता मानता है और चेतना को उसी का एक विकसित रूप समझता है जबकि अध्यात्मवादी चेतना को मूलसत्ता मानता है और पदार्थ को ऊर्जा की ही एक संरचना समझता है। दूसरे भौतिकवादी केवल प्राणियों में ही चेतना मानता है जबकि अध्यात्मवादी चेतना को सर्वव्यापक मानते हुए पूरे विश्व में मानता है

और उसे विश्वोत्तीर्ण भी मानता है। तीसरे भौतिकवादी के अनुसार चेतना की क्रिया यान्त्रिक हैं जबकि अध्यात्म चेतना की ऊर्जा को सचेत मानता है जिसका एक प्रयोजन तथा अर्थवत्ता है।

विज्ञान का दर्शन

एक प्रयत्न यह हुआ कि पदार्थवाद को वैज्ञानिक सिद्ध किया जाये। किन्तु यदि पदार्थ अन्तिम सत्य है तो फिर पदार्थवाद विज्ञान ही नहीं, दर्शन भी है। **विज्ञान प्रक्रिया का विश्लेषण करता है न कि मौलिक तत्त्व का**। अब विज्ञान इस सम्बन्ध में तटस्थ हो गया है कि भौतिकवाद सच है या अध्यात्मवाद।

भौतिकवाद के अनुसार जड पदार्थ से चेतना विकसित होती है। ऐसा पदार्थ में रहने वाली ऊर्जा के कारण सम्भव होता है। वस्तुतः यह ऐन्द्रिक ज्ञान में तो हो सकता है किन्तु विचार, कवि-कल्पना, विज्ञान, तर्क-वितर्क आदि में यह यान्त्रिक क्रिया नहीं हो सकती। वस्तुतः भौतिकवाद चेतना को सामान्य अनुभव के आधार पर समझना चाहता हैं किन्तु सामान्य अनुभव सत्य को नहीं देख पाता, अपितु केवल उसका अनुमान-मात्र कर सकता है। आध्यात्मिक साधक जिस चेतना का अनुभव करता है वह कोई भावात्मक चीज नहीं है अपितु एक ठोस अस्तित्व है।

इस चेतना की ऊर्जा विश्व का निर्माण करती है। व्यष्टि और समष्टि भी चेतना की एक स्थिति-विशेष है। वस्तुतः सत् और चित् एक ही हैं। हमें यह अभ्यास है कि हम चेतना को मन तथा इन्द्रियों के व्यापार से जोड़ते हैं और जहाँ ये न हों वहाँ जड़ मान लेते हैं किन्तु इस व्यापार के बिना भी चेतना सुषुप्ति अथवा निष्क्रियता की स्थिति में रहती है, यद्यपि यह आवृत होती है। चेतना जब सत् के साथ एकाकार होती है तो वह सत् में स्वरूप-बोध के रूप में रहती है। मौन तथा निश्चल स्थिति में भी यह बनी रहती है। तब यह वहाँ भी रहती है जो हमें जड़ दिखायी देता है। चेतना अस्तित्व का उपादान कारण है और इसलिये पाषाण में भी है।

इस बात को श्री अरविन्द ने बारम्बार कहा है कि अस्तित्व और चेतना एक ही है। हम चेतना को मानसिकता और इन्द्रियों के व्यापार के साथ जोड़ते हैं; जहाँ

मानसिकता और इन्द्रियों का व्यापार नहीं उसे जड समझ लेते है। किन्तु इनके बिना भी चेतना रहती है। वर्तमान अनुसंधानों से यह पता चला है कि निर्जीव पदार्थों में भी चेतना है। विज्ञान केवल प्रक्रिया को बताता है न कि मूल पदार्थ को। चेतना का मूल स्वरूप सामान्य अनुभव से भिन्न प्रकार के अनुभवों में आता है। मानसिक प्रक्रिया के ऊपर चेतना का अतिमानस स्वरूप है और मानसिक चेतना के नीचे अवचेतन रूप है। चेतना स्वयंभू है और मूलतत्त्व है। वह किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती।

वस्तुतः हम अपने संबंध में बहुत कम जानते है, हमारा मन और अहंकार हमारे अस्तित्व का सतही अंश है। हमारे अस्तित्व का भौतिक, भावात्मक और मानस रूप है, किन्तु सामान्य अनुभव में ये तीनों मिले रहते है। श्री अरविन्द के अनुसार हमारे अस्तित्व के दो भाग हैं—एक कोश की तरह है दूसरा सोपान की तरह। हमारे बाह्य व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व के तीन भाग हैं—मन, प्राण और शरीर। इन तीनों का एक भाग बाह्य है जो साधारण मन, प्राण और शरीर की चेतना है, दूसरा भाग आन्तरिक है। सोपान क्रम में प्रथम जड़ है जिसके बाद क्रमशः अवचेतन, शरीर, प्राण, मन, उच्चतर मन, आलोकित मन, अन्तर्दृष्टि, अधिमन, अतिमन और सच्चिदानन्द है। ये चेतना के विकास के क्रम का सूचक हैं।

जहाँ तक मन, प्राण और शरीर के बाहरी पक्ष का सम्बन्ध है इन तीनों का अपना-अपना क्षेत्र है किन्तु सामान्य अनुभव में ये आपस में मिले रहते है। मन को हम प्रायः सारी चेतना का पर्याववाची मान लेते हैं क्योंकि वर्तमान में मनुष्य मानसिक स्तर पर ही जी रहा है। मन का मुख्य विषय विचार है, प्राण का विषय इच्छा और भावना है। अतः मन और प्राण एक ही नहीं है। शरीर छिपी हुई चेतन ऊर्जा का एक ढाँचा है। शरीर की भी एक चेतना है, जो मन की चेतना से भिन्न है।

मन, प्राण और शरीर अलग होते हुए भी परस्पर मिले रहते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। श्री अरविन्द प्राण और शरीर का भी एक मन मानते है। प्राण का मन तर्काभास के द्वारा भावनाओं और इच्छाओं को तर्कसंगत बनाने में लगा रहता है। शारीरिक मन यान्त्रिक पुनरावृत्ति करता है, आलस्य और

अस्पष्टता में रहता है तथा संदेह और आदतों से घिरा रहता है। इसे यान्त्रिक मन भी कह सकते हैं।

बाह्य मन के साथ एक आन्तरिक चेतना है जो सभी स्तरों पर काम करती है। जिसे हम मन कहते है वह बाह्य मन है। हमारा बाह्य अंश पदार्थों के बाह्य स्वरूप को ही जानता है। आन्तरिक मन सार्वभौम मन से जुड़ा रहता है। आन्तरिक प्राण सार्वभौम प्राण से, और आन्तरिक शरीर सार्वभौम भौतिकता से जुड़ा रहता है। उदाहरण के रूप में यदि हम बाह्य चेतना में ही जी रहे हैं तो जब तक रोग का शरीर में चिह्न प्रकट न हो जाये तब तक हम यह नहीं जान पाते कि हम रुग्ण होने वाले हैं किन्तु यदि आन्तरिक चेतना जाग जाये तो हम रोग को अपनी ओर आते हुए देख सकते हैं और इससे पहले कि वह हमें छुए हम उसे रोक भी सकते हैं।

पारिस्थितिकी चेतना दूसरे प्राणियों से और वैश्विक शक्ति से जुड़ी रहती है। सबसे अन्तस्तम चैतन्यकेन्द्र है जो दिव्य का एक अंश है। विश्वात्मा विकास से ऊपर है और उससे प्रभावित नहीं होता। किन्तु चैतन्यकेन्द्र विकास से प्रभावित होता है। श्री अरविन्द ने साङ्ख्य दर्शन का अनुसरण करते हुए पुरुष और प्रकृति का भी उल्लेख किया है। पुरुष चेतन है, प्रकृति जड है। पुरुष मन, प्राण और शरीर से भिन्न है, पुरुष साक्षी है जो प्रकृति की क्रियाओं को देखता है। हम पुरुष और प्रकृति में सामान्य स्थिति में भेद नहीं कर पाते। हम सामान्यतः व्यक्ति की चेतना के बारे में सोचते हैं किन्तु एक सार्वभौम चेतना भी है। व्यक्ति की चेतना और सार्वभौम चेतना साथ-साथ काम करती है। व्यक्ति की चेतना देश और काल में केन्द्रित है, सार्वभौम चेतना अनन्त देश और काल में फैली है। इन दोनों के बीच अहङ्कार दीवार खड़ी करता है। जब हम अपने आप को शरीर, प्राण और मन के बाह्य रूप से एकाकार करते है तो अहङ्कार का जन्म होता है। मन के विभिन्न स्तरों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

मीरा माताजी का मन सम्बन्धी विमर्श

श्री अरविन्द ने जो कुछ मनोविज्ञान के संबंध में कहा है उस पर माताजी ने विस्तार से प्रकाश डाला है। माताजी की शैली सदा सरल और सुगम होती है।

इस संबंध में उनके विचारों पर भी एक दृष्टि डालना उपयोगी होगा। प्रथम तो उनका यह आग्रह है कि किन्हीं भी सामाजिक और नैतिक बंधनों में मन को बाँधना नहीं चाहिए। पूर्वाग्रह सदा घातक सिद्ध होता है। मनुष्य को सदा नये विचारों को खुले मन से ग्रहण करना चाहिए। उसे ज्ञान और सत्य से प्रेम होना चाहिए और शेष सभी गतिविधि गौण है। जब हम किसी एक विचार, भावना, आवश्यकता या मत से चिपक जाते है तो वह हमारे लिए बंधन हो जाता है। यह सबसे बड़ी बाधा है। अधिकतर मनुष्य ऐसा समझते है कि जो वे जानते हैं वह ही एकमात्र सच्चा ज्ञान है।

समझना यह चाहिए कि मनुष्य में अनेक प्रकार की संभावना है जो छिपी रहती है और शिक्षा के द्वारा उद्घाटित हो सकती है। मानसिक चेतना को अभिव्यक्त करने के लिए विकसित मस्तिष्क चाहिए। विकास में मस्तिष्क का वही योगदान है जो संगीत में वाद्ययंत्र का होता है। अध्यात्म की सच्चाई भी अभिव्यक्त मन के द्वारा ही होती है।

जो मन की शक्ति का उपयोग किसी कृति के सर्जन में करते हैं वे उस कृति के द्वारा मरणोपरान्त भी मनुष्य जाति को प्रभावित करते रहते हैं। संगीत जैसी अनेक विधाएँ वंश परम्परा से भी आगे बढ़ती है। मन का जो संस्कार किसी प्रशिक्षण से शरीर पर पड़ता है वह भी सहयोगी होता है। उदाहरणतः वाद्ययन्त्र को बजाने वाले संगीतज्ञों के हाथ की उंगलियों में भी एक विशेष प्रवीणता उत्पन्न हो जाती है।

मन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य व्याख्या करना है। यह व्याख्या पिष्टपेषण न होकर कुछ नवीन दिशा देने वाली होनी चाहिए। किसी भी व्याख्या में रूपांतरण करने की क्षमता होनी चाहिए।

मन में एक दूसरी शक्ति भी है। जब हम किसी विचार को स्पष्ट रूप में और बलपूर्वक करते हैं तो उसके कारण एक शक्ति पैदा हो जाती है जो स्वतंत्र रूप से कार्य करती है और दूसरों को हमारे बिना जाने भी प्रभावित करती है। इस प्रक्रिया से हम दूसरे की प्रभावशाली ढंग से सहायता कर सकते है। इतना अवश्य है कि मानसिक शक्ति असीम नहीं होती और अनेक मानसिक शक्तियों

में परस्पर विरोध भी रहता है। मानसिक शक्ति को बल भावना से मिलता है। उसके पीछे जितनी इच्छाशक्ति होगी उतनी ही सफलता मिलेगी। मानसिक शक्ति को प्रभावशाली होने के लिए अपने को दिव्यकृपा को समर्पित कर देना चाहिए।

चौदह वर्ष की अवस्था तक तो बच्चे का मानसिक विकास स्वाभाविक ढंग से होता है किन्तु उसके बाद यह विकास स्वाभाविक नहीं रहता। मानसिक क्षमता को बढ़ाने के लिए स्वाध्याय उपयोगी है। स्वाध्याय एक प्रकार का तप है। जिसका अभ्यास न हो वह दार्शनिक विषयों को नहीं समझ सकता। इस कमी को पूरा करने के लिए ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए।

मनुष्य का मन सूक्ष्म रूप में स्वयं को धोखा देता रहता है जब भी वह कोई गलती करता है तो स्पष्टीकरण के द्वारा उसे न्यायसंगत ठहराने का प्रयत्न करता है। इसलिए मन के निर्णय अधिक सही नहीं होते। मन उलझाता है, समाधान प्रेम से ही होता है।

माताजी ने मन के स्वरूप पर विचार करते समय उसे क्रियाशक्ति का प्रेरक माना है। उनका कहना है कि जिस प्रकार भौतिक पदार्थ का अस्तित्व है उसी प्रकार मानसिक पदार्थ भी स्वतंत्र है। जिस प्रकार हम भौतिक आंखों से देखते हैं। उसी प्रकार मानसिक आंखों से भी देखा जा सकता है। विचार भी एक वस्तु है। हममें से अधिकतर लोगों को विचार चक्राकार घूमता रहता है। यदि हम किसी विचार को लिपिबद्ध कर दें तो फिर वह बारम्बार नहीं आयेगा क्योंकि वह संतोषजनक रूप से एक बार अभिव्यक्त कर दिया गया है। यदि कोई विचार इष्ट नहीं है तो उसे कागज पर लिखकर फाड़ देने से उस विचार के समाप्त हो जाने की संभावना है।

मन ही चीजों को व्यवस्थित करता है किन्तु व्यवस्थित करने की क्षमता सब में नहीं होती। हममें से अनेक लोगों के मन में परस्पर विरोधी विचार एक साथ बने रहते है। कुछ लोगों के पास बहुत अधिक विचार तो नहीं होते किन्तु वह थोड़े से ही विचारों को बुद्धिमत्ता से व्यवस्थित कर लेते हैं। इसका यह अर्थ है कि हमारे पास जितने भी विचार हों वे स्पष्ट और व्यवस्थित होने चाहिए। हम

विचार के द्वारा योजनाएँ बनाते हैं और उन्हें क्रियान्वित करते हैं। व्यवस्था के साथ समन्वय भी आवश्यक हैं तभी हम सार्थक प्रयत्न कर सकते हैं।

मन का एक दूसरा पक्ष भी है। जब हम किसी ऐसे सिद्धपुरुष के पास बैठते हैं जिसने अपने विचारों को नियंत्रित कर लिया है और जो मानसिक मौन कर सकता है तो उसका वह मौन हम तक भी आ जाता है। किन्तु यह स्थिति असाधारण है अन्यथा मन विक्षिप्त की तरह दौड़ता ही रहता है। इसलिए पहला कदम तो यह है कि मन को दौड़ने दें किन्तु अपनी चेतना को उससे अलग रखें। ऐसा करने पर शनैःशनैः मन शान्त हो जायेगा। मन का ऐसा स्वभाव है कि वह सदा दौड़ता रहता है और ऐसी काल्पनिक कहानियाँ गढ़ता रहता है जिन्हें हम स्वयं भी जानते है कि वह सत्य नहीं है। जब तक मन शान्त न हो जाये यह ऊपर से आलोक प्राप्त नहीं कर सकता। यह सत्य है कि बौद्धिक विकास के द्वारा ही हम बड़े काम कर सकते है किन्तु यह भी सत्य है कि यदि मन बहुत सुशिक्षित और परिष्कृत हो तो वह इतने मात्र से ही संतुष्ट हो जाता है और मौन में जाने की इच्छा भी नहीं करता। साधक ज्ञान संग्रह करने की चेष्टा करता है किन्तु बाद में उसे स्वाध्याय की भी इच्छा नहीं होती। वस्तुतः स्वाध्याय एक प्रकार का बौद्धिक व्यायाम है किन्तु उसके द्वारा वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जिस कार्य में मन लगता है वह कार्य सुखद हो जाता है। मन को मौन करना कठिन है इसलिए इसके भटकने की अपेक्षा इसे स्वाध्याय में लगाये रखना ज्यादा ठीक है। इसके लिए साधक को सावधानीपूर्वक पुस्तकों का चयन करना चाहिए। ताकि उसका मन स्वाध्याय के समय इधर-उधर न बिखरे।

मन का विकास

सामान्यतः मन एक सीमा में काम करता है और उसके विचार स्थिर से होते हैं। इसलिए मन को विस्तार देने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि यह लचीला बन सके। प्रत्येक समस्या पर सब दृष्टियों से विचार करना चाहिए। इसके लिए पहले किसी सिद्धान्त की खोज करनी चाहिए और फिर उसके विरोधी सिद्धांत को भी अच्छे से पकड़ना चाहिए। इसके आगे का कदम यह होगा कि उन दो सिद्धान्तों

के समन्वय से एक तीसरा सिद्धान्त निकले जो उन दोनों सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक व्यापक और उच्चतर हो।

एक दूसरा प्रयोग यह है कि साधक अपनी भावनाओं पर नियंत्रण करे और उनके परिणाम को देखे। उसे व्यक्तियों का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए क्योंकि मन वास्तविक ज्ञान नहीं दे सकता। वास्तविक ज्ञान मन और विचारों से ऊपर है। उसके लिए मन का शान्त होना आवश्यक है। सामान्यतः मन व्यवस्थापूर्वक कर्म करने में सहायक होता है। किसी भी विषय पर निर्णय लेते समय व्यक्ति को केवल अपनी ही दृष्टि तक सीमित नहीं रहना चाहिए। उसे दूसरों के दृष्टिकोणों को भी उसके स्थान पर अपने को रखकर समझना चाहिए। इस तरह दोनों पक्षों में समन्वय हो सकता है।

मन में यह सामर्थ्य है कि शरीर के निर्बल हो जाने पर भी अपना कार्य कुशलता से कर सकता है। शरीर के क्षीण हो जाने पर भी मन युवा रहता है। अभिप्राय यह है कि मन सदा विकास करता रहता है। जिन्होंने अपने शरीर को धूम्रपान और मदिरापान इत्यादि के द्वारा विषाक्त नहीं कर लिया है उनका मन अच्छी स्थिति में रहता है और अन्तिम समय तक विकास करता रहता है। जीवन के अन्तिम समय में मनुष्य कभी अपने मन को काम करने से रोक लेता है किन्तु फिर भी उसका विकास होता रहता है।

दिव्य मन

जब साधक का मन दिव्य के प्रति समर्पित हो जाता है। तब उसका मन भी दिव्य हो जाता है। इसी प्रकार उच्चतर मन वह है जो विचारों को जन्म देता है। सामान्य मन से जो समझा जा सकता है, उसकी अपेक्षा उच्चतर मन ज्यादा स्पष्ट चिंतन कर सकता है।

मन के स्तर

मन की गतिविधि अनेक स्तरों पर चलती रहती है। यह सभी स्तर एक दूसरे पर निर्भर रहते है। एक उच्चतर मन है तथा शारीरिक मन और उच्चतर मन के बीच एक अन्तवर्तर्ती मन है। यह सभी मन प्राणिक धरातल से ऊपर कार्य करते

हैं। कुछ स्तरों पर प्राणशक्ति भी मन को प्रभावित करती है। विशेषकर भौतिक मन प्राणिक शक्तियों से प्रभावित होता रहता है। जब प्राण कुछ इच्छाओं और संवेगों से प्रभावित होता है तो भौतिक मन उसकी सहायता करता है और उन इच्छाओं को तर्क द्वारा न्यायसंगत सिद्ध करता है। किन्तु उच्चतर मन इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त है। वह शुद्ध विचारों को जन्म देता है। उच्चतर मन के स्तर पर भी विरोधी विचार आ सकते है किन्तु प्राणिक बाधाएँ नहीं आती। दार्शनिक और चिन्तक का मन प्राणिक बाधाओं से मुक्त रहता है।

भौतिक मन

भौतिक मन शारीरिक व्यक्तित्व का भाग है जो शरीर के साथ बढ़ता है। इस मन के द्वारा शरीर के आकार प्रकार का निर्माण होता है। उदाहरणतः शरीर का बलवान् होना भौतिक मन के सक्रिय होने का प्रमाण है। योग में भी भौतिक मन का स्थान है। इसमें डर और आशंकाएँ रहती है। वस्तुतः यह कोष्ठ का मन है। यह मन पशुओं में और वनस्पति में भी रहता है। वनस्पति में यह इतना स्पष्ट नहीं है जितना पशुओं में। किन्तु यह मन केवल मनुष्यों में ही पूर्णतः विकसित होता है। इसलिए दो शिशुओं की प्रतिक्रिया एक जैसी नहीं होती। इसे शिक्षा के द्वारा विकसित किया जा सकता है। पूर्णयोग में इस मन पर भी काम करना होता है। यह मन पहले व्यवस्थित नहीं था। किन्तु जैसे ही सेल सक्रिय होते हैं यह व्यवस्थित हो जाता है। व्यवस्थित होने पर यह चुप रहना सीख लेता है। यह परम शक्ति के कार्य में बाधा नहीं डालता। व्यवस्थित होने पर यह कष्ट को सहन करना सीख लेता है और रूपांतरण के लिए तैयार हो जाता है।

भौतिक मन की अपेक्षा भी यांत्रिक मन अधिक अव्यवस्थित है क्योंकि यह तर्क को भी नहीं सुनता और एक ही चीज को यांत्रिक रूप से बिना किसी कारण के दोहराता रहता है।

मानसिक मन

मन सभी स्तरों पर अनेक प्रकार का है— शारीरिक, प्राणिक और मानसिक। मानसिक मन के स्तर पर अन्दर और बाहर एक ही प्रकार के स्पंदन होते रहते

हैं। इसलिए यदि कोई अपने मानसिक मन में प्रवेश कर सके तो वह पृथ्वी के मानसिक मन को भी जान सकेगा।

मन और शरीर

कुछ लोग ऐसे है जिनके शरीर में कुछ भी घटित होने पर उनके मन में उथल-पुथल हो जाती है। किन्तु कुछ लोग अत्यन्त रोगग्रस्त होने पर भी मानसिक रूप से स्थिर बने रहते हैं। ऐसा उदाहरण मिलना कठिन है कि मन अशान्त हो और शरीर स्वस्थ रहे। यद्यपि यह असंभव नहीं है। वस्तुतः शरीर मन की स्थिति पर निर्भर करता है। शरीर का नियंत्रण मन ही करता है। मन का उपयोग कैसे करना यह अधिकतर लोगों को पता नहीं होता। अधिकतर मन का दुरुपयोग ही करते है। मन प्रायः निषेधात्मक चिन्तन किया करता है। उसकी अपेक्षा यदि मन को विधायक चिन्तन में लगा दे तो यह शरीर के रोगों को शीघ्र दूर कर सकता है।

मन और व्यक्तित्व

मन में एक ऐसी शक्ति है कि वह हमें दूसरों से भिन्न करके हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करता है। मन के कारण हम स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं और यह मानते हैं कि अनेक विकल्पों में किसी एक विकल्प के चुनने का सामर्थ्य हम में है किन्तु जैसे ही हम अध्यात्म के क्षेत्र में आते हैं, हमें पता चल जाता है कि यह एक भ्रम है। वस्तुतः हम परम की इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं। सामान्य व्यक्ति को यह विचित्र प्रतीत होता है। मन अनेक संभावनाओं में किसी एक संभावना को चुनता है इसके आधार पर शुभ ओर अशुभ की अवधारणा का निर्माण होता है। यह स्थिति मध्यवर्ती है क्योंकि अन्त में हम अच्छे और बुरे से भी ऊपर उठ जाते हैं।

आलोकित मन

अतिमानस की स्थिति में हम समग्र को सीधा प्रत्यक्ष रूप में देख पाते है। किसी भी चीज पर सभी दृष्टियों से विचार कर सकते है। किन्तु जैसे ही उस अनुभव

को अभिव्यक्त करना चाहते है, वैसे ही हमें उस सीढ़ी पर नीचे उतरना होता है जिसे आलोकित मन कहा जाता है। इस स्तर पर विषयवस्तु क्रमिक रूप में अभिव्यक्त की जाती है न कि युगपत्। वस्तुतः हम युगपत् किसी विषय को अभिव्यक्त कर ही नहीं सकते चाहे वह सारे विषय हमें युगपत् क्यों न दिखाई देते हों। वस्तुतः हमारे पास पूरे विषय को एक साथ कहने का साधन उपलब्ध नहीं है।

मन और विचार

मन में विचार एक ओर से आते है और दूसरी ओर चले जाते हैं। मन एक प्रकार से विचारों का चौराहा है जिस पर विचार एक-दूसरे से टकराते ही रहते हैं। मनुष्य जैसा चाहे वैसा सोच सके इसके लिए लम्बे अभ्यास की आवश्यकता है। हमें ऐसा लगता है कि हम जैसा चाहते है वैसा सोच सकते हैं। किन्तु वस्तुतः हमारे विचारों को पुस्तकें, शारीरिक स्थिति, वातावरण और जलवायु तक प्रभावित करते हैं। अत्यन्त व्यवस्थित विचार कर लेने पर भी हमें उससे ऊपर उठना होता है ताकि दिव्य के साथ जुड़ सकें। किन्तु विचारों से ऊपर उठने से पहले विचारों का व्यवस्थित होना आवश्यक है। जब तक ऐसा न हो तब तक वस्तुतः हम एक व्यक्ति ही नहीं होते। समर्पण के लिए हमारे व्यक्तित्व का एकीकृत होना आवश्यक है।

मन और प्राण

मन का काम क्रिया को गति देना है। मन में पहले विचार आता है और तब उसे क्रियान्वित किया जाता है। क्रियान्वयन से पहले मन विचारों को व्यवस्थित करता है। किन्तु मन यदि यह मान ले कि वह सब कुछ जानता है और वह अपने अधूरे ज्ञान को क्रियान्वित करना चाहे तो यह उसका भौतिक जीवन के साथ अत्याचार है। प्राण का कार्य यह है कि वह उत्साह का संचार करे और मन के विचार को शरीर तक पहुँचाएं। जब तक प्राण यह कार्य करता है तब तक ठीक है किन्तु यदि उसमें कोई नई इच्छा पैदा हो जाती है और वह किसी उदात्त विचार की जगह अपनी उस इच्छा को पूरा करना चाहता है तो वह विकृत हो जाता है और उसके परिणाम घातक होते है।

मन और प्रमाणीकरण की क्षमता

मन के द्वारा कुछ भी प्रमाणिक किया जा सकता है इसके लिए केवल तर्कशक्ति चाहिए। विश्वविद्यालय में यही अभ्यास कराया जाता है कि तर्क और प्रतितर्क के द्वारा समन्वय ढूंढ लिया जायेगा। किन्तु तर्क हमें कहीं भी नहीं ले जाता क्योंकि जिस तर्क को काटा जा सकता है उसका कोई मूल्य नहीं है।

मन का वास्तविक कार्यक्षेत्र

मन का वास्तविक कार्य क्रियाओं को व्यवस्थित करना है। इस प्रकार मन अन्तःप्रेरणा से आने वाले विचारों को व्यवस्थित करता है। मन को इतने तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए कि वह अन्तःप्रेरणा से प्राप्त होने वाले विचारों को ग्रहण कर सके और तदनुसार कार्य योजना बना सके। मन ज्ञान को ग्रहण करने वाला उपकरण नहीं है। वह केवल ज्ञान को क्रियान्वित करता है।

जब हम यह देखते है कि कोई अपने जीवन को व्यवस्थित करना चाहता है तो उस समय मन के व्यवस्थित करने की शक्ति का परिचय मिलता है। उस समय हमारी बौद्धिक शक्ति प्रत्येक पदार्थ को अपने स्थान पर सुव्यवस्थित कर देती है। यह ज्ञान मन से नहीं आता है अपितु आत्मा की गहराई से या उच्चतर चेतना से आता है। इस प्रकार मन उच्चतर चेतना को कार्य करने का आधार प्रदान करता है।

मन का एक दूसरा भी उपयोग है। मन जब शुद्ध तर्क के आधार पर कार्य करता है तो वह हमारे संवेगों को संयमित करने का एक सशक्त साधन बन जाता है। इस प्रकार वह प्राणों की शक्ति को अनुशासित कर सकता है। अभिप्राय यह है कि मन के पास व्यवस्थित करने की और अनुशासित करने की शक्ति है किन्तु उसका वास्तविक कार्य यह है कि वह अपने आपको दिव्य के प्रति समर्पित कर दे और यह जाने कि वह केवल एक उपकरण है। वह अपने अहंकार को छोड़कर दिव्य के आदेशों का पालन करे। **जब मन केवल उपकरण हो जाता है तो वह ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकता है दिव्य से जुड़ने पर वह और भी अच्छी तरह काम कर सकता है।**

कर्म का वास्तविक उद्देश्य यह है कि वह चित्त की शुद्धि करे। जो कुछ हम सीखते है वह तो कुछ समय बाद विस्मृत हो जाता है किन्तु उसका एक संस्कार शेष रह जाता है जो चीजों को व्यवस्थित और समीचीन बनाने में हमारी सहायता करता है। यदि यह स्पष्टता न आये तो वर्षों तक किया गया परिश्रम भी विशेष फल नहीं देता। होना यह चाहिए जब हम किसी कर्म में प्रवृत्त हों तो उस कर्म की समाप्ति पर हमारी बौद्धिक क्षमता पहले की अपेक्षा बढ़ी हुई हो। इसके लिए एक अभ्यास किया जा सकता है कि हम व्याकरण जैसे किसी शुष्क विषय को ले लें और उसके किसी नियम को कंठस्थ करने के स्थान पर यह विचार करें कि यह नियम इस प्रकार क्यों बनाया गया और फिर उस नियम को अपने ढंग से प्रस्तुत करें।

सामान्यतः साधक को चित्त एकाग्र करने की शक्ति बढ़ानी चाहिए। उसके लिए इच्छाशक्ति को मजबूत बनाना चाहिए और चित्त की एकाग्रता किसी भी स्थिति में भंग नहीं होनी चाहिए। अगर साधक की इच्छाशक्ति और एकाग्रता सध जाये तो फिर उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं डाल सकता।

मन के परिष्कार के लिए चार कदम उठाने आवश्यक है। पहला कदम है विचारों को देखना, दूसरा कदम है—विचारों के प्रति सावधानी बरतना, तीसरा कदम है—विचारों पर नियत्रंण करना और चौथा कदम है—विचारों का इच्छानुसार उपयोग करना। इन चार कदमों से मनुष्य मन की अपवित्रता से मुक्त हो सकता है। कहा जाता है कि मन की अपवित्रता ही सारे दुःखों का कारण है। पवित्र मन में गलत विचार नहीं आ सकते।

विचारों के देखने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने को विचारों से पृथक् कर लें। सामान्यतः हम अपने आपको विचारों से पृथक् नहीं कर पाते। हमें यह भी ध्यान नहीं आता कि हम विचार कर रहे हैं; एक रटी रटाई आदत के अनुसार विचार चलते रहते है। हमें यह भी पता नहीं होता कि हम क्या सोच रहे हैं। यदि कोई पूछे कि हम क्या सोच रहे थे तो हमारा सीधा सा जवाब होता है 'यूं ही, कुछ भी नहीं सोच रहा था।' किन्तु हम सचमुच कुछ न कुछ तो सोचते ही रहते हैं। अतः पहला कदम तो यह है कि हम अपने आपको विचारों से पृथक् करके

तटस्थ भाव से विचारों को देख सकें। जहाँ तक विचारों के प्रति सावधानी बरतने का संबन्ध है हमें विचारों के संबन्ध में यह निर्णय लेना होता है कि कौन सा विचार अच्छा है और कौन सा बुरा है, कौन सा उपयोगी है, रचनात्मक है और कौन सा हानिकारक और निषेधात्मक। इसका यह फल होगा कि धीरे-धीरे हमारी अन्तरात्मा गलत विचारों को नहीं आने देगी। कुविचारों से हमारा जितना नुकसान होता है उतना नुकसान शत्रु भी नहीं कर सकता। जब तक विचारों पर नियत्रंण न हो कोई व्यक्ति दूसरों का भला करने की जगह उनका नुकसान ही करता है।

मन के पास एक ऐसी शक्तिशाली शक्ति है कि वह अपने को भी धोखा दे सकता है। वह अपनी इच्छाओं को और राग-द्वेष को अच्छे-अच्छे आशयों के बीच छिपा लेता है। वह वस्तुतः कुटिलता कर रहा होता है किन्तु लगता ऐसा है कि वह बिल्कुल सरल है। इसके लिए हमें ऋजुता और ईमानदारी बरतनी होगी। सीखने के लिए शांत मन चाहिए। उसके बिना प्रगति नहीं हो सकती। शांत मन ही रूपांतरित हो सकता है। शांत मन का यह अर्थ नहीं है कि हमारा मन मौन हो जाये। शांत मन भी बाहर से आने वाले विचारों का ग्रहण करता रहता है, किन्तु मौन मन बाहर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता।

महत्त्वपूर्ण यह है कि हम चेतना के द्वारा इस प्रकार अनुभव कर सकें कि हमारा अनुभव विचार में न बदल जाये। इस प्रक्रिया से ही मन मौन में जा सकता है। इस प्रक्रिया में हम अनुभव करने के लिए विचार का सहारा नहीं लेते अपितु सीधा चेतना से ही जान लेते है।

मन का मौन हो जाना ही वास्तविक ध्यान है। मौन मन ऊर्ध्वमुखी हो जाता है। तभी वह प्रश्नों के उत्तर जान सकता है। यदि हम अपने अस्तित्व को परम चेतना को सौंप दें तो शान्ति मिलती है और समस्याओं का समाधान हो जाता है। मन के मौन हुए बिना भी मन शांत हो सकता है पर अपनी क्रियाएँ निर्बाध रूप में चला सकता है। शांत मन से क्रिया कर सकने की स्थिति हमारा आदर्श होना चाहिए। शांत मन से किया गया कार्य अधिक उत्तम होता है।

आधुनिक युग में हम सतही स्तर पर सत्य को पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वस्तुतः सत्य को जानने के लिए गहराई में जाना आवश्यक है क्योंकि गहराई में ही सत्य

को सीधा जाना जा सकता है। सत्य को सीधा जानने के बाद जो कुछ हम करेंगे वह सत्य की ही अभिव्यक्ति होगी। हम योजनाएँ बनाते है और उसके आधार पर कार्य करना चाहते है। किन्तु कोई भी कार्य मानसिक योजना के अनुसार पूरा नहीं होता है और हम समझते है कि भाग्य, परिस्थिति के कारण ऐसा होता है किन्तु वस्तुतः वह सत्य की शक्ति है जो बाहर अभिव्यक्त होना चाहती है। उसके कारण सतही स्तर पर किये गये मानसिक और प्राणिक कार्य बदल जाते है। श्री अरविन्द ने एक वाक्य कहा है कि 'चाहिए तो यह कि हम पहले जानें और फिर कार्य करें किन्तु अधिकतर होता यह है कि हम पहले कुछ कर लेते है और फिर उसे जानने का प्रयत्न करते हैं।'

---

1. Now to reach Nirvana was the first radical result of my own Yoga. It threw me suddenly into a condition above and without thought, unstained by any mental or vital movement; there was no ego, no real world—only when one looked through the immobile senses, something perceived or bore upon its sheer silence a world of empty forms, materialised shadows without true substance. There was no One or many even, only just absolutely

   That, featureless, relationless, sheer, indescribable, unthinkable, absolute, yet supremely real and solely real. This was no mental realisation nor something glimpsed somewhere above,—no abstraction—it was positive, the only positive reality—although not a spatial physical world, pervading, occupying or rather flooding and drowning this semblance of a physical world, leaving no room or space for any reality but itself, allowing nothing else to seem at all, actual, positive or substantial. —*Letters on Himself and the Ashram, Page* 249

2. Fundamentally, it is not an expression of ideas arrived at by speculative thinking. One has to arrive at spiritual knowledge through experience and a consciousness of things which arises directly out of that experience or else underlies or is involved in it. This kind of knowledge, then, is fundamentally a consciousness and not a thought or formulated idea. For instance, my first major experience—radical and overwhelming, though not, as it turned out, final and exhaustive—came after and by the exclusion and silencing of all thought—there was, first, what might be called a spiritually substantial or concrete consciousness of stillness and silence, then the awareness of some sole and supreme Reality in whose presence things existed only as forms but forms not at all substantial or real or concrete; but this was all apparent to a spiritual perception and essential and impersonal sense and there was not the least concept or idea of reality or unreality or any other notion, for all concept or idea was hushed or rather entirely absent in the absolute stillness. These things were known directly through the pure consciousness and not through the mind, so there was no need of concepts or words or names. At the same time this fundamental character of spiritual experience is not absolutely limitative; it can do without thought, but it can do with thought also. —*Letters on Himself and the Ashram, Page* 252

3. The truth of things can only be perceived when one gets to what may be called summarily the spiritual vision of things and even there completely only when there is not only vision but direct experience in the very substance of one's own being and all being. —*Essays Divine and Human, Page* 320

4. *Sri Aurobindo, Essays Divine and Human, Page* 337-338

5. *Fritjof Capra, Uncommon Wisdom, Page* 145

SOUL AND FATE

Although the race is bound by its own kind,
The soul in man is greater than his fate:

—Savitri p. 691

X X X

SOUL

A being stood immortal in transience,
Deathless dallying with momentary things,
In whose wide eyes of tranquil happiness
Which pity and sorrow could not abrogate
Infinity turned its gaze on finite shapes:
Observer of the silent steps of the hours,
Eternity upheld the minute's acts
And the passing scenes of the Everlasting's play.

In the mystery of its selecting will,
In the Divine Comedy a participant,
The Spirit's conscious representative,
God's delegate in our humanity,
Comrade of the universe, the Transcendent's ray,
She had come into the mortal body's room
To play at ball with Time and Circumstance.

A joy in the world her master movement here,
The passion of the game lighted her eyes:
A smile on her lips welcomed earth's bliss and grief,
A laugh was her return to pleasure and pain.
All things she saw as a masquerade of Truth
Disguised in the costumes of Ignorance,
Crossing the years to immortality;
All she could front with the strong spirit's peace.

—Savitri p. 526

X X X

OUR SOUL

Our soul from its mysterious chamber acts;
Its influence pressing on our heart and mind
Pushes them to exceed their mortal selves.

It seeks for Good and Beauty and for God;
We see beyond self's walls our limitless self,

We gaze through our world's glass at half-seen vasts,
We hunt for the Truth behind apparent things.

—Savitri p. 485

आत्मा का स्वरूप

अध्यात्मवादियों का एक मत प्रसिद्ध है कि जैसा पिण्ड में है वैसा ब्रह्माण्ड में है किन्तु इस सत्य का केवल मानसिक स्तर पर समझना योग के लिए उपयोगी नहीं है। इसका आध्यात्मिक स्तर पर अनुभव होना चाहिए। इतना तो स्पष्ट है कि मैं कुछ भी अनुभव करूँ मुझे अपने व्यक्तिगत अस्तित्व का अनुभव तो होता ही रहता है। मैं यह भी समझता हूँ कि मैं दूसरे व्यक्तियों से और पदार्थों से भिन्न हूँ। यह अहं का बोझ तीन स्तरों पर होता है– शारीरिक, भावात्मक और मानसिक। ये 'स्वयं' के तीन पक्ष है।

योग के द्वारा इस स्वयं के सम्बन्ध में प्रथम अनुभव तो यह होता है कि यह एक जटिल इकाई है जिसमें अनेक व्यक्तित्व समाये हुए है। सामान्य व्यक्ति आवरण के पीछे छिपे हुए स्वयं के विस्तार को और गहराई को नहीं देख पाता। हमारे अन्दर इच्छाएँ, सौन्दर्य की अभिलाषा, पसंद नापसंद विचार, जो कि कई बार परस्पर विरोधी होते है, रोग, सुख-दुःख अव्यवस्थित रूप में बने हुए हैं। यह हमारा कच्चा और अविकसित रूप है जैसा कि आदि में मनुष्य का था किन्तु जैसे ही हम योग के द्वारा अन्दर की ओर जाते हैं वैसे ही हमें पता चलता है कि हमारे अनेक चित्त हैं जो एक दूसरे के साथ तालमेल नहीं खाते और जिनमें प्रत्येक की प्रकृति भिन्न है और माँग भी है।

दूसरी खोज योग के द्वारा यह होती है कि हमारे अवचेतन, अचेतन और अतिचेतन मन में हमें केवल सतही चेतना का आभास है। यह सतही चेतन जिन क्रियाओं में डूबा रहता है वे हमारे गहन व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

हम कितना भी विश्लेषण करें पूरा रहस्य नहीं खुलता है। जब हम अवचेतन, अचेतन और अतिचेतन में जाते है तब योग के द्वारा हमारे व्यक्तित्व का छिपा हुआ रूप अनावृत होता है।

तीसरी खोज यह है कि हमारी चेतना शरीर से घिरी हुई और दूसरों से अलग नहीं है अपितु सारे विश्व से जुड़ी है। हमारी बाह्य चेतना ऐसा अनुभव करती है मानो हम शरीरी हैं। जैसे ही हम इस सीमा से बाहर निकलते हैं हमें पता चलता है कि शरीर के बाहर भी चेतना है जिसके माध्यम से हम विश्व की शक्तियों से जुड़े हैं। हमारे बिना जाने विश्व की शक्तियाँ हम पर अपना काम कर रही है। हमें केवल सतही स्तर पर विचारों का और भावनाओं का अनुभव होता है। वस्तुतः ये विचार या भावनाएँ बाहर से मन में आती है जो हमारे अन्दर एक रूप धारण कर लेती हैं। योग से यह पता चलता है कि हम संसार में अकेले नहीं हैं। अपने पृथक्त्व का अनुभव एक भ्रम मात्र है। हम निजी एकान्त में नहीं जी रहे हैं। हमारा मन बाहर से ग्रहण कर रहा है। जो विजातीय तत्त्व हमें चारों ओर से विचलित करते रहते हैं। यह आक्रमण दूसरे ब्रह्माण्डों से भी होता रहता है।

योग के द्वारा हमें चौथा ज्ञान यह होता है कि हमारे बाहरी व्यक्तित्व में अन्दर की आत्मा छिपी हुई है। यह बाहर का जीवन हमारा अज्ञान है जो खण्डित शक्तियों को ढूंढता रहता है। जब किसी का मन इन खण्डित शक्तियों से असंतुष्ट हो जाता है तो वह पूर्ण सत्य की खोज में निकलता है। हमारी आत्मा वस्तुतः वैश्विक और अनन्त है। जिस प्रकार हमारा सतही रूप वास्तविक नहीं है वैसे शब्द का सतही रूप वास्तविक नहीं है। जब हमें वास्तविक आत्मा का ज्ञान होता है तो प्रतिभासित स्व लुप्त हो जाता है क्योंकि यह स्व उस तादात्म्य का फल है जिसके कारण हम अपने आपको शरीर, प्राण और मन समझ लेते हैं। यह अहंकार आत्मा के प्रकट होने तक आवश्यक है क्योंकि इसी के कारण हम अपने आप को एक व्यक्ति मानते हैं। आत्मा का अनुभव अपने अन्दर होता है और ऐसा लगता है कि यह हमारी व्यक्तिगत सत्ता है। किन्तु यह सत्ता अहंकारयुक्त नहीं है अपितु पूरे ब्रह्माण्ड से जुड़ी हुई है। यह आत्मा केवल विश्वव्यापी ही नहीं है विश्वोत्तीर्ण भी है। इसका एक पक्ष कूटस्थ है जिसमें शांति स्वतंत्रता और नीरवता है जो सभी

गतिविधियों से उदासीन है, इसका दूसरा पक्ष गतिशील है जो सारे क्रियाकलापों को समाहित किए हुए है। यह आत्मा सबमें एक ही है और सबसे परे भी है। इसका साक्षात्कार होने पर अहंकार या तो केवल एक उपकरण रह जाता है या सर्वथा लुप्त ही हो जाता है। इसे ही लय, मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है।

इस प्रकार योग के द्वारा हम तीन चेतनाओं का ज्ञान प्राप्त करते है—वैयक्तिक, वैश्विक और विश्वोत्तीर्ण। इनमें किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक ऊंचाई पर यह तीनों एक साथ रहती हैं। आत्मसाक्षात्कार होने पर साधक अस्तित्व के साथ एकाकार हो जाता है। इसे लय अथवा असत् भी कहा जाता है इसलिए अस्तित्व को सच्चिदानन्द और असत् भी कहा गया है। असत् का अर्थ केवल इतना है कि जहाँ तक हमारा शुद्धतम विचार जा सकता है अथवा हमारा सूक्ष्मतम अनुभव जा सकता है वह उससे परे है — Non-Being is only a word. When we examine the fact it represents,we can no longer be sure that absolute non-existence has any better chance than the infinite Self of being more than an ideative formation of the mind. We really mean by this Nothing something beyond the last term to which we can reduce our purest conception and our most abstract or subtle experience of actual being as we know or conceive it while in this universe. This Nothing then is merely a something beyond positive conception. —*The Life Divine, P.*32

THE WORLD SAVIOUR, AVTAAR

The vast universal suffering feel as thine:
Thou must bear the sorrow that thou claimst to heal;
The day-bringer must walk in darkest night.

He who would save the world must share its pain.

If he knows not grief, how shall he find grief's cure?

God must be born on earth and be as man
That man being human may grow even as God.

He who would save the world must be one with the world,
All suffering things contain in his heart's space
And bear the grief and joy of all that lives.

—Savitri p. 536

श्री सत्प्रेम की दृष्टि में श्री अरविन्द

चेतना का साहसिक अभियान

श्री सत्प्रेम श्री अरविन्द के और माँ के एक फ्रांसिसी शिष्य थे जिन्होंने पाण्डिचेरी में रहकर निरन्तर साधना की। उनके अनेक ग्रन्थों में एक प्रमुख ग्रन्थ **'श्री अरविन्द अथवा चेतना का साहसिक अभियान'** है जो मूलतः फ्रेंच में लिखा गया था किन्तु जिसका अंग्रेजी और हिन्दी में अनुवाद भी हो गया है। श्री अरविन्द के समझने के लिए इस ग्रन्थ की महत्ता को ध्यान में रखते हुए हम श्री सत्प्रेम के इस ग्रन्थ में दिये गये विचारों का संक्षेप में सर्वेक्षण करेंगे ताकि यह स्पष्ट हो सके कि एक विदेशी साधक की श्री अरविन्द के प्रति क्या भावना है। वस्तुतः श्री सत्प्रेम ने श्री अरविन्द की आध्यात्मिक यात्रा का जैसा मौलिक किन्तु प्रामाणिक विश्लेषण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है।

धर्म का स्वरूप

श्री सत्प्रेम प्रारम्भ में कहते है कि धार्मिकता अनिवार्य रूप से आध्यात्मिकता की पर्यायवाची नहीं होती है। इसके समर्थन में उन्होंने श्री अरविन्द को उद्धृत किया है—

> *'धर्म का सच्चा राज मनुष्य के अन्दर भगवान् का राज है, किसी पोप या चर्च का अथवा किसी पादरीवर्ग का राज नहीं।' —The Human Cycle,* 15.166

श्री अरविन्द के स्वभाव के सम्बन्ध में श्री सत्प्रेम ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि श्री अरविन्द विनोदप्रिय थे और उनके विनोद के पीछे मनुष्य के जीवन

की दारुणता का निषेध है अर्थात् यह मनुष्य की दुःखद परिस्थितियों से ऊपर उठकर एक प्रभुत्व की भावना से हास-परिहास करते है। उनका मानना है कि हास जीवन में संतुलन लाता है।

यह बात अनेक बार कह दी गई है कि श्री अरविन्द संकीर्ण दृष्टि वाले भौतिकवादी भी नहीं हैं, किन्तु भौतिकवाद की उपेक्षा करने वाले अध्यात्मवादी भी नहीं हैं। एक यूरोपीय के नाते सत्प्रेम का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है—

> *'यूरोपीय इतने अधिक बुद्धियुक्त हो गये हैं कि उनके पास सच्चे अर्थों में सुस्पष्ट अंतर्ज्ञान जैसा कुछ है ही नहीं जिसे बाह्य जीवन में साकार करें। इसके विपरीत भारत का अन्तर अत्यधिक भरा है, पर उसके अन्दर पर्याप्त अभीप्सा नहीं कि बाह्य जीवन को अंतरानुभूति के समरूप बनाये। —श्री अरविन्द अथवा चेतना का साहसिक अभियान पृ.* ३३

श्री अरविन्द की दृष्टि

इस पृष्ठभूमि में श्री अरविन्द ने भारत के आन्तरिक ज्ञान को बाह्य जीवन में उतारने का उपक्रम किया। यह उपक्रम जितने विशाल स्तर पर श्री अरविन्द ने किया सम्भवतः किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया।

श्री अरविन्द के सम्पर्क में आने पर सत्प्रेम जी को यह स्पष्ट हुआ कि कर्म हलचल का नाम नहीं है। शरीर और मन की निश्चल और नीरव अवस्था में अपने लिए और संसार के लिए भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

भारत में आध्यात्मिक स्वतंत्रता है और इसलिए जिसे हिन्दू धर्म कहते है उसके अनेक रूप हैं किन्तु वे सभी रूप केन्द्र पर आकर मिल जाते हैं। पश्चिम में धर्म के लिए एक बाहरी ढाँचा निर्दिष्ट रहता है किन्तु भारत में यह ढांचा गौण है।

मूल बात यह है कि जैसा **श्वेताश्वतरोपनिषद्** (५.५) में कहा गया है सारी प्रकृति का एक अधिपति है जो सबका उद्गम है। सारे देवी देवताओं में उसी की छवि झलक रही है। इसलिए गीता (४.११) में श्री कृष्ण कहते है कि जो

मनुष्य मेरी उपासना जिस प्रकार भी करता है मैं उसे उसी प्रकार स्वीकार कर लेता हूँ। इस पृष्ठ भूमि में श्री अरविन्द का कहना है कि प्रत्येक साधक अपनी प्रकृति के अनुसार अपने ही योग के मार्ग का अनुसरण करेगा। सत्प्रेम जी ने पश्चिम और भारत की तुलना करते हुए लिखा है– यदि पश्चिम वाले थोड़ी भी ईमानदारी बरतें, तो यह देख लेने में देर नहीं लगेगी कि उनके 'आंतरिक' अध्ययन, अर्थात् मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और मानवषियक ज्ञान की तो अभी बाल्यावस्था चल रही है। कारण इसका स्पष्ट है कि आत्मज्ञान एक तप है जिसे उतनी ही विधिपूर्वक और धैर्यसहित साधना पड़ता है और जो कभी-कभी उतना ही कष्टकर सिद्ध होता है जितना नाभिकीय भौतिकविज्ञान के अध्ययन के लिए एक वर्षों पर्यंत लंबी तैयारी। –*श्री अरविन्द अथवा चेतना का साहसिक अभियान पृ.* ३७

रहस्य की महिमा

भारतीयों की दृष्टि का एक स्वरूप कला में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ के मन्दिर एक रहस्य का संकेत करते है जब कि यूरोप के गिरिजाघर किसी गुह्य का आभास बिलकुल नहीं देते। यूरोप में जो विज्ञान के माध्यम से विश्लेषण करके कांट-छांट की गई है उसके बीच सभी रहस्य लुप्त हो गया और उसके कारण एक ऐसा अभाव पैदा हो गया जिसकी पूर्ति नहीं होती दिख रही। श्री अरविन्द ने समन्वय का मार्ग अपनाया और पश्चिम या भारत का कोई भी भाग त्याज्य नहीं माना। किन्तु दोनों को एक विशाल व्यापकता देने का संकल्प किया। इसका यह अर्थ है कि हम भूल से किसी देश काल से बँधे हुए सत्य को परम सत्य समझ लेते हैं और उस अधूरे सत्य को ढोते रहते हैं किन्तु वह अधूरा सत्य इतना भारी हो जाता है कि अगला कदम उठाना कठिन हो जाता है।

मायावाद

इतिहास में एक धारा ऐसी रही जिसने आलस्य, उदासीनता और पुरुषार्थविहीनता को ज्ञान का नाम दे दिया। उससे मायावाद का जन्म हुआ। इस मायावाद ने **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** का यह अर्थ कर लिया कि सब कुछ ब्रह्म है किन्तु जगत् मिथ्या है।

मुण्डकोपनिषद् (२.२.१२) ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म हमारे चारों और ऊपर-नीचे सर्वत्र है ही। यह सुन्दर ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है। किन्तु न जाने कैसे मायावाद ने इसे यह रूप दे दिया कि यदि हमें ब्रह्म की प्राप्ति करनी है तो संसार का त्याग करना पड़ेगा।

त्रिगुण का स्वरूप

जहाँ तक संसार का संबंध है इसमें सब कुछ तीन गुणों से बना है और यह तीन गुण अपने शुद्ध रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। ये सर्वत्र मिले हुए हैं। जिसका यह अर्थ है कि अंधकार में भी प्रकाश की किरण है और प्रकाश में भी अंधकार रहता है। इस कारण हमारा संतुलन बिगड़ा रहता है। इस संकट से निकलने के लिए हमें तीन गुणों से ऊपर उठना होगा। यह कार्य एकाग्रता से हो सकता है और सारा योग इस एकाग्रता को साधने का साधन है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि आवागमन के चक्र से छूटना हमारा लक्ष्य बन गया। प्राचीन उपनिषदों में संसार में भगवान् को देखने की बात थी किन्तु बाद के उपनिषदों में यह रहस्य लुप्त हो गया। श्री अरविन्द के अनुसार पश्चिम प्राणशक्ति पर बल दे रहा है तो भारत निर्विकार शाश्वत की खोज मे लगा हुआ है। किन्तु उन दोनों के बीच कोई विरोध नहीं है। व्यावहारिक सत्य स्वप्न नहीं है। आरोह अवरोह चेतना की लीला है। इन्हीं के द्वारा ब्रह्म स्वयं संसार बन गया है। वह आत्मा भी है और संसार भी। इसके लिए आत्मा का जड तत्त्वों पर प्रभुत्व होना चाहिए। यह बाह्य जीवन के लिए आवश्यक है।

संश्लिष्ट दृष्टि

श्री अरविन्द का एक योगदान यह है कि उन्होंने जीवन को कर्म और ज्ञान, भीतर और बाहर तथा ऊपर और नीचे के भागों में विभक्त नहीं किया। उनकी दृष्टि में अलौकिक हम उसे कहते है जिसकी प्रकृति का हमें अभी ज्ञान नहीं हुआ। भारतीय दर्शन की परम्परा के अनुसार श्री अरविन्द ने दूसरों को उत्तरदायी न मानकर स्वयं को ही उत्तरदायी माना। क्योंकि हमारे शत्रु हम स्वयं ही होते हैं इसलिए उन्होंने भारत की पराधीनता के लिये भारत को ही उत्तरदायी माना।

इस संबंध में माँ का कहना था कि बाह्य परिस्थितियाँ हमारी निजी सत्ता का ही प्रस्फुटन होती हैं।

बुद्धि का स्वरूप

श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि बुद्धि से जो भी निर्णय लिया जाता है उसके विपरीत भी सच हो सकता है। उनका कहना था कि कोई भी सत्य ऐसा नहीं जिसका विपरीत भी सत्य न हो। इस कारण उन्होंने बुद्धि को अन्तिम सत्य का निर्णायक नहीं माना। उन्हें यह ठीक नहीं लगता था कि संसार को भाग्य के भरोसे छोड़ दे और स्वयं मोक्ष प्राप्त कर लें। उन्होंने बारम्बार यह कहा कि वे भारत का उद्धार चाहते हैं, मोक्ष नहीं।

विचार-शक्ति

उनका मानना था कि मोक्ष में प्रेम, प्रकाश और आनन्द होना चाहिए। उनके अनुसार साधना का प्रारम्भ मन की नीरवता से होता है। विचार करने की शक्ति अद्भुत है किन्तु निर्विचारता की शक्ति उससे भी बड़ी है– *'एक तरह से हम केवल मानसिक, स्नायविक और शारीरिक आदतों का एक जटिल पुंज भर हैं जो कुछ प्रधान विचारों, इच्छाओं और संसर्गों के द्वारा जुड़ा रहता है - छोटी-छोटी पुनः पुरावर्तनशील अनेक शक्तियों का एक संमिश्रण मात्र जिसके अंदर कुछ प्रमुख स्पंदन शामिल रहते हैं।' —The Synthesis of Yoga,* 20.65-66

आवरण

यह स्थिति धीरे-धीरे इतनी घनी हो जाती है कि मनुष्य उसी के अन्दर घूमता रहता है। योग इस आवरण को तोड़ कर संसार के और स्वयं के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है। तब हमें पता चलता है कि सत्य कितना विशाल है। इस आवरण को तोड़ने के लिए मन को एकाग्र करना आवश्यक है किन्तु इसके लिए मन के विरुद्ध मानसिक संघर्ष नहीं करना चाहिए अपितु हमारी जो अभीप्सा है उस पर मन को केन्द्रित करना चाहिए।

नीरवता

यह ध्यान किया जा सकता है कि एक ऐसे सागर में जिसमें कोई लहर न उठ रही हो हम निश्चेष्ट इस तरह लेटे हैं जैसे लकड़ी का खण्ड हो। धीरे-धीरे नीरवता तो आयेगी चेतना भी विशाल बनेगी। इसमें धैर्य से काम लेना चाहिए। साधक पायेगा कि धीरे-धीरे भगवत् कृपा उसका सहयोग करने लगती है। इस प्रकार हमारी प्रसुप्त शक्तियाँ जाग जाती हैं। जिसे कुण्डलिनी का जागरण कहते हैं वह भगवत् कृपा ही है। होता यह है कि एक बार मन शांत हो जाता है किन्तु जैसे ही हम साधना से उठते हैं वैसे ही पुनः हलचल चालू हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि अभ्यास एकान्त में ही नहीं जीवन की हलचल में भी किया जाये। वस्तुतः हम अपनी पुरानी आदतों से बँधे रहते हैं। महत्त्व की बात यह है कि योग कोई विशेष कार्य करने का नाम नहीं है अपितु सभी कार्यों को एक विशेष ढंग से करने का नाम है। जैसे ही साधक योग में जाता है वह दूसरी चेतना में चला जाता है। एक तरह से सब ओर शून्य दिखाई देता है। यह साधक का दूसरा जन्म है। धीरे-धीरे यह शून्य भरने लगता है। इसके आगे साधक एक ऐसी स्थिति से गुजरता है जो रहस्यमय है। इस संदर्भ में श्री अरविन्द का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि साधक को केवल ऊर्ध्वगमन ही नहीं करना अधोगमन के द्वारा जड प्रकृति को भी रूपान्तरित करना है।

साक्षिभाव

जहाँ तक साक्षिभाव का संबंध है सामान्य कार्य करते हुए साक्षिभाव रखना सम्भव लगता है किन्तु गंभीर कार्य करते समय अथवा मित्रों से किसी विषय पर बातचीत करते समय साक्षी बनना कठिन प्रतीत होता है। ऐसा इसलिए है कि हमें एक प्रकार की आदत पड़ गई है। योग उस आदत से छुटकारा दिलाता है। **ऋग्वेद** (१.१६४.२०) में कहा गया है कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं जिनमें एक फल खाता है दूसरा केवल देखता है। धीरे-धीरे साधक को यह पता चलेगा कि साक्षिभाव में रहते हुए भी विचार किया जा सकता है और कोई दूसरी शक्ति सारा कार्य कर देती है। *'वास्तव में जो भी मन करता है उसमें कुछ भी ऐसा नहीं जो मानसिक निश्चलता और निर्विचार शान्ति में न हो सके, और ज्यादा अच्छा न हो सके।' —The Hour of God,* 17.11

विचार का स्वरूप

वस्तुतः एक वैश्विक मानस है जिसे वैदिक साहित्य में श्वोवसीयस् मानस कहा गया है। इस मानस से संबंध होने पर धीरे-धीरे अन्दर और बाहर का भेद समाप्त हो जाता है– **नान्तःप्रज्ञः न बहिःप्रज्ञः**। साधक हल्का अनुभव करने लगता है। साधारणतः हम यह अनुभव करते है कि एक घेराबन्दी में हम सुरक्षित है किन्तु वस्तुतः सार्वभौमिक बुद्धिमत्ता विश्व मानस में से आती है जो किसी घेरे में बन्द नहीं रहती। धीरे-धीरे यह पता चलता है कि विचार हमारे अन्दर से नहीं आते अपितु बाहर से आते हैं। यदि हम वस्तुतः विचार का निर्माण कर सकें तो हम पूरे संसार का ही निर्माण कर सकते है। माँ का कहना था कि खोजने पर 'मैं' का कहीं पता ही नहीं चलता। इसलिए हमारे विचार करने का प्रश्न ही नहीं है। विचार वस्तुतः बाहर से आते है। अपनी शिक्षा, सामाजिक वातावरण और परिवार के संस्कारों के दायरे में रहकर हम अपने स्वभाव से मेल खाते हुए स्पंदनों को चुन लेते है और वे ही स्पंदन मानसिक धरातल पर विचार बन जाते है। ये विचार बार-बार एक ही प्रकार के होते है। नई शब्दावली में ढलते रहने के कारण हमें लगता है कि विचार प्रगति कर रहे है।

जैसे ही साधक को यह पता चलेगा कि विचार बाहर से आते है तो वह उनसे पीछा छुड़ा सकेगा, क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जाये कि विचार अन्दर से आते हैं तो वे जम कर बैठ जाते हैं। श्री अरविन्द को विचारों के संबंध में एक बहुत बड़ा मार्गदर्शन **भास्कर लेले** नाम के एक योगी से प्राप्त हुआ था। इसका उल्लेख श्री अरविन्द के शब्दों में इस प्रकार है–

श्री लेले ने कहा–

'ध्यान में बैठ जाओ, पर विचार मत करो, केवल अपने मन को देखो; तुम विचारों को उसके अन्दर प्रवेश करते हुए देखोगे; उनके प्रवेश कर सकने से पहले ही उन्हें अपने मन से दूर फेंकते जाओ जब तक तुम्हारा मन पूर्ण नीरवता के समर्थ बन जाये। विचारों का प्रत्यक्ष रूप से मन में बाहर से आने के बारे में मैंने पहले कभी नहीं सुना था परन्तु इसकी सच्चाई अथवा संभावना पर मुझे सन्देह भी नहीं हुआ। बस मैं बैठ गया और उसे कर

डाला। एक क्षण भर में मेरा मन ऊँचे पर्वत-शिखर के निर्वात वायुमंडल की तरह नीरव हो गया और तब मैंने एक विचार और फिर दूसरा स्थूल रूप में बाहर से आता हुआ देखा। वे प्रवेश करके मस्तिष्क पर अधिकार जमा सकें इससे पहले ही मैंने उन्हें दूर फेंक दिया और तीन दिन मे मैं विचारमुक्त हो गया। उस समय से मेरा मन सिद्धान्ततः एक स्वच्छन्द प्रज्ञा, एक सार्वभौमिक मानस बन गया जो विचारों के कारखाने के मजदूर की तरह व्यक्तिगत विचारों के संकीर्ण दायरे में सीमित न रहकर, सत्ता के समस्त प्रान्तों से ज्ञान प्राप्त करने वाला बन गया और इस विशाल दृश्य-जगत् तथा विचार-जगत् में से अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लेने की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त हो गई।' —On Himself, 26.83-84

इस प्रकार की साधना से व्यक्ति को यह विश्वास होने लगता है कि सब कुछ संभव है किन्तु हम यह मान बैठते हैं कि कुछ चीजें कठिन हैं। यह एक प्रकार से कारागार से मुक्त होने जैसा है। उस समय यह समझ में आता है कि जिसे हम बाहर समझते है वह भी अन्दर ही है। हम सर्वव्यापक हैं। यह समझना भूल है कि हम किसी ऐसे स्थान पर चले जायें जहाँ बाहर बाधाएँ न हों। बाहर तो हमारा ध्यान बटाँने के लिए कुछ न कुछ सर्वत्र ही रहता है। यदि हम बाहर और अन्दर का भेद मिटा दें तो फिर हम सर्वत्र ही अपने घर में होंगे।

जब साधक का ध्यान निरन्तर बना रहता है तो फिर उसे कुछ क्षुब्ध नहीं कर पाता। उसके मन में विचार आते है और चले जाते है जैसे आकाश में पक्षी आते है और बिना कोई निशान छोड़े चले जाते है।

पश्चिम के दर्शन में यह माना गया कि विचार ही चेतना का प्रमाण है। मनुष्य जिन लोगों को अपने जैसा देखता है उन्हें ही चेतना मानने लगता है। श्री अरविन्द का कहना है कि जिसे हम जड समझते हैं। वह दूसरे प्रकार का चेतन है। हम किसी भी अवस्था में चेतनाहीन नहीं होते है। सोते, मूर्च्छित होते या मृत अवस्था में भी चेतना तो रहती ही है। हम जैसे-जैसे प्रगति करते हैं वैसे-वैसे धातुओं में पौधों में और सभी प्राणियों में चेतना की प्रतीति होने लगती है। सच तो यह है कि कई बार जो निर्जीव होता है वह बाह्य स्तर पर कम विकसित

होने पर भी आन्तरिक रूप से अधिक प्रखर होता है। साधक का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वे सोते समय और यहाँ तक कि मृत्यु के समय भी सचेत बना रहे। जो जीवन में सचेत रहेगा वह मृत्यु में भी सचेत रह सकेगा। चेतना की विविध शैलियाँ हैं। योग के द्वारा हम उन शैलियों से परिचित हो सकते हैं। जिनसे सामान्यतः परिचित नहीं होते। उदाहरणतः हम पाषाण में या पानी या वायु में चेतना नहीं देख पाते किन्तु वहाँ भी चेतना है। होता यह है कि हम हरेक चीज को मानसिक रूप दे देते है। इससे हमारा मानसिक विकास होता है और हमारी वृत्तियाँ ऊपरी सचेत सतह पर आ आती हैं। किन्तु इसके साथ ही यह हानि भी होती है कि अधिमानस की आवाज दब जाती है और अतिमानस की जो आवाज आती है वह विकृत हो जाती है।

चेतना के केन्द्र

जो साधक मन को मौन कर चुका है वह मानसिक आवरण से रहित नग्न यथार्थ को देख सकता है। क्रोध या भय में जो स्पंदन या स्फुरण होता है उसका अनुभव हमें तब होता है जब हम उसका मानसिकीकरण न कर दें। साधक को यह अनुभव होगा कि चेतना के कुछ केन्द्र हैं जिन्हें चक्र कहा जाता है यह चक्र चार भागों में बँटे हैं रीढ़ की हड्डी के नीचे देह का केन्द्र है, नाभि से हृदय तक प्राण का केन्द्र है, कण्ठ से कान तक मानसकेन्द्र है और मस्तिष्क से ऊपर अतिमानस का केन्द्र है। अतिमानस का केन्द्र हमारे विचारशील मानस को शासित करता है और मन के उच्चतर लोकों के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित करता है। मानसकेन्द्र दो भृकुटियों के बीच नासिका से ऊपर है और दूसरा मानसकेन्द्र कण्ठ पर है। भृकुटियों के बीच का केन्द्र संकल्प शक्ति और क्रियाशक्ति को शासित करता है कण्ठ का केन्द्र मानसिक अभिव्यक्ति के रूपों को शासित करता है। प्राण के तीन केन्द्र हैं– पहला हृदय जहाँ भाव रहते है, दूसरा नाभि जहाँ शासन अधिकार और विजय की प्रवृत्ति रहती है और तीसरा नाभि और योनि के बीच वाला केन्द्र जो ईर्ष्या, असूया, कामना, लोभ, क्रोध इत्यादि का स्थान है। देह का केन्द्र मेरुदण्ड की जड में है जो भौतिक सत्ता और काम पर अधिकार रखता है।

हमारा क्या नहीं है

सामान्यतः मनुष्य के ये केन्द्र या तो प्रसुप्त रहते हैं या बन्द। अधिक से अधिक ये उस थोड़े से प्रवाह को गुजरने देते हैं जो तुच्छ जीवन के लिए आवश्यक है। मनुष्य एक संकीर्ण कारागार में बन्द रहता है। इसलिए वह दूसरे मनुष्यों या वस्तुओं में अपने को ही आरोपित कर देता है और इसलिए वह अपने से बाहर नहीं देख पाता। यदि ये केन्द्र खुल जायें तो हम विश्व के सारे स्पंदन और शक्तियों से जुड़ जाते हैं। श्री अरविन्द जिस परा शक्ति का उल्लेख करते हैं यह इन्हीं केन्द्रों से ऊपर से नीचे की ओर उतरती हुई केन्द्रों को खोलती है। नीचे के केन्द्र इस विधि से देर से खुलते हैं यदि ये केन्द्र जल्दी खुल जायें तो विश्व में फैली हुई मलिन कीचड़ में धंस सकते हैं। इसलिए साधना में गुरु का मार्गदर्शन आवश्यक है। इन केन्द्रों के खुलने पर साधक स्पंदनों को अपने शुद्ध रूप में पकड़ सकता है। ये स्पंदन केवल मानसिक ही नहीं है। संकल्पात्मक भी है। ये सभी स्पंदन बाहर से आते है। वस्तुतः न विचार हमारे है, न इच्छा, न संवेग और न कर्म। —*The Synthesis of Yoga,* 20.203

पश्चिम में एक विचार प्रचलित है कि 'मैं सोचता हूँ अतः मेरा अस्तित्व है'। यह समझ इसलिए ठीक नहीं है कि वस्तुतः सोचना मेरे अस्तित्व में से नहीं आता अपितु बाहर से आता है। मैं महसूस करता हूँ या मैं इच्छा करता हूँ, ऐसा सोचना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ये सब कार्य सारे विश्व में से आने वाले स्पंदनों से होते हैं।

हमें ऐसा लगता है कि हमारा अहसास, हमारी इच्छाएं और विचार स्वयं हममें से ही आते हैं। इसी समझ के कारण हमने एक आदत बना ली है कि कुछ चीजें हमारे हृदय को प्रभावित करती हैं और कुछ नहीं। हमारी यह आदतें इकट्ठी होकर हमारा व्यक्तित्व बन जाती हैं। लेकिन मूल बात यह है कि इन आदतों को बनाने वाला मैं स्वयं नहीं हूँ। हमारा समाज, हमारी शिक्षा, हमारे रीति-रिवाज सब मिलकर हमारी इच्छा और पसंद बनाते है। इस प्रकार हमारा जीवन बाहर से आये तत्त्वों से संचालित होता है। जिन चित्तवृत्तियों को हम संचित कर लेते है वही हमारा व्यक्तित्व हो जाता है। योग में इन चित्तवृत्तियों का निरोध करने की

बात सबसे पहले कही गयी है। लगातार होने वाले ये स्पंदन इस तरह बार-बार घटित होते हैं कि हमें लगता है कि वे स्थायी है, जबकि वस्तुतः वे निरन्तर प्रवहमान है। मानस स्पंदन विशाल मानस से और प्राण के स्पंदन सार्वभौम प्राण से आते है। **ऋग्वेद** (२.२४.५) कहता है कि प्रयत्न के बिना ही सब लोग एक दूसरे में आते-जाते हैं। इस पृष्ठभूमि में मैं नाम की कोई चीज नहीं बचती। यदि साधक अपने मन को नीरव बना दे तो वह विचारों के जाल में नहीं फँसता और यदि वह प्राण को शांत कर ले तो इच्छाओं की आँधी उसे नहीं उड़ाती। **ऋग्वेद** (१.११३.८) में कहा है कि वह विशाल बनकर जो जीवित है उसे बाहर निकाल लाती है; जो मृत था उसे पुनः जागृत करती है। तब पता चलता है कि मानों हमारे व्यक्तित्व के भीतर एक और शक्ति है। मानों हमारे अन्दर एक अस्तित्व है जो हमारा सहारा है। वह हमें संभाले हुए है। श्री अरविन्द इसे चैत्य पुरुष कहते हैं किन्तु सामान्यतः इसे आत्मा कहा जाता है। इसका दर्शन चेतना का दर्शन है। हमें धीरे-धीरे पता चलता है कि ये चेतना उस सब से स्वतंत्र है जो हम महसूस करते हैं या जो हम संकल्प करते हैं—इसे ही शास्त्र साक्षी कहते हैं। यह मन, प्राण और शरीर से भिन्न है। इसलिए यह शरीर से बाहर भी निकल सकती है। जिसे हम शरीर, विचार या इच्छा कहते हैं वह हमारी पूर्ण सत्ता की एक पतली परत मात्र है।

चित् शक्ति

चेतना एक शक्ति है जिसे चित् शक्ति कहा जाता है। वस्तुतः चेतना और शक्ति को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और इन्हें एक-दूसरे में आसानी से बदला जा सकता है। वैदिक साहित्य में इसे चित् अग्नि कहा गया है। योग में इसे ही तपस् कहा गया है। ये चित् की ऊष्णता है। यह सर्वत्र एक समान है। अवरोहण या अधिरोहण मानसिक प्राणिक या भौतिक शक्ति का होता है, इस चित् शक्ति का नहीं। यह चित् शक्ति जहाँ भी रहे वहीं अपना काम करती है। क्योंकि चित् शक्ति एक ही है। इसलिए सभी शक्तियां चेतना युक्त है। योगी इसी कारण लकड़ी के किसी टुकड़े को बिना छुए भी हिला सकता है क्योंकि उस लकड़ी के टुकड़े में भी चेतना है। **ब्रह्माण्ड का यदि एक अंश चेतनारहित होता तो**

सारा संसार ही अचेतन होता। आइंस्टिन ने जो $E = mc^2$, का सूत्र दिया उसका यह अर्थ है कि घनीभूत होकर शक्ति ही जड तत्त्व बन जाती है। किन्तु योग इससे आगे जाकर कहता है कि क्योंकि सारी शक्ति चेतन है, इसलिए जड तत्त्व भी चेतना का ही एक रूप है। मानसचेतना, प्राण अथवा अतिचेतन भी चेतना के ही रूप है। जब हम शक्ति के अन्दर चेतना को देख लेंगे तो भौतिक शक्तियों पर हमारा अधिकार हो जायेगा। **मुण्डकोपनिषद्** (१.१.८) में कहा गया है कि जड तत्त्व की उत्पत्ति घनीभूत ब्रह्म से हुई— **तपसा चीयते ब्रह्म**। इसका यह अर्थ होता है कि क्योंकि सब चेतन है इसलिए अस्तित्व मात्र चित् है। हमारा विकास शक्ति के चेतना में बदलने से हुआ है। शक्ति में चेतना पहले से ही छिपी हुई है। यदि हम परमाणु को देखें तो पायेंगे कि उसकी चेतना अपने को ही बनाने में लगी है, पौधा हरियाली लाने के काम में लगा है। हम जब किसी इच्छा में डूब जाते हैं तो हमारी चेतना उस इच्छा में ही लीन हो जाती है। यह चेतना शक्ति में बन्द है। विकास के साथ यह मुक्त होती जाती है। जब यह पूरी तरह मुक्त होती है तो वह सर्वत्र अपने को ही पाती है। उसका अन्य सब शक्तियों पर अधिकार होता जाता है। वस्तुतः सचेत होना ही समर्थ होना है। जैसे परमाणु तेजी से घूम रहा है वैसे मनुष्य भी अपने क्रियाकलापों में व्यस्त है और वह अपनी शक्तियों का स्वामी नहीं है। श्री अरविन्द का मानना है कि यदि मनुष्य अपनी चेतना से परिचित हो जाये तो वह उसके द्वारा अपने चारों ओर एक घेरा बना सकता है और अपने विचार को कहीं भी संप्रेषित कर सकता है।

> यदि हमें हजारों बार ऐसे अनुभव न हो चुके होते जो यह सिद्ध कर चुके हैं कि मानस में परिवर्तन करना, उसकी क्षमताओं का विकास करना, उसे नई क्षमताएँ प्रदान करना, ज्ञान के नए क्षेत्र खोलना, प्राण की चेष्टाओं को वश में लाना, चरित्र में परिवर्तन करना, मनुष्यों और वस्तुओं पर प्रभाव डालना, शरीर की अवस्था और अंगों के कार्यनिष्पादन पर नियन्त्रण रखना, एक ठोस गतिशील महाशक्ति के रूप में विभिन्न शिक्तयों पर कार्य करना, घटनाओं में परिवर्तन करना, इत्यादि, आन्तरिक शक्ति के लिए संभव है, तब हम उस विषय में इस तरह बात न करते। यह पराशक्ति

> केवल अपने परिणाम में ही नहीं बल्कि अपनी गतिविधि में भी स्पष्ट और ठोस है। जब मैं शक्ति अथवा बल का अहसास होने की बात करता हूँ, मेरा मतलब केवल धुँधला-सा कुछ उसका आभास होना नहीं बल्कि उसे मूर्त रूप में महसूस करना और परिणामतः उसको निर्देश देने, उसे काम में लगाने, उसकी गतिविधि का निरीक्षण करने, उसकी मात्रा और तीव्रता का ध्यान रखने की योग्यता रखना है और ठीक उसी तरह जैसे अन्य विरोधी शक्तियों के विषय में। —*Sri Aurobindo Came to Me, 206*

अभिप्राय यह है कि पदार्थ, प्राण और मन का ऐसा संबंध है कि चेतना प्राण के माध्यम से पदार्थ में परिणत हो जाती है। इसे ही यज्ञ कहा जाता है—**वाचश्चितस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः**।

चिदानन्द

चेतना शक्ति तो है ही आनन्द भी है—चिदानन्द। चैतन्ययुक्त होना ही आनन्द है। यह तो पहले कहा ही जा चुका है कि सत्ता मात्र चैतन्ययुक्त है। चेतना कहें, शक्ति कहें, आनन्द कहें एक ही बात है क्योंकि आनन्द सर्वत्र है। इसलिए कोई जीवन को छोड़ना नहीं चाहता। आनन्द स्वतंत्र है; वह किसी पर निर्भर नहीं है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (३.६) में कहा गया है आनन्द से ही सब की उत्पत्ति होती है। आनन्द में सब टिके है और आनन्द में ही सब लीन हो जाते है। यह सच्चिदानन्द ही ब्रह्म है जो सर्वव्यापक है और हम भी वही हैं।

वासुदेव सर्वम्

श्री अरविन्द को एक वर्ष कारावास में रहते हुए वैश्विक चेतना का अनुभव हुआ, उन्हें लगा कि सत्य तो केवल ब्रह्म है और यह जगत् एक शून्य छायास्वप्न है। धीरे-धीरे वह शून्य भरने लगा और भगवान् का परम सत्य असंख्य रूपों में प्रकट हुआ। ऐसा लगा कि जैसा जो कुछ भी है वह ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। श्री अरविन्द ने जब कारागार में लगे हुए पेड़ को देखा तो उन्हें यह लगा कि यह पेड़ नहीं अपितु स्वयं श्रीकृष्ण है। इतना ही नहीं उन्हें संतरी में भी नारायण ही

दिखे। जो कंबल उन्हें लेटने के लिए दिये गये थे उसमें उन्होंने अपने आपको श्रीकृष्ण की भुजपाश में लेटा हुआ सा पाया। उन्हें सारे ही कैदियों में वासुदेव ही दिखे। न्यायाधीश वकील और साक्षियों में भी उन्हें श्रीकृष्ण का ही दर्शन हुआ। पुण्यात्मा हो या पापात्मा सब में वासुदेव ही है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (२.६) में कहा गया है कि वह विद्या और अविद्या बन गया। वह सत्य और असत्य बन गया। यह जो कुछ भी विद्यमान है वही सब बन गया।

संसार का स्वरूप ऐसा नहीं कि उसे भगवान् का ही रूप माना जाये क्योंकि इसमें गन्दगी है, अंधेरा है और पाप है। दूसरी ओर हम जीवन से पलायन नहीं कर सकते, हमें खतरों के बीच ही रहना होगा जहाँ मृत्यु है, पाप है और दुःख है। दूसरी ओर हमने भगवान् को प्रेम और करुणा की मूर्ति माना हुआ है। तब हमें यह मानना पड़ता है कि संसार किसी आसुरी शक्ति की करतूत है। मुख्य बात यह है कि अच्छाई और बुराई के बीच विभाजन करना द्वैत दृष्टि है और अज्ञान है। इस द्वैत दृष्टि के कारण ही जीवन में भेद कर दिया गया। स्वीकार यह करना है कि अशुभ और पीड़ा के बीच भी भगवान् है।

संसार बन रहा है

मुख्य बात यह है कि हमारी जो अवधारणा संपूर्णता के बारे में है वह सीमित है, हमने कुछ चीजों को सदाचार मान लिया है किन्तु यदि सभी सदाचारों की सूची बनाकर उनका पालन किया जाये तो जीवन में कुछ शेष ही नहीं रहेगा। वस्तुतः हमारी दृष्टि में अभी पूर्णता का चरम रूप आया ही नहीं है। श्री अरविन्द के दर्शन में संसार बनकर अभी पूरा नहीं हुआ अपितु बन रहा है। हम अभी जहाँ खड़े है वह बहुत प्रारम्भिक स्थिति है। हम कहाँ जायेंगे इसका अभी कोई स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं है।

एकत्व

इतना अवश्य है कि ऋषियों ने हमें बताया है कि हम ब्रह्म है - **तत्त्वमसि**। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह हमारे अनुभव में आया है। इसके लिए चैत्य पुरुष की

खोज करनी होगी। **ऋग्वेद** (५.३.९) में कहा गया है अपने पिता को मुक्त कर अपने ज्ञान में उसे सुरक्षित रख। वह तेरा पिता जो पुत्र बनकर तुझे वहन करता है। **ऋग्वेद** (५.१.२) में कहा गया है कि उसका लाल ज्वलंत पुंज दिख रहा है। एक तेजस्वी देवता को अन्धकार से मुक्ति मिली।

इस अवस्था में सर्वत्र आत्मा का दर्शन होने लगता है। **ऋग्वेद** (१.७०.२) में कहा गया है कि जल के भीतर वनों में स्थायी और अस्थायी सभी वस्तुओं के अन्दर वह गर्भसम स्थित है। पदार्थ तक में वह विद्यमान है। जब ईसामसीह ने यह कहा था कि रोटी मेरी देह और मदिरा मेरा रक्त है तो इसका यह अभिप्राय था कि जड पदार्थ भी ब्रह्म का मूर्त रूप है। पृथ्वी में जो कुछ अब तक हुआ वह आज भी हमारी प्रकृति में उपस्थित है। चाहे जड़तत्त्व हो चाहे पशुजीवन, वह हमारे वर्तमान रूप के विकास का एक सोपान है।

हमारी असीमता

चैत्य के उद्घाटित होने पर विश्व चेतना की प्रथम अवस्था प्रकट होती है। किन्तु चैत्य का लक्ष्य सम्पूर्ण अस्तित्व को प्राप्त करना है। यह लक्ष्य हमें सब ओर से प्रेरित करता है। एक समय सचेतन तत्त्व का घेरा टूट जाता है। तब अहम् का बोध नहीं रहता। केवल अस्तित्व रह जाता है। हम गलती से यह समझ रहे है कि हम सब अलग-अलग हैं और हमारे आस-पास की वस्तुएं भी हमसे अलग हैं। इस प्रकार की समझ एक निजी जीवन के लिए आवश्यक थी। इसका कारण हम चेतनायुक्त भी हो गये किन्तु पूर्णतः सचेतन न होने के कारण हम दुःखी है। अनेक जन्मों के अनुभव के बाद जब हमें यह पता चलता है कि एक विश्वव्यापी जीवन हमारे निजी जीवन से अधिक विशाल है। तब हम अपने आप को उस विश्वव्यापी जीवन से जोड़ लेते है और हमें अपनी असीमता का पता चलता है।

तादात्म्यात्मक ज्ञान

वस्तुस्थिति यह है कि हम स्थूल को इन्द्रियग्राह्य मानकर अधिक महत्त्व देते हैं किन्तु इस कारण विश्व सम्पन्न नहीं हुआ, अपितु श्रीहीन हो गया। जिस दिन

हम सूक्ष्म को अपने ज्ञान का विषय बनायेंगे उस दिन संसार में बर्बरता कम हो जायेगी। श्री अरविन्द ऐसा मानते है कि जिस प्रकार हम अपने हृदय के स्पंदनों को जानते है उसी प्रकार हम जब सभी चीजों को जान लेंगे तभी हमारा ज्ञान शुद्ध होगा। इसे ही श्री अरविन्द तादात्म्यजनित ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान में भूलचूक नहीं हो सकती। ज्ञान का यह तरीका नया है कि जो कुछ भी हम बनते है वहीं वास्तविक ज्ञान है न कि चिन्तन के द्वारा उपलब्ध होने वाला ज्ञान। यह ज्ञान इसलिए संभव है कि सभी वस्तुएं अखण्ड हैं। इस कारण योग के द्वारा हम किसी भी पदार्थ को केवल जान ही नहीं सकते अपितु उसें प्रभावित भी कर सकते है। जो ज्ञान हममें बीजरूप में नहीं है उसे हम शिक्षा के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि मनुष्य की आत्मा परिपूर्ण है इसलिए उसका बाह्य व्यक्तित्व भी परिपूर्ण बन सकता है। इसे शास्त्र इस रूप में कहते है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही बन जाता है। हुआ यह है कि हम लम्बे समय से अहं भाव में अपने आपको सब प्राणियों से पृथक् समझते रहे हैं। इस कारण हमारी अहंता का आवरण कठोर हो गया है। अब हम यह मान रहे है कि इन्द्रियों के बिना हम कुछ भी नहीं जान सकेंगे, वस्तुस्थिति यह है कि जब तक व्यवधानरहित सीधा ज्ञान न हो तब तक इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकती। हमारी इन्द्रियाँ वीक्षण नहीं करती अपितु विभाजन कर देती हैं। जो कुछ हम अविष्कार कर रहे हैं वह केवल उस अखण्ड तक पहुंचने का साधन मात्र है। वास्तविक प्रगति तब होगी जब हम समस्त संसार को अपना ही रूप मान लेंगे। **ईशोपनिषद्** (७) कहता है कि सर्वत्र एकता को देखने वाले के लिए न शोक रहता है न मोह।

तीन खोज

वस्तुतः हमारी खोज तीन ओर होती है। एक तो हमारे अन्दर रहने वाले चैत्यपुरुष की खोज है, दूसरी विश्वातीत ब्रह्म की खोज है और तीसरी विश्व की लीला करने वाले ब्रह्म की खोज है। श्री अरविन्द को इन तीनों ही खोजों में समन्वय ठीक लगता है इसलिए वह अपने योग को पूर्ण योग नाम देते है। इतना तो अवश्य है कि इन तीनों खोजों में किसी एक खोज में संपूर्णता नहीं है। चैत्यपुरुष की खोज से दिव्यता के प्रति चेतना आती है किन्तु वह व्यष्टि तक ही सीमित है।

केन्द्रीय पुरुष की खोज सारी सृष्टि को अपने में समाहित करती है किन्तु वहाँ व्यक्ति का लोप हो जाता है। विश्वातीत ब्रह्म की खोज में न व्यष्टि रहता है न समष्टि। निष्कर्ष यह है कि सर्वेश्वरवाद, व्यक्तिवाद और अद्वैतवाद, तीनों को साथ लेकर चलना होगा। न केवल व्यष्टि से काम चलेगा और न केवल समष्टि से और व्यष्टि और समष्टि दोनों का विलय हो जाये, तो भी काम नहीं चलेगा। किसी भी दशा में हमारा अपना व्यक्तित्व तो कहीं रहना ही चाहिए न कि उसे आनन्दमय शून्य में विलीन हो जाना चाहिए। दूसरी ओर जब तक हम हैं तब तक संसार की समस्याएं बनी रहेंगी। इसलिए आध्यात्मिक परम्पराओं ने विश्वातीत ब्रह्म की खोज करने का आदेश दिया किन्तु फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि संपूर्णता देहधारी जीव में है न कि इसके विलय में।

इन तीन प्रकार की खोजों के बीच श्री अरविन्द ने एक चौथा मार्ग ढूँढा जिसके अनुसार जड़ समेत सबका रूपान्तरण करना लक्ष्य है। एक समय श्री अरविन्द को निर्वाण की स्थिति प्राप्त हो गई थी किन्तु उन्होंने यह पाया कि उस स्थिति में भी पार्थिव मलिनता निम्न स्तर पर बनी रहती है। उन्होंने यह भी पाया कि उनके चारों ओर अपराधी है जिनमें परस्पर द्वेष भाव भी है। तो मुक्ति कहाँ हुई! यद्यपि उन्हें निर्विकल्प ब्रह्म की ऊँचाई पर अपरिमित आनन्द मिल रहा था किन्तु साथ नीचे के स्तर पर दुःख और मृत्यु का राज्य बना हुआ था। तब उन्होंने ऐसा मार्ग जानना चाहा जहाँ केवल ऊपर के स्तर पर ही नहीं, नीचे के स्तर पर भी संपूर्णता हो सके।

नयी सृष्टि का निर्माण

आत्मा जड़तत्त्व में लीन है और धीरे-धीरे विकास कर रही है इन्द्रियों तथा मन के साधन से वह वैयक्तिक रूप धारण करती है। वह विश्वातीत अथवा विश्व लीला में रत भगवान् के अन्दर वापिस लौट जाती है। किन्तु यह प्रश्न बना ही रहता है कि आत्मा जड प्रकृति में प्रविष्ट ही क्यों हुई। वहाँ से निकलने में उसे दुःख, रोग और मृत्यु का सामना करना पड़ता है। हममें से किसी एक का निर्वाण हो भी जाये तो बाकी सब लोग तो दुःख में ही डूबे रहते हैं। क्योंकि सभी भगवान्

हैं इसलिए आसुरी शक्तियाँ भी भगवान् की ही है। साधना के क्षेत्र में देखे तो आत्मा तो सदा ही मुक्त है, सांसारिक अपूर्णता उसका स्पर्श ही नहीं कर सकती। वस्तुतः उद्धार तो जीवन का करना है। आध्यात्मवादी आत्मा का आनन्द भोगने की बात करते हैं तो जडवादी प्रकृति का आनन्द भोगने की बात करते हैं। किन्तु मुख्य रहस्य कुछ और ही है। श्री अरविन्द को कारागार में यह पता चला कि धरती पर देह के अन्दर हमें विश्वातीत ब्रह्म की उन्मुक्तता को, विश्वलीलारत ब्रह्म की अपरिमितता को और वैयक्तिक आत्मा के आनन्द को एक ही चेतना के अन्दर इकट्ठा करना है। यह एक नई सृष्टि के निर्माण की बात थी।

दिव्य अतिमानव जाति

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें व्यक्तिगत देह के अन्दर कार्य करना होगा क्योंकि देह में ही चेतना जडप्रकृति में सन्निविष्ट है। दूसरे चेतना के उस सूत्र का भी पता लगाना होगा जो जड़तत्त्व का रूपान्तरण कर सके। जहाँ तक हमें अभी तक ज्ञात है हमें चेतना में कोई ऐसा सूत्र नहीं मिल रहा जो जड़ का रूपान्तरण कर सके। इस कार्य में न हमारा मन समर्थ है, न प्राण और न शरीर। व्यक्तिगत रूप में तपस्या के द्वारा कुछ लोगों ने प्रकृति के नियमों से ऊपर उठने में सफलता प्राप्त की है। किन्तु एक तो ऐसा व्यक्तिगत स्तर पर हुआ है। इसे दूसरे को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। दूसरे इसमें जड़तत्त्व का रूपान्तरण नहीं हुआ और इसलिए देह को प्रभावित करने वाले नियम ज्यों के त्यों बने रहें। कुछ चमत्कार अवश्य हो जाते हैं। अर्थात् हम प्राकृतिक नियमों को संयम से दबा लेते हैं किन्तु समय पाकर वे प्राकृतिक नियम फिर से उभर आते हैं। यह स्थिति लोकोत्तर शक्तियों की है। किन्तु प्रकृति के स्वरूप को बदलने की बात दूसरी है। इसके लिए अतिमानस जैसे तत्त्व की आवश्यकता है जो पहले कुछ व्यक्तियों में और फिर उन सब में जो तैयार हैं, अपनी जड़ें जमा ले। अतः यह प्रश्न एक दिव्य अतिमानव जाति के निर्माण का प्रश्न है जो अज्ञान, दुःख और मृत्यु के नियमों से शासित नहीं।

यह कल्पना हवाई प्रतीत हो सकती है क्योंकि हम पूरे विकासक्रम को नहीं देख रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म मनुष्य की संकीर्णता में सदा संतुष्ट नहीं रह

सकता। कल्पना यह है कि जैसे ब्रह्म अपने अन्दर प्रकाश और आनन्दमय है वैसे ही वह असंख्य रूपों में भी प्रकाश और आनन्द का अनुभव करना चाहता है। इसलिए जीवन और जडतत्त्व की सार्थकता है। इतना तो स्पष्ट है कि आत्मा भी मनुष्यों में पूर्णतः विकसित नहीं हुई है। आदिवासी अज्ञान में डूबे हैं, पश्चिम भोग-विलास में डूबा है और पूर्व जिस अध्यात्म का दावा करता है उसकी उच्चता पर संदेह होता है। यह सत्य है कि शंकर जैसे कुछ व्यक्तियों ने आत्मा का बहुत विकास किया किन्तु उसे विकास की पराकाष्ठा मानने का कोई कारण नहीं है।

पूर्णयोग की पूर्णता

श्री अरविन्द ने विकास का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया उसका अनुभवों के द्वारा प्रयोग भी किया। अभी तक हमने देखा कि योगी अपनी साधन में कितना भी आगे क्यों न बढ़ जाये किन्तु वह केवल खाता पीता ही नहीं है, बीमार भी पड़ता है और मरता भी है। इसका यह अर्थ हुआ कि उसका एक दिशा में विकास हुआ है। श्री अरविन्द का लक्ष्य सब दिशाओं में विकास करना है। पूर्णयोग इसीलिए पूर्ण कहलाता है। एक ओर की सफलता का यह अर्थ है कि साधक ने अपने दूसरी ओर के व्यक्तित्व को दबा दिया है। यह चेतना कि सभी जगह परमात्मा है पर्याप्त नहीं है। परम्परागत योग में एक सीधे-साधे व्यक्ति को विचारशील व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुगमता से सफलता मिल सकती है। प्रश्न होता है कि फिर विचारशीलता का मूल्य ही क्या है। दूसरी ओर जो जीवन को ही सब कुछ मान रहे है वे भी जीवन का रूपान्तरण नहीं कर पाये।

श्री अरविन्द ने अध्यात्म से चेतनासूत्र लिया और विकास के क्रम की बात पश्चिम से ली। वस्तुतः भारतीय परम्परा में भी पुनर्जन्म का सिद्धांत विकासक्रम का ही एक दूसरा स्वरूप है। इन दो बिन्दुओं के बीच दो बातें उभर कर आयीं, एक तो शरीर अथवा पृथ्वी का भी विकास हो और दूसरे व्यक्ति का नहीं समष्टि का विकास हो। यह संसार में रहते हुए भी संसार से निकल जाने का मार्ग है। इस मार्ग का लक्ष्य यह है कि विश्वातीत ब्रह्म को प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति विश्व में वापिस आ जाये और सबके विकास में सहायक बने। इसका सूत्र अतिमानस है।

श्री अरविन्द की साधना में एक तो यह बात उभरकर आती है कि क्योंकि दो मनुष्य एक समान नहीं होते इसलिए साधना का कोई एक नियम या तरीका नहीं हो सकता। केवल कुछ संकेत दिया जा सकता है, जिसे **ऋग्वेद** (१०.५३) में आलोक तन्त्र कहा है। इन संकेतों की बात करे तो प्रथम मानसिक नीरवता और फिर प्राण का प्रशमन आता है इन दो के कारण देह की तल्लीनता से मुक्ति मिलती है और चेतना उन क्रियाकलापों से हट जाती है, जिनमें घुली-मिली होने के कारण उसका पता ही नहीं चलता। वह चेतना केवल तिर्यक् ही नहीं जाती ऊपर भी उठती है। यह उसकी आवश्यकता रहती है। दूसरी ओर उसे एक शक्ति ऊपर की ओर भी खींचती है।

अदृश्य शक्ति

साधक की नीरवता शक्तिमय है। नीरवता वस्तुतः एक साधन है जिसके द्वारा वह कब क्या करना चाहिए इसे सहज ही जान लेता है। उसे हल्की सी प्रेरणा मिलती है जिसके अनुसार चलने पर वह सुरक्षित रहता है। क्या करना और क्या नहीं करना इसका निश्चय वह नहीं करता अपितु कोई अदृश्य शक्ति करती है। ऐसी स्थिति में वह केवल अपने कर्मों में ही नहीं ज्ञान में भी उसी शक्ति से संचालित होता है। इससे उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसके अपने सीमित व्यक्तित्व से बाहर भी विशाल शक्ति का एक स्रोत है। ऐसी अवस्था में वह मानसिक स्तर से असंतुष्ट हो जाता है। इस संबंध में श्री अरविन्द का मत है कि मन और इन्द्रियों से बचना ही पर्याप्त नहीं है; धर्म, आचार्य, शास्त्र और देव मन्दिरों के जाल से भी बाहर निकलना जरूरी है। ये सब सान्त है जबकि हमें अनन्त की ओर जाना है। एक वाक्य में कहें तो हमें अपने आप को खुले रखना होगा। साधक की चेतना देह के अन्दर कैद में ही रहती है।

इसके बाद साधक ऊपर की ओर उठता है तो उसे ऐसा लगता है कि उसका विलय हो रहा है। इसे समाधि भी कह सकते है। वह नहीं चाहता कि उसकी शांति किसी भी प्रकार भंग हो। इसे ही पश्चिम में आनन्द का अतिरेक कहा जाता है। ऐसी अवस्था में साधक अवैयक्तिक अवस्था में होता है। यह हमारी वर्तमान चेतना की एक सीमा है।

हम बाह्य जगत से प्राण के और पंचभूतों के स्पंदनों को निरन्तर ग्रहण करते हैं उसी प्रकार अतिचेतन स्तर में भी स्पंदन हमें प्रभावित करते हैं। वस्तुतः हम जो बाहर के स्तर पर करते हैं उससे हमारे अहंकार को पुष्टि मिलती है किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं कि हमारा असली स्वरूप हमसे छिपा ही हुआ है।

अनुभवों की विविधता

चेतना की अनेक श्रेणी है और उनकी सार्वभौम अवस्थाएं हैं। इन अवस्थाओं में एक ओर तो शक्ति अपना काम करती है दूसरी ओर इन शक्तियों का स्वामी अपना काम करता है। कुछ साधकों को केवल शक्ति दिखाई देती है दूसरों को शक्ति का स्वामी दिखाई देता है। यह उनकी पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है। यदि अनुभूति में व्यक्तित्व की छाप हो तो कोई दोष नहीं है। साधकों की अनुभूति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है क्योंकि अध्यात्म का अनुभव जीवन का अनुभव है न कि मानसिक या भौतिक जड और यान्त्रिक अनुभव। उदाहरणतः ईसाई धर्म की किसी महिला को कुमारी मरियम का दर्शन हो सकता है और भारतीय नारी को माँ दुर्गा का। वस्तुतः वे दोनों एक ही शक्ति का दर्शन कर रही हैं किन्तु भिन्न-भिन्न रूप में। सभी के लिए निर्वैयक्तिक रूप में सत्य का दर्शन संभव नहीं होगा। कवि को कुमारी मरियम या दुर्गा न दिखकर केवल प्रकृति का एक ज्योतिर्मय स्वरूप दिखाई दे सकता है। कुछ लोगों को ऐसा लग सकता है कि वैयक्तिक रूप मिथ्या है, निर्वैयक्तिक शक्ति ही सत्य है। किन्तु इस प्रकार की धारण को सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। कुमारी मरियम हो या दुर्गा या काव्यात्मक अनुभूति, तीनों ही सत्य है। किन्तु इनमें से किसी एक को ही सत्य मानना गलत है। वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य को अपने आप को ऊर्ध्व शक्तियों के लिए बिना शर्त के प्रस्तुत करना चाहिए। विभिन्न मत-मतान्तरों में और दार्शनिकों में जो विवाद चलता है वह बचकाना है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार व्यक्ति को अपना मार्ग खोजना होता है। इतना अवश्य है कि साधक को अपने आप को पुनीत संयम के कवच से ढके रहना चाहिए ताकि वह चमत्कारों से भ्रमित न हो जाये। आनन्दातिरेक में मनुष्य को अतिचेतन की विभिन्न श्रेणियाँ पता नहीं चलती। श्री अरविन्द को उन श्रेणियों का अनुभव हुआ।

आरोहण में मानस

अतिमानस के स्तर पर सत्ता का ऊर्ध्वगोलार्द्ध प्रारम्भ होता है। आरोहण में ऊर्ध्वमानस, उद्‌भासित मानस, अन्तर्बोधि मानस और अधिमानस आता है। जो सचेतन रूप में अनुभव करते हैं वे इन चारों प्रकार के मानस को देख सकते हैं। ये चारों ही मानस अतिचेतना के अन्तर्गत आते हैं। कुछ व्यक्तियों के लिए ऊर्ध्वमानस या उद्‌भासित मानस अतिचेतन नहीं है अपितु जागृत अवस्था की सामान्य चेतना का भाग है। कुछ अन्य लोगों के लिए तर्कबुद्धि के अन्तर्गत अन्तर्विकास भी आ जाता है। **किन्तु सभी स्थितियों में जो अतीत है वह अवचेतन है और जो भविष्य है वह अतिचेतन है**। चेतना के इन ऊर्ध्व स्तरों का अपना लोक है। इनका वर्णन करने के लिए सामान्य भाषा काम नहीं देती। श्री अरविन्द ने सावित्री में भाषा में इन्हें ढालने का प्रयत्न किया है।

मन

सामान्य मानस में चीजें एक के बाद एक क्रमशः आती हैं। यदि वे क्रमिक रूप में न आयें तो वे असम्बद्ध दिखाई देती है। वह एक बार में एक ही चीज देख पाता है इसलिए उसे चीजें परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। वह एक सत्य को ग्रहण करता है तो बाकि सब सत्यों को नकार देता है। उसकी छोटी सी दृष्टि में जो नजर नहीं आता उसे वह असत्य मान लेता है। इसी आधार पर सम्प्रदायों में और राजनीति में दलबन्दी होती है। इसका कारण यह है कि हमारा मन देश और काल के छोटे भाग तक ही सीमित रहता है। अतिमानसिक चेतना ही भूत और भविष्य दोनों को एक साथ देख सकती है। वस्तुतः जितना विरोध है, वह काल विभाजन के कारण है। हमें कोई चीज गलत इसलिए नजर आती है कि हम यह नहीं देख पाते कि वे किसी अच्छाई की भूमिका या अर्द्ध रूपरेखा है। संक्षेप में विपरीत कुछ नहीं है अपितु संपूरक है। श्री अरविन्द ने अतिमानस को ऊर्ध्वगोलार्द्ध कहा है जो निम्न का विरोधी नहीं है, अपितु पूरक है। जो व्यक्ति आलिंगन करना चाहता है उसकी दो भुजाएँ आलिंगन करने में सहायक होती हैं, न कि बाधक। इस प्रकार चेतना का आरोह, आनन्द, प्रेम और व्यापक सत्ता का वह रूप है जो निम्न स्तर पर देश और काल के खण्डित कर देने के कारण

दिखाई नहीं देता। जब आनन्द और प्रेम खण्डित हो जाता है तो ज्ञान तथा ज्ञानदृष्टि भी खण्डित हो जाती है। जब अवतरण होता है तो अस्तित्व चेतना, शक्ति, जीवन और आनन्द की तीव्रता कम होती जाती है। किन्तु जब हम आरोहण करते है इन सबकी तीव्रता बढ़ती जाती है।

अतिमानस के भिन्न रूपों का वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। चेतना के विभिन्न स्तरों को अनेक प्रकार के स्पंदनों से जाना जाता है, श्रवण के स्पंदनों को वेद ने श्रोत्र का श्रोत्र बताया है। रूप, शब्द, प्रकाश आदि शब्द परम सत्ता के विविध रूप है। अवतरण में इनके खण्ड-खण्ड होते जाते हैं, उदाहरणतः प्राणलोक में उच्छृंखल, कर्कश और प्रवृत स्वरसंयोग सुनने को मिलेंगे। उस समय ताल भंग रहती है किन्तु आरोहण में हम जैसे-जैसे ऊपर जाते हैं स्पंद समस्वर होते जाते हैं परस्पर जुड़ते जाते हैं और सुलझे हुए तन्तु की तरह खुलते जाते हैं। अच्छा संकेत विशुद्ध ज्योति के चमचमाते उन्नत शिखरों पर मनुष्यों को आकृष्ट करता है। अब उसमें तड़क-भड़क नहीं है, एक उच्च कोटि के आंतरिक प्रकाश की अभिव्यक्ति हो रही है। इसे वेद ने ऊर्ध्वाग्नि में छिपा हुआ परम नाद कहा है। इसे वैयाकरण शब्दब्रह्म कहते हैं।

बीज मन्त्र

भारत में इस विषय में पर्याप्त अनुसंधान हुआ और यह पता लगा कि ओम् का उच्चारण मूर्धा के केन्द्रों को घेरता है। रँ ध्वनि नाभि का स्पर्श करती है। इसी प्रकार से लँ, वँ, यँ, हँ और ओम् की ध्वनिक आरोहरण क्रम में शक्ति के केन्द्रों को प्रभावित करती हैं। यह सब बीजाक्षर हैं। जब गुरु इन ध्वनियों को मन्त्र की तरह शिष्य को देता है तो वह ध्वनि अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है।

श्री अरविन्द ने मंत्र का उल्लेख किया है। मान्त्रिक काव्य देवगण को अपने जीवन में उतार लाने की सामर्थ्य रखता है। इसीलिये यज्ञोपवतीत के लिए उपनयन शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका यह अर्थ है कि जिस चारदीवारी में हम अन्दर बन्द है उनमें से चेतना को लाया जा सके। सच्चा काव्य उस चारदीवारी में चेतना के झरोखे बनाता हैं। श्री अरविन्द ने इसे भविष्य की कविता

कहा है। काव्य हो या संगीत उसकी उत्पत्ति अधिमानस से होती है। अधिमानस से ही समस्त सर्जन और अध्यात्म प्रकट होता है। अध्यात्म में बुद्धि के द्वारा किया गया अच्छे-बुरे का भेद समाप्त होकर परम और पुनीत में विलीन हो जाता है। अधिमानस के स्तर पर ऐसा विचार नहीं रहता जिसे मनुष्य साकार करें। उस समय कुछ स्पंद और तरंगे रहती हैं जो शब्द विचार और संगीत का रूप ले लेती हैं। जब कोई अच्छा कवि अपने काव्य को बार-बार लिखता है तो वस्तुतः वह उसको सुधार नहीं रहा होता बल्कि उस चीज को पकड़ने के लिए कोशिश करता है जो आस-पास थिरक रही होती है। अधिमानस से पहले स्पंदन विभक्त रहते है किन्तु अधिमानस में स्पंदन विस्तृत हो जाते है जिनका कोई आदि या अन्त नहीं होता। इस स्थिति में कविता विनोद की सामग्री नहीं रहती बल्कि संसार को परम सत्य से अधिकाधिक पूर्ण कर देती है। वह परम तत्त्व वर्णातीत तो है, किन्तु ज्ञानातीत नहीं। अधिमानस की अंतिम सीमा पर केवल रंगरंजित ज्योति का महाप्रवाह शेष रह जाता है। यह आध्यात्मिक शक्ति चेतना के स्तरों को पार करके धुंधली और विकृत होकर संसार की घटनाओं को जन्म देती है। बहुत पहुँचे हुए योगी इन शक्तियों का संचालन कर सकते हैं और पृथ्वी पर उतार सकते हैं।

रूपांतरण

श्री अरविन्द का विकासवाद डारविन के विकासवाद से प्रभावित अवश्य है किन्तु डारविन के विकासवाद में जहाँ शारीरिक विकास को मुख्यता दी गई है वहाँ श्री अरविन्द ने चेतना के विकास को मुख्यता दी है। उनका मानना है कि जैसे वनमानुष से मनीषी मानव का विकास हुआ है। वैसे ही वर्तमान मनोजीवी मनुष्य से अतिमानव का विकास होना अपरिहार्य है क्योंकि आज जैसा मनुष्य है वह विकास की अंतिम सीमा नहीं हो सकता; वह अभी अपूर्ण है और मन एक बहुत सीमित उपकरण है इसलिए मनोमय जीव को आगे बढ़ना होगा। इसके लिए मनुष्य को अपने आपको उपस्थित करना होगा कि वह अतिमानस स्थिति को प्राप्त हो सके। श्री अरविन्द का मानना है कि इस रूपातंरण का अब समय आ गया है। यह समय उसी प्रकार का है जब जड के अन्दर जीवन का और जीवन के अन्दर मन का विकास हुआ था। पहले की दोनों स्थितियों में यह विकास हमारे सहयोग के बिना हो गया था। किन्तु अब इस विकास के हम सचेतन सहयोगी बन सकते हैं।

प्रश्न होता है कि नये मानव की विशेषता क्या होगी ? यदि इस विशेषता को समझ लें तो हमारे विकास का मार्ग सरल हो जाता है। इस विकास में हमारा मन सहायक नहीं होगा अपितु ऊपर की महाशक्ति के प्रति यदि हम सचेत रूप से समर्पण कर सके तो वह समर्पण इस कार्य को कर सकेगा। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जैसे आज हम है उसकी पराकाष्ठा अतिमानवता नहीं है हमारे आज के गौरव, ज्ञान, बल, बुद्धि, संकल्प, चरित्र, मेधा, ऊर्जा, साधुता, प्रति, पवित्रता और पूर्णता की उत्कृष्ट कोटि अतिमानवता नहीं है क्योंकि वह

मानव से परे की चीज है। उत्कृष्ट कोटि पर मनुष्य कठोर बनता है, किन्तु दिव्य नहीं बनता। मनुष्य का मन विभक्त करके देखता है और इसलिए सम्पूर्ण को आत्मसात् नहीं कर पाता और यदि उसे आत्मसात् कर भी ले तो साकार नहीं कर पाता। इसलिए मन के स्तर पर अतिमानव की कल्पना साकार नहीं हो सकती और मन की चरम सीमा के बाद तो प्रलय ही सम्भव है।

यदि मन एक सीमा से आगे नहीं जा सकता तो प्राण और देह की स्थिति तो और भी सीमित है। इसका यह अर्थ होता है कि अतिमानव वर्तमान शरीर को इसकी सीमाओं के साथ स्वीकार नहीं कर सकेगा। इसके लिए भौतिक तत्त्व का परिवर्तन भी आवश्यक है। अब तक भौतिक तत्त्व को और शरीर को रूपांतरण के योग्य नहीं माना गया है। वस्तुतः शरीर को अध्यात्म में बाधा माना है। इस मान्यता के साथ साधना का वह लक्ष्य मेल खाता है जो पृथ्वी के जीवन को एक कारागार समझता हो और इससे पीछा छुड़ाना ही अपना उद्देश्य मानता हो। किन्तु पृथ्वी पर ही यदि दिव्य जीवन को आना है तो शरीर का भी रूपांतरण होना चाहिए।

इस कार्य के लिए भौतिक तत्त्व को ग्रहणशील होना होगा ताकि वह सचेतन संकल्प शक्ति के आदेशों को ग्रहण कर सके और उनके अनुरूप अपने आपको ढाल सके। वह चेतन रूप से नमनशील होगा। उसी से उसकी शेष विशेषताएं प्रकट होंगी। अमरता, इच्छानुरूप आकार ग्रहण करना भारहीनता, सुन्दरता और भास्वरता उसमें सहज होंगे। तभी वह चरम सौन्दर्य और आनन्द को अभिव्यक्त कर सकेगा। ऋग्वेद (५.६६.२) में कहा गया है कि मानवता देवकृति तुल्य बनेगी मानों वह भी इस द्युलोक का प्रत्यक्ष आधार है। श्री अरविन्द का यह विवरण बहुत आकर्षक है। उन्होंने इसका विवरण विवरण इस प्रकार दिया है—

> *— स्वयं भौतिक अवयवों की क्रियाविधि में परिवर्तन अनिवार्य होगा और संभव है कि उनके संघटन और महत्त्व तक में हेर-फेर हुए बिना न रहे। नया भौतिक जीवन इन अंगों की असमर्थताओं में बंधे रहना स्वीकार नहीं करेगा, न उनकी सीमाएँ मानने को वह बाध्य होगा... मस्तिष्क, विचारों के बाह्य रूप का संवाहक उपकरण होगा और उनकी बैटरी बन जायेगा*

जिसके द्वारा वे शरीर पर और बाहर संसार पर अपना दबाव डालेंगे। फिर उनकी शक्ति वहाँ सीधे अपना कार्य संपन्न करेगी और वे भौतिक साधनों के बिना ही एक मानस से दूसरे मानस में संचार करेंगे। इसी तरह किसी भी माध्यम बिना वे अन्य लोगों के विचारों और कार्यों को, उनके जीवन को प्रभावित करेंगे, भौतिक वस्तुओं पर भी अपना असर डालेंगे। मस्तिष्क की तरह हृदय भी अपना संवाद सीधा छाप देगा और चैत्य-केन्द्र की शक्तियों द्वारा जगत् में बाहर प्रक्षिप्त भावों और संवेगों के विनिमय का वह साधन बनेगा। हृदय स्वयं हृदय को उत्तर दे सकेगा; जीवन-शक्ति अन्य जीवनों की सहायता करने में समर्थ होगी, और अपरिचित या दूरस्थ होने पर भी उनके सहाय्यार्थ पुकार का उत्तर देगी; बाह्य सम्पर्क के नितांत अभाव में भी अनेक व्यक्ति एक ही दिव्य केन्द्र से संवाद प्राप्त कर पुलकित होंगे और गुह्यलोक में उनका मिलन होगा। संभव है कि संकल्पशक्ति हमारे आहार के साथ संबद्ध अंगों पर अपना प्रभुत्व जमा सके और स्वास्थ्य को स्वतः सुरक्षित रखे; भोजन के लिए इच्छा और लालसा को दूर कर वह सूक्ष्मतर रीतियाँ लागू करे, या विश्वव्यापी प्राणशक्ति से बल और सारतत्त्व आहरण करे, जिससे शरीर किंचित् ह्रास अथवा क्षय के बिना अपने सारतत्त्व और बल को चिरकाल तक बनाये रखने में समर्थ हो। इस प्रकार उसे भोज्य पदार्थों द्वारा पोषण की कोई भी आवश्यकता न रहेगी, पर उस दशा में भी लगातार अत्यधिक कड़ा काम करते जाने पर न तो उसे थकान लगेगी और न ही सोने या आराम करने के लिए बीच में रुकना पड़ेगा... मालूम होता है कि हम जीवन के मूल में जो अद्भुत व्यापार - यानी अपने परिसर में अपने पोषण और पुनरुज्जीवन के साधन ग्रहण करने की शक्ति देखते हैं— वही चीज शायद फिर से हमारे सामने आयेगी और वही जीवन के विकासशृंग पर पुनः प्रतिष्ठित होगी।

—*The Supamental manifestation,* 16.37,29

जड़तत्त्व के रूप में निद्रा में परम शान्ति का अनुभव होता है किन्तु अतिमानव को परम शान्ति का अनुभव सचेतन रूप में होगा। रूपांतरण के बाद की अवस्था में शरीर के अंगों का काम चेतना के केन्द्रों द्वारा होगा। श्री अरविन्द ने

और माँ ने इस कठिन कार्य को करने का दायित्व अपने पर लिया है। साधना के प्रारम्भ में ही एकचित्त शक्ति प्रवाह चक्रों में विभक्त हो जाता है। इन चक्रों में अथाह शक्ति है किन्तु हम उसे धारण नहीं कर पाते। रूपांतरण के बाद भौतिक व्यवस्था की जगह शक्ति के केन्द्र ले लेंगे। उदर, हृदय और फेफड़ों की आवयश्कता नहीं रहेगी केवल स्पंदनों की गतिविधि ही सब कार्य कर देंगी। तब जड़तत्त्व एक दिव्य अभिव्यक्ति बन जायेगा। अभी आत्मा को शरीर को शव की तरह ढोना पड़ता है। किन्तु तब आत्मा के साथ-साथ देह भी सजीव होगी। अभी हमारा जीवन कृत्रिम है और हम यन्त्रों से काम चला रहे है। जिस कारण हमारी स्वाभाविक क्षमता उपेक्षित हो गई है और जैसे-जैसे यंत्र बढ़ रहे है वह और भी कम हो रही है। वस्तुतः वह क्षमता जो यंत्रों से प्रकट होती है, स्वयं हमारे अन्दर है। क्योंकि यदि वह हमारे अन्दर न होती तो हम इनका आविष्कार भी न कर पाते। जीवन के आनन्द के लिए हम साधनों के गुलाम हो गये हैं। हमारे जीवन का बहुत बड़ा भाग इन साधनों को जुटानें में लग जाता है। स्थिति यह बन गयी है कि जिसके पास अधिक साधन है वह मूढमति होते हुए भी अधिक शक्तिशाली है। अतिमानस की दुनिया में साधन की अपेक्षा चेतना पर बल होगा। अतिमानसिक प्राणी बाह्य पदार्थों की अपेक्षा स्पंदनों से काम लेगा और अपेक्षित परिणाम प्राप्त कर लेगा।

अतिमानसिक कला भी सहज होगी। उसमें प्रामाणिकता होगी यदि हमारे स्पंदन धूमिल होंगे तो हमारी सृष्टि भी धूमिल हो जायेगी अर्थात् हमारा भौतिक परिवेश आंतरिक वातावरण के अनुरूप होगा। हम उसे ही अभिव्यक्त कर सकेंगे जो हम सचमुच हैं। अभी जैसे हमारे मुख पर भावावेश आ जाते है उसी प्रकार हमारी भाषा में भी हमारे भाव स्पष्ट रूप से आ जायेंगे। बाह्य आडम्बर का कोई स्थान नहीं रहेगा।

जब श्री अरविन्द के सामने यह तर्क दिया गया क्योंकि अतिमानस का स्वरूप अब तक नहीं हुआ इसलिए उसे एक कल्पना ही माना जा सकता है तो उन्होंने कहा कि अस्तित्व में जीवन भी पहली बार आया और उससे पहले नहीं था, मन भी पहली बार आया और उससे पहले नहीं था। जीवन और मन पहली

बार अभिव्यक्त हुए तो अतिमानस भी चाहे पहले न हुआ हो किन्तु अब पहली बार अभिव्यक्त हो सकता है। प्रकृति को जो करना होता है वह करती है हमारे तर्क वह नहीं सुनती। ऋग्वेद (७.६१.५) में कहा गया है कि संदेहवादियों में न कौतुहल बसता है, न बल।

श्री सत्प्रेम जी ने बताया है कि किस प्रकार श्री अरविन्द और माँ अतिमानस रूपांतरण के लिये प्रयोग करते रहे। इस रूपांतरण में मुख्य साधन चेतना बनी न कि शरीर। क्योंकि विकास सदा से आध्यात्मिक महत्त्व का रहा है, भौतिक परिवर्तन उसमें केवल सहायक बनता रहा। जब चेतना का रूपांतरण होता है तो शरीर भी आवश्यक परिवर्तन स्वयं कर लेता है।

श्री अरविन्द और माँ रूपान्तरण की खोज में 1920 से 1926 तक चेतना की शक्तियों का परीक्षण करते रहे। इसके अनन्तर श्री अरविन्द ने चौबीस वर्ष तक पूर्ण एकान्तवास किया और अपनी देह पर एक के बाद एक प्रयोग करते रहे। इस संबंध में वह कहते है कि उन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति सावधानी से परीक्षण किया। उनके पत्रों में और वार्तालाप में इस समय के कुछ प्रयोगों का उल्लेख है। प्रथम प्रयोग उन्होंने 23 दिन के लम्बे उपवास का किया था। उन्होंने इस उपवास के समय भी अपना मानसिक कार्य और साधना पूरी तरह चालू रखी। उनका शरीर क्षीण होता चला गया किन्तु बल की कोई कमी नहीं हुई। दूसरा अनुभव उत्थापन्न का था जो अलीपुर की जेल में हुआ। तीसरा प्रयोग उन्होंने बहुत सारी अफीम एक बार में खाकर किया। चौथा प्रयोग उनके लेखन का था जो बहुत लम्बें समय तक वे बिना किसी थकावट के करते रहे। इस प्रकार उन्होंने पाया कि जिस सीमा तक हम अपने को सीमित मान लेते हैं उसी सीमा तक निद्रा, आहार, गुरुत्वाकर्षण और कार्य कारण सम्बन्धी नियम अपना काम करते है। यह सब आदतें है जिन्हें हम स्थिर मानते है किन्तु वस्तुतः इनमें परिवर्तन करना सम्भव है। यदि हम प्रकृति की अपेक्षा आत्मा में रहना सीख सकें तो इन आदतों का बदलना सम्भव है। इसके लिए दो प्रकार का विश्वास चाहिए, एक तो आत्मा में विश्वास हो और दूसरे यह विश्वास हो कि आत्मा अपने आपको पार्थिव रूप से अभिव्यक्त करती है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर भगवान्

है और उसे अभिव्यक्त करना हमारा लक्ष्य है। श्री अरविन्द ने माना कि उनकी साधना कोई विशेष चीज नहीं है और न उसमें कोई चमत्कार है। चेतना में कुछ भी विकास हो सकता है। स्वयं उन्होंने अपने स्वभाव को बदला। मुख्य बात यह है कि पार्थिव जीवन आत्मा का सम्पूरक है न कि उसके प्रतिकूल। आवश्यकता हमें अपनी क्षुद्रता में विश्वास बन्द करने की है।

सभी नियम और विधानों से हमारी शक्ति कहीं अधिक है क्योंकि हमारे अन्दर ईश्वर उपस्थित है। कुछ भी असंभव नहीं है। श्री अरविन्द ने जब अपने राजनैतिक संघर्ष को छोड़कर एकान्तवास का निर्णय लिया तो उसका आधार यह था कि वो सार्वभौम प्रकृति के विरुद्ध अपने संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। साधना के प्रारम्भ में भौतिकता और चेतना के बीच का आवरण पतला पड़ता जा रहा था। उस समय जो अलौकिक घटनाएं घट रही थी उसके सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने कहा कि यह चमत्कार अधिमानस की सृष्टि है और परम सत्य नहीं है। श्री अरविन्द का और माँ का उद्देश्य अतिमानस की स्थापना था। इसलिए उन्होंने चमत्कारों को पीछे छोड़ दिया।

अलौकिक कहलाने वाले अस्थायी हस्तक्षेपों से जड़तत्त्व को बाहर से बदलना श्री अरविन्द का मुख्य उद्देश्य नहीं था। वे जडतत्त्व को स्थायी रूप से बदलकर एक नया भौतिक आधार स्थापित करना चाहते थे। पहले भी देवी-देवताओं के उपासना स्थल बनते रहे है किन्तु श्री अरविन्द उन्हें स्थायी उपचार नहीं मानते। उत्थापन्न अथवा रोगों पर विजय समस्या का वास्तविक समाधान नहीं है। रोगों का उपचार होने पर भी रोग का अस्तित्व बना रहता है। श्री अरविन्द एक ऐसा वातावरण चाहते थे जिसमें सब कुछ समाहित हो। 24 नवम्बर, 1926 को श्री अरविन्द ने पूर्ण एकान्तवास ले लिया और अवचेतन तथा चेतन के स्तरों पर योग प्रारम्भ किया। एकान्तवास लेने से पूर्व उन्होंने एक वैज्ञानिक से आधुनिक विज्ञान के सम्बन्ध में कहा था –

> *आधुनिक विज्ञान ने दो बातें कही हैं जो गुह्यज्ञान की गंभीरतर श्रेणियों को उद्वेलित कर दे सकती हैं :*

१. अणु भी सौर जगत् की तरह अति वेग से घूर्णन करने वाले निकाय है।

२. सभी तत्त्वों के अणु एक ही, समान घटकों से निर्मित हैं। रचनाक्रम की विषमता ही उनके गुण-धर्म की विशिष्टता का एकमात्र कारण है।

यदि इन दोनों वक्तव्यों को इनके सत्य रूप में परखा जाये, तो ये विज्ञान को उन नयी खोजों की ओर ले जा सकते हैं जिनकी आज उसे कल्पना तक नहीं, और जिनकी तुलना में आज का ज्ञान कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता।

श्री अरविन्द ने आगे कहा—प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के अनुसार अग्नि के तीन रूप हैं :

१. जड अग्नि - साधारण अग्नि

२. वैद्युत् अग्नि - बिजली की आग

३. सौर अग्नि - सूर्यसंबधी आग

विज्ञान को अभी इनमें से पहली दो तक ही पहुँच है। तीसरी अग्नि के बारे में अभी विज्ञान को जानकारी नहीं है। अणु का सौर-जगत् के साथ सादृश्य होना उसे तीसरी की जानकारी तक ले जा सकता है।

उपर्युक्त वक्तव्य श्री अरविन्द ने भौतिक तत्त्व के आन्तरिक प्रतिरूप का आधार लेकर कही थी। इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक भौतिक तत्त्व का एक आन्तरिक प्रतिरूप भी रहता है। शरीर के अंग भी चेतना केन्द्रों का भौतिक प्रतिरूप ही हैं। पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह एक दूसरे स्तर पर विद्यमान प्रकाश अथवा शक्ति का प्रतीकात्मक रूपान्तरण है। यह सारा संसार ही एक विराट् दिव्य प्रतीक है। विज्ञान जिन गुरुत्वाकर्षण आदि व्यापारों का विश्लेषण करता है, वह केवल कार्य है। उनके कारण को वैज्ञानिक नहीं देख सकता। किन्तु योगी देखता है।

वैज्ञानिक कार्य के आधार पर कारण का पता लगाता है। योगी कारण के द्वारा कार्यों का आकलन करता है। इसके कारण वह कार्य को कारण के माध्यम से पहले ही जान लेता है। जैसे यदि कोई दुर्घटना होने वाली हो तो योगी पहले से विद्यमान दुर्घटना शक्ति के द्वारा उसे जान लेगा। वह कारण के साथ एकात्म होकर कार्य को भी बदल सकता है। इन कार्यों को हम नियम मान लेते है। यदि हम सम्मोहित न होकर पूर्वोवर्ती कारण में जाएं तो कार्य को बदल सकते है। यदि हम सत्य स्पंदनों को पकड़ सकें तो जीवन की लीला का पता चलने लगता है। गुरुत्वाकर्षण के पीछे वह तत्त्व है जिसे वेद वायु कहता है। ऋग्वेद (१.७०.२) कहता है कि मूलभूत अग्नि सरित सरोवर के, वन उपवन के, स्थावर जंगम जगत के गर्भ से जन्म लेने वाला वह शिशु है जो शिला तल के अन्दर तक विराजमान है। ऋग्वेद (१.५९.९) में अन्य अग्नि शिखाओं को उसके स्कंद से निकली शाखाएं मात्र बताया है। ऋग्वेद (८.८४.४) में इसे ऊर्जासूक्त कहा गया है। एकाग्रता की स्थिति में प्राणगत अथवा मनोगत अग्नि प्रकट होती है। आत्मा के सूक्ष्म तेज के रूप में यह चैत्य अग्नि है। आज विज्ञान ने ऊर्जा से जड और जड से ऊर्जा में परिवर्तन का सूत्र तो पता कर लिया किन्तु वह चेतना को अभी नहीं जान पाया जिससे ऊर्जा तत्त्व अथवा जडतत्त्व संचालित होते हैं।

1926 की बातचीत में यह बात सामने आई कि सभी पार्थिव रूप रचनाएं अणुविन्यास की विभिन्नता से एक ही संघटकों से निर्मित होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४.३.४) में स्पष्ट कहा गया है कि एक ही तत्त्व पुरुष, स्त्री, बालक बालिका, वृक्ष और पक्षी बन जाता है। क्योंकि तत्त्व एक है इसलिए रूपांतरण संभव है। अग्नि के संचालन का अर्थ है आकृतियों में परिवर्तन। ऋग्वेद (९.८३.१) में कहा गया है कि वह मनुष्य इस आनन्द का रस नहीं ले सकता जो अभी अपक्व है और जिसकी देह अग्नि के तेज में तपायी नहीं गई। वे ही इस आनन्द को सहन करने की, इसका उपभोग करने की, क्षमता रखते है जिन्हें अग्नि शिखा ने निष्पन्न कर दिया है।

श्री अरविन्द के प्रयोग का दूसरा चरण 1926 से 1940 तक चला। इस समय में उन्होंने देह और अवचेतन के अन्दर वैयक्तिक कार्य किया। ऋग्वेद (४.१.१४)

के अनुसार अग्नि ही कार्य करती है किन्तु यह कार्य करने की प्रक्रिया अभी हमें ज्ञात नहीं। शास्त्रों में निर्वाण, आत्मोपलब्धि, गुरुत्व, क्षुधा, शीत, निद्रा, व्याधि आदि पर प्रभुत्व पर प्राप्त करने की प्रक्रिया दी गई है किन्तु रूपांतरण का मार्ग नहीं बताया गया। इसका रास्ता अभी तक अज्ञात है इसलिए इस पर चलने को साहस माना गया है। प्रयोग अभी चल रहा है। जब कोई भी मनुष्य इसमें सफल हो जायेगा तब मार्ग स्पष्ट होगा।

वर्तमान में हम इतना ही कह सकते है कि साधक में जब अग्नि प्रज्ज्वलित होती है तो एक ताप उत्पन्न करती है तब नाभि पर एक धड़कन होती है और सारा शरीर कांपने लगता है। उस समय ऐसा लगता है जैसे कच्चा घड़ा टूट जायेगा। इसके लिए शरीर को ढालना पड़ता है। यह कार्य एक ही जीवन में पूरा होना चाहिए क्योंकि और सब संस्कार तो एक जन्म से दूसरे जन्म में चले जाते है किन्तु शरीर की भौतिक चेतना का विकास अगले जन्म में नहीं जा सकता क्योंकि मृत्यु के समय वह सब छिन्न-भिन्न हो जाता है। श्री अरविन्द का कहना था कि अतिमानव का आविर्भाव होने के लिए तीन शताब्दियाँ चाहिए। एक ऐसे जीव को होना आवश्यक है कि जिसने अतिमानसिक चेतना प्राप्त कर ली हो और जिसका शरीर मानवीय हो।

हम जानते है कि सत्य अमर होता है किन्तु अभी हमारे पास आत्मा ही अमर है और वही परम सत्य है। ज्यों-ज्यों हम नीचे उतरते हैं असत्य घना होता जाता है और इसीलिए वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है। यह स्थिति प्राण और देह की है जो असत्य है और इसीलिए उनमें जरा और व्याधि है। असत्य का अमर हो जाना वैसे भी उचित नहीं। यदि असत्य अमर हो जाये तो सत्य की ही हानि होगी। इस दृष्टि से असत्य की मृत्यु सत्य की रक्षक बनती है। इसलिए हमें मृत्यु का भी आभारी होना चाहिए।

मानसिक रूपान्तरण के लिए नीरवता चाहिए। तो देहिक रूपांतरण के लिए निश्चलता चाहिए जो कि आंतरिक निश्चलता हो अर्थात् कोशाणुओं के चैतन्य में गति का अभाव हो। मन की नीरवता और प्राण की शान्ति हम अनेक बार अनुभव कर चुके है। किन्तु शरीर की निश्चलता अर्थात् कोश के रूप में स्पंदनों

का अभाव दुर्लभ है। इसमें निरन्तर एक संवेदनाओं का जाल फैला रहता है। एक संवेदना जाती है तो दूसरी संवेदना आ जाती है। यदि कंपन न हो तो हमें लगता है कि जीवन ही नहीं है जब तक कोशाणुओं में साम्यावस्था नहीं आएगी सत्य का कार्य आरम्भ नहीं होगा। उस निश्चलता में सारी विकृतियों को पकड़ सकेंगे। श्री अरविन्द ने एक कोशीय मानस की बात भी की है अर्थात् प्रत्येक कोश का अपना एक मन है। वह शरीर में सब जगह व्याप्त है। यह अपना कार्य कभी भी बन्द नहीं करता। इस कोशीय मानस की पकड़ में जो भी आ जाता है यह उसे भी रटता रहता है। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का कहना है—

> *शरीर का, कोशाणुओं, व्यूहाणुओं, रुधिरकणों तक का भी एक मानस है जिस पर अंधकार छाया हुआ है। जर्मन भौतिकवादी हैकल ने कहीं पर अणु की संकल्पशक्ति का जिक्र किया है, और आधुनिक विज्ञान विद्युदणुओं की गति में एक वैयक्तिक अन्तर देख-देख कर, जिसका हिसाब लगाना संभव नहीं है, अब लगभग इस नतीजे पर आ पहुँचा है कि यह मात्र आलंकारिक उक्ति नहीं, वरन् एक गुह्य सत्य की छाया है। यह शारीरिक मानस वास्तविक है, प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। इसकी धूमिलता के कारण, विगत गतिविधियों के साथ इसकी यांत्रिक संलग्नता के कारण, इसके द्वारा नूतन के सहज विस्मरण और परित्याग के कारण, शरीर में अतिमानस की ऊर्ध्व शक्ति के प्रसार और शारीरिक क्रियाओं के रूपांतरण में हम इसे एक भारी रुकावट पाते हैं। किन्तु जब एक बार इसका रूपातंर करने में हम सफल हो गये, तो यह पार्थिव प्रकृति में अतिमानस के दिव्य प्रकाश और शक्ति का स्थायी रूप से जमाने के परमोपयोगी उपकरणों में से एक होगा।*

श्री अरविन्द साधारण बाहरी काम करने को भी महत्त्व देते थे क्योंकि उस समय झूठे स्पंदन सामने आ जाते थे। असत्य की निशानी है कष्ट और इसीलिए जब साधक असत्य से झूझता है तो उसके सामने कष्ट आने लगते हैं हमारे कार्य उत्तेजना, तनाव और अचेतन भाव में होते हैं। हममें उतावलापन, भय, चिन्ता और लालसा बनी रहती है। यह हमने पाशविकता से बपौती में पाई है। इसके कारण सत्य की स्थापना नहीं हो पाती। किसी आघात के लगने पर यह कष्ट

देता है। चेतना की संकीर्णता ही कष्ट है। यदि हम चेतना को विस्तार दे सकें तो कष्ट नहीं होगा। हमें अपनी कोशीय चेतना को भी विशाल बनाना है। नीरवता में मानसिक चेतना का और शांति में प्राणिक चेतना का तथा शरीर की नीरवता में शारीरिक चेतना का वैश्वीकरण होता है किन्तु जैसे ही हम शारीरिक चेतना का वैश्वीकरण करते है तो दूसरे शरीर भी साथ आ खड़े होते हैं। साधक अपने शरीर का तो स्वामी बन जाता है किन्तु जैसे ही वह सब शरीरों से जुड़ता है वह लाचार हो जाता है। उस समय मौत प्रवेश करती है। उस समय हर चीज विरोध में खड़ी हो जाती है। जब तक सभी स्तरों पर विजय प्राप्त न कर ली जाये तब तक केवल दमन होता है। जैसे कोई योगी रोग को रोक ले तो इससे रोग की शक्ति तब तक समाप्त नहीं हो जाती जब तक कि उसका रूपांतरण ही न कर दिया जाये। वस्तुतः देह भी एक ही है इसीलिए सारी देहों के लिए विजय प्राप्त करनी होगी। एक के रूपांतरण से कुछ नहीं होगा। इसलिए श्री अरविन्द ने 05 दिसम्बर, 1950 को मृत्यु का सामना किया ताकि मृत्यु को भी जीता जा सका।

श्री अरविन्द के प्रयत्न में पृथ्वी के अवचेतन के अवरोध की समस्या हर समय उपस्थित रही। इस अवचेतन को वैदिक ऋषि आवृत करने वाले, भक्षण करने वाले और सूर्य का अपहरण करने वाले कहा करते थे। होता यह है कि साधक जैसे-जैसे प्रकाश को प्राप्त करता है वैसे ही उसे पता चलता है कि अन्धकार और भी अधिक है। श्री अरविन्द के योग में पहली विशेषता यह है कि हमें अंधकार से पलायन नहीं करना है अपितु उससे भी संघर्ष करना है। ऋग्वेद (१.१७९) में अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा कहती है –मैं बराबर खोद रही हूँ, कितने शरत् काल बीत गये जब से मैं दिन-रात परिश्रम कर रही हूँ। प्रभात मुझे जीर्ण करते जाते है वयः क्रम हमारे शरीरों की शोभा को गलाये दे रहे है। पूर्व काल के जो परम सत्य के जो वेत्ता थे और देवलोक के वासियों से जिनका संलाप हुआ करता था। ...हाँ उन तक को अंतिम छोर नहीं मिला। लोपामुद्रा के इस क्रंदन के उत्तर में ऋषि अगस्त्य ने कहा–देवगण द्वारा संरक्षित प्रयास वृथा नहीं जाता। आओ इन सब प्रतिद्वन्दी शक्तियों का भी हम अनुभव करें। सचमुच हम यहीं विजय पायेंगे। सचमुच की इस लड़ाई में हम भी भाग लें। वेद का यह वर्णन श्री अरविन्द के अनुभव से मेल खाता है। श्री सत्प्रेम का मत है कि जैसे ही श्री अरविन्द की साधना का द्वितीय काल का अन्त हुआ तभी द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ हो

गया। जिसका अभिप्राय यह है कि जब किसी मनुष्य के बीच ऊर्ध्वप्रकाश का भार देह में उतरता है तो सारे संसार की देह उत्तप्त होने लगती है।

श्री अरविन्द की साधना का एक वैशिष्ट्य तो यह था कि हमें केवल प्रकाश का ही वरण नहीं करना है अन्धकार को भी दूर करना है। १९४० में श्री अरविन्द की गुप्त साधना के स्थान पर आश्रम का प्रारम्भ होता है। यह आश्रम अनेक कारणों से दूसरे आश्रमों से भिन्न है। यहाँ कोई शिक्षण नहीं होता, न कोई प्रवचन दिया जाता है। साधक को अपने अन्दर ही सक्रिय जीवन में सत्य खोजना होता है। ऐसा माना जा रहा है कि हर साधक का सत्य अलग है इसलिए आश्रम में कुछ लोग एकान्तवास करते हैं कुछ खेल-कूद में हिस्सा लेते हैं और कुछ अध्ययन में अपना समय बिताते हैं। लेकिन कुछ दूसरे लोग कारखाना भी चलाते हैं अध्यापन, मुद्रण, बागवानी, यन्त्रालय और शल्यशाला तक आश्रम का हिस्सा है। यानी ये अपने आप में पूरा एक संसार है जहाँ बर्तन धोने जैसा छोटा से छोटा काम भी उत्तमता से किया जाता है। किसी काम में ऊँच-नीच का भेद नहीं और न कोई काम धनोपार्जन का साधन है। यह पाया गया कि इस प्रक्रिया में बहुत से साधकों का रुझान नये कामों में होने लगा। आशय यह है कि बाहरी जीवन की विविधता योग में सहायक है। वहाँ न कोई सामाजिक प्रतिबन्ध था, न नैतिक प्रतिबन्ध और न बौद्धिक प्रतिबन्ध।

एक समय इस आश्रम में केवल १२०० साधक थे प्रश्न होता था कि इन १२०० साधकों से सारी पृथ्वी का कार्य कैसे होगा। श्री अरविन्द का मत था कि संसारभर में जहाँ कहीं भी जो एक से अधिक सत्य जीवन में विश्वास रखते हों वे सब उनकी साधना का हिस्सा हैं भले ही वे उन्हें जानते हों या न जानते हों। यह आश्रम एक प्रकार से प्रयोगशाला है।

यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार के स्पंदनों को नियंत्रित करने के लिए एक उपकरण है। और वहीं उसका कार्य क्षेत्र है। ऐसी स्थिति में किसी एक व्यक्ति के रूपांतरण से रूपांतरण का कार्य सिद्ध नहीं होता। वह अपनी ही कोटि के स्पंदनों को रूपांतरित कर सके—इसमें भी संदेह है क्योंकि सभी स्पंदन आपस में जुड़ हुए हैं। श्री अरविन्द का मानना था कि उनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि आश्रम में नाना प्रकार के लोग हों क्योंकि रूपांतरण

के लिए केवल अनुकूल ही पर्याप्त नहीं है, प्रतिकूल भी चाहिए। श्री अरविन्द को जब यह सुझाया गया कि उन्हें योग्य शिष्य ही इकट्ठे करने चाहिए तो उनका कहना था कि केवल योग्य व्यक्तियों का समूह मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। उन्होंने एक बार कहा था कि यदि उन्हें १०० ऐसे सम्पूर्ण मानव मिल सकें जो क्षुद्र अहंता से रहित हों और परमात्मा का यंत्र बन सकें तो उनके लिए इतने लोग ही काफी हैं। अधिक लोगों की आवश्यकता नहीं है। माँ का कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति एक कठिनाई को लिए हुए है और उन सभी कठिनाइयों का समाधान खोजना होगा। हर व्यक्ति के साथ वैसे स्पंदन हैं जो लक्ष्य से भटकाते हैं उन्हीं स्पंदनों का रूपांतरण करना है। जब कोई साधक ऐसा कर लेता है तो वह सामूहिक विकास में उसका योगदान होता है। पूर्णयोग में ऐसे विरोधी स्पंदन दमित नहीं होते अपितु उभरकर आते है और एक संग्राम जैसा चलने लगता है। ध्यान देने की बात यह है कि साधना में साधक केवल अपने लिए नहीं अपितु सबके लिए साधना करता है क्योंकि वस्तुतः सब अलग-अलग हैं ही नहीं। इसे श्री अरविन्द ने पार्थिव चेतना के लिए योग कहा है। इसलिए इस साधक की साधना अन्य योगों की अपेक्षा अधिक संघर्षपूर्ण है। उसका संघर्ष केवल वैयक्तिक नहीं है अपितु सामूहिक है। साधक का व्यक्तित्व इतना विस्तृत हो चुका होता है कि वह सारे विश्व को अपने में धारण कर लेता है। ऋषियों ने इसे अतलगर्त बताया है।

वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य न प्रकाश का सर्जन करता है और न ही अन्धकार का, अपितु जो कुछ वायुमण्डल में चक्कर खा रहा होता है उस ही की अभिव्यक्ति का यन्त्र-मात्र होता है। आज जो अवचेतन और अचेतन में परिष्कार दिखाई देता है उसमें हम सबका योगदान है। किसी प्रकार भविष्य में भी हम सबको विकास के लिए योगदान देना है। इतना अवश्य है कि अवचेतन के नकारात्मक परिष्कार की अपेक्षा प्रकाश के आह्वान के सकारात्मक कार्य पर अधिक बल देना चाहिए। और योगमार्गों में आरोहण मुख्य है किन्तु **श्री अरविन्द के योग में आरोहण तो अवतरण का एक साधन मात्र है**। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति जीवन के साधारण कार्यो में भी प्रगाढ़ चेतना, ज्योति और शांति सहित उतरे तब ऊपर और नीचे में कोई भेद नहीं रहता। द्रव्य एक ही है भले ऊपर हो या नीचे। समस्त संसार में एक ही चेतना है, एक ही शक्ति है और एक ही देह है।

ऐसा माना जा रहा है कि श्री अरविन्द और माँ की साधना से आध्यात्मिक शक्ति पार्थिव चेतना में उतर चुकी है। इसीलिए विकास त्वरित गति से होगा। वर्तमान में जो उथल-पुथल दिखाई देती है वह इस बात का संकेत है कि अब समाधान निकट है। वैदिक ऋषि आध्यात्मिक जीवन को एक अनवरत आरोहण मानते थे -

'वाक् के पुजारी सीढ़ी की तरह तुझ पर आरोहण करते हैं,
हे शतबल। शृङ्ग से शृंङ्ग पर आरोहण करते हुए,
अभी करने के लिए कितना कुछ शेष है, सब स्पष्ट होता जाता है।'-
ऋग्वेद, १.१०.१

हमने अब तक ज्ञान-विज्ञान के द्वारा जो सुरक्षा और सुख-समृद्धि प्राप्त की है, 'धर्म और कलाओं के द्वारा सदाचार और सौन्दर्य अर्जित किया है' वह एक मानसिक आधार है, अतिमानस के अवतरण के लिए। यह सब अपने आप में लक्ष्य नहीं है वैदिक ऋषि अमरता खोज रहा है। बुद्ध निर्वाण खोज रहे हैं। किन्तु वस्तुतः इनमें से कोई भी अपने आप में लक्ष्य नहीं है। **हमें जितना भरोसा मशीनों पर है और धर्म सिद्धांतों पर है उतना ही भरोसा अपने पर करना आवश्यक है**। हमारी मानसिकता के स्तर पर जिसे हम बहुत बड़ा मान रहे है वह वस्तुतः अत्यन्त क्षुद्र है। श्री अरविन्द का एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है कि मनुष्य का महत्त्व इसमें नहीं है कि वह क्या है बल्कि इसमें है वह क्या सम्भव बना देता है —*The Hour of Good, 17.9*

श्री अरविन्द मानते है कि जिस दिन एक मनुष्य भी विजय प्राप्त कर लेगा तब वह मनुष्य मात्र की विजय होगी। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य पृथ्वी को मुक्त करने वाला बन सकता है। एक बात यह भी है कि जो कुछ किया जाना सम्भव है वह इसी लोक में सम्भव है —**इहचेदवेदीथ अथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीत् मिथ्या विनष्टिः।** —उपनिषद्

एक देह का भी तेजोमय हो जाना पर्याप्त है किन्तु उसमें आवश्यकता सब मनुष्यों के योगदान की है।

विकास की यात्रा

वेद के ऋषियों ने जो स्थिति व्यक्तिगत रूप में प्राप्त की थी श्री अरविन्द का उद्देश्य उसे सामूहिक सिद्धि बनाना है इसे उन्होंने संक्रमण काल कहा है। अभी पुराना ही सामान्य चेतना में बना हुआ है किन्तु नूतन भी धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है किन्तु नूतन के द्वारा कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो पा रहा। क्रमशः वह इतना सशक्त हो जायेगा कि उसका प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। बाधा यह पड़ रही है कि आसुरी शक्तियाँ सत्य को विकृत कर रही हैं। उदाहरणतः हमें यह कहा जा रहा है कि मनुष्य की मुक्ति द्युलोक में है और यह सत्य भी है किन्तु विकास की पहली अवस्था थी जिसे हमने अंतिम लक्ष्य मान लिया। अब हम यह मान रहे हैं कि जड में भगवान है ही नहीं। इसका यह परिणाम हो रहा है कि पृथ्वी के लिए कोई आशा नहीं रही। यूरोप बुद्धिवाद के आधार पर संदेह के कारण निर्बल है तो भारत धार्मिकता के कारण निष्क्रिय बन गया है। हमें जडतत्त्व में निहित शक्ति को पहचानना होगा और अध्यात्म के नूतन जलप्रवाह को भी स्वीकार करना होगा। इन दोनों के बीच संतुलन की आवश्यकता है। हमारे पास आज अर्द्धसत्य है। ऋग्वेद (४.२.१) में कहा गया है कि मृत्यु के अन्दर जो अमर है वह एक देवता है, अथर्ववेद (१२.१.१२) में कहा गया है कि मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ भूमि मेरी माता है। ऋग्वेद (४.२.११) में सान्त की भी महिमा गाई गई है। अथर्ववेद (१२.१.५६) में पृथ्वी के सौन्दर्य का वर्णन है। ऋग्वेद (३.४.२,९१) में कहा है कि हमारे अन्दर विराजमान भगवान् का कोई अनिष्ट नहीं कर सकता। अब समय आ गया है कि हम सम्पूर्ण सत्य को अधिगत करें जो न भौतिकवादियों के पास है न अध्यात्मवादियों के। अन्धकार और पतन में बृहत्तर प्रकाश गर्भित

है। एक समय कुछ गिने-चुने लोगों को दीक्षा दी जाती थी आज सबको दीक्षित करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार स्पायरल गति होती है जिसमें हम आगे बढ़ने के साथ-साथ पीछे भी लौटते हैं कुछ इसी प्रकार की गति विकास की है। वर्तमान में एक मोड़ आया हुआ है जब भौतिक जगत् बदलने की तैयारी में है। इस आशा के साथ श्री अरविन्द जीवन का और संसार का प्रयोजन ढूंढ रहे है उनकी खोज का एक बिन्दु तो यह है कि साधना का फल सामूहिक होगा व्यक्तिगत नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि साधना केवल हमें प्रकाश में रखकर ही संतुष्ट नहीं हो जायेगी अन्धकार को भी उज्ज्वल बनाना होगा। यह दोनों विशेषताएं परम्परागत साधना में नहीं है।

प्राण

प्राण का स्वरूप

प्राण का क्षेत्र कठिनाईयों से भरा हुआ है लेकिन वहीं से शक्ति भी आती है। जब हम मानसिक नीरवता चाहते है तब प्राण उसका विरोध करता है और चेतना को छोटे-छोटे विषयों में उलझाये रखता है। किन्तु साथ ही वह शक्ति भी प्रदान करता है। क्योंकि संसार में अच्छाई और बुराई साथ-साथ रहती है इसलिए बहुत से साधकों ने इस क्षेत्र का त्याग ही उचित समझा। श्री अरविन्द के अनुसार यह नैतिक दृष्टि एक तो दमन का मार्ग है और दूसरे उच्च भावों में भी निम्न का मिश्रण रहता है। **यदि हम तपस्या के द्वारा प्राण को नियन्त्रित करना चाहें तो वह कभी भी विद्रोह कर देता है। यदि हम प्रबल इच्छशक्ति से उसे दबा भी दें तो हमारे जीवन की शक्ति का स्रोत सूख जाता है क्योंकि प्राण असहयोग कर बैठता है**। इस प्रकार हमारा मैल तो धुल जाता है किन्तु जीवन का रूप रंग भी चला जाता है। एक और कठिनाई यह है कि नैतिकता मानसिक गतिविधियों तक तो काम करती है किन्तु निद्रा के समय उसका नियन्त्रण नहीं रहता। यानी उसका क्षेत्र सतही व्यक्तित्व है। महत्त्वपूर्ण यह है कि **साधक यह न सोचे कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है बल्कि यह सोचे कि सच क्या है और झूठ क्या है**। उसकी दृष्टि धूमिल न हो अपितु स्वच्छ रहे।

संघर्ष में निश्चलता

एक प्राणिक मानस है जो हमारे मनोभावों और इच्छाओं को मूर्त रूप देता है। इस स्तर पर भी नीरवता की आवश्यकता है। नीरवता की स्थिति में हम जान

पायेंगे कि कोई भी स्पंदन किस प्रकार का है। तब हमें अपनी पसंद नापसंद का कारण पता चलेगा हम उपयोगी स्पंदनों को ग्रहण करेंगे दूसरे स्पंदनों को नहीं। यदि हम निश्चल बने रहे तो हमारी निश्चलता स्पंदनों को नष्ट करने में भी समर्थ है। निश्चलता का अर्थ है प्रतिक्रिया न करें। इसके लिए प्रभुत्व की आवश्यकता है। आत्मसंयम के बनावटी रूप की आवश्यकता नहीं है। स्पंदन के संस्पर्श को हम ग्रहण करें या ना करें, यह हमारे आधीन है। यदि हम डर जाते हैं तो इसका यह अर्थ है कि हमने क्रुद्ध मनुष्य को या सर्प के प्रहार को अपना अनिष्ट करने की स्वीकृति दे दी। हमारे लिए संभव है कि रुग्ण स्थल से अपनी चेतना का संबंध तोड़ दें। इसके लिए नीरवता आवश्यक है क्योंकि नीरवता में हम स्पंदनों को पहचान सकते हैं। श्री अरविन्द का कहना था कि अकेले में मनुष्य ऐसा मान लेता है कि वह सिद्ध हो गया किन्तु उसकी परीक्षा सामान्य जीवन के संघर्ष में ही होती है।

जीवन शक्ति

कुशलता इसमें है कि हम प्राण से जीवनशक्ति तो लें किन्तु उलझें नहीं, वस्तुतः उलझनें बाहर नहीं अन्दर ही हैं। होता यह है कि परेशानी, उदासीनता या इच्छा को हम अपना मान लेते हैं। नीरवता में यह पता चलता है कि इनमें हमारा अपना कुछ भी नहीं है। नीरवता हमारे चारों ओर एक घेरा बना लेती है जो बाहर के स्पंदनों से हमारी रक्षा करता है। नीरवता में हम स्पंदनों को आते समय देख लेते है और उन्हें आने से पहले ही रोक देते हैं। जैसे-जैसे हम तटस्थ होंगे इन स्पंदनों का बल क्षीण होता जायेगा। जब तक हम प्राणिक स्पंदनों से अपना तादात्म्य बनाये रहेंगे तब तक उनमें परिवर्तन करना संभव नहीं है। श्री अरविन्द ने इस बात पर बल दिया कि यदि साधक शान्त हो तो प्राण का शुद्ध करना सरल हो जाता है किन्तु प्राण की मलिनता को खोज-खोज कर उसका परिष्कार करना कठिन है।

कभी-कभी साधक ऐसी प्रतिकूल शक्तियों से घिर जाता है कि वह बिलकुल ही अपना उद्देश्य भूल जाता है। जो व्यक्ति दुखी रहता है उसको ऐसी शक्तियाँ जल्दी घेर लेती हैं। ऐसे में साधक को अपना जीवन निरर्थक लगने लगता है। हमारा

संरक्षक घेरा टूट जाता है। हमारे सतही व्यक्तित्व पर पवित्रता एक ढोंग बन जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि असत् भी भगवान् का ही भाग है। गीता में कहा गया है— **सदसच्चाहमर्जुन**। वस्तुतः हम असत् को भी अपनी इच्छा से ही स्वीकार करते है। दूसरी ओर हमारा शत्रु भी तभी तब तक बना रहता है जब तक हमारे लिए उसकी आवयश्कता हो। विरोधी शक्तियों को भी नीरवता से ही निपटा जा सकता है। श्री अरविन्द के योग में यह विशेषता है कि वहाँ केवल अच्छे को ही स्वीकार नहीं किया जाता अपितु सत्ता के सभी स्तरों पर काम करना होता है।

बार-बार यह कहा गया है कि जीवन को छोड़ना नहीं है अपितु आगे बढ़ाना है। इसे इस तरह भी कहा जाता है कि हाइड्रोजन या ऑक्सीजन में किसी एक का त्याग नहीं करना है अपितु यह खोजना है कि उन दोनों के मिलने से जल कैसे बनेगा। होता यह है कि यदि हम प्राण के क्षेत्र में कुछ छोड़ना चाहें तो प्राण विद्रोह करके उसे और भी अधिक चाहने लगता है। **दुःख हो या सुख, घृणा हो या प्रेम, दोनों स्थितियों में प्राण पुष्ट होता है। इसलिए प्राण के लिए दोनों में कोई भेद नहीं है**। इस कारण वह हमें उस ओर भी धकेल देता है जहाँ दुःख है। श्री अरविन्द का मानना था कि इसका उपाय एक ही है कि हम सार्वभौम चेतना से जुड़ जायें। दूसरे शब्दों में कुछ छोड़ें नहीं अपितु चेतना का विस्तार करें। अपनी क्षुद्रता को छोड़ना सबसे जरूरी है। सतही व्यक्तित्व के साथ चिपटे रहना सबसे बड़ी कठिनाई है। प्राण के भी दो स्वरूप हैं, एक अशांत और एक शांत। शांत प्राण जीवन शक्ति से भरा है। प्राण की निश्चल अवस्था में नवीन क्षमताएँ प्रकट होती हैं। ऐसा होने पर नींद की और आहार की मात्रा घट जाती है। प्राण शांत होने पर सार्वभौम बन जाता है। सुरक्षा की दृष्टि से प्राण की निश्चलता आवश्यक है। सतही स्तर पर हमारे सभी आघात और सुख क्षुद्र होते है। किन्तु सार्वभौम प्राण में सब कुछ विशाल हो जाता है। वस्तुतः साधक को अतिमानस, मानस और प्राण तथा देह तक में विश्व चेतना को अधिगत करना होता है। प्राण की शुद्धि नैतिक समस्या नहीं है। भगवान् हमारी क्षुद्रता को भी तब तक बनाये रखते हैं जब तक वह हमारे लिए आवश्यक है। श्री अरविन्द के जीवन में ऐसी घटनाएँ मिलती है कि उनकी शांति के कारण प्राकृतिक बवंडर उन्हें प्रभावित नहीं कर सका।

चित् शक्ति

एक प्रश्न यह है कि यदि हमारे विचार सार्वभौम मनस से आते हैं जिसे श्वोवसीयस् मन कहा जाता है और प्राण सार्वभौम प्राणतत्त्व से आते हैं और शरीर का उपादान कारण जड़तत्त्व से आता है तो फिर हमारा अपना स्वयं का क्या है? हमारे संस्कार भी समाज से परिवार से परिस्थितियों से बनते हैं। तो वह क्या है जो इन सबके न रहने पर भी बना रहता है? अभी हम कह चुके हैं कि चेतना के विविध केन्द्रों में एक चित् शक्ति संचार करती है जो हमारी विविध दशाओं को एक शृंखला में पिरोती है। जब मन नीरव होता है और प्राण शांत हो जाता है तो पता चलता है कि यह चित् शक्ति हमारा मूल सत्य है। यह चित् शक्ति चैत्यकेन्द्र की है जिसे आत्मा भी कहा जाता है। **हमारा सतही व्यक्तित्व जिसे हम अपना वास्तविक स्वरूप मान लेते है वह तो विश्व पुरुष की कठपुतली ही है**।

चैत्य केन्द्र

जहाँ तक चैत्यकेन्द्र का प्रश्न है वह सबसे सरल भी है और सबसे गहन भी। उसकी सरलता का परिचय बच्चे के जीवन में मिलता है जो सदा प्रसन्न रहता है क्योंकि वह अपने चैत्य में निवास करता है। इसलिए उपनिषद् में कहा कि **पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**। यह सरल रूप तब गहन हो जाता है जब मनोभावों से और विचारों से दब जाता है जैसे आत्मा घुटने लगती है। तब प्रारम्भ में एक कठिनाई का अनुभव होता है किन्तु बाद में घुटे रहने की आदत पड़ जाती है। साधक इससे विपरीत दिशा में चलता है और इस चैत्यकेन्द्र पर जमा हुए सारे संस्कारों को उखाड़ फेंकता है। तब वह एक दूसरे प्रकार का शिशु बन जाता है जिसे **ऋग्वेद** (९.८३.३) **जन्मोन्मुख शिशुसम** कहता है।

आत्मानन्द

चैत्य की प्रथम अभिव्यक्ति ऐसा आनन्द है जो उन्माद रहित है किन्तु प्रबल और गंभीर है। यह आनन्द परिस्थिति-निरपेक्ष है। इसे किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है। यह मन का भाव नहीं है, अपितु आत्मा की स्थिति है। **आनन्द के साथ वस्तुनिरपेक्ष प्रेम भी होता है जो घृणा का प्रतिलोम नहीं है**। उसके लिए सभी

कुछ प्रेमास्पद है वह ऊँच-नीच का भेद नहीं करता। वह संसार को एक क्रीड़ा मानता है और हल्का रहता है। कोई परिस्थिति उसे प्रभावित नहीं करती। वह शांत है, वह सागर के समान गंभीर है। संक्षेप में वह देश और काल से परे है। तब साधक को अपनी नित्यता का अनुभव होता है।

चैत्य पुरुष

हमने अनेक प्रकार के पवित्र-अपवित्र, नैतिक-अनैतिक के भेद बना रखे हैं। इस कारागार में से चैत्य पुरुष को बाहर निकलने का तो क्या देखने तक का भी अवसर नहीं मिलता। प्राण उसे दबोच लेता है और मन उसके चारों ओर घेरा डाल लेता है। तथाकथित धर्म उसे नियमों में जकड़ता है। यदि वह एक क्षण के लिए बाहर आ सके तो उसे अलौकिक अनुभव होता है। उस अनुभव की दशा में कभी वह संगीत से कभी सागर से, कभी मंदिर से और कभी धर्मशास्त्र से जुड़ता है। यद्यपि वह नितान्त मुक्त है, पूर्णतः स्वाधीन है। होता यह है कि चैत्य का स्पर्श पाकर मनुष्य किसी सिद्धांत को पूर्ण सत्य मान लेता है। यह तो सत्य है कि सभी स्थानों में सत्य का अंश रहता है। जिसे हम अच्छाई कहते है वो भी अधूरा ही सत्य है। अच्छाई वस्तुतः बुराई के विपरीत है किन्तु होता यह है कि हम उसे पूरा सत्य मान लेते है।

पाप-पुण्य

चैत्यपुरुष का अपना स्वरूप अत्यन्त निर्मल है जो हमारे विचारों और वाणी से सर्वथा अतीत है। जब साधक निर्मल होता है तो उसमें सत्य का सहज ही आविर्भाव होता है। आनन्द भी स्वतः आ जाता है। इसका कारण यह है कि सत्य वस्तुतः संसार में सबसे अधिक स्वाभाविक वस्तु है। इनमें मानस और प्राण के भ्रामक स्पंदन बाधा डालते हैं इसीलिए कहा जाता है कि कर्मबन्धन है— **कर्मणा बध्यते जन्तुः**। योग का लक्ष्य यह है कि साधक का सब कार्य अनायास हो क्योंकि सभी प्रयास बाधा डालते हैं और मूल सत्ता पर आवरण डालते हैं। इसलिए साधक को अच्छे-बुरे के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उपनिषद् कहते हैं वह धर्म और अधर्म दोनों से परे है — **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्**। "जब मेरे

प्रियतम ने मेरा पाप-परिच्छेद उतारा, तब मैंने उसे सहर्ष गिरने दिया; फिर उसने मेरे पुण्यपरिधान को खींचा, पर मैं लज्जित हो गया और घबरा कर मैंने उसे रोकने की चेष्टा की। किन्तु उसने जब बलपूर्वक वह मुझसे छीन ही लिया, तब मैंने देखा कि किस तरह मेरी आत्मा मुझसे छुपी हुई थी।" —*Thoughts and Aphorisms, 17.138*

वस्तुस्थिति यह है कि नीरवता स्वयं पवित्र होती है यह कोई बौद्धिक स्थिति नहीं है बल्कि एक आकर्षण का केन्द्र है। यह केन्द्र अन्य केन्द्रों से अधिक प्रबल है और सभी इस केन्द्र पर आकर मिलते हैं। ज्ञान, प्रेम और आनन्द की आवश्यकता इसी केन्द्र को होती है। क्षुद्र अहं को इनकी आवश्यकता नहीं अनुभव होती। जब तक यह चैत्यकेन्द्र प्रकट न हो तब तक मनुष्य मिट्टी का पुतला ही है। इस चैत्यपुरुष को अग्निमय माना गया है। वह भूत और भविष्य दोनों का स्वामी है। **ऋग्वेद** (५.२.१) में उसे पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न देवपुत्र कहा गया है। वह गृह के मध्य में स्थित है (**ऋग्वेद १.७०.२**) वह हमारे अस्तित्व के लिए श्वासतुल्य है (**ऋग्वेद १.६६.१**) **वह तेजस्वी सम्राट है जो हमसे छिपा** रहता है (**ऋग्वेद १.२३.१४**)। चैत्यकेन्द्र के स्पर्श से सब कुछ बदल जाता है। वह दिन पर दिन अधिक सघन होता जाता है। एक ऐसी वस्तु का स्पर्श मनुष्य को मिलता है जो परम सत्य और शाश्वत सौन्दर्य है। **ऋग्वेद** में वर्णन है, 'हे अग्नि, हमारे द्वारा भली प्रकार वहन किये जाने पर तू हमारी सत्ता की परम वृद्धि और चरम विकास बनती है। सब तेज और सौन्दर्य तेरे वांछनीय रूप में, तेरी परिपूर्ण दृष्टि में विद्यमान हैं। हे बृहत्, तू ही वह परिपूर्णता है जो हमें मार्ग के अंत तक पहुँचाती है, तू सब ओर बिखरे हुए ऐश्वर्यों का पुंज है।' (**ऋग्** २.१.१२)।

पुनर्जन्म

चैत्यकेन्द्र में पहला अनुभव यह होता है कि हम सदा से है और सदा रहेंगे। लगता है कि हम नित्य युवा है। सब कुछ विशाल बन जाता है। सब कुछ बदल जाता है। सब कुछ संयुक्त और समाहित हो जाता है। **ऋग्वेद** (२.४.५) में कहा गया है वृद्ध और जर्जर वह उत्तरोतर तरुण होता जाता है। गीता में भगवान्

श्रीकृष्ण यहीं से अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं कि उसका न जन्म होता है न मृत्यु होती है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर नये वस्त्र धारण कर लेता है। उसी प्रकार जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। श्री अरविन्द ने पुनर्जन्म के संबंध में भी नई व्याख्या की है। अध्यात्मवादियों ने जन्म-जन्मान्तर को दुखदायी माना है और बन्धन से मुक्ति की कामना की है किन्तु श्री अरविन्द जन्म परम्परा का उद्देश्य चेतना का विकास मानते हैं जिसकी पराकाष्ठा पार्थिव परिपूर्ति में होती है। भिन्न-भिन्न योनियों के विकास से चेतना का विकास हो रहा है।

सत्प्रेम जी ने यह प्रश्न उठाया है कि इस सिद्धान्त का ज्ञान प्राचीन अध्यात्मवादियों को क्यों नहीं हुआ। इसका उत्तर यह है कि पहले तो वेद में इसका संकेत मिलता है और दूसरे नये अध्यात्मवादियों में मानसिक विकास के कारण चेतना के तिरोहित होने की छाप पड़ी हुई है। उन्होंने संसार को मिथ्या मान लिया इसलिए उन्होंने संसार से मुक्ति की इच्छा की। वे विशुद्ध मानस से विशुद्ध आत्मा में छलांग लगाना चाहते थे। इसी प्रकार जड़वादियों ने भी भौतिक सत्य के एक अंश को ही ग्रहण किया और इस कारण वे भी इस स्थिति को नहीं जान पाये।

यदि पुनर्जन्म का लक्ष्य चेतना का विकास मानें तो फिर जीवन का लक्ष्य भी सामने आ जाता है। श्री अरविन्द ने अनुभव को विशद बनाने पर बल दिया है न कि अलौकिक बनाने पर। यह एक भ्रम है कि क्षुद्र सतही व्यक्ति का पुनः जन्म होता है। मृत्यु के समय मनोमय कोश के विघटित होने पर वैश्वमानस में मिल जाते है, प्राणमय कोश के स्पंदन सार्वभौम प्राण में लीन हो जाते है और अन्नमय पुरुष भी पंचभूतों में समा जाता है, केवल चैत्यपुरुष बना रहता है। वस्तुतः विकास का उद्देश्य सचेतन होना है। यदि चैत्य मन, प्राण और शरीर के नीचे दबा रहता है तो उसके विकास में बाधा आती है। चैत्यपुरुष अपने साथ पहले जन्म के कुछ संस्मरण अवश्य ले जाता है, इसे कर्म कहा जाता है। जहाँ तक अनुभवों का प्रश्न है, हमें प्रायः एक जैसे ही अनुभव बार-बार होते रहते हैं। साधना के विकसित होने पर चैत्यपुरुष प्रकृति के हाथ में बन्दी नहीं रहता और वह अपने चारों ओर की दुनिया का परिचय स्वयं प्राप्त कर लेता है।

साधारण मनुष्य में चैत्य की संभावना छिपी रहती है। जन्म-जन्मान्तर में घूमते हुए यह संभावना धीरे-धीरे वास्तविक रूप धारण कर लेती है। यदि हम जन्म-जन्मान्तर को न मानें तो फिर भिन्न-भिन्न मनुष्यों के बीच होने वाले भेद को व्याख्यायित नहीं कर सकेंगे। यह भेद प्रबुद्ध व्यक्तियों में भी पाया जाता है। श्री अरविन्द ने यह नवीन स्थापना की कि व्यक्ति पलायन करके मुक्त हो जाये तो भी उसका मन असंस्कृत रह सकता है, प्राण दमित रह सकता है और देह केवल भारभूत रह सकती है। यह संपूर्ण जीवन की समृद्धि का रूप नहीं है।

चैत्यकेन्द्र के आस-पास मन, प्राण और शरीर की क्रियाओं को संघटित करना पड़ता है। ऐसा होने पर इन क्रियाओं का चैत्यीकरण हो जाता है और वे क्रियाएं आत्मा की अमरता में सहायक होती है। चैत्य के बाहर जो कुछ होता है वह हमसे बाहर घटित होता है और शरीर के बने रहने तक ही रहता है। चैत्यकेन्द्र के साथ जो कुछ होता है वह स्थायी हो जाता है और उसकी स्मृति बनी रहती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ उपरितल पर होता है उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वस्तुतः प्रकृति विस्मृति के द्वारा भी हमारी सहायता करती है। अधिक चीजें स्मरण रहें, यह विकास के लिए आवश्यक नहीं है। आवश्यक है अधिकाधिक सचेतन होना। होता यह है कि यदि व्यवहार से पराङ्मुख होकर केवल अध्यात्म पर जाना चाहें तो फिर हम मन, प्राण और शरीर का परिष्कार नहीं कर सकेंगे क्योंकि हमने यह मान लिया है कि मन, प्राण और शरीर नश्वर है।

पूर्णयोग की विशेषता यह है कि चेतना को इतना विशाल बनाये कि चैत्यपुरुष मन, प्राण और शरीर को भी अपने में समेट ले। उस समय साधक अपनी इच्छानुसार जन्म ले सकेगा और तब मृत्यु का स्वरूप यह होगा कि हम एक अनुभव से दूसरे अनुभव में जा रहे हैं। श्री अरविन्द का तो मानना है कि चेतना का विकास इस सीमा तक जा सकता है कि हम मन और प्राण के साथ देह को भी चैत्य की अमरता में सहभागी बना सकें। चेतना की यही परम विजय होंगी।

शिक्षा

शिक्षा

केवल बाबू : चिन्तक नहीं

आज जो शिक्षा प्रणाली भारत में प्रचलित है उसका प्रारंभ ब्रिटिश राज से हुआ। स्वाभाविक था कि ब्रिटिश ऐसी शिक्षा प्रणाली लागू करते जिससे उनका स्वार्थ सिद्ध होता। इस शिक्षा प्रणाली में बाबू पैदा करने की बात तो है लेकिन चिंतक पैदा करने की बात नहीं है। निश्चित रूप से एक समय ऐसा था जब इस देश में तक्षशिला और नालंदा मौलिक चिंतन के केंद्र थे।

श्री अरविंद का यह मत है कि हम अब लौट कर नालंदा तक्षशिला की प्रणाली को तो नहीं अपना सकते हैं किंतु भारत में जो आज शिक्षा प्रणाली प्रचलित है उस में से भविष्य की शिक्षा प्रणाली बनायी जानी चाहिए। पहली बात यह है की जिन भाषाओं को हम सिखाएं इन भाषाओं को इस प्रकार से सिखाया जाए कि हम उस संस्कृति तक पहुंच सकें जिस संस्कृति का प्रतिपादन उस भाषा में है। उदाहरणतः संस्कृत सीखते समय संस्कृत के साथ छात्र को उस संस्कृति का ज्ञान होते रहना चाहिए जिस संस्कृति का प्रतिनिधित्व संस्कृत कर रही है। इसी प्रकार अंग्रेजी भी एक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है और उस संस्कृति की आत्मा को हमें जानना चाहिए। फिर इन भिन्न-भिन्न भाषाओं से जिन संस्कृतियों का ज्ञान हो उन संस्कृतियों से एक ऐसा मिला जुला स्वरूप प्रकट किया जाए जो भारत के भविष्य के लिए उपयोगी बन सके। आज प्रायः यह समझा जा रहा है कि पश्चिम की संस्कृति का जो आधा-अधूरा परिचय वर्तमान शिक्षा प्रणाली से होता है वही वास्तविक ज्ञान है। यह एक भ्रम है। सच यह है कि उस ज्ञान

को भारत के स्वभाव, प्रकृति, मन और सामाजिक चिंतन अनुसार ढालने की आवश्यकता है।

हमारे पास तीन प्रकार के चिंतन है। एक चिंतन वैश्विक चिंतन है जो सभी मनुष्यों पर लागू होता है और उसके बीच एक व्यक्तिगत विशेषता है जो हर एक में अलग-अलग है। इन दो के बीच में एक तीसरी चीज राष्ट्रीयता की चेतना है। श्री अरविंद के अनुसार इन तीनों के बीच इस प्रकार का संबंध में होना चाहिए कि व्यक्ति की अपनी विशेषताओं का भी विकास हो किंतु साथ ही हम राष्ट्रीय चेतना के साथ भी जुड़ सकें और अंतरराष्ट्रीय चिन्तन के साथ भी। श्री अरविंद के अनुसार भारतीय चिंतन की एक विशेषता यह है कि वह मनुष्य के भीतर दिव्यता का अंश मानता है। इसलिए हमारी शिक्षा प्रणाली में यह बल दिया जाना चाहिए कि व्यक्ति में जो दिव्यता का अंश है वह पूरी तरह विकसित हो सके अर्थात् बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास भी हो सके।

तीन बिन्दु

श्री अरविंद ने शिक्षा के संबंध में तीन बिंदुओं पर बल दिया। **पहला बिंदु** यह है कि विद्यार्थी को कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता अध्यापक केवल उसका सहायक होता है ताकि उसका ज्ञान उभर सके। इसलिए विद्यार्थी पर कुछ आरोपित नहीं करना चाहिए, केवल संकेत देना चाहिए। **दूसरी बात** यह है कि विद्यार्थी का मन अपने आप अपने विकास का रास्ता खोजे, ठोक पीट कर बच्चे को एक विशेष आकार में डालने का प्रयत्न बर्बरतापूर्ण है। बच्चे को स्वयं अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। **तीसरा सिद्धांत** यह है कि छात्र का विकास स्वाभाविक ढंग से हो और स्वतंत्र रूप में हो।

ज्ञान दान के तीन प्रकार

अध्यापक तीन प्रकार से विद्यार्थियों को ज्ञान देता है—शिक्षण के द्वारा, उदाहरण के द्वारा और अपने प्रभाव के द्वारा। शिक्षण के द्वारा शिक्षा देने की अपेक्षा

अध्यापक को अपने प्रभाव से विद्यार्थी तक अपना ज्ञान पहुंचाना चाहिए। वह अपनी राय विद्यार्थियों पर थोपे नहीं और उसमें ऐसा बीजारोपण करे जो स्वयं सर्जनात्मक हो। इसके अतिरिक्त वह उदाहरण से भी विद्यार्थी को बहुत कुछ सिखा सकता है। उदाहरण से विद्यार्थी जितना सीखता है उतना आदेश से नहीं सीखता। उदाहरण से भी अधिक महत्वपूर्ण अध्यापक का प्रभाव है। यह प्रभाव मन से विद्यार्थी तक पहुंचता है। अच्छे अध्यापक को स्वयं एक निरंतर छात्र बना रहना चाहिए। इस प्रकार वह छात्रों का स्वामी न होकर छात्रों के बीच स्वयं भी एक छात्र होता है।

व्यवहार का महत्त्व

वर्तमान समय परिवर्तन का है। इस समय में दो प्रकार की प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। एक और तो हम भौतिकवाद से और पदार्थों से असंतुष्ट हो गए हैं और हम कुछ नया खोजना चाहते हैं ओर दूसरी ओर हम यह देख रहे हैं कि अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत प्रगति होने के बावजूद हमने व्यवहारिक जीवन की उपेक्षा कर दी। जिसके कारण दासता और गरीबी आ गई। परिणाम यह हुआ कि एक ऐसी लहर है जो पश्चिम को अध्यात्म का महत्व बता रही है और भारत को भौतिक जीवन का महत्व बता रही है। डर यह है कि इन दो लहरों के बीच यदि समन्वय स्थापित न किया जाए तो कहीं भारत भौतिकता के शोर में अध्यात्म को भूल न जाए।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्तित्व का विकास ही नहीं है अपितु सब प्रकार के ज्ञान का संग्रह भी है। किंतु यह ज्ञान केवल इस रूप में सीमित नहीं होना चाहिए कि हम केवल आचार के कुछ नियमों को सीखें बल्कि यह भी ज्ञान होना चाहिए कि हम शुभ-अशुभ से ऊपर भी उठ सकें। इसी प्रकार कला का प्रयोजन भी केवल एक स्तर पर सुंदर चित्रों का या आकृतियों का वर्णन न होकर एक ऐसे सौन्दर्य का सर्जन होना चाहिए जो तर्कातीत है। मानविकी का अध्ययन समाज के लिए होने के साथ-साथ यह भी होना चाहिए कि पृथ्वी पर एक पूर्ण विकास

हो। शिक्षा में ज्ञान-अभीप्सा, सामञ्जस्य और कौशल, सभी पर बल दिया जाना चाहिए। यह मानकर चलना चाहिए कि हर छात्र अपने आप में अनोखा है और इसलिए उस के विकास के लिए व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इसलिए शिक्षा का क्रम गतिशील होना चाहिए और विद्यार्थी अपने विकास में सक्रिय भागीदार हो।

शिक्षा का घटक

प्रथम तो शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि यह देखें कि छात्र क्या चाहता है। दूसरी बात जीवन के प्राणिक और मानसिक विकास के लिए अध्यात्म की पूरी सहायता लेनी चाहिए। शिक्षा के कई घटक है—**पहला घटक** चित्त की एकाग्रता **दूसरा** चेतना का विस्तार **तीसरा** किसी एक केंद्रीय बिंदु के इर्द-गिर्द विचारों का ताना-बाना, **चौथा** जो अनावश्यक है उसका निराकरण और अंत में मानसिक मौन की साधना।

शिक्षा का उपर्युक्त सैद्धान्तिक स्वरूप श्री अरविन्द ने निर्धारित किया किन्तु उसका व्यावहारिक विवरण विशेष रूप से माताजी ने दिया। क्योंकि माताजी ही श्री अरविन्द आश्रम की शिक्षा की देखभाल करती थीं; वे ही छात्रों से वार्तालाप करतीं, उनके प्रश्नों के उत्तर देतीं और अध्यापकों का भी मार्गदर्शन करती थीं। अतः यह जानना मूल्यवान् है कि उनके शिक्षा के सम्बन्ध में क्या विचार हैं।

उनकी दृष्टि में शिक्षा का प्रथम लक्ष्य तो छात्रों के संवेगों पर नियन्त्रण करना सिखाना है ताकि वे उन्हीं नियमों का पालन करें जिन नियमों और आदर्शों की छाया में छात्र अपना जीवन व्यतीत करेंगे। इस दिशा में छात्रों पर उनके वातावरण का और संगति का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है किन्तु मुख्य योगदान मानसिक संयम का होता है। जैसे ही माता-पिता बच्चे को यह कहना शुरू करते है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए वैसे ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ हो जाती है। कोई व्यक्ति अपने समाज के आदर्श के अनुरूप कितना अपने जीवन को ढालता है, यही उसके सभ्य होने का प्रमाण है जो ऐसा नहीं कर पाते वे असभ्य कहलाते है।

जिन लोगों को हम अपराधी या आधा पागल कहते है वे वे लोग है जिनका अपने संवेगों पर मानसिक नियत्रंण नहीं है। वस्तुतः हममें ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है जो अपने संवेगों पर किसी भी प्रकार का नियत्रंण न रखता हो।

मानसिक शिक्षा

उपर्युक्त प्रकार के मानसिक नियत्रंण के लिए निम्न पाँच बिन्दुओं पर ध्यान देना चाहिए-

1. एकाग्रता की शक्ति का विकास।
2. विस्तार करने की क्षमता अधिक समृद्ध और विकसित करने की क्षमता।
3. अपने विचारों के बीच एक ऐसा केन्द्रबिन्दु या उच्चतर आदर्श स्थापित करना जो जीवन का लक्ष्य बन सके।
4. विचारों पर नियत्रंण और अनावश्यक विचारों का निराकरण करते हुए आवश्यक चिन्तन करने की योग्यता।
5. ऐसी मानसिक शांति जिसमें छात्र उच्चतर स्तर से प्राप्त होने वाली प्रेरणा को ग्रहण कर सकें।

छात्र के लिए सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु यह है कि वह ज्ञान से प्रेम करना सीखे और जीवन में जितने अवसर आयें उनसे सीख सके। इसके लिए छात्र में एकाग्रता के साथ-साथ निरीक्षण की शक्ति भी होनी चाहिए। उसकी विचारशक्ति सदा जागरूक रहे और छोटी से छोटी घटना को भी तत्परता से पकड़ सके। जिस चीज को हम जानें उसे समझें भी। यान्त्रिक रूप से कण्ठस्थ की गई चीजें धीरे-धीरे भूल जाती हैं किन्तु जो चीज समझ में आ जाये वह सदा याद रहती है।

अध्यापक को चाहिए कि छात्र की प्रत्येक जिज्ञासा का रुचि लेकर उत्तर दे ताकि छात्र की जिज्ञासा और अधिक बढ़े। वस्तुतः सर्वोत्तम पाठशाला स्वयं जीवन है जिसमें निरन्तर नित नवीन अनुभव होते रहते हैं। जीवन के संबंध में विद्यार्थी में स्वस्थ जिज्ञासा पैदा होनी चाहिए। जिज्ञासा ही छात्र की प्रगति का मूल है।

विद्यार्थी में अच्छे साहित्य को पढ़ने की आदत होनी चाहिए। यदि यह साहित्य उसमें कल्पना उत्पन्न करे तो यह समझना चाहिए कि कल्पना से सर्जनात्मक क्षमता बढ़ती है और ज्ञान की प्रक्रिया आनन्दपूर्ण हो जाती है।

गणित के सम्बन्ध में भी माताजी का यह कहना था कि मौखिक गणित छात्र को आन्तरिक रूप से सजग बनाता है। यदि वह मौखिक गणित को जान ले तो फिर लिखित गणित को शीघ्रता से कर सकता है। गणित छात्र में तार्किक ढंग से सोचने का सामर्थ्य भी पैदा करता है।

नैतिक शिक्षा

नैतिकता का आधार यह है कि जो कुछ सत्य का विरोधी है वही पाप है। दुख का कारण असंतुलन है। विश्व का आधार संतुलन है; यदि संतुलन न हो तो विश्व नष्ट-भ्रष्ट हो जाए। विश्व के प्रारम्भ में पूर्ण संतुलन रहा होगा। इस संतुलन का बिगड़ जाना ही बुराई का मूल है। सापेक्ष रूप में संतुलन जितना कम या अधिक होता है उतना ही बुराई अधिक और कम हो जाती है।

छात्र को यह बताया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ भी यदि अपना संतुलन खो दें तो टिक नहीं पाते और गिर जाते हैं। विद्यार्थी में ऐसा संस्कार बनना चाहिए कि जब-जब भी कहीं नैतिक असंतुलन होता है तो वह असहजता उत्पन्न करता है। उदाहरणतः यदि वह अपने किसी साथी को कष्ट देगा तो उसके मन पर एक बोझ बन जायेगा, क्योंकि वह सत्य की विपरीत दिशा में कार्य कर रहा है।

वस्तुतः हमारे अन्दर एक ऐसा पूर्णता, महत्ता और सत्य का भाव है कि यदि हम उसका उल्लंघन करें तो दुःख होता ही है। यदि विद्यार्थी सहज जीवन जी रहा है तो उसे यह अनुभव स्वतः ही होगा। वस्तुतः ठीक या गलत का निर्णय लेना इसलिए कठिन है कि जिसे कोई एक ठीक बताता है दूसरा उसे ही गलत बता देता है। तथाकथित मजहब व्यक्ति को किसी एक सिद्धांत से बाँधना चाहते है किन्तु इसमें सच्चाई छुप जाती है। अतः वास्तविक मार्गदर्शक अन्तरात्मा ही है।

राष्ट्रीय शिक्षा

एक समय भारत में अध्यात्म ज्ञान था जो भी लुप्त सा हो गया है किन्तु उससे भी बड़ी दुघर्टना यह हुई कि पदार्थ की उपेक्षा हो गई, जिसके कारण भारत दुःखों से घिर गया। कोई भी शिक्षा हो उसमें जड पर चेतन की वरीयता अवश्य बतलानी चाहिए। इसमें योग सहायक हो सकता है। छात्र को यह पता होना चाहिए कि उसके राष्ट्र की क्या विशेषता है और क्या मूल प्रकृति है। विशेषकर भारत को विश्व में अपना स्थान निर्धारित करके शिक्षा में उसे बताना चाहिए।

शारीरिक शिक्षा

छात्र की शारीरिक शिक्षा जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है। शारीरिक शिक्षा के तीन मुख्य सिद्धान्त है—

1. शरीर के अंग प्रत्यगों पर संयम।
2. शरीर के सभी अंगों का संतुलित विकास।
3. शरीर में आयी कमियों का निराकरण।

वस्तुतः शरीर में यदि मन या प्राण का हस्ताक्षेप न हो तो वह सहज ही स्वयं जानता है कि उसके लिए हितकर क्या है। विद्यार्थी को यह पता होना चाहिए कि उसकी इच्छा क्या है और आवश्यकता क्या है। उसे शुद्ध, स्वच्छ और सात्विक भोजन की आदत डालनी चाहिए, तामसी भोजन से बचना चाहिए। उसे अपनी भूख के अनुसार ही भोजन करना चाहिए। स्वादुतावश अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। भोजन स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद होना चाहिए। किस अवस्था के बच्चे के लिए किस प्रकार का भोजन कितनी मात्रा में मिलना चाहिए, इसका विवरण चिकित्सकों द्वारा तैयार किया जाता है। उसके अनुसार संतुलित आहार शरीर की प्रथम आवश्यकता है।

आहार के बाद खेलों का नम्बर आता है। औषधियों की अपेक्षा खेल मनुष्यों को स्वस्थ रखने में अधिक सहायक होते हैं। खुली हवा और धूप में रहना भी शरीर के लिए लाभप्रद है।

माताजी का मत था कि मनुष्यों को यथासम्भव औषधियों से बचना चाहिए। छात्र की आवश्यकताएं भी अलग-अलग होती हैं। इसलिए प्रत्येक छात्र के शारीरिक विकास पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। यह विशेषज्ञ की सहायता से किया जा सकता है।

छात्र में स्वास्थ्य के प्रति सम्मान का भाव होना चाहिए। उसमें सौन्दर्यबोध भी रहे शारीरिक पक्ष का सौन्दर्य एक महत्त्वपूर्ण अंग है। शरीर का समतुलित विकास सौन्दर्य का मूल है। अन्त में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जीवन में किसी भी प्रकार के कर्त्तव्यपालन में शरीर प्रथम सहायक होता है।

आध्यात्मिक शिक्षा

प्रत्येक छात्र में एक ऐसी बृहत्तर चेतना रहती है जिसके आधार पर वह वर्तमान जीवन का अतिक्रमण करके उच्चतर जीवन में प्रविष्ट हो सकता है। कुछ छात्रों में यह चेतना जीवन का संचालन करती है। मानसिक स्तर पर हम जो कुछ नहीं जान पाते इस स्तर पर उसे जान लेते है। कुछ छात्रों में यह उच्चतर चेतना स्वतः स्फूर्त रूप में कार्य करती है।

शारीरिक, प्राणिक और मानसिक स्तर पर जो शिक्षा प्राप्त होती है उससे छात्र का व्यक्तित्व बनता है और वह अवचेतन से निकलकर चेतन स्तर पर आता है। किन्तु अतिमानसिक शिक्षा में हम इस समस्या का हल ढूँढना चाहते हैं कि हमारे अस्तित्व का वास्तविक प्रयोजन क्या है और जीवन में हमारा क्या लक्ष्य है। प्रायः इस समस्या पर धर्म के क्षेत्र में विचार होता है। माताजी का मानना था कि इस संदर्भ में हम ईश्वर के स्थान पर सत्य की चर्चा कर सकते हैं, यद्यपि दोनों का परिणाम एक ही होगा। इस स्तर पर मानसिक विचारों का महत्त्व बहुत कम हो जाता है। वास्तविक महत्त्व इस बात का है कि मनुष्य अनुभव करें न कि सिद्धान्तों में उलझें। सिद्धांत अनेक बार यह भ्रम पैदा कर देते हैं कि उनसे ज्ञान हो जाता है।

देश और काल में अनेक सम्भावनाओं में से किसी एक सम्भावना का प्रक्षेपण व्यक्ति का निर्माण करता है। यही व्यक्ति प्रगति करते-करते जीवात्मा बन जाता

है। इस जीवात्मा के द्वारा व्यक्ति कार्य करता है। जीवात्मा के और अपने बीच सामंजस्य बनाना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए किन्तु अभी तक इस विषय को शिक्षा प्रणाली में उचित स्थान नहीं दिया गया है। कठिनाई यह है कि इस प्रकार की शिक्षा के लिए एक गुरु की आवश्यकता होती है जिसका मिलना दुर्लभ है। इसलिए व्यक्ति को अनेक बार अकेले ही चलना होता है। जो इस मार्ग पर चले हैं उन्होंने इसका वर्णन किया है जिससे हमें सहायता मिल सकती है। इस मार्ग में स्वाभाविकता होनी चाहिए। जो इस मार्ग पर चले हैं उन्होंने पाया है कि किसी गहरे स्तर पर हमारे अन्दर सार्वभौमिकता और असीमिता का भाव है। उस भाव से जुड़ने पर अहंकार विलीन हो जाता है और हम सबके सुख दुःख में विचारों में और भावनाओं में भागीदार हो जाते हैं। जीवन में एक सजीवता आ जाती है और हम प्रकृति के साथ पाषाण से लेकर पौधों और पशुओं तक से संवाद कर सकते हैं। यह सब अहंकार के विलीन होने पर होता है। इस संबंध में माताजी ने कुछ सुझाव दिये है–

1. सबसे मुख्य बात यह है कि अध्यात्म के संबंध में मानसिक स्तर पर निर्णय नहीं लिया जा सकता। यह सभी साधकों का मत है। इसलिए साधक को मानसिक रूप से न कोई सम्मति बनानी चाहिए और न कोई प्रतिक्रिया करनी चाहिए।

2. साधक को व्यक्तिगत सुख सुविधा के पीछे नहीं भागना चाहिए केवल अपने मार्ग पर आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा होनी चाहिए।

3. हम जो भी करें आनंदपूर्वक करें किन्तु सुख के लिए कुछ न करें।

4. उत्तेजित न हों, सभी परिस्थितियों में शांत रहें जब भी अवसर मिले चूकें नहीं और प्रगति करें।

5. जब कोई घटना हो तो उसके पीछे के सत्य को देखें न कि सतही स्तर पर निर्णय लें।

6. किसी के व्यवहार के प्रति तब तक चिंता न करें जब तक कि आप उसके व्यवहार को बदलने में समर्थ न हों।

7. लक्ष्य को कभी न भूलें, लक्ष्य की प्राप्ति में छोटा बड़ा कुछ भी नहीं है, सभी समान रूप से महत्त्वशाली हैं।

8. कोई भी कार्य करने से पहले थोड़ी देर रुककर यह सोचें कि वह कार्य हमारे प्रयोजन में कितना सहायक सिद्ध होगा।

9. यह आवश्यक है कि बोलने से पहले विचार किया जाये ताकि अनावश्यक बोलने से बचा जा सके।

अतिमानस जीवन का अर्थ है—अमर और अपरिमित जीवन, आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है—अनन्त और नित्य जीवन जो देश और काल से परे है। इसके लिए अहंकार छोड़ना आवश्यक है। अहंकार छोड़ने का ही एक पक्ष आत्मसमर्पण है। आत्मसमर्पण का आनंद अद्‌भुत है। कुछ लोगों के लिए समर्पण का अर्थ ईश्वर के प्रति समर्पण है। कुछ लोगों के लिए सत्य या पूर्णता के प्रति समर्पण आवश्यक है। जैसे-जैसे समर्पण परिपूर्ण होता है वैसे-वैसे हम लक्ष्य के साथ अपनी निकटता अनुभव करते है। लक्ष्य के प्रति हमारा प्रेम जितना सहज होगा सफलता उतनी ही निकट आ जायेगी।

श्री अरविन्द के दर्शन में पदार्थ का रूपांतरण प्रकृति के आरोहण का एक तार्किक परिणाम है, जिसका फल अतिमानस जाति का जन्म है। इसके साथ ही शिक्षा का भी एक नया क्रम प्रारम्भ होता है। इस क्रम में व्यक्तिगत इच्छा मुख्य नहीं होती अपितु सामूहिक कल्याण की बात उत्प्रेरक बन जाती है।

सामान्य शिक्षा में आरोहण होता है किन्तु अतिमानस शिक्षा में अवरोहण भी होता है। संक्षेप में मनुष्य का क्रमिक विकास नहीं होता अपितु उसकी प्रकृति ही रूपांतरित हो जाती है और अतिमानव के जन्म के साथ एक दिव्य जाति का दर्शन होता है।

शिक्षा में अध्यापक का योगदान यह है कि वह छात्र की सहायता करे। ऐसा वह अपने अनुभव के आधार पर करता है। उसे चाहिए कि वह विद्यार्थियों के गले कोई दृढ सिद्धान्त न उतारे अपितु उसे अपने आप सोचने की आदत डाले।

छात्र के लिए तकनीकी ज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि इसके बिना वह अपने को किसी मशीन से हानि पहुँचा सकता है। अध्यापक अपने अनुभव से छात्र को वह ज्ञान दे देता है जो ज्ञान यदि विद्यार्थी स्वयं प्राप्त करना चाहे तो उसे बहुत लम्बा समय लग जायेगा।

इन्द्रियों का प्रशिक्षण भी आवश्यक है क्योंकि छात्र इन्द्रियों के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करता है। इन्द्रियों के विकास के साथ-साथ यह सम्भव है कि छात्र में यह क्षमता आ जाये कि वह दूरी से भी रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद यहाँ तक कि स्पर्श का भी ज्ञान प्राप्त कर सके।

श्री अरविन्द का और माताजी का इस बात पर बहुत बल था कि अतिमानस के सिद्धान्तानुसार शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाये। माताजी यह भी कहती थीं कि किसी पर ज्ञान थोपना नहीं चाहिए। यदि कोई अज्ञान में रहना चाहता है तो उसे ऐसा करने का अधिकार है। छात्र को यह अवश्य बतला देना चाहिए कि उसका मस्तिष्क तैयार हो रहा है। अतः उसे एक सुनहरा अवसर प्राप्त है। इसलिए छात्रावस्था में वह जितना ज्ञान प्राप्त कर लेगा उतना ही उसके लिए अच्छा है।

सात वर्ष से चौदह वर्ष की अवस्था के बीच छात्र तार्किक ढंग से सोचना चालू करता है। इससे पहले वह अपने संबंध में कम ही सोचता है। सात वर्ष से चौदह वर्ष की अवस्था के बीच वह चयन करना प्रारम्भ करता है। उस समय यदि वह मस्तिष्क का विकास करना चाहे तो उसे स्वाध्याय और चिंतन करने का अवसर मिलना चाहिए। उस समय उसे यह भी निर्धारित करना चाहिए कि वह जीवन में क्या करना चाहता है। कुछ छात्रों में बौद्धिक विकास की रुचि नहीं होती किन्तु दूसरी क्षमताएँ होती हैं। ऐसी स्थिति में उसे दूसरी क्षमताएँ विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि कोई छात्र बौद्धिक विकास के द्वारा विशिष्ट प्रतिभा प्राप्त कर लेगा। इतना अवश्य है कि यदि किसी छात्र के अन्दर प्रतिभा है तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए बौद्धिक विकास सहायक होता है। कुल मिलाकर छात्र को अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करने देना चाहिए।

मन के एकाग्र करने की शक्ति बहुत उपयोगी है। इसके बिना मन चारों ओर बिखरा रहता है। उसमें कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। मानो उसका मस्तिष्क बादलों से घिरा रहता है, जिसमें कुछ भी निश्चित नहीं होता। उस समय छात्र के मन में परस्पर विरोधी विचार घूमते रहते हैं जिसका उसे कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार विचार शक्ति विकसित नहीं होती। स्पष्ट विचार के लिए निश्चित और स्पष्ट चिंतन आवश्यक है। मन के एकाग्र करने में प्रारम्भ में कठिनाई हो सकती है। किन्तु इसे तपस्या समझकर करना आवश्यक है। किसी भी प्रश्न पर सब ओर से विचार करना चाहिए और तब तटस्थ भाव से निर्णय लेना चाहिए। विचार करने की शक्ति का विकास सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

माताजी औपचारिक रूप से कक्षा में विद्यार्थियों को बैठाकर शिक्षा देने की पद्धति को हास्यास्पद मानती थीं। विद्यार्थी और अध्यापक दोनों का कक्षा में अनौपचारिक रूप से एक-दूसरे से मिलने की सुविधा देनी चाहिए। अध्यापक को विद्यार्थी की जिज्ञासाएं, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यों न हों, समाहित करनी चाहिए। अध्यापक और छात्र दोनों को पुस्तकों की अपेक्षा जीवन से अधिक सीखना चाहिए। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्यार्थी को ऐसा प्रयोग करने की सुविधा दे दी जाये जो उसको स्थाई रूप से हानि पहुँचा दे। दूसरी ओर विद्यार्थी पर हर समय नियंत्रण रखना भी गलत है। इससे उसका व्यक्तित्व संकीर्ण रह जाता है और वह कोई साहस नहीं कर पाता।

सारांश यह है कि शिक्षा के संबंध में कोई भी नियम लचीला होना चाहिए और हर प्रकार की अति से बचना चाहिए। लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमें उच्चतम सत्य प्राप्त करना है। किसी निश्चित नियम को सभी परिस्थितियों में लागू करना उचित नहीं है। हमें प्रत्येक कदम पर खुले मन से निर्णय लेना चाहिए। वस्तुतः जो कुछ हमनें शिक्षा के संबंध में ऊपर कहा उसका आधार सत्य और स्वतंत्रता इसलिए है कि अध्यात्म के यह दोनों सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इन्हीं दो आधारों पर ज्ञान का अधिक से अधिक विकास हुआ है किन्तु जब भी मनुष्य की स्वतंत्रता पर अकुंश लगाया गया है या सत्य के नाम पर कुछ अंधविश्वास उस पर थोपे गये हैं तब तब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान का विकास रुका है और मनुष्य जाति आगे बढ़ने की जगह पीछे धकेल दी गई है।

समाज

समाज

समाज एक महत्त्वपूर्ण पक्ष

यद्यपि श्री अरविन्द प्रारम्भिक जीवन में राजनैतिक गतिविधि में रुचि ले रहे थे तथापि उस समय भी वे एक ऊँचे आदर्श को लेकर चल रहे थे। उस आदर्श के बल पर उन्होंने भारत में एक नया जीवन फूँका। श्री अरविन्द की क्रांति बौद्धिक स्तर से भी ज्यादा गहरे स्तर से आई थी। इसका आधार भारत की आत्मा थी। यह ध्यान देने की बात है कि राजनैतिक जीवन में रहने के बावजूद श्री अरविन्द सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में भी चिन्तित थे और वे एक नये समाज के निर्माण का लक्ष्य लेकर चल रहे थे। वे इस बात को जानते थे कि जीवन के सभी पक्षों को साथ-साथ लेकर चलना होता है। उनकी राजनीति में रुचि इसलिए थी कि भारत की स्वतंत्रता का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था क्योंकि स्वतंत्रता के बिना नये भारत का निर्माण नहीं हो सकता था। 'आर्य' में उन्होंने इसी आशय से 'भारत का पुनर्जागरण' और 'भारतीय संस्कृति का समर्थन' नाम से दो लेख लिखे।

भारत का स्थान

यह भी ध्यान देने योग्य है कि वे भारत का पुनर्निर्माण पूरी मनुष्य जाति के लिए करना चाहते थे। वे ये देख रहे थे कि भारत से ही अध्यात्म का उच्चतर स्तर प्रकट हो सकता है। राष्ट्रीयता के आदर्श के सम्बन्ध में उन्होंने १९०९ में यह स्पष्ट किया था कि मनुष्य जाति उच्चतर, गंभीरतर और विशालतर जीवन की

ओर ध्यान दे। उनका यह मत था कि विज्ञान के द्वारा सुख-सुविधा जुटा देने से ही समस्याओं का हल नहीं होगा उसके लिए आन्तरिक सामर्थ्य को भी जगाना होगा। उन्होंने यह देखा कि संसार के लिए भारत की स्वतंत्रता, एकता और महत्ता आवश्यक हो गई है। १५ अगस्त १९४७ को जब भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि भारत की स्वतंत्रता पूरे एशिया और संसार के लिये महत्त्वपूर्ण है। उनका मत था कि भारत को दूसरे लोगों पर शासन नहीं करना है अपितु उनका सहयोग करना है। इसका यह अर्थ है कि श्री अरविन्द का राष्ट्रवाद अन्ताराष्ट्रीय दृष्टि पर अवलम्बित था। चेतना के विकास के साथ-साथ उनकी यह दृष्टि और भी स्पष्ट होती चली गई। वस्तुतः वे योग में इसलिए गये कि उन्हें लगा कि योग के द्वारा उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए और अधिक शक्ति मिलेगी। वे समस्त मनुष्य जाति को और व्यावहारिक जीवन को साथ लेकर अध्यात्म में जाना चाहते थे। वे सदा यह ध्यान रखते रहे कि संसार और भारत में क्या चल रहा है और अपनी आध्यात्मिक शक्ति से उसमें भाग भी लेते रहे।

अध्यात्म और समाज

हम पहले कह चुके हैं कि अध्यात्म की शक्ति सामाजिक स्तर पर अधिक प्रभावशाली ढंग से अपना काम कर सकती है। श्री अरविन्द सबकी भलाई के लिए अपने ज्ञान को बाँटते भी रहे। यह सत्य है कि उनका दार्शनिक चिन्तन जितना व्यवस्थित है उतना सामाजिक चिन्तन व्यवस्थित नहीं है। यह आवश्यक है कि उनके सामाजिक विचारों को भी क्रमबद्ध किया जाये। उन्हें यह ध्यान था कि सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार उपलब्ध नहीं हैं। हमारे पास आंशिक सूचनाएँ हैं, जिनके आधार पर हम निर्णय ले लेते हैं। उन्होंने 'आर्य' में स्वयं लिखा कि दिव्य जीवन और पूर्णयोग के सम्बन्ध में लिखने के बाद वे सामाजिक विकास और मानव एकता के आदर्श के सम्बन्ध में लिखना चालू कर रहे हैं। कुछ और ग्रंथों में भी उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर अपने विचार प्रकट किये है। वस्तुस्थिति यह है कि उनके समाज दर्शन का भी उस से कम महत्त्व नहीं है जितना उनके दिव्य जीवन सम्बन्धी दर्शन का है।

व्यक्ति

उनका मानना था कि समाज की पूर्णता के लिये व्यक्ति का पूर्ण होना आवश्यक है। जातीय चेतना में चीजें स्पष्ट नहीं होतीं; व्यक्तिगत चेतना में ही वे स्पष्ट होती हैं। इसलिए प्रथम वे व्यक्ति में रूपायित होती हैं, फिर समाज में। इसलिए श्री अरविन्द के लेखों में व्यक्ति की पूर्णता पर अधिक बल है। वस्तुतः पूरे भारतीय चिन्तन में यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। फिर भी यह मानना होगा कि भारत के इतिहास में श्री अरविन्द जैसे प्रौढ दार्शनिक का सामाजिक पक्ष पर भी अत्यधिक विस्तार से विचार करना एक अपवाद ही है।

समाज की प्रकृति

श्री अरविन्द के दर्शन में पाँच तत्त्व है—पदार्थ, प्राण, मन, मनुष्य और समाज। इन पाँचों ही तत्त्वों के दो पक्ष हैं— तत्त्वात्मक और व्यावहारिक। व्यावहारिक दृष्टि से परिवर्तन होता रहता है, जबकि तात्विक पक्ष स्थायी बना रहता है। किसी भी व्यवस्था के ज्ञान के लिए दोनों ही पक्षों को जानना आवश्यक है। दोनों ही पक्षों का ज्ञान महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। तत्त्वात्मक पक्ष को जानने के लिए दर्शन की पद्धति और व्यावहारिक स्वरूप को जानने के लिए विज्ञान की पद्धति अपनायी जानी चाहिए। ये दोनों मिलकर ज्ञान के क्षितिज को विस्तार देते हैं।

पदार्थ का तात्विक रूप

कई बार समझा जाता है कि पदार्थ विज्ञान का विषय है। किन्तु पदार्थ का भी तत्त्वात्मक रूप जानने के लिए दर्शन का सहारा लेना आवश्यक है। इसलिये श्री अरविन्द ने *दी लाइफ डिवाइन* में पदार्थ के स्वरूप पर भी दार्शनिक दृष्टि से चार अध्यायों में विचार किया है। विज्ञान की संकीर्ण दृष्टि से भले ही इसका महत्त्व न हो किन्तु जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र जैसे सभी विषयों पर दर्शन की दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। दर्शन आभु पर विचार करता है और विज्ञान अभ्व पर। आभु ही अभ्व के रूप में अभिव्यक्त

होता है। विज्ञान जब प्रयोग के ऊपर बल देता है तो कभी-कभी उसकी सीमाएं संकुचित हो जाती है। इसके लिए अतिभौतिक स्तर पर चेतना को ले जाना होता है ताकि हमारा ज्ञान संकीर्ण न हो। यह बात उस दर्शन पर भी लागू होती है जो केवल बुद्धि पर टिका है।

जहाँ तक समाज का सम्बन्ध है समाज विज्ञान और सामाजिक दर्शन के बीच समन्वय होना चाहिए। तभी हम समाज के अनावृत रूप को समझ पायेंगे। श्री अरविन्द ने *दी ह्यूमन साइकिल* में समाज का विश्लेषण आध्यात्मिक दृष्टि से किया है। विशेष बात यह है कि उनकी प्रस्तुति बौद्धिक है किन्तु उसके पीछे प्रज्ञा का आलोक है। उनके सामाजिक चिन्तन का यही वैशिष्ट्य है।

समाज की प्रकृति

श्री अरविन्द ने सबसे पहले समाज की प्रकृति पर विचार किया कि समाज कैसे विकास करता है और उसका अन्तिम लक्ष्य क्या है। इनमें भी समाज की प्रकृति का विवरण महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः श्री अरविन्द का समाज दर्शन उनके सामान्य दर्शन का प्रयोगात्मक पक्ष है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न रूप ले लेती है; कभी व्यक्ति का और कभी समाज का। विश्व भी उसी सत्ता की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार मानवता और विश्व नित्य सत्ता की शक्तियाँ है समाज भी उसी प्रकार एक शक्ति है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय समाज का भी व्यक्ति के समान ही एक शरीर होता है, एक स्वभाव होता है और विकसनशील मन होता है। जिसका यह अभिप्राय है कि कोई समाज सामूहिक चेतना से ही नहीं अपितु शारीरिक दृष्टि से भी जुड़ा रहता है। उन्होंने समाज को एक समष्टि पुरुष माना है। उनकी इस मान्यता की तुलना वेद के पुरुष सूक्त से की जा सकती है जिसमें प्रकृति और समाज के सभी अङ्ग एक पुरुष के अवयवों के रूप में दर्शाये गये हैं।

समाज की चेतना

श्री अरविन्द के अनुसार सामूहिक चेतना एक जीवन्त चेतना है जिसमें व्यक्ति अपनी आन्तरिक चेतना से जुड़ सकता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि

भारत माता पृथ्वी का एक टुकड़ा ही नहीं है बल्कि एक देवी है। अन्य राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है। जहाँ तक व्यक्ति के शरीर, जीवन और मन का प्रश्न है हम उन्हें स्पष्टतः जानते हैं किन्तु समाज का शरीर, मन और प्राण अनिश्चित है। प्रश्न होता है कि समाज का शरीर क्या है। क्या भूखण्ड किसी राष्ट्र का शरीर है? श्री अरविन्द का कहना है कि मनुष्य के शरीर और राष्ट्र के शरीर में केवल इतना अन्तर है कि राष्ट्र की आत्मा अधिक जटिल है क्योंकि इसके घटक अधिक संख्या वाले व्यक्ति हैं। फिर भी जन्मभूमि या देश के प्रति हमारी भक्ति रहती है। भूमि तो उसका एक घटक है जबकि उसका वास्तविक शरीर स्त्री और पुरुष हैं। ऐसा मानना चाहिए कि किसी देश के नागरिक उसके शरीर की कोशिकाएँ हैं। इसी प्रकार उसके प्राण और मन भी व्यक्तियों के प्राण और मन से बनते हैं।

व्यक्तिगत अहङ्कार

होता यह है कि जिस प्रकार प्रारम्भ में मनुष्य अपने आपको आत्मा नहीं बल्कि शरीर ही मानता है, उसी प्रकार कोई समाज भी प्रारम्भ में अपने बाह्य रूप को ही स्वयं समझ लेता है। वह उस बाह्य स्वरूप के ही नियन्त्रण में व्यस्त रहता है। मनुष्य भी प्रारम्भ में अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं और संवेदनाओं से ही नियंत्रित रहता है। उसके बाद वह प्राणिक स्तर पर जीता है। तदनन्तर वह मानसिक अहङ्कार से संचालित होता है। इसके लिए उसे अनेक जन्म लेने होते है किन्तु उसे अपनी आत्मा का भान नहीं हो पाता। आध्यात्मिक स्तर पर जीवन व्यतीत करने की स्थिति अंत में आती है। श्री अरविन्द का मत है कि आत्मा की यात्रा तक बीच में आने वाले पड़ाव भी महत्त्वपूर्ण है। इन पड़ावों में व्यक्ति दूसरों को केवल अपना साधन मानता है; यद्यपि यह गलत है तथापि मनुष्य के प्रथम चरण के लिए यह आवश्यक है। मनुष्य में जो एक सामूहिक चेतना अवचेतन में बनी रहती है, उससे व्यक्ति अहङ्कार के द्वारा ही मुक्त हो पाता है। जब तक ऐसा न हो वह आगे के कदम नहीं उठा सकता। उसे पहले अपने आपको अज्ञान में स्थापित करना होता है फिर वह ज्ञान में पूर्ण हो पाता है। प्रकृति ने इसलिए अहङ्कार को बनाया ताकि वह एक स्वतंत्र अस्तित्व को प्राप्त कर सके। व्यक्ति

विश्व का भाग तो है ही किन्तु परमात्मा का भी अंश है। उस पर विश्व की पकड़ ज्यादा मजबूत है और इसीलिए वह मानस और प्राणिक अहङ्कार से युक्त होने के बाद ही आत्मा तक पहुँच पाता है।

सामूहिक अहङ्कार

जो बात व्यक्ति के लिए सत्य है, वही समूह के लिए भी सत्य है। समूह पहले अपने आप को सामूहिक अहङ्कार के रूप में स्थापित करता है क्योंकि उसके बिना वह जडता से मुक्त नहीं हो सकता। जब उसका यह अहङ्कार पर्याप्त विकसित हो जाता है तब वह अपने अंतिम लक्ष्य आत्मा की ओर बढ़ता है। प्रकृति में जिस प्रकार विकास होता है समाज के विकास का भी वही क्रम है। पहले एक सङ्गठन फिर उनका समान जीवन और प्राणिक हित शरीर के रूप में बनते है। तब सचेत मन या एकता का भाव आता है। स्वाभाविक रूप से बनी हुई सीमाओं के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्ति एकता की आवश्यकता अनुभव करते है। एकता में विशेषता बनी रह सकती है किन्तु विशेषता का अर्थ पृथक्ता नहीं है। वस्तुतः समाज के शरीर का निर्माण भी शनैःशनैः होता है। पहले समाज छोटे भागों में विभक्त रहता है और उन छोटे भागों की परस्पर एकता होती है जिसकी परिणति बृहत्तर एकता में होती है। परिवार, कबीले, नगर, राष्ट्र और साम्राज्य इस विकास की सीढ़ियाँ हैं किन्तु जैसे-जैसे यह विकास होता है जटिलताएँ बढ़ जाती हैं। होता यह है कि एक बृहत्तर सङ्गठन के बीच भी छोटी-छोटी इकाइयाँ बनी रहती हैं क्योंकि प्रकृति जिस छोटी इकाई को पैदा करती हैं, उसे पूर्णतः नष्ट नहीं करती हैं। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में ही सङ्घर्ष नहीं होता, छोटी इकाई में और बड़ी इकाई में भी सङ्घर्ष रहता है।

मानव एकता

श्री अरविन्द ने इस ओर हमारा ध्यान दिलाया है कि जिस प्रकार राष्ट्रों का निर्माण हुआ है उसी प्रकार समस्त मानव जाति की एकता का भी निर्माण हो सकता है। कठिनाई यह है कि जब व्यक्ति में कोशिकाओं का गठन होता है तो वह सरल है क्योंकि कोशिकाओं में केवल प्राणिक चेतना है मानसिक चेतना

नहीं, किन्तु समाज या राष्ट्र के घटकों में मानसिक चेतना भी हैं। इसलिए वह घटक अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूक होते है जिसके कारण वे अहङ्कार केन्द्रित हो जाते हैं। इसीलिए उनका परस्पर जुड़ना अधिक कठिन होता है और लम्बा समय माँगता है।

अभिप्राय यह है कि कोशिकाओं के जोड़ से व्यक्ति के निर्माण की जो प्रक्रिया है वही प्रक्रिया भिन्न-भिन्न घटकों के जोड़ से समाज के निर्माण की है; दोनों की अपनी आत्मा है, शरीर है, प्राण है और मन है। दोनों विकसनशील है और एक लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं।

व्यक्ति और समाज

समाजशास्त्र में व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध की समस्या सबसे अधिक जटिल मानी जाती है। इसके लिए समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था का अध्ययन तो करना ही होगा मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष को भी देखना होगा। विभिन्न विचारकों ने इस बारे में भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दी है और भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धांतों में दो मुख्य हैं—एक व्यक्तिवादी सिद्धांत जिसमें समाज की अपेक्षा व्यक्ति पर बल दिया गया है और दूसरा इससे विपरीत सिद्धांत जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया गया है। श्री अरविन्द ने इन दोनों सिद्धांतों के बीच समन्वय की बात की है।

संविदा का सिद्धान्त

इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध सिद्धांत संविदा का है जिसके अनुसार किसी समय मनुष्य ने अपनी इच्छा से समाज का निर्माण किया है। रूसो की सामाजिक संविदा पर लिखी गई पुस्तक ने फ्रांस और अमेरिका की क्रान्तियों को प्रभावित किया। संविदा के सिद्धान्त के बारे में श्री अरविन्द का कहना है कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके अनुसार यह सिद्ध हो सके कि मनुष्य कभी समाज के बिना अकेला था। मनुष्य ने सदा किसी न किसी वर्ग में रहना पसंद किया है। इसीलिए उसे सामाजिक प्राणी कहा जाता है। जैसे-जैसे उसमें चेतना का विकास हुआ जीवन निर्वाह के लिए उसने सामूहिक जीवन का विकास किया। श्री अरविन्द का कहना है कि यदि यह मानें कि मनुष्य कभी समाज के बिना था

तो यह भी मानना होगा कि वह समाज-विरोधी रहा होगा। परम्परा यह कहती है कि मनुष्य के जीवन का प्रारम्भ उस स्वर्ण-युग से हुआ जब वह स्वभावतः नैतिक जीवन व्यतीत करता था और उस पर किसी सामूहिक अंकुश की आवश्यकता नहीं थी। इस संबंध में यह भी हो सकता है कि हमारा विकास रेखाकार न होकर चक्राकार हुआ हो और उस विकास के क्रम में एक आदर्श अराजकता का युग भी रहा हो जिसमें प्रेम और प्रकाश और सम्यक् विचार तथा सम्यक् आचरण किसी के द्वारा थोपे न गये हों। चक्राकार प्रगति और विकास का यह अर्थ है कि वर्तमान स्थिति में आने से पहले हम स्वर्ण युग में नहीं थे और आदिम जाति का जीवन जी रहे थे। किन्तु इतना निश्चित है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही सामूहिक जीवन जीता रहा है। सामूहिक जीवन के बिना अकेले में वह विकास नहीं कर सकता। उसका विकास दूसरों के साथ संबंध पर निर्भर करता है। समाज उसके लिए एक आवयश्कता है। इसीलिए अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी बताया है। हमें सामाजिक जीवन भले ही कष्टदायक लगे किन्तु समाज की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति यदि समाज पर निर्भर करता है तो समाज भी व्यक्ति पर निर्भर करता है, बल्कि कहना चाहिए कि समाज व्यक्ति पर अधिक निर्भर करता है क्योंकि एक समाज से बहिष्कृत किया गया व्यक्ति दूसरे समाज में जा सकता है। ये तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति के विकास पर समाज का विकास निर्भर करता है। वस्तुतः सामाजिक जीवन नारों पर चलता है। वह परम्परा और रूढ़ि का अनुसरण करता है। यह सामूहिक चेतना किसी व्यक्ति के द्वारा व्यवस्थित की जा सकती है किन्तु कभी-कभी व्यक्ति अधिनायकवाद का सहारा लेकर सब पर अपना मत थोप देता है। जीवन का लक्ष्य आत्मा है, प्राण और मन केवल उसका साधन हैं। भीड़ में व्यक्ति को दिशाबोध नहीं रहता। इसके लिए उसे अलग खड़ा होना होता है। कभी-कभी उसे सामूहिक जीवन से संन्यास भी लेना पड़ सकता है ताकि वह अपने आपको पहचान सके और सबसे साथ आध्यात्मिक एकता का अनुभव कर सके। इसके लिए उसे दृढ़ इच्छाशक्ति का प्रयोग करना होता है ताकि वह सामूहिक जीवन का यंत्र-मात्र बनकर न रह जाये। अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति को बने रहने के लिए समाज चाहिए तो समाज को भी विकास के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है।

संविदा सिद्धांत के अतिरिक्त एक सिद्धांत यह भी है कि समाज एक जीवित संस्था है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस सिद्धांत का प्रचार इसीलिए हुआ कि जीव विज्ञान ने तेजी से प्रगति की थी। इस सिद्धांत में एक सामाजिक मन या वर्ग-मन की कल्पना है। कभी-कभी समाज को व्यक्ति की तरह एक स्वतंत्र इकाई माना जाता है। मुसोलिनी और हिटलर जैसे अधिनायकों ने व्यक्ति को गौण मानकर उसकी स्वतंत्रता समाप्त कर दी।

जहाँ तक श्री अरविन्द का प्रश्न है वे व्यक्ति की प्रकृति और समाज की प्रकृति में समानता देखते है। वे सामूहिक मनुष्य का अस्तित्व मानते हैं जिसका शरीर भी है, जिसकी नैतिकता और सौन्दर्यबोध भी है। व्यक्ति समाज का अङ्ग है और समाज एक जीवित इकाई है। जिस प्रकार और प्राणियों में विकास के साथ जटिलता बढ़ती गई उसी प्रकार विकास के साथ समाज में भी जटिलता बढ़ती गई। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में जन्म, वृद्धि, युवावस्था, प्रौढ़ अवस्था और वृद्धा अवस्था आती है उसी प्रकार ये सब परिवर्तन समाज में भी होते हैं और अन्त में कोई समाज नष्ट भी हो सकता है। यह बात दूसरी है कि सामूहिकता में अपने आपको पुनः नये सिरे से खड़ा कर लेने की सामर्थ्य है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच समानता है किन्तु यह केवल समानता ही नहीं है कुछ असमानता भी है। उदाहरणतः समाज के घटक व्यक्ति हैं जबकि व्यक्ति के घटक कोशिकाएँ हैं। इसलिए समाज का स्वरूप कठिनाई से एक इकाई बन पाता है जबकि व्यक्ति का एक इकाई बनना सरल है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द का मानना है कि समाज की स्थिति व्यक्तिनिष्ठ अधिक है, वस्तुनिष्ठ कम है। व्यक्ति की शक्ति भी वैयक्तिक है, वस्तुनिष्ठ नहीं।

मुख्य बात यह है कि श्री अरविन्द ने समाज की जैविक व्याख्या को स्वीकार न करते हुए आध्यात्मिक व्याख्या को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार समाज का स्वरूप केवल मनोवैज्ञानिक नहीं है अपितु आध्यात्मिक है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि समाज का भौतिक रूप भी है। जिस प्रकार व्यक्ति के स्तर पर आत्मा का अस्तित्व मन और शरीर से भिन्न है, उसी प्रकार समाज की आत्मा भी सामूहिक मन और सामूहिक शरीर से भिन्न है। यद्यपि श्री अरविन्द ने समाज

का स्वरूप मनोवैज्ञानिक माना है तथापि उनके अनुसार गहन स्तर पर समाज की आत्मिक चेतना काम करती है। यह आत्मिक चेतना ही मनोवैज्ञानिक और शारीरिक गतिविधियों को संचालित करती है। इस अर्थ में श्री अरविन्द का पश्चिमी दार्शनिकों से मतभेद है। इसी पृष्ठभूमि में व्यक्ति का और समाज का अवयव-अवयवी सम्बन्ध ही नहीं है अपितु बहुआयामी सम्बन्ध है जिसे किसी एक प्रकार से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और समाज का जो सम्बन्ध एक अंश में है आवश्यक नहीं कि वही सम्बन्ध दूसरे अंश में भी हो। बल्कि कहीं-कहीं वह सम्बन्ध परस्पर विरोधी भी प्रतीत हो सकता है। बाह्य रूप में व्यक्ति समाज पर निर्भर कर सकता है किन्तु आंतरिक रूप से वह स्वतंत्र भी है और वह वैश्विक चेतना के द्वारा न केवल समाज को अपितु समस्त मानवता को प्रभावित कर सकता है। मानव के शरीर की कोशिकाएं अलग से अपना महत्त्व नहीं रखतीं किन्तु व्यक्ति परिवार, जाति और राष्ट्र से आगे भी अपना अस्तित्व रखता है और उसकी पूर्णता के लिए वैश्विकता आवश्यक है। वैश्विकता के द्वारा व्यक्ति अपने आपको परम सत्ता से भी एकाकार बना सकता है।

उपर्युक्त दृष्टि से व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को किसी एक सूत्र में व्याख्यायित कर सकना सम्भव नहीं है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध शरीर और कोशिकाओं के सम्बन्ध के समान बताना अतिसरलीकरण है। विरोधों का परिहार करते हुए एक संश्लिष्ट दृष्टि अपनानी होगी। यदि हम केवल बाह्य सम्बन्धों के आधार पर ही निर्णय लेंगे तो हमारे निर्णय अधूरे होंगे। एक वाक्य में कहें तो श्री अरविन्द का समाज के प्रति दृष्टिकोण बहुआयामी है और व्यक्ति के साथ समाज के सम्बन्ध भी व्यापक है।

व्यक्ति स्वयं में स्वतंत्र है। राज्य के द्वारा शक्ति के प्रयोग से उसकी स्वतंत्रता को दबाना उचित नहीं है। व्यक्ति को जितनी स्वतंत्रता मिलेगी उतनी वह प्रगति कर सकेगा और जितना वह आगे बढ़ेगा समाज भी उतना ही आगे बढ़ेगा। श्री अरविन्द यह मानते है कि राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति को समाज के भवन का एक पत्थर मान ले। मनुष्य में एक दिव्य अंश है और उसे यह अवसर मिलना चाहिए कि वह परम सत्ता से अपना तादात्म्य स्थापित कर

सके। न तो कोई राज्य और न कोई धर्मसंस्था उसे पूर्ण बना सकती है। कोई व्यवस्था या राष्ट्र या सभ्यता व्यक्ति को किसी एक मार्ग पर चलने के लिए विवश करेगी तो अस्थायी रूप से उसका कुछ लाभ हो सकता है किन्तु अन्त में इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट हो जायेगी। वस्तुतः व्यक्ति की प्रतिबद्धता सत्य के साथ है न कि किसी राजकीय अथवा सामाजिक व्यवस्था के साथ। श्री अरविन्द जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर है वहाँ वे यह भी मानते हैं कि व्यक्ति को समाज के नियमों को स्वार्थ के कारण उल्लघंन करने का अधिकार नहीं है।

श्री अरविन्द के शब्दों में व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है—

> But also we may enlarge the idea of the self and, as objective Science sees a universal force of Nature which is the one reality and of which everything is the process, we may come subjectively to the realisation of a universal Being or Existence which fulfils itself in the world and the individual and the group with an impartial regard for all as equal powers of its self-manifestation. This is obviously the self-knowledge which is most likely to be right, since it most comprehensively embraces and accounts for the various aspects of the world-process and the eternal tendencies of humanity. In this view neither the separate growth of the individual nor the all-absorbing growth of the group can be the ideal, but an equal, simultaneous and, as far as may be, parallel development of both, in which each helps to fulfil the other. Each being has his own truth of independent self-realisation and his truth of self-realisation in the life of others and should feel, desire, help, participate more and more, as he grows in largeness and power, in the harmonious and natural growth of all the individual selves and all the collective selves of the one universal Being. These two, when properly viewed,

would not be separate, opposite or really conflicting lines of tendency, but the same impulse of the one common existence, companion movements separating only to return upon each other in a richer and larger unity and mutual consequence. —*The Human Cycle, P.*60-61

सामाजिक विकास

श्री अरविन्द ने जितना विस्तार से विचार सामाजिक विकास पर किया है उतने अधिक विस्तार से समाज के दूसरे पक्षों पर नहीं किया क्योंकि उनकी रुचि विकास में अधिक थी। समाज के विकास के सम्बन्ध में सभी समाजशास्त्रियों ने विचार किया है। इस विषय पर विचार करते समय तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं। (i) पहला प्रश्न यह है कि समाज का विकास किस प्रकार होता है (ii) दूसरे समाज के विकास की विशेषता क्या है; और (iii) तीसरे सामाजिक विकास का कारण क्या है। श्री अरविन्द ने इन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया है।

इस संबंध में **प्रथम** मत तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन निरन्तर होता रहता है और इस परिवर्तन का कोई निश्चित रूप नहीं है। **दूसरे** मत के अनुसार यह विकास वर्तुलाकार होता है किन्तु इसमें कोई उन्नति या अवनति नहीं होती केवल पुनरावृत्ति होती रहती है। **तीसरे** मत के अनुसार समाज की सदा अवनति होती है वो चाहे सीधी रेखा में हो या चक्राकार। **चौथा** मत ठीक इसके विपरीत समाज की निरन्तर प्रगति मानता है। प्राचीन समय में इनमें से दूसरा या तीसरा मत अधिक प्रचलित था। यह मत १७वीं और १८वीं शताब्दी में चल रहा था। समाज के निरन्तर प्रगति करने का मत आधुनिक है। १९वीं शताब्दी में डारविन के विकासवाद के साथ समाज के विकास का यह मत प्रचलित हो गया। डारविन के बाद इस मत का स्पेन्सर ने अधिक विस्तार से विवेचन किया। उनके अनुसार यह विकास निरन्तर होता है और सभी समाजों का एक ही प्रकार से होता है। यह क्रमशः शनैःशनैः होता है और इसकी दिशा सुधार की ओर होती है।

सामाजिक विकास के साथ ही समाज की प्रगति का प्रश्न भी जुड़ गया। उद्योगीकरण, विज्ञान और तकनीक के विकास के साथ यह मत और भी बल पकड़ गया कि विकास का अर्थ प्रगति है। सामाजिक विकास का अर्थ समाज के वातावरण और परिस्थिति में सुधार है किन्तु सामाजिक प्रगति का संबंध नैतिकता और प्रथाओं से है।

श्री अरविन्द के अनुसार सामाजिक विकास सदा उन्नति की ओर होता है किन्तु यह विकास सीधी रेखा में न होकर स्पायरल के ढंग से इस प्रकार होता है कि प्रगति के साथ ह्रास का समय भी आता है किन्तु कुल मिलाकर उन्नति ही होती है। ह्रास की अवधि भी इस दृष्टि से उपयोगी है कि उसमें विकास की अवधि की कमियाँ पूरी की जाती हैं। उनका यह भी मत है कि निरन्तर प्रगति या निरन्तर ह्रास का मत भी ठीक नहीं है। उनके अनुसार विकास कोई भ्रम नहीं है अपितु एक वास्तविकता है। श्री अरविन्द के मत की यह विशेषता है कि वे आधुनिक सभ्यता से निराश नहीं है। उन्हें पता है कि आधुनिक सभ्यता में कुरूपता है, उपयोगितावाद का भद्दा प्रभाव है, प्राणिक संघर्ष है तथापि कुल मिलाकर आधुनिक सभ्यता ने हमें बहुत सी मूल्यवान् चीजें दी है। वे कुछ विचाराकों के इस मत से सहमत नहीं है कि हम विनाश की ओर जा रहे है। उनका मानना है कि यह केवल एक नीचे की ओर जाने का एक घुमाव है जो अन्ततोगत्वा विकास में सहायक होगा। उनके मत में इस सभ्यता ने हमें जो मूल्यवान् देनें दी हैं, उनका हमें उनका मूल्य चुकाना पड़ा है। वर्तमान में ज्ञान का विस्तार हुआ है, ज्ञान अधिकतर लोगों को उपलब्ध हो रहा है, सुविधाएं बढ़ी हैं और प्राकृतिक शक्तियों का अधिक उपयोग हो रहा है। जो कुछ हमने खोया है वह हमें दोबारा प्राप्त हो जायेगा क्योंकि वर्तमान की बहिर्मुख दृष्टि के स्थान पर आन्तरिक विकास आयेगा। वस्तुतः कभी भी कोई विकास सीधी रेखा में नहीं हुआ है। चाहे प्राचीन काल में कितनी भी उपलब्धियाँ क्यों न हुई हों और आध्यात्मिक शक्ति का विकास भी क्यों न हुआ हो लेकिन आज हम सूक्ष्मता, व्यापकता, राजनीति, समाज, विज्ञान, दर्शन, कला और साहित्य जैसे क्षेत्रों में बढ़े ही हैं। श्री अरविन्द ने जब यह कहा था कि भौतिकवाद के इस युग में अध्यात्म लौटेगा तब से अब तक पिछले ६०-७० वर्षों में उनकी यह भविष्यवाणी सत्य होती दिख रही है।

प्रमाणस्वरूप योग को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का मिलना है। अर्थ यह है कि श्री अरविन्द आधुनिक समाज की कमजोरियों को बढ़ा-चढ़ा के नहीं देखते और न ही उसका अनावश्यक गुणगान करते हैं। उनके अनुसार समाज का विकास उन्नति और अवनति के साथ चक्राकार होता है।

श्री अरविन्द विकास और प्रगति में भेद करते हैं इसी आधार पर वे समाज के विकास के कारण भी गिनाते है। १९वीं शताब्दी के चिन्तक विकास को प्रगति मानते रहे। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न समाज विकास का भिन्न-भिन्न अर्थ लेते हैं। मूल प्रश्न यह है कि विकास और प्रगति में अन्तर इस आधार पर किया जाता है कि विकास वस्तुनिष्ठ है और प्रगति व्यक्तिनिष्ठ है। व्यक्तिनिष्ठता का अर्थ यह होता है कि वह व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है। व्यक्तिगति रुचि के कारण हम सत्य को नहीं देख पाते इसलिए उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसलिए विज्ञान वस्तुनिष्ठता पर बल देता है। दूसरी ओर समाज विज्ञान व्यक्तिनिष्ठ का ऐसा अर्थ नहीं करता। उसका व्यक्तिनिष्ठ से अर्थ नैतिक मूल्य, सौन्दर्यबोध, धार्मिक विश्वास इत्यादि से होता है। किसी भी समाज में यह सब परिस्थिति से उत्पन्न होते है। उस समाज को अपने मूल्य और आदर्श सर्वोत्तम नजर आते हैं। प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थिति में किसी चीज के ठीक या गलत होने का निर्णय कैसे लिया जाये। ऐसे में उसका संबंध केवल समाज के विकास से रहता है न कि उसके मूल्याकंन से, अर्थात् वह यह नहीं बताता कि अमुक स्थिति बढ़िया है या घटिया।

श्री अरविन्द ने *दी ह्यूमन साइकिल* में यह स्पष्ट कहा है कि समाज का विकास मनोविज्ञान या व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से किया जाना चाहिए। व्यक्तिनिष्ठ से उनका अभिप्राय चेतना-परकता से है। चेतना व्यक्ति के स्तर पर और समाज के स्तर पर भी अपना कार्य करती है। चेतना का यह आरोहण जड से अतिचेतन तक पदार्थ, प्राण, मन और आत्मा की सोपानों से गुजरते हुए घटित होता है। इन सोपानों को श्री अरविन्द ने व्यक्तिनिष्ठता के रूप परिभाषित किया है। स्पष्ट है कि श्री अरविन्द की व्यक्तिनिष्ठता निर्धारित है न कि व्यक्ति की रुचि पर निर्भर है।

अभिप्राय यह है कि हमारे मूल्य और आदर्श हमारी निजी चेतना की अभिव्यक्ति है और यह चेतना क्योंकि वैयक्तिक ही नहीं है अपितु वैश्विक भी है, इसीलिए हमारे मूल्य और आदर्श भी वैश्विक और निर्वैयक्तिक हो सकते हैं। उनमें वैयक्तिकता का अंश रहता है किन्तु पृष्ठभूमि में सार्वभौमिकता रहती है। उनके अनुसार विकास का अर्थ क्रमिक प्रगति है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में श्री अरविन्द ने विकास की तीन स्थितियाँ मानी है – १. प्रथम स्थिति में समाज अपनी आवश्यकता और हितों का ध्यान रखता है किन्तु उसके विचार शारीरिक और प्राणिक चेतना से पैदा होते है न कि किसी तर्कबुद्धि से। २. दूसरी स्थिति में समाज की मानसिक चेतना तर्कसंगत आदर्शों के माध्यम से शासन करती है। इसमें तर्कबुद्धि मुख्य हो जाती है। ३. तीसरी स्थिति तर्कातीत अथवा आध्यात्मिकता की है जिसमें समाज जीवन और संस्थाओं को आध्यात्मिक चेतना के सत्य पर सञ्चालित करता है। इन तीनों स्थितियों में पहली की अपेक्षा दूसरी और दूसरी की अपेक्षा तीसरी अधिक विकसित है। जैसे-जैसे विकास होता है आचार, सौन्दर्यबोध और धार्मिक मूल्य भी उच्च से उच्चतर होते जाते हैं। यह मानदण्ड व्यक्ति और समाज दोनों पर लागू होता है। इस विकास का लक्ष्य पूर्णता की ओर अग्रसर होना है। इस विकास का मूल मंत्र आत्मसाक्षात्कार है। इसके आधार पर ही समाज के विकास का मूल्याकंन होना चाहिए। जो समाजशास्त्री इस आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा भौतिक पक्ष पर ही अपना निर्णय लेते है वे ठीक नहीं हैं। जहाँ तक आत्मा का संबंध है, वह मूलतः एक हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है और इस आधार पर हम समाज के विकास का निर्धारण कर सकते हैं।

सामाजिक विकास के सोपान

श्री अरविन्द से पहले Karl Lamprecht नामक जर्मन चिन्तक ने विकास के पाँच सोपान माने थे—प्रतीकात्मक, वर्गात्मक, रूढ, व्यक्तिगत अथवा तर्कसंगत और व्यक्तिनिष्ठ। श्री अरविन्द ने प्रारम्भ में इन पाँच सोपानों का उल्लेख इसलिए किया है कि इन्हें वे एक मौलिक उद्‌भावना मानते हैं। इसी विचारधारा ने कार्लमार्क्स के भौतिकवाद को प्रभावित किया।

श्री अरविन्द ने इस मत को मौलिक मानते हुए भी पदार्थवादपरक ही समझकर अन्त में छोड़ दिया। इस मत में भिन्न-भिन्न सोपानों का आन्तरिक अर्थ क्या होगा—इसका विचार नहीं किया गया है। इसलिए इस मत से विकास का रहस्य प्रकट नहीं होता। इसलिए श्री अरविन्द ने इस दृष्टि को अपने ढंग से ढाल लिया और केवल तीन सोपानों में उपर्युक्त पाँच सोपानों को समाहित कर दिया। उन्होंने प्रतीकात्मक, वर्गात्मक और रूढ का प्रथम तार्किक विकास से पहले की स्थिति में समाहित कर लिया। तर्कातीत स्थिति को दूसरी स्थिति माना और व्यक्तिनिष्ठ स्थिति को तर्कातीत स्थिति में ही समाहित किया। इन तीन स्थितियों के आधार पर हम श्री अरविन्द के मत को समझ सकते हैं।

विकास का प्रथम चरण वह स्थिति है जब वह मनुष्य ठीक से तर्क का प्रयोग नहीं कर पा रहा था और अपने संवेग और प्राणिक प्रेरणा पर काम कर रहा था, इस समय उसे कोई सिद्धान्त उपलब्ध नहीं था। किन्तु धीरे-धीरे वह तर्क के उस युग में आया जब वह विचार, लक्ष्य और संस्था के आधार पर कार्य करने लगा। श्री अरविन्द के अनुसार तीसरी स्थिति वह होनी चाहिए जब मनुष्य तर्कातीत

अन्तर्दृष्टि के आधार पर अथवा अतिमानसिक चेतना के आधार पर कार्य करेगा। वह अपने जीवन का उच्चतर दिव्य लक्ष्य बनायेगा और उसके विचार तथा भावनाएँ उसी के अनुसार कार्य करेंगी, मध्ययुग के धार्मिक अंधविश्वास समाप्त हो चुकेंगे। श्री अरविन्द के अनुसार समाज का विकास एक जीवन्त रूप में होता है। प्रारम्भ में उसके विकास का आधार उसका अवचेतन मन होता है। वह तर्क का सहारा नहीं लेता। भारतीय समाज की भी प्रारम्भिक अवस्था ऐसी ही है।

विकास की दूसरी अवस्था में सामूहिक मन सजग हो जाता है और बुद्धि जीवन के सभी क्षेत्रों को धीरे-धीरे घेर लेती है। इस स्थिति में बहुत सी संभावनाएं रहती हैं किन्तु कुछ खतरे भी रहते हैं। समाज प्रथम तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण का लाभ उठाता है और दूसरी ओर वह ऐसे आदर्शों को प्रस्तुत करता है कि जिसके आधार पर मनुष्य प्राणिक स्तर से ऊपर उठ सके। धीरे-धीरे समाज आदर्शवादी होता जाता है। दूसरी ओर तर्क समाज की जीवन्त प्रगति को नहीं समझ पाता और इसे मनमाने ढंग से तोड़ना मरोड़ना चाहता है। इसके परिणामस्वरूप जीवन का रहस्य छूटता जाता है। मनुष्य व्यवस्था और संस्था पर अधिक निर्भर करने लगता है। जीवन के स्थान पर सामाजिकता हावी हो जाती है।

विकास की तीसरी स्थिति में आदर्शों के मूल की खोज की जाती है। मनुष्य जीवन को गहरे स्तर पर जीने लगता है। तब वह अपने प्राणिक स्तर से और तर्क के स्तर से ऊपर उठ जाता है और एकत्व के स्तर पर जीना प्रारम्भ करता है। यह तभी संभव है जब समाज अध्यात्म का सहारा ले।

श्री अरविन्द ने विकास की तीन स्थितियों को (i) बर्बरता, (ii) सभ्यता और (iii) अध्यात्म के आधार पर भी विवेचित किया है। उनके अनुसार सामान्यतः सभ्यता का अर्थ ऐसा नागरिक जीवन है जो संस्थाओं और शिक्षा द्वारा अनुशासित होता हो। इस अर्थ में अमेरिका के रेड इंडियन सभ्य नहीं थे क्योंकि उनका ज्ञान अत्यन्त सीमित था और उनकी संस्थाएँ एकदम सरल थी। प्रारम्भ में मनुष्य सरल था। वह अपने से सहमति न रखने वाले लोगों को बर्बर या म्लेच्छ समझता था। उसका दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण रहता था और अपने तक ही सीमित रहता था। किन्तु सभ्य समाज एक व्यवस्थित, सामाजिक और आर्थिक ढांचा लेकर

चलता है। प्रारम्भिक बर्बर अवस्था में सभ्यता के भी प्रारम्भिक चिह्न रहते हैं तथा सभ्यता के विकसित हो जाने पर भी बर्बर समाज का प्रभाव बना रहता है। सभ्य समाज में व्यक्ति ज्ञान और तर्क के आधार पर चलता है। उसकी बौद्धिक जिज्ञासा होती है और वह प्रयत्न करता है कि सत्य और सौन्दर्य के लक्ष्य को लेकर चले। यह भी ध्यान देने की बात है कि तर्क मानसिक जीवन का सर्वोपरि अंग है किन्तु तर्क के अतिरिक्त मानसिक जीवन में नैतिक मन और भावात्मक मन भी रहता है। मन का सबसे नीचे का भाग प्राण से जुड़ा रहता है। उसके बाद नैतिक जीवन का आदर्श आता है। दूसरी ओर सौन्दर्य का आकर्षण भी है। सबके अन्त में बुद्धि है जो मानव जीवन के रथ की सारथी है। अभिप्राय यह है कि तर्क समाज के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

समाज के विकास का जो विवरण ऊपर दिया गया है, वह सामान्यतः ठीक है। किन्तु इतिहास में वह विकास इतने स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता और विकास की सभी अवस्थाएँ परस्पर मिली-जुली रहती है। पुरातत्व के विद्वान् जिस पाषाण युग और ताम्र युग इत्यादि की बात करते है वे युग श्री अरविन्द के युग विभाजन से पूरी तरह मेल नहीं खाते क्योंकि श्री अरविन्द के विकास-क्रम का आधार उपकरणों का विकास न होकर मनोवैज्ञानिक विकास है। जब हम तर्क के युग में आते हैं तो उसका वस्तुतः यह अर्थ है कि सामान्य जनता भी तर्कसंगत ढंग से सोचना प्रारम्भ कर देती है जबकि पहले यह विकास कुछ गिने-चुने लोगों में होता है फिर उच्च वर्ग के समाज में और फिर सामान्य व्यक्ति में। वस्तुतः तर्क युग का यह अर्थ है कि इस युग में मनुष्य अपनी आवश्यताओं, अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में तर्कसंगत दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ कर देता है।

जैसे-जैसे तर्क का विकास होता है उसके साथ-साथ आत्मा भी समाज में अपना स्थान ग्रहण करती है। वस्तुतः तर्क और आत्मा समाज की प्रारम्भिक स्थिति में भी उपस्थित रहते हैं। किन्तु गौण रूप में। उनमें प्राणिक इच्छा ही मुख्य रहती है, कुछ समाजों में तर्क मुख्य हो जाता है, तो कुछ में अध्यात्म। उदाहरणतः यूनान में तर्क मुख्य हुआ जबकि भारत में उपनिषदों के काल में अध्यात्म मुख्य हो गया। अभिप्राय यह है कि आवश्यक नहीं है कि पहले तर्क का युग आये और फिर

अध्यात्म का युग आये। यह सारा विकास स्पायरल के ढंग से होता है। जिसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। अंधकार का युग बार-बार अपना सिर उठाता है जो विकास के क्रम को बार-बार नीचे की ओर धकेल देता है।

जिन नियमों के आधार पर हम आदिम युग से वर्तमान तर्क युग तक प्रगति करते हुए आये हैं उन्हीं नियमों का अनुसरण करते हुए तर्क युग से तर्कातीत अथवा अध्यात्म युग तक जायेंगे अर्थात् अध्यात्म का प्रभाव तार्किक मनुष्य जाति पर शनैः-शनैः होगा; प्रथमतः यह आध्यात्मिक प्रकाश कुछ लोगों तक पहुचेगा और उसके बाद जन सामान्य में। इस बीच में अनेक मध्यमवर्ती स्थितियाँ आयेंगी जो तर्क युग और अध्यात्मयुग के बीच कड़ी का काम करेंगी। बीच-बीच में बाधाएँ भी आ सकती हैं किन्तु अन्ततोगत्वा अध्यात्म युग स्थापित हो जायेगा।

वर्तमान में हम तर्क युग में चल रहे है। जब तक सामान्य जन अध्यात्म स्वीकार न कर लें तब तक नया युग नहीं आयेगा और यदि आयेगा भी तो एक झंझावात की तरह आयेगा और लौट जायेगा। अभी तक जो अध्यात्म के आंदोलन चले वे इसी कारण सफल नहीं हो सके क्योंकि वे कुछ युगप्रवर्तक व्यक्तियों के बाद सामान्य जनता तक नहीं पहुँच पाये जोकि सफलता के लिए आवश्यक है। श्री अरविन्द का कहना है कि इसके लिए सामान्य जनता को तैयार होना पड़ता है।[1]

इस तैयारी के लिए मनुष्य के मन को व्यक्तिगत विकास का ज्ञान होना चाहिए जिसका अर्थ है कि वह आत्मा को जाने, अन्तरंग को जाने, उसकी शक्ति, सम्भावना, विकास और, अभिव्यक्ति को समझे और साथ ही तदनुकूल सत्य, सुन्दर और सहायक वातावरण बने।[2]

यद्यपि अध्यात्म का उद्देश्य आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना है किन्तु इससे पहले व्यक्तिनिष्ठ चेतना को पार करना होगा और यह भी जानना होगा कि उस चेतना का ज्ञान जीवन में कैसे उपयोग में लाया जाये। पहले यह ज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, कला, कविता, संगीत इत्यादि में लागू होंगे और फिर सामाजिक प्रश्नों पर भी इनका प्रयोग किया जायेगा। यद्यपि यह कठिन है कि इस ज्ञान का प्रयोग राजनीति और अर्थशास्त्र में भी किया जाये क्योंकि ये दोनों अनुशासन भौतिक

हैं और स्थूल उपयोगितावाद पर खड़े हुए हैं तथापि यह प्रयत्न भी होगा। विज्ञान के कट्टर अनुयायी इसे विज्ञान नहीं मानेंगे किन्तु धीरे-धीरे आत्मा और पदार्थ के बीच का अन्तर कम होता चला जायेगा और मनोविज्ञान जैसे अनुशासन में भी भौतिकशास्त्र जैसे नियम लागू किये जायेंगे यद्यपि मनोविज्ञान में वे नियम लचीले होंगे। धर्म पदार्थ के भार से मुक्त हो जायेगा और आत्मा पर स्थिर होगा। सत्य की खोज मुख्य हो जायेगी।[3]

श्री अरविन्द ने व्यक्तिनिष्ठ खोज के चार चरण बताये हैं– प्रथम चरण में भौतिक जीवन की चर्चा रहती है। द्वितीय चरण में मनुष्य अपने को प्राणवान् मानकर चलता है। तीसरे चरण में मन और आचारमीमांसा को आधार बनाता है और उसी को अपने जीवन का लक्ष्य मानता है। चतुर्थ चरण आध्यात्मिकता है। भौतिक स्तर पर मनुष्य अधिक समय तक नहीं टिक सकता क्योंकि उसमें अपने अन्दर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। तब वह शरीर को साधन बनाता है और मन की शक्तियों को सहायक मानता है। यह प्राण की उपासना का मार्ग है जो वर्तमान में बहुत प्रभावशाली है। इसके बाद के एक चरण में मनुष्य धर्म, सुन्दरता और आचार की ओर झुकता है इसी समय रहस्यवाद की ओर भी झुकाव होता है।

यह भी सम्भव है कि मनुष्य मन से परे आत्मा की खोज करना चाहे और मन, प्राण तथा शरीर को साधन बनाये। ऐसे में उसका उद्देश्य मन, प्राण और शरीर को इस रूप में विकसित करने का रहता है कि वह आत्मसाक्षात्कार में सहायक हो सके।[4]

अभिप्राय यह है कि जब व्यक्तिगत खोज समाज के क्षेत्र मे प्रयुक्त होती है तो यह आवश्यक नहीं कि वह अध्यात्म का रूप ले ले। अन्तरंग की खोज अपने अन्तिम चरण में ही अध्यात्म का रूप लेती है। अध्यात्म अंतिम लक्ष्य है। जब तक वह प्राप्त न हो जाये तब तक मनुष्य संतुष्ट नहीं हो सकता।

इस प्रक्रिया में एक खतरा तो यह है कि मनुष्य अन्तरंग की खोज पर ही संतुष्ट हो जाये और निवृत्ति पर विराम लगा ले। किन्तु दूसरा खतरा यह भी है कि

अन्तरंग की खोज कोई ऐसा विकृत तथा खतरनाक मोड़ ले ले जिसका भयंकर परिणाम हो। इन खतरों से बचने के लिए प्रथम तो यह ध्यान में रखना होगा कि हमारे अहंकार से भी ऊपर एक उच्चतर स्तर है और दूसरे हम अकेले नहीं हैं, बल्कि रहस्यात्मक ढंग से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन दो तथ्यों की उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि मनुष्य में एक जातीय अहंकार उत्पन्न हो जाता है, जिसे समाज या राष्ट्र अपनी वास्तविक अस्मिता समझ लेता है और दूसरे समाज या राष्ट्रों पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की आसुरी या राक्षसी प्रवृत्ति प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी में दिखाई दी थी जिसने दूसरे राष्ट्रों को दबाना चाहा था। यह मिथ्या राष्ट्रवाद का उदाहरण है, जिससे राष्ट्रों को बचना चाहिए। यह वस्तुतः जर्मनी का गलत ढंग का बलप्रयोग था। किन्तु बल के ऊपर मन है। मन की शक्ति और भी अधिक है किन्तु उसका परिणाम युद्ध न होकर स्वतन्त्रता होना चाहिए। इस मानसिक व्यक्तिनिष्ठता के बाद अध्यात्म का स्थान आता है जब हम समाज के वास्तविक स्वरूप को समझकर बाहरी जीवन में उसका उपयोग कर सकते हैं।

---

1. It is the unpreparedness, the unfitness of the society or of the common mind of man which is always the chief stumbling-block. It is the readiness of this common mind which is of the first importance. —*The Human Cycle, p*. 248

2. Must be the growth of the subjective idea of life,—the idea of the soul, the inner being, its powers, its possibilities, its growth, its expression and the creation of a true, beautiful and helpful environment for it as the one thing of first and last importance. The signals must be there that are precursors of a subjective age in humanity's thought and social endeavour. —*ibid., p.* 248

3. These ideas are likely first to declare their trend in philosophy, in psychological thinking, in the arts, poetry, painting, sculpture, music, in the main idea of ethics, in the application of subjective principles by thinkers to social questions, even perhaps, though this is a perilous effort, to politics and economics, that hard refractory earthy matter which most resists all but a gross utilitarian treatment. There will be new unexpected departures of science or at least of research,—since to such a turn in its most fruitful seekings the orthodox still deny the name of science. Discoveries will be made that thin the walls between soul and matter; attempts there will be to extend exact knowledge into the psychological and psychic realms with a realization of the truth that these have laws of their own which are other than the physical, but not the less laws because they escape the external senses and are infinitely plastic and subtle. There will be a labour of religion to reject its past heavy weight of dead matter and revivify its strength in the fountains of the spirit. These are sure signs, if not of the thing to be, at least of a great possibility of it, of an effort that will surely be made, another endeavour perhaps with a larger sweep and a better equipped intelligence capable not only of feeling but of understanding the Truth that is demanding to be heard. —*ibid., p.* 248-249

4. *ibid.,* p.61-62

मार्क्सवाद एवं श्री अरविन्द

पिछले सौ वर्षों में समाज के क्षेत्र में कार्लमार्क्स का चिन्तन महत्त्वपूर्ण रहा है। इसलिए समाज पर विचार करते समय यह जानना उपयोगी होगा कि कार्लमार्क्स के बारे में श्री अरविन्द क्या कहते है। कार्लमार्क्स का चिन्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधृत है। द्वन्द्वात्मक का यह विचार मार्क्स ने हीगल से लिया किन्तु यह अन्तर है कि हीगल ने जहाँ द्वन्द्वात्मकता का आधार विचार को माना वहाँ कार्लमार्क्स ने पदार्थ को आधार बनाया। संक्षेप में द्वन्द्वात्मकता का यह अर्थ है कि जब कोई स्थिति आती है तब उस स्थिति में से ही उसके विपरीत स्थिति भी पैदा हो जाती है। तब इन दो स्थितियों का संश्लेषण होता है और वह संश्लेषण फिर एक वाद बन जाता है। उस वाद का भी प्रतिवाद होता है और वाद तथा प्रतिवाद का पुनः संश्लेषण होता जाता है और एक नया वाद खड़ा हो जाता है। यही विकास का क्रम है।

मार्क्स के अनुसार वाद-प्रतिवाद का आधार मुख्यतः आर्थिक है। इस आर्थिक आधार पर ही समाज का स्वरूप निर्धारित होता है। मार्क्स का मानना है कि इस द्वन्द्वात्मकता से वर्ग-संघर्ष जन्म लेता है। आर्थिक आधार पर दो वर्ग बन जाते है—एक वे जो सम्पन्न होते है और दूसरे वे जो विपन्न होते है। सम्पन्न वर्ग विपन्न वर्गों को साधन बनाकर उत्पादन के लिए उपयोग में लाता है। इस प्रक्रिया में विपन्न वर्ग जितना उत्पादन करता है उसके लाभ का केवल थोड़ा सा ही अंश उसे मिल पाता है; शेष बहुत बड़ा अंश सम्पन्न वर्ग को मिल जाता है। यह स्थिति पूंजीवाद को जन्म देती है। मार्क्स का मानना था कि विपन्न वर्ग वर्तमान में उत्पादन के साधनों को प्राप्त करके पूंजीवाद के विरुद्ध खड़े होने की स्थिति

में हैं। इस बात को लेकर मार्क्स ने विपन्न वर्ग को पूंजीवाद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया जिसके आधार पर रूस की क्रांति जैसे घटनाचक्र हमारे सामने आये। कार्लमार्क्स का यह भी मानना था कि विपन्न वर्ग प्रतिक्रिया में सम्पन्न वर्ग को उत्पीड़ित या शोषित भी कर सकता है। किन्तु अन्ततोगत्वा यह वर्गभेद समाप्त हो जायेगा और उत्पादन जनसामान्य की सम्पत्ति बन जायेगा। ऐसी स्थिति में एक समय साम्यवाद का ऐसा होगा जिसमें राजनैतिक संस्था की भी आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि राजनैतिक संस्था एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को दबाने के लिए ही होती है।

मार्क्सवाद के उपर्युक्त सिद्धांत की आलोचना होती रही है। आलोचना का प्रथम बिन्दु तो यह है कि पदार्थ में न सक्रियता होती है और न तर्कशक्ति। इसलिए वह द्वन्द्वात्मकता पैदा नहीं कर सकता। जिस स्वतंत्रता की कल्पना मार्क्स ने की है, वह मानसिक प्रयत्न का ही फल हो सकती है न कि भौतिक द्वन्द्व का। इसका यह अर्थ है कि समाज की स्थिति केवल आर्थिक कारणों पर निर्भर नहीं करती भौतिक शक्ति के साथ मानसिक शक्ति भी विकास में सहायक होती है। श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य की प्रकृति जटिल है और किसी एक आयाम के आधार पर उसके सम्बन्ध में निर्णय नहीं लिया जा सकता।[1]

श्री अरविन्द यह स्वीकार करते है कि आर्थिक कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु केवल वे ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। वर्तमान समय में उपभोक्तावाद मुख्य हो गया है किन्तु सदा ही ऐसा नहीं था। प्राचीन समय में धनवान् होने पर भी आर्थिक रूप से सम्पन्न वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय की अपेक्षा हीन माना जाता था। आज परिस्थिति बदल गई है, संस्कृति गौण हो गई है, शिक्षा का उद्देश्य अर्थोपार्जन हो गया है। इन सब कारणों से विज्ञान और तकनीक मुख्य हो गये है। साहित्य की अपेक्षा समाचार पत्र मुख्य हो गए।[2] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि कार्लमार्क्स का विश्लेषण वर्तमान युग के लिए बहुत कुछ सटीक है किन्तु हर समय समाज के विकास का आधार केवल आर्थिक नहीं रहा है। उदाहरणतः इंग्लैण्ड में छठी शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक उत्पादन के साधनों में कोई विशेष अन्तर नहीं

आया किन्तु फिर भी वहाँ इस कालखण्ड में सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

यह भी सत्य नहीं है कि वर्गों का संघर्ष केवल आर्थिक आधार पर होता है। उदाहरणतः भारत और पाकिस्तान का संघर्ष इस कारण नहीं है कि उनमें कोई एक राष्ट्र सम्पन्न है और दूसरा विपन्न है। चार वर्णों का विभाजन भी आर्थिक आधार पर नहीं है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि संघर्ष ही एकमात्र निर्णायक तथ्य है, समाज में संघर्ष के साथ-साथ परस्पर सहयोग भी रहता है।[3]

वस्तुतः संघर्ष दो वर्गों के बीच ही नहीं होता व्यक्ति और समाज के बीच भी होता है। किन्तु कार्लमार्क्स ने इस संघर्ष का उल्लेख नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि में उत्पादन महत्त्वपूर्ण है और उत्पादन सामूहिक होता है, न कि वैयक्तिक। व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष की बात हम पहले कर चुके हैं।[4]

मार्क्स का यह विचार भी पूर्णतया सत्य नहीं है कि सम्पन्न वर्ग के सदस्य एक साथ और विपन्न वर्ग के सदस्य एक साथ जुड़े रहते हैं। सम्पन्नवर्ग के सदस्यों में भी प्रतिस्पर्द्धा होती है और विपन्न वर्ग के सदस्यों में भी प्रतिस्पर्द्धा होती है, जिसके कारण एक वर्ग ही दूसरे वर्ग से संघर्ष नहीं करता अपितु एक वर्ग के सदस्य भी परस्पर संघर्षरत रहते हैं। श्री अरविन्द का यह कहना भी है कि कार्लमार्क्स का संसार के सब मजदूरों को एक होने का संदेश भी पूरी तरह सफल नहीं हो सकता क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना एक राष्ट्र के मजदूरों को दूसरे राष्ट्र के मजदूरों से टकराव करवा देती है। उदाहरणतः हिन्दुस्तान और चीन के मजदूरों के बीच अन्ताराष्ट्रीयता की भावना से एकता के स्थान पर राष्ट्रीयता की भावना के कारण टकराव ही पैदा होता है।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद का आधार वर्ग-संघर्ष भी पूरी तरह त्रुटिरहित नहीं है। समाजवाद की स्थापना हो जाने पर भी रूस और जर्मन में जो संघर्ष चलता रहा वह सम्पन्न और विपन्न के बीच का संघर्ष नहीं था। वस्तुतः शोषण मनुष्य की प्रकृति का हिस्सा है, जिसका आधार अहंकार है। यह

अहंकार जाति, धर्म या राष्ट्र का भी हो सकता है। इस अहंकार के कारण न्याय और ईमानदारी का उल्लंघन होता रहता है। मार्क्स का मानना था कि पूंजीवाद के समाप्त हो जाने पर उत्पादन का समान वितरण हो जायेगा तथा गरीब और अमीर के बीच भेद नहीं रहेगा और शोषण भी नहीं होगा। इस मान्यता के पीछे यह विचार है कि मनुष्य व्यवस्था बदलने पर बदल जाता है। व्यवस्था मनुष्य के ऊपर अपना प्रभाव अवश्य दिखलाती है किन्तु मनःस्थिति भी महत्त्वपूर्ण है, जो केवल व्यवस्था के बदलने से नहीं बदल जाती। इस सारी आलोचना का सारांश यह है कि कार्लमार्क्स ने अपने विवेचन का आधार एकान्तिक दृष्टिकोण बनाया है। कार्लमार्क्स के अनुयायियों को भी अन्ततोगत्वा यह पता चल गया था कि व्यवस्था बदलने के साथ-साथ मनुष्य के स्वभाव को बदलना भी आवश्यक है। श्री अरविन्द का मानना है कि चेतना का उच्चतम स्तर आध्यात्मिक है और जब तक अध्यात्म जीवन का संचालन नहीं करेगा, समाज में पूर्णता नहीं आयेगी। वस्तुतः समाजवाद और पूंजीवाद दोनों में ही अर्थ को जीवन का मूल प्रेरक मान लिया गया है, अन्तर केवल इतना है कि समाजवाद में अर्थ का नियन्त्रण पूंजीपति के हाथ में न रहकर मजदूर के हाथ में आ जाता है।[6]

मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सत्य सिद्ध नहीं हुई कि संसार के सभी छोटे व्यापारी दुकानदार और किसान एक हो जायेंगे। गरीब लोगों के स्थान पर आज मध्यम वर्ग उभर कर आया है जिसमें व्यापारी, वेतनभोगी और प्रशासक तथा तकनीकी विशेषज्ञ जुड़े हुए है। कालमार्क्स ने इस वर्ग को कोई महत्त्व नहीं दिया।

श्री अरविन्द मार्क्स के सिद्धान्त में उपर्युक्त दोष निकालने के बावजूद उन सिद्धान्तों की सापेक्ष उपयोगिता भी स्वीकार करते है क्योंकि उनका कहना है कि कोई सिद्धान्त गलत या अधूरा होने पर भी अपने समय में व्यावहारिक और उपयोगी हो सकता है। उदाहरणतः विज्ञान में पुराने सिद्धान्त गलत सिद्ध हो जाते हैं किन्तु फिर भी वे अपने समय में उपयोगी रहते हैं।[7]

मार्क्स के सिद्धान्त ने भी अपने समय में मनुष्य जाति की प्रगति में योगदान दिया और १९१७ में रूस की क्रान्ति को प्रेरणा दी। यह रूसी क्रान्ति फ्रान्स की क्रान्ति के समान ही महत्त्वपूर्ण थी। अभिप्राय यह है कि सिद्धान्ततः मार्क्स गलत था

लेकिन व्यवहार में उसने एक उपयोगी कार्य किया। यूरोप में जो उद्योगीकरण के कारण पूंजीवाद आया था वह मजदूरों के लिए भयंकर रूप से अमानवीय सिद्ध हो रहा था। मार्क्सवाद ने उसे रोका। अनेक स्थानों पर ट्रेड यूनियन बनीं, मजदूरों के संघ बने और समाज कल्याण का उद्देश्य लेकर सरकारें स्थापित हुईं। इसीलिये किसी सिद्धान्त के गलत होने पर भी अपने समय में कोई सिद्धान्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उदाहरणतः यूरोप में निरकुंश राजतन्त्र था जिसे ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु उसी राजतन्त्र के द्वारा अनेक राष्ट्रों का निर्माण हुआ क्योंकि वह अपने समय की एक आवश्यकता की पूर्ति कर रहा था।[8]

इतना अवश्य है कि यदि कोई व्यवस्था कालातीत हो जाती है तो उसे चलाये रखने का प्रयत्न असफल होता है।[9] क्योंकि किसी एक कार्य के लिए जो साधन उपयुक्त होता है वही दूसरे कार्य के लिए बदली हुई परिस्थितियों में बाधक बन जाता है।[10]

उद्योगीकरण के कारण मजदूरों की जो दुर्दशा यूरोप में हो गई थी उसके लिए यह आवश्यक था कि एक कठोर कदम उठाया जाये। मार्क्स ने इस आवश्यकता की पूर्ति की किन्तु क्योंकि उनका सिद्धान्त इतिहास की गलत व्याख्या पर टिका हुआ था इसलिये बाद में उसने अपनी उपयोगिता खो दी।

---

1. To read an economic cause, conscious or unconscious, into all phenomena of man's history is part of the Bolshevik gospel born of the fallacy of Karl Marx. Man's nature is not so simple and one-chorded as all that—it has many lines and each line produces a need of his life. —*Letters on Yoga—I, p.* 328-329

2. Everything now is changed. The phenomenon of modern social development is the decline of the Brahmin and Kshatriya, of the Church, the military aristocracy and the aristocracy of letters and culture, and the rise to power or predominance of the commercial and industrial classes, Vaishya and Shudra,Capital and Labour. Together they have swallowed up or cast out their rivals and are now engaged in a fratricidal conflict for sole possession in which the completion of the downward force of social gravitation, the ultimate triumph of Labour and the remodelling of all social conceptions and institutions with Labour as the first, the most dignified term which will give its value to all others seem to be the visible writing of Fate. At present, however, it is the Vaishya who still predominates and his stamp on the world is commercialism, the predominance of the economic man, the universality of the commercial value or the utilitarian and materially efficient and productive value for everything in human life. Even in the outlook on knowledge, thought, science, art, poetry and religion the economic conception of life overrides all others. —*The Ideal of Human Unity, p.* 486

3. Human life is moved by two equally powerful impulses, one of individualistic self-assertion, the other of collective self-assertion; it works by strife, but also by mutual assistance and united effort: it uses two diverse convergent forms of action, two motives which seem to be contradictory but are in fact always coexistent, competitive endeavour and cooperative endeavour. It is from this character of the dynamism of life that the whole structure of human society has come into being, and it is upon the sustained and vigorous action of this dynamism that the continuance, energy and growth of all human societies depends. —*The Human Cycle, p.*157

4. In the conflict of the claims of society with the claims of the individual two ideal and absolute solutions confront one another. There is the demand of the group that the individual should subordinate himself more or less completely or even lose his independent existence in the community,—the smaller must be immolated or self-offered to the larger unit. He must

accept the need of the society as his own need, the desire of the society as his own desire; he must live not for himself but for the tribe, clan, commune or nation of which he is amember. The ideal and absolute solution from the individual's standpoint would be a society that existed not for itself, for its all-overriding collective purpose, but for the good of the individual and his fulfilment, for the greater and more perfect life of all its members. —*The Synthesis of Yoga, p.* 195

5. Internationalism was recently put to the test, the fiery test of the European war, and thus tried, it was found sadly wanting. In every country, the Socialist party shed its internationalist promise with the greatest ease and lightness, German socialism, the protagonist of the idea, massively leading the way in this formidable abjuration. It is true that a small minority in each country either remained heroically faithful to its principles or soon returned to them, and as the general weariness of the great international massacre grew, even the majority showed a sensible turn in the same direction; but this was rather the fruit of circumstance than of principle. Russian socialism, it may be said, has, at least in its extremer form, shown a stronger root of internationalistic feeling. But what it has actually attempted to accomplish is a development of Labour rule on the basis of a purified nationalism, non-aggressive except for revolutionary purposes and self-contained, and not on the larger international idea. In any case, the actual results of the Russian attempt show only up to the present a failure of the idea to acquire the vital strength and efficiency which would justify it to life; it is possible to use them much more as a telling argument against internationalism than as a justification of its truth or at least of its applicability in the present stage of human progress. —*The Ideal of Human Unity, p.* 551-552

6. It intends indeed to substitute Labour as the master instead of Capital; but this only means that all activities will be valued by the labour contributed and work produced rather than by the wealth contribution and production. It will be a change from one side of economism to the other, but not a change from economism

to the domination of some other and higher motive of human life. —*The Ideal of Human Unity, p.* 488-489

7. A theory may be wrong or at least one-sided and imperfect and yet extremely practical and useful. That has been amply shown by the history of science. In fact a theory whether philosophical or scientific is nothing else than a support for the mind, a practical device to help it to deal with its object, a staff to uphold it and make it walk more confidently and get along on its difficult journey. —*Letters on Yoga II p.* 454

8. *The Ideal of Human Unity, p.* 378

9. But all this powerful structure and closely-knit order of things was doomed by its very triumph and predestined to come down either with a crash or by a more or less unwilling gradual abdication before new necessities and agencies. It was tolerated and supported so long as the nation felt consciously or subconsciously its need and justification; once that was fulfilled and ceased, there came inevitably the old questioning which, now grown fully self-conscious, could no longer be suppressed or permanently resisted. —*The Ideal of Human Unity, p.* 381-382

10. An instrument good for a certain work and set of conditions, if it is still retained when other work has to be done and conditions change, becomes necessarily an obstacle. —*The Ideal of Human Unity, p.* 377

अध्यात्म साधना और सामाजिक रूपांतरण

श्री अरविन्द अपने जीवन के अंतिम तीस वर्षों में सक्रिय कार्यक्षेत्र से निवृत हो गये और अंतिम बीस वर्षों में केवल वर्ष में तीन या चार बार दर्शन देने के अतिरिक्त किसी प्रकार का किसी से जनसम्पर्क नहीं रखा। यह उनके एकान्तवास का समय था। यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या उन्होंने सक्रिय कार्यक्षेत्र को छोड़कर एकान्त जीवन का चयन अपने व्यक्तिगत मोक्ष के लिए किया और समाज की चिन्ता छोड़ दी? यदि ऐसा है तो उसका यह अर्थ होगा कि अध्यात्म का चरम लक्ष्य निज की मुक्ति है और इसलिए आध्यात्मिक व्यक्ति का समाज के लिए कोई योगदान नहीं होता। ऐसी मान्यता श्री अरविन्द के समय में अनेक व्यक्तियों में प्रचलित थी और आज भी कुछ लोगों में प्रचलित है। प्रश्न यह है कि आत्मा संसार में सक्रिय रहती है या वह केवल दूसरी दुनिया से सम्बद्ध है और उसका पार्थिव जीवन से कोई संबंध नहीं है। वर्तमान समय में अधिकतर बुद्धिजीवी ईश्वर या आत्मा में या तो विश्वास ही नहीं करते या यह मानते है कि उनकी संसार में कोई सक्रिय भागीदारी नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि श्री अरविन्द ने एकान्त सेवन के समय भी समाज के रूपांतरण के लिए पूरा पुरुषार्थ किया किन्तु उसकी विधि वह नहीं थी जो सामान्यतः समझी जाती है; सामान्यतः यह समझा जाता है कि सामाजिक कार्य करने वाले को अधिक से अधिक लोगों से सम्पर्क बनाये रखना चाहिए और उनके बीच विचार-विमर्श से परिवर्तन लाना चाहिए, यदि आवश्यक हो तो इसके लिए कोई जन आंदोलन भी चलाया जा सकता है। अनेक समाज सुधारकों ने यह सब किया भी किन्तु श्री अरविन्द का तरीका दूसरा था।

श्री अरविन्द ने पाया कि चेतना का एक ठोस वास्तविक अनुभव है। जैसे ही व्यक्तित्व वैश्विक बनता है उसकी प्रकृति भी वैश्विक हो जाती है। वह परिस्थिति को सीधा देख सकता है और विश्व की गति को प्रभावित करके उसे अनुकूल दिशा दे सकता है। वह वैश्विक शक्तियों को रहस्यात्मक ढंग से सर्वोत्तम प्रयोजन के लिए प्रयुक्त कर सकता है। स्पष्ट है कि उसके ऐसा करने की शक्ति असीम होती है न कि व्यक्तिगत क्षमता की सीमा के कारण सङ्कीर्ण एवं परिमित।

आधुनिक मनोविज्ञान ने अवचेतन की चर्चा की है जो सतही स्तर की अपेक्षा बहुत अधिक बलशाली है। किन्तु अध्यात्म में जिस सूक्ष्म और वैश्विक स्तर की चर्चा है वह वस्तुतः उससे भी अधिक ऊँचा और गहरा विश्वोत्तीर्ण अतिमानस चेतना तक जा सकता है। उसी के आधार पर ही सतही और सूक्ष्म स्तर भी टिका हुआ है। इस विश्वोत्तीर्ण अतिमानसिक चेतना को हम कभी-कभी ईश्वर कह देते हैं। इस स्थिति में हम अनन्त प्रकाश और शक्ति के सम्पर्क में आते हैं। उस समय कार्य करने के लिए बाहरी साधनों की आवश्यकता कम से कम होती चली जाती है; हम आंतरिक आध्यात्मिक साधनों से ही विश्व की गतिविधि का संचालन करने लगते हैं। उसके लिए किसी संस्था, प्रचार, मंच या प्रेस की आवश्यकता नहीं होती और न लोगों से सम्पर्क करने की आवश्यकता होती है। लगता ऐसा है कि व्यक्ति संसार से उदासीन हो गया है किन्तु वह अपने ढंग से और भी अधिक सक्रिय हो जाता है और समाज को तथा संसार को प्रभावित करता है।

अध्यात्मवादियों को एक भिन्न प्रकार की शक्ति का भिन्न प्रकार से उपयोग करना होगा। इसके लिए हमें आध्यात्मिक मनोविज्ञान को समझना होगा जिसका कुछ संकेत हम मनोविज्ञान की चर्चा करते समय दे चुके है। संक्षेप में यदि हम अपने अंदर गहराइयों में छिपी हुई असाधारण शक्ति को प्रयोग में लायें तो पता चलेगा कि वह शक्ति सतही तौर पर प्रतीत होने वाली चेतना से सर्वथा भिन्न है। आधुनिक मनोविज्ञान भी अवचेतन मन के रूप में सतही मन की अपेक्षा एक भिन्न स्तर की स्थिति मानता है जो अधिक शक्तिशाली है किन्तु उसकी यह शक्ति स्थूल और अंधी है। उनके अनुसार अवचेतन मन का प्रभाव अनिष्ट और भयावह है। इस मान्यता के कारण आज का मनुष्य अवचेतन मन की शक्तियों का उपयोग

करने से कतराता है और यह मानता है कि मनुष्य को बहिर्मुख और वस्तुनिष्ठ ही होना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि हम अपने अन्तस्तम में कोई गहरी खोज नहीं कर पा रहे है। जबकि हम यह मानते है कि सतही चेतना हमारे पूरे अस्तित्व का एक बहुत छोटा भाग है। सच्चाई यह है कि यदि हम अवचेतन मन से भी आगे और ऊँचा जाये तो हमें चेतना का अधिक सूक्ष्म और प्रकाशित रूप प्राप्त होगा। उस स्तर पर हमारी शक्ति स्वतंत्र, लचीली और प्रामाणिक होगी। वस्तुस्थिति यह है कि अपने अन्तस्तम स्तर पर हम केवल प्रामाणिक ज्ञान ही प्राप्त नहीं करते बल्कि यह सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेते है कि सांसारिक कार्यों में प्रभावशाली ढंग से सीधा अपना योगदान दे सकें। हम दूसरे व्यक्तियों से चेतना के स्तर पर संपर्क बना सकते हैं उस समय यह आवश्यक नहीं है कि हम बाहरी ज्ञान और कर्म का ही उपयोग करें, क्योंकि चेतना का आन्तरिक स्तर पर किया गया कार्य अधिक कारगर सिद्ध होता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आध्यात्मिक व्यक्ति दूसरा प्रचार-प्रसार का मार्ग अपनावे ही नहीं। किन्तु इतना अवश्य है कि वह सामाजिक कार्य में आने वाली कठिनाइयों से हतोत्साहित नहीं होता। जो मजहब और आचार का आधार लेकर कुछ करना चाहते हैं उनके पास ऐसी अपरिमित शक्ति नहीं रहती। उनके मन में सहानुभूति अवश्य होती है किन्तु आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती। आध्यात्मिक व्यक्ति ही अधिनायकवादी दमन की प्रवृत्ति का सामना कर सकता है क्योंकि दमन की शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति कहीं अधिक बलवती होती है। आध्यात्मिक व्यक्ति का कार्य प्रत्यक्षगोचर न होने पर भी अधिक गहरा होता है।

श्री अरविन्द ने जो अतिमानस के अवतरण का कार्य अपने ऊपर लिया उसके लिए कोई बाह्य प्रचार-प्रसार प्रभावशाली भी नहीं हो सकता था। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी संक्षिप्त रूपरेखा पुनः दे देना लाभदायक होगा क्योंकि उस कार्य के बिना शेष सभी उपक्रम अधिक सफल नहीं हो सकते।

अतिमानस चेतना को तर्क द्वारा समझना सरल नहीं है[1]। वस्तुतः तर्क और विचार सान्त की चेतना पर चलते हैं, जबकि अतिमानस प्रकृति स्वभाव से ही अनन्त है। अतिमानस प्रकृति प्रत्येक चीज को, चाहे वो कितनी भी विविध क्यों न हो,

एकात्मकता की दृष्टि से देखती है और मन को जो विरोधी लगता है उसमें भी एकता तथा सामञ्जस्य देख पाती है, जबकि मानसिक प्रकृति प्रारम्भ से ही चीजों को विभक्त करके देखती है और फिर उन्हें जोड़ कर एकत्व में लाती है, अर्थात् उसका एकत्व भी अनेकता से प्रारम्भ होता है। किन्तु अतिमानस प्रकृति में एकता मौलिक है जिसमें अध्यात्म की ऐसी दृष्टि रहती है जो सत्य के आर-पार देख लेती है। उसमें विचार नहीं अपितु वास्तविकता मुख्य होती है। वह शान्त, सहज और लचीली होती है। वह सर्वत्र चेतना का दर्शन करती है।[2]

मानस और अतिमानस में यह भेद होने पर भी दोनों परस्पर नितान्त विजातीय नहीं हैं क्योंकि अतिमानस की चित् शक्ति ही मन को भी जन्म देती है क्योंकि वह तो मन सहित सभी को जन्म देती है। इसका यह अर्थ है कि मन में अतिमन की शक्ति छुपी हुई है और यह पुरुषार्थ द्वारा उसे प्रकट कर सकता है। वस्तुतः अतिमन के आने से पहले विकास के क्रम में सभी सोपानों में अपने से पूर्ववर्ती स्तर को रूपांतरित किया जाता है। किन्तु वे पूर्णतया सफल नहीं हो पाये। पूर्ण सफलता अतिमानस को ही मिलेगी क्योंकि उसकी शक्ति अनन्त है। किन्तु यह भी सत्य है कि अतिमन सदा अपनी पूर्णशक्ति का उपयोग नहीं करता। ऐसा वह स्वेच्छा से करता है न कि किसी अन्य के दबाव से। ऐसा भी नहीं है कि अतिमन के प्रकट हो जाने पर विकास का क्रम समाप्त हो जायेगा किन्तु वह विकास अज्ञान से ज्ञान की ओर न होकर ज्ञान से ज्ञान की ओर होगा।

जहाँ तक श्री अरविन्द का प्रश्न है, उनका सारा पुरुषार्थ अपने लिए न होकर पूरी मानव जाति के लिए था। वे अतिमन का मार्ग प्रशस्त करने में लगे थे किन्तु उस तक स्वयं पहुंचने के लिए तो सबको व्यक्तिगत स्तर पर पुरुषार्थ करना ही होगा। और ऐसा नहीं है कि सभी को अतिमानस उपलब्ध हो जाये। श्री अरविन्द मानते हैं कि अतिमानस का अवतरण स्वतः तो नहीं होगा किन्तु होगा अवश्य, क्योंकि विकास का क्रम ऐसी ही सूचना देता है। इतना अवश्य है कि श्री अरविन्द का प्रयत्न किसी चमत्कार के द्वारा सफल नहीं होने वाला है अपितु एक विधिवत् पुरुषार्थ द्वारा पूरा होगा जिसका विवरण उन्होंने अपने पूर्ण योग में दिया है।

1. In the gnostic change the evolution crosses a line beyond which there is a supreme and radical reversal of consciousness and the standards and forms of mental cognition are no longer sufficient: it is difficult for mental thought to understand or describe supramental nature.—*The Life Divine, p.* 1000

2. *The Life Divine, p*. 1000-1001

श्री अरविन्द का योगदान

श्री अरविन्द ने एक नया मोड़ दिया और आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग विश्व के घटनाचक्र को प्रभावित करने के लिए किया। धर्म का प्रचार करने वाले आत्मा के साथ सीधे सम्पर्क में नहीं आते और सतही स्तर पर ही कुछ काम कर पाते हैं। उनका मन निर्मल होता है किन्तु उनमें आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती। उसके लिए आत्मा को छुपे हुए अंशों तक जाना होता है। मनुष्य जाति के सामने जो अधिनायक चुनौती प्रस्तुत करते हैं उसका सामना इस आध्यात्मिक शक्ति से ही किया जा सकता है। इस सामने में आध्यात्मिक शक्ति अनन्त होने के कारण सान्त आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय पा जाती है। सभी आसुरी शक्तियाँ चाहे वे कितनी भी बड़ी हो आध्यात्मिक शक्ति का सामना नहीं कर सकती। आध्यात्मिक शक्ति ऊपरी तौर पर कुछ भी करती हुई दिखाई नहीं देती, लेकिन वस्तुतः बहुत अधिक कर देती है।

श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग मानव जाति के भावी विकास के लिए करने का बीड़ा उठाया। इस सम्बन्ध में तो सब एकमत है कि अतीत में जो विकास पदार्थ से प्राण और प्राण से मन का हुआ वह विलक्षण है। किन्तु इस संबंध में गलती से यह भी मान लिया गया कि वह विकास पूर्ण हो गया है और अब भविष्य में कोई विकास होने वाला नहीं है। एक तरह से ऐसा कोई विकास असंभव ही मान लिया गया है। किन्तु अतीत की विकास की स्थितियाँ भी किसी समय अंसभव ही प्रतीत हुई होंगी। श्री अरविन्द ने बल देकर यह प्रतिपादित किया कि विकास का यह क्रम अभी पूरा नहीं हुआ है इसलिए भविष्य में भी विकास होने वाला है। उसी विकास के लिए श्री अरविन्द ने अपने जीवन

में आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किया और शरीर छोड़ने के बाद भी सूक्ष्म रूप में वे उस शक्ति का प्रयोग विकास के लिए कर रहे हैं।

अध्यात्मवादी भी श्री अरविन्द की इस मान्यता को सरलता से स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। उनके अनुसार जो प्राचीन सत्य है उन्हीं को अधिक से अधिक क्रियान्वित करना विकास का मार्ग है। श्री अरविन्द का कहना है कि उन प्राचीन सत्यों ने अपना कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढँग से किया किन्तु फिर भी जीवन का दैवीकरण नहीं हो पाया है। वस्तुतः पुराने समय में अध्यात्मवादियों ने व्यक्तिगत मोक्ष को ही अपना लक्ष्य बना लिया और सामूहिक रूपान्तरण की संभावना का कोई उल्लेख नहीं किया।

प्रश्न होता है कि अतिमन की स्थिति मानसिक और मन पर आधारित आध्यात्मिक चेतना से किस प्रकार भिन्न है? इस प्रश्न का उत्तर देना इसलिए कठिन हो जाता है कि तार्किक मन अतिमन की चेतना को नहीं समझ पाता क्योंकि वह बिलकुल भिन्न प्रकार की चेतना है। जिसे आज तक अध्यात्म कहते रहे हैं, वह उस चेतना से भी भिन्न है। हम केवल अतिमानस प्रकृति का परोक्ष ज्ञान ही कर सकते हैं और उस आधार पर कुछ निर्णय लिये जा सकते हैं जो इस प्रकार है—

> Mental nature and mental thought are based on a consciousness of the finite; supramental nature is in its very grain a consciousness and power of the Infinite. Supramental Nature sees everything from the standpoint of oneness and regards all things, even the greatest multiplicity and diversity, even what are to the mind the strongest contradictions, in the light of that oneness; its will, ideas, feelings, sense are made of the stuff of oneness, its actions proceed upon that basis. Mental Nature, on the contrary, thinks, sees, wills, feels, senses with division as a starting-point and has only a constructed understanding of unity; even when it experiences oneness; it has to act from the oneness on a basis of limitation and difference.

> But the supramental, the divine life is a life of essential, spontaneous and inherent unity....For the mind acts by intellectual rule or device or by reasoned choice of will or by mental impulse or in obedience to life impulse; but supramental nature does not act by mental idea or rule or in subjection to any inferior impulse: each of its steps is dictated by an innate spiritual vision, a comprehensive and exact penetration into the truth of all and the truth of each thing; it acts always according to inherent reality, not by the mental idea, not according to an imposed law of conduct or a constructive thought or perceptive contrivance. Its movement is calm, self-possessed, spontaneous, plastic; it arises naturally and inevitably out of a harmonic identity of the truth which is felt in the very substance of the conscious being, a spiritual substance which is universal and therefore intimately one with all that is included in its cognition of existence.
> —*The Life Divine, pg* 1000-1001

वस्तुतः मन और अतिमन के बीच यह संबंध है कि अतिमन से सृष्टि की रचना हुई तो उससे ही मन भी बना—**यन्मनसा न मनुते येन आहुर्मनो मतम्**—और इसीलिए यह मन अपना अतिक्रमण करके अतिमन तक पहुँचने में सहायक हो सकता है। जब अतिमन पृथ्वी पर स्थापित हो जाता है तो वह पृथ्वी की प्रकृति को रूपातंरित कर देता है। पहले के विकास के क्रम में भी यह प्रयत्न हुआ था किन्तु सफलता नहीं मिली क्योंकि आध्यात्मिक शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं हो पाया था। जड और अज्ञान की पकड़ तो पर्याप्त कम हुई किन्तु पूरा रूपातंरण नहीं हो पाया। वस्तुतः जड की अंधी शक्ति बहुत अधिक थी जबकि मन की और मनोमय अध्यात्म की शक्ति बहुत कम थी। अतिमन की सत् शक्ति यह कार्य करने में समर्थ है। इतना अवश्य है कि अतिमन भी स्वतंत्र है कि वह अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करे या न करे क्योंकि उस पर कोई बन्धन

लादा नहीं जा सकता। यह भी ध्यातत्व है कि अतिमन के साथ विकास का क्रम अवरुद्ध नहीं हो जायेगा किन्तु उसके बाद जो विकास होगा वह ज्ञानपूर्वक होगा, अज्ञानपूर्वक नहीं।

विशेष बात यह है कि श्री अरविन्द केवल दार्शनिक स्तर पर कुछ नहीं कह रहे है अपितु व्यावहारिक स्तर पर अतिमानस की स्थापना का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि आध्यात्मिक क्रियाकलाप या तो व्यर्थ होते हैं या उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। किन्तु श्री अरविन्द के प्रयास विज्ञान की तरह वास्तविक रूपातंरण लाने के हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि श्री अरविन्द स्वयं अतिमानव बनना चाहते हैं और अपने कुछ शिष्यों के अतिरिक्त उन्हें किसी और की चिन्ता नहीं है। वे वस्तुतः पार्थिव चेतना के लिए अतिमानस के द्वार खोलना चाहते हैं। ऐसा भी नहीं है कि उनके स्वयं के अतिमानसीकरण से सबका स्वयं ही अतिमानसीकरण हो जायेगा। विकास में ऐसा पहले भी नहीं हुआ। जब कुछ व्यक्ति नये स्तर तक पहुँच जाते है तब भी अधिकतर लोग पुराने ही स्तर पर बने रहते हैं। अभी भी सारा जगत् प्राणमय नहीं हो गया है और न सब प्राणी मनोमय हो गये हैं। श्री अरविन्द केवल अतिमन के लिए एक आधार बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। व्यक्ति को उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वयं तो प्रयत्न करना ही होगा। इसके अतिरिक्त अचेतन और अवचेतन के स्तर पर भी सहयोग चाहिएगा। इस सारी प्रक्रिया को श्री अरविन्द योग या साधना कहते है। इस सारी प्रक्रिया से औरों को भी लाभ होगा क्योंकि सभी प्रकार की मानवीय गतिविधियाँ नया मोड़ ले लेंगी। इस संबंध में श्री अरविन्द का कहना है कि—

> A dominant principle of harmony would impose itself on the life of the Ignorance; the discord, the blind seeking, the clash of struggle, the abnormal vicissitudes of exaggeration and depression and unsteady balance of the unseeing forces at work in their mixture and conflict, would feel the influence and yield place to a more orderly pace and harmonic steps of the development of being, a more revealing arrangement of progressing life and

> consciousness, a better life order. A freer play of intuition and sympathy and understanding would enter into human life, a clearer sense of the truth of self and things and a more enlightened dealing with the opportunities and difficulties of existence. Instead of a constant intermixed and confused struggle between the growth of Consciousness and the power of the Inconscience, between the forces of light and the forces of darkness, the evolution would become a graded progression from lesser light to greater light. —*The Life Divine, pg* 1004

इस उद्धरण के साथ अध्यात्म और समाज सम्बन्धी इस प्रकरण को हम यहीं विराम देते है।

राष्ट्रीयता और अन्ताराष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता और अन्ताराष्ट्रीयता : श्री अरविन्द की दृष्टि

श्री अरविन्द ने अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में भारत की स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय भाग लिया। उन्होंने अपने लेखों और भाषणों के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को जगाने का काम किया और ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सबसे खतरनाक व्यक्ति माना। इसका कारण यह था कि वे गरम दल में बाल गंगाधर तिलक, विपिन पाल और लाला लाजपतराय के साथ थे जो भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षधर थे जबकि उसी समय नरम दल के नेता यह मानते थे कि ब्रिटिश राज्य का भारत को न्याय के और शिक्षा के क्षेत्र में लाभ है और इसलिए भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उनका विश्वास आधा-अधूरा था और इसलिए वे ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत ही स्वायत्त सरकार की माँग कर रहे थे। उनका यह मत भी था कि भारतीय कमजोर हैं और उनमें परस्पर एकता नहीं है। इसलिए देश में शान्ति बनाये रखने के लिए और बाहरी आक्रमण से बचाव करने के लिए विदेशी सत्ता का बने रहना आवश्यक है।

एन. एन. घोष जैसे पत्रकारों का यह भी कहना था कि भारत में नस्लों, धर्मों और भाषाओं की इतनी विविधता है कि इसे एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में श्री अरविन्द ने यह तो प्रतिपादित किया ही कि भारतीय पूर्ण स्वतन्त्रता के अधिकारी हैं और साथ ही यह भी कहा कि धर्म या भाषा की एकता राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि रोमन साम्राज्य में एक भाषा और एक धर्म पैदा करने का प्रयत्न हुआ किन्तु फिर भी वह महान् राष्ट्र नहीं बन सका।

श्री अरविन्द का कहना था कि राष्ट्र के लिए भौगोलिक एकता, समान अतीत और सशक्त समान हित की भावना आवश्यक है। इनमें समान हित की भावना सबसे अधिक आवश्यक है। उनका मानना था कि भारत में यह उपलब्ध है।[1] इस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रीयता की आत्मा, नस्ल, धर्म और भाषा से भिन्न चीज है। यह हो सकता है कि यह आत्मा किन्हीं कारणों से कभी-कभी पूर्णतः अभिव्यक्त न हो सके किन्तु फिर भी बनी रहती है।

नरम-दल वाले गरम दल को अतिवादी मानते थे। इसके विरोध में श्री अरविन्द ने एक लेख लिखा कि उनका आन्दोलन बुरी सरकार के विरोध में नहीं अपितु विदेशी सरकार के विरोध में है। इसके लिए पूर्ण स्वतन्त्रता आवश्यक है। उन्होंने यह माना कि इसके लिए आधी अधूरी स्वायत्ता पर्याप्त नहीं है और भारत पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तैयार है।[2]

श्री अरविन्द के अनुसार के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ व्यक्तिगत, आध्यात्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता भी है। उन्होंने कहा कि राजनैतिक परतन्त्रता के रहते दूसरी स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी सम्भव नहीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा यदि जनता दुःखी हो तो योगी भी कैसे तटस्थ रह सकता है। वह सर्वभूतहित में रत होता है और इसलिए दुःखी लोगों के बीच साधना नहीं कर सकता। इसलिए राजनैतिक स्वतंत्रता आध्यात्मिक साधना के लिए आवश्यक है। यह सब उन्होंने उनके लिए कहा जो राजनैतिक-स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन हो सकते थे।[3]

श्री अरविन्द का मानना था कि भारत को दूसरे राष्ट्रों का मार्ग दर्शन करना है और इसके लिए स्वराज्य प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने लोकमान्य तिलक के साथ मिलकर विदेशी के बहिष्कार का आन्दोलन चलाया और स्वदेशी के उपयोग का समर्थन किया इसके साथ ही उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा पर भी एक पुस्तक लिखी। यह सब उनके स्वतन्त्रता आन्दोलन का भाग था।

नरम दल वाले गरम दल पर यह आरोप लगा रहे थे कि वे हिंसा का प्रतिपादन करते हैं। श्री अरविन्द का मानना था कि स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र विद्रोह भी

एक उपाय तो है किन्तु भारत के लिए असहयोग ही ज्यादा उपयुक्त है। सशस्त्र विद्रोह में कुछ लोग हिस्सा लेते हैं किन्तु शान्तिपूर्ण असहयोग में सबकी भागीदारी रहती है।[4]

श्री अरविन्द ने यह स्पष्ट किया कि वे कानून के प्रति पूरी निष्ठा रखते हैं क्योंकि कानून के बिना तो कोई भी राष्ट्र चल ही नहीं सकता। किन्तु कानून स्वयं राष्ट्र के द्वारा बनाया जाना चाहिये न कि विदेशियों द्वारा आरोपित किया जाना चाहिये। कानून का उद्देश्य जनता का कल्याण है।

जहाँ तक अहिंसा का प्रश्न है श्री अरविन्द गीता के इस सिद्धान्त से सहमत थे कि राग-द्वेष के बिना अधर्म के विरुद्ध युद्ध करना हिंसा नहीं है। महात्मा गाँधी शायद इससे सहमत नहीं थे। किन्तु स्वतन्त्र भारत में भी सुरक्षा के लिए सेना तो रखी ही जा रही है। सिद्धान्ततः श्री अरविन्द यह मानते थे कि अहिंसा का सिद्धान्त सर्वोत्तम है किन्तु उसका आधार आध्यात्मिक होना चाहिये।

जहाँ तक देशभक्ति का प्रश्न है सबको केवल अपने देश की भूमि के साथ-साथ देशवासियों से भी प्रेम करना चाहिये। इतना ही नहीं हमें उन सांस्कृतिक मूल्यों से भी प्रेम करना चाहिये जो पिछले पाँच हजार वर्षों से चले आ रहे हैं। भारत-माता स्वयं में एक शक्ति है। इसकी आत्मा अमर है। श्री किरीट जोशी ने देश के लिए शहीद होने वाले देशभक्तों की जीवनी को शिक्षा का अंग बनाने पर बल दिया है क्योंकि श्री अरविन्द मानते थे कि क्रान्तिकारी भी सही हैं और उन पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने हिंसा की या कानून का उल्लंघन किया।

इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने एक शिक्षा व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया। श्री अरविन्द का मानना था कि राष्ट्रीय शिक्षा में भारत की प्राचीन उपलब्धियों का विवरण तो रहना ही चाहिये किन्तु साथ ही आधुनिक विज्ञान का भी समावेश होना चाहिये। उन्होंने यह भी संकेत दिया कि पश्चिम स्वयं मार्गदर्शन के लिए भारत की ओर देख रहा है। इसलिए हमें अपनी परम्परा पर गर्व करना चाहिये। भारत की राष्ट्रीयता की यह विशेषता है कि वह सभी राष्ट्रों का सम्मान करना सिखाती है। इसका यह अर्थ है कि हमारी राष्ट्रीयता में अन्ताराष्ट्रीयता के बीज समाहित हैं।

वस्तुतः यदि हम वेद पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट दिखेगा कि वैदिक ऋषि की दृष्टि अन्ताराष्ट्रीय है। अथर्ववेद का भूमिसूक्त पूरी पृथ्वी की स्तुति करता है, न कि केवल भारत की। पुराणों में अन्ताराष्ट्रीयता की यह दृष्टि बनी तो रही किन्तु भारत के भू प्रदेश के प्रति आत्मीयता का भाव विशेष रूप से प्रकट हुआ। इस प्रकार वेद और पुराण मिलकर अन्ताराष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता के बीच ऐसा सामञ्जस्य प्रस्तुत करते हैं जो किसी राष्ट्र के इतिहास में नहीं मिलता। इस दृष्टि से यदि हम वैदिक वाङ्मय पर दृष्टिपात करें तो यह पायेंगे कि वहाँ केवल राष्ट्र का उल्लेख ही नहीं है अपितु राष्ट्र की पूरी अवधारणा भी उपलब्ध है।

भारत के सन्दर्भ में जो विचार विमर्श श्री अरविन्द ने किया उसके आधार पर ही उन्होंने राष्ट्रीयता और अन्ताराष्ट्रीयता का दर्शन भी विकसित किया। उनका मानना था कि जब हम राष्ट्र की अवधारणा पर विचार करते हैं तो वह रहस्यात्मक और अदृश्य प्रतीत होती है। राष्ट्रीयता की मूल भावना को पकड़ पाना कठिन है। कोई राष्ट्र होकर भी किसी साम्राज्य का एक भाग हो सकता है। उसके विकास में कई शताब्दियाँ लग सकती हैं। वह अनेक दिशाओं में विकास कर सकता है। देश के नेता उसके प्रति सचेत हो सकते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सामान्य जनता भी राष्ट्रीयता को पहचानती हो। भौगोलिक रूप से वह राष्ट्र एक इकाई होता है किन्तु कभी-कभी खंडित भी हो जाता है। उसकी राजनैतिक एकता के बीच सन्तुलन बिगड़ता बनता रहता है। इसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना भी न्यूनाधिक होती रहती है।

20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में राष्ट्रीयता के बारे में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट होते रहे। 1906 से 1908 के बीच वन्दे मातरम् पत्र के द्वारा श्री अरविन्द ने भारतीय राष्ट्रीयता के दर्शन का प्रतिपादन भी किया और नये उत्साह का जागरण भी किया जिससे प्रेरणा पाकर स्वराज का आन्दोलन सशक्त हो गया। उन्होंने साधन और साध्य, देशभक्ति, शिक्षा और राष्ट्र के पुनर्निमाण पर विस्तार से विचार किया जिसके फलस्वरूप उदासीनता का वातावरण समाप्त हो गया।

उस समय तीन धारायें प्रचलित थी। एक दृष्टि ब्रिटिश राज्यों के भक्तों की थी, दूसरे नरम दल वाले और तीसरे गरमदल वाले थे। प्रथम दृष्टि यह थी कि

भारतीय स्वतन्त्रता के अधिकारी नहीं हैं और उन्हें स्वतन्त्रता मिल भी जाये तो भी उनका तथा मानवता का हित इसी में है कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के अंग बने रहें। नरमदल वाले मानते थे कि भारत एक नहीं है और इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ नही हो सकेगा। अतः उसे ब्रिटेन की छाया में ही स्वायत्त सरकार प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके विपरीत श्री अरविन्द मानते कि भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करके अपना शासन करने में समर्थ है। उसमें जो कमियाँ हैं वे परतन्त्रता के कारण हैं और स्वतन्त्रता के द्वारा ही उन्हें दूर किया जा सकता है। अब उसका समय आ गया है। जहाँ तक भारत की विविधता का प्रश्न है फ्रांस में तीन भाषायें बोली जाती हैं, आस्ट्रिया में अनेक नस्ल और भाषायें हैं। यही स्थिति स्विट्जरलैण्ड की भी है। किन्तु ये सब राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसके विपरीत रोम साम्राज्य में एक भाषा और एक धर्म स्थापित करने का प्रयत्न किया गया फिर भी वह कोई महान् राष्ट्र नहीं बन सका।[5]

जैसा हम पहिले कह चुके है, श्री अरविन्द ने यह प्रतिपादित किया कि भौगोलिक एकता, समान अतीत, समान हित और राजनैतिक परिस्थिति राष्ट्रीयता के आवश्यक अंग हैं। इनमें समान हित की भावना सर्वोपरि है। वे यह मानते थे कि ये सभी तत्त्व भारत में उपलब्ध हैं। वस्तुतः भारतीय राष्ट्र का विचार श्री अरविन्द के पूरे जीवन में ओतप्रोत रहा।

1910 में उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग लेना छोड़ दिया और पूर्ण योग के विकास में ही पूरा समय लगा दिया क्योंकि योग के माध्यम से ही वे भारत और संसार का भविष्य विकसित करना चाहते थे— तथापि 1914 और 1921 के बीच उन्होंने The Life Divine, The Foundations of Indian Culture, The Ideal of Human Unity नाम के तीन विस्तृत ग्रन्थ लिखे जिनमें भारतीय राष्ट्रीयता की आधारशिला रखी गयी। इन ग्रन्थों में व्यष्टि और समष्टि, राष्ट्रीय एकता, अन्ताराष्ट्रीयता और वैश्विक एकता पर विस्तार से विचार किया गया।

जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है उसके लिए मानवता सर्वोपरि है। क्योंकि मानवता ही सबसे बड़ा समूह है। किन्तु मानव और मानवता के बीच छोटे-बड़े दूसरे समूह भी आते हैं। उनमें एक विकसित स्थिति में राष्ट्र का स्थान है। राष्ट्र का

निर्माण तीन स्थितियों में होता है। प्रथम स्थिति में सामाजिक व्यवस्था बनती है और ऐसी समान सभ्यता का निर्माण होता है जो राष्ट्र के उदित होने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है। द्वितीय स्थिति में राज्य के द्वारा एकता स्थापित की जाती है जबकि तृतीय स्थिति स्वतन्त्र रूप से ऐसा आन्तरिक विकास लाती है जिसके कारण अव्यवस्था का खतरा समाप्त हो जाता है। प्रथम स्थिति में जो अतीत का इतिहास बनता है वह वर्तमान में राष्ट्रीय एकता को एक साँचे में ढालता है। यद्यपि संसार के भिन्न-भिन्न भागों की प्रक्रिया अलग-अलग रही तथापि राजनैतिक, आर्थिक एकता द्वारा समान हितों की सिद्धि सभी स्थितियों में प्रेरणा का स्रोत बनी रही। धार्मिक एकता का भी प्रयत्न हुआ किन्तु भारत जैसे देश में धार्मिक विविधता के बीच ही राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न किया गया। प्रथम स्थिति में समाज का नियन्त्रण रहा किन्तु द्वितीय स्थिति में राजनैतिक सत्ता मुख्य हो गयी।

श्री अरविन्द का कहना है कि राष्ट्र का उद्देश्य केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष का ही विकास नहीं है अपितु पूरे समाज का ऐसा विकास है जिसमें व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सके। इसका यह अर्थ है कि ऐसी स्थिति आनी चाहिये जिसमें मनुष्य अपनी पूरी सामर्थ्य का उपयोग कर सके। फलस्वरूप स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबन्धुत्व के आदर्श हमारे सम्मुख आये। श्री अरविन्द ने इस सम्बन्ध में यह कहा कि ये आदर्श तब तक सन्तोषजनक ढंग से प्राप्त नहीं किये जा सकेंगे जब तक आध्यात्मिक रूपान्तरण के द्वारा अहंकार पर विजय प्राप्त न कर ली जाये। इसके लिए कोई भी सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक व्यवस्था काम नहीं आयेगी अपितु विश्वबन्धुत्व की भावना का जन्म आत्मा में निहित दिव्यता के बीच ही होगा[6]। श्री अरविन्द इस स्थिति को राष्ट्र की आत्मा कहते हैं। जब यह राष्ट्र की आत्मा विश्वात्मा से जुड़ती है तो अन्ताराष्ट्रीयता का जन्म होता है। श्री अरविन्द का मानना है कि वैदिक काल में ही भौगोलिक दृष्टि से राष्ट्र का जन्म हो चुका था। इसका प्रमाण रामायण और महाभारत में मिलता है जहाँ अश्वमेघ, राजसूय यज्ञ और चक्रवर्ती सम्राट् का उल्लेख है। रामायण का प्रारम्भ ही एक आदर्श राजा के वर्णन से होता है जो धर्म राज्य की स्थापना करता है। भारत को विदेशी आक्रमणों से राष्ट्रीयता को बार-बार आघात पहुँचा किन्तु फिर भी राष्ट्र एक बना रहा।

भारत के उदाहरण में यह बात स्पष्ट है कि सांस्कृतिक एकता ने बाह्य रूप लेने में 2000 वर्ष लगा दिये और अभी भी यह पूरी नहीं हुई है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक रूप से हम एक थे इसलिए बाहर के आक्रमण भी हमें तोड़ नहीं पाये।[7]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सभी राष्ट्र अपने मूल स्रोत की खोज कर रहे थे और उसे जीवन में क्रियान्वित करना चाह रहे थे। राजनैतिक रूप से पराधीन होने पर भी यह प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती थी। यह राष्ट्र अपना व्यक्तित्व ढूँढ रहे थे। 1905 में बंगभंग की घटना ने भारत को एक भूखंण्ड की अपेक्षा एक आत्मा के रूप में स्थापित कर दिया जो आर्थिक और राजनैतिक प्रेरणाओं का मूल बनी।

श्री अरविन्द ने अनेक राष्ट्रों के बीच एक राष्ट्र की स्थिति वही मानी जो विश्वात्मा में जीवात्मा की होती है। श्री अरविन्द के अनुसार जीवात्मा अनित्य भौतिक सृष्टि न होकर एक जीवन्त शक्ति है जिसे खोजना हमारे जीवन का लक्ष्य है। उसी प्रकार समाज, जाति और राष्ट्र को भी अपने आप को विश्वात्मा के प्रकट रूप में देखना चाहिये। इस प्रकार किसी समाज, जाति या राष्ट्र का प्रयोजन अपनी आत्मा का साक्षात्कार करना है। उसे अपने में अन्तर्निहित शक्ति को पहचानना है। जब व्यक्ति और राष्ट्र तथा विश्व अपनी आत्मा को पहचान लेते हैं तो उनके बीच स्वतः ही सामंजस्य हो जाता है।

श्री अरविन्द यह मानते थे कि स्वतन्त्र होकर भारत अध्यात्म के नये रहस्यों को उद्घाटित करेगा और पदार्थ तथा आत्मा में तालमेल बैठायेगा जिससे पृथ्वी पर भौतिक जीवन का रूपान्तरण हो जायेगा। भारत में यह भी सम्भावना निहित है कि वह सब राष्ट्रों के बीच स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबन्धुत्व के आधार पर एकता स्थापित कर सके।

वर्तमान में अन्ताराष्ट्रीयवाद और भूमण्डलीयकरण के आधार पर यह भी कहा जा रहा है कि राष्ट्रवाद का स्वर शायद अप्रासंगिक हो जाये।

श्री अरविन्द ने राजनैतिक एकता और वास्तविकता एकता के बीच भेद किया है। राष्ट्रवाद से पहिले साम्राज्य थे जो राजनैतिक एकता स्थापित करते थे किन्तु वास्तविक एकता नहीं। उनमें आन्तरिक जीवन नहीं होता। बाहरी दबाव के

कारण या राजनैतिक सुविधा के कारण वे एकता के सूत्र में जुड़े रहते हैं किन्तु जैसे ही वह दबाव या सुविधा की आवश्यकता समाप्त होती है वे बिखर जाते हैं।[8] अभिप्राय यह है कि साम्राज्य नश्वर है किन्तु राष्ट्र की एकता वास्तविक है और अमर है। जब ऑस्ट्रिया जैसा साम्राज्य खंडित होता है तो फिर उसमें वापिस जुड़ने की संभावना समाप्त हो जाती है क्योंकि एकता आन्तरिक नहीं है। किन्तु राष्ट्र टूटने पर भी वापिस जुडने का कार्य कर सकता है। उदाहरणतः यूनान का साम्राज्य समाप्त हो गया किन्तु राष्ट्र के रूप में वह आज भी है। इसी प्रकार जर्मनी राजनैतिक रूप से दो भागों में बँट गया था किन्तु राष्ट्रीयता की भावना के कारण फिर एक हो गया।

श्री अरविन्द यह नहीं मानते थे कि कोई राष्ट्र किसी बड़ी इकाई का प्रान्त मात्र बनकर रह सकता है। आज यद्यपि भूमंडलीकरण हो रहा है तथापि उसके बीच राष्ट्र को अपना व्यक्तित्व बचाकर रखना है।

श्री अरविन्द राष्ट्रीय अहंकार और राष्ट्रीय आत्मा में भेद करते हैं। यह भेद ऐसा ही है जैसा व्यक्ति के अहंकार और उसकी वास्तविक आत्मा में होता है। व्यक्ति का अहंकार और राष्ट्र का अहंकार सतही होता है जिसके आधार पर एकता प्राप्त नहीं की जा सकती। इस अहंकार के कारण विभाजन घटित हो जाता है और श्रेष्ठता ग्रन्थि बन जाती है। व्यक्ति या राष्ट्र विशिष्ट तो होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह तुलना में दूसरों को अपने से हीन समझे। राष्ट्र की आत्मा का अर्थ यह है कि सभी राष्ट्र आन्तरिक रूप से एक हैं जो विविधता में प्रकट होते हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी राष्ट्र स्वतन्त्र रहें, उनमें समानता हो और विश्व संस्कृति में अपना-अपना योगदान दें।

व्यक्ति अपना विकास करे किन्तु दूसरों में सहायक हो और अपने विकास के लिए उनसे सहायता ले भी। इसी प्रकार व्यक्ति अपना सम्बन्ध सामाजिक संगठनों से बना सकता है। व्यक्ति और समाज के बीच आदान-प्रदान हो सकता है। व्यक्ति समाज के विकास में सहायक हो और समाज व्यक्ति के विकास में सहायक हो। श्री अरविन्द यह मानते थे कि यह कार्य करना अभी शेष है और भारत इस

दिशा में विशेष योगदान दे सकता है। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने तीन कार्य हमारे सम्मुख रखे हैं—

1. प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान को दुबारा खोजकर उसे पूर्ण वैभव और गहराई के साथ अनुभव करना।

2. उपर्युक्त आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान तथा समीक्षा में नया रूप लाने के लिए प्रयुक्त करना।

3. भारतीय दृष्टि से वर्तमान समस्याओं का समाधान ढूँढना और आधुनिक समाज के निर्माण का लक्ष्य रखना।

श्री अरविन्द का मत था कि उपर्युक्त लक्ष्यों में हम जितना सफल होंगे उतना ही मनुष्य जाति के विकास में योगदान दे पायेंगे।

श्री अरविन्द ने भारत को प्रेरणा देते हुए कहा कि भारत का चिरन्तन स्वरूप मरा नहीं है और उसे अपना सर्जनात्मक कार्य चालू रखना है। अभी हमें अपने लिए और मनुष्य जाति के लिए बहुत कुछ करना है। हमें अंग्रेजियत से या पश्चिम से प्रेरणा नहीं लेनी है और अपना सिर ऊँचा उठाकर धर्म का व्यापक स्वरूप खोजना है।[9]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सक्रिय राजनैतिक जीवन से सन्यास लेने के बाद भी श्री अरविन्द राष्ट्र के रूप में भारत के विकास के लिए निरन्तर चिंतन करते रहे जो चिंतन उन्होंने अन्ताराष्ट्रीयता को आधार बनाकर किया उसका संकेत वैदिक साहित्य में मिलता है। उत्तरकालीन पौराणिक और ललित साहित्य में राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक स्वरूप है जिसके आधार पर सम्राट् अशोक और गुप्त काल में राजनैतिक एकता भी पूरे भारत में बनी रही। उसी सांस्कृतिक एकता के आधार पर अंग्रेजों ने भारत को एक राष्ट्र माना और भारत ने एक राष्ट्र के ही रूप में विदेशी सत्ता से टक्कर ली। इतना विशेष है कि श्री अरविन्द योगी थे और यह मानते थे कि सभी समस्याओं का स्थाई समाधान अध्यात्म में है। राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में भी उनकी यही दृष्टि थी।

श्री अरविन्द की राष्ट्र तथा समाज के सम्बन्ध में जो अवधारणा है उसका मूल वैदिक साहित्य में पूर्णतः उपलब्ध होता है। प्रथम वेदों पर दृष्टि डालें तो किसी भी राष्ट्र के संविधान के लिये एक उत्तम अवतरणिका (Preamble) संहिता भाग में सहज ही उपलब्ध होती है जो कुछ इस प्रकार है–

हम प्रजाजन जो कुछ भी श्रेष्ठ है उस सहित अपने को राष्ट्र का मानते हुए[10] तथा राष्ट्र को अपना मानते हुए सभी वर्गों में अपने को सर्वोत्तम बनाने का प्रयत्न करेंगे।[11] हम गति के रूप में कल्याण की कामना से ज्ञान के आलोक में तप और दीक्षा का आसेवन करते हुए दिव्य शक्तियों के सहयोग से राष्ट्र को बल और ओज से युक्त बनायेंगे।[12] हम प्रजाजन यदि मरुत् हैं तो राष्ट्र अग्नि है जिसे हमें प्रज्वलित रखना है।[13] हमारे शासक सत्य से असत्य को पृथक् करके राष्ट्र के अधिपति बनें[14] और सारी जनता उन्हें चाहे ताकि वे राष्ट्र से च्युत न हों।[15] हमारे बृहत् राष्ट्र को दिव्य शक्तियाँ निवास के योग्य बनायें।[16] हम जो कुछ भी यज्ञीय कर्म करें उसके फल का एक भाग राष्ट्र को मिले तथा दूसरा भाग राष्ट्र की जनता को मिले।[17]

वैदिक काल से लेकर आज तक हमारी राष्ट्र की अवधारणा उपर्युक्त भावना पर ही आधृत रही है। स्पष्ट है कि ऐसी भावना पर आधृत कोई भी राष्ट्र चिरञ्जीवी होगा। इसमें राष्ट्र के प्रति आत्मीयता का भाव तो है ही, नागरिकों से यह भी अपेक्षा की गयी है कि वे राष्ट्र के अभ्युदय के लिये भरसक पुरुषार्थ करें और ज्ञान, तप तथा संयम से संवलित अपने कर्म का फल राष्ट्र को तथा राष्ट्र की जनता को अर्पित करते रहें। दूसरी ओर शासक वर्ग को सत्य और असत्य के बीच विवेक करते हुए लोकप्रिय बनना चाहिये।

जहाँ तक समाज का सम्बन्ध है वेदों में समाज की रचना का आधार सामञ्जस्य और समरसता को माना है। समाज की इकाई परिवार है। वैदिक काल में एक ही परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने पर भी परस्पर प्रेम से रह पाते थे। एक मन्त्र में ऋषि कहता है– मैं बढ़ई हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं तथा मेरी माता चक्की से अनाज पीसती है। हम नाना व्यवसाय करते हैं।[18] कष्ट के समय एक दूसरे की सहायता करना समाज को जोड़े रखने का मूल सूत्र है।[19]

समाज का आधार आदान-प्रदान है, जो अकेला सुख भोगता है वह साक्षात् पाप रूप ही है।[20] समाज के विभिन्न सदस्यों को अन्न-जल मिलकर भोगना चाहिये। उन्हें इसी प्रकार से एकता के सूत्र में जुड़े रहना चाहिये जिस प्रकार चक्र के अरे उसकी नाभि में जुड़े रहते हैं।[21] समाज के सदस्यों का लक्ष्य समान होना चाहिये। वे एक के नेतृत्व में एक सी कामना लेकर इस प्रकार रहें कि उनके मन आपस में मिले रहें।[22] उनकी प्रसन्नता इसमें निहित है कि उनका मन और हृदय परस्पर एकरस हों।[23] वैदिक ऋषि की प्रार्थना है कि युद्ध में रक्तपात न हो।[24] हम बलवान् बनें ताकि हमारे प्रति सबका मैत्री भाव हो और हम भी सबके प्रति मैत्री भाव रखें।[25]

वैदिक काल की समाज तथा राष्ट्र की अवधारणा की युति वेद के उस प्रसिद्ध मन्त्र में अभिव्यक्त हुई है जिसमें कहा गया है कि राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस से युक्त हों, क्षत्रिय महारथी, स्वस्थ, वीर और शस्त्र सञ्चालन में निपुण हों, गायें विपुल दूध देने वाली हों, बैल भारवाही हों, अश्व तीव्रगामी हों, स्त्रियाँ परिवार में सुखी हों, सन्तान जयशील, रथी, वीर तथा सभ्य हों, मेघ यथाभिलषित बरसें, औषधियाँ फलवती होकर पकें, हमारा योगक्षेम बना रहे।[26] इस प्रार्थना से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय इतने परलोकोन्मुख नहीं हैं कि उन्हें इस लोक की चिन्ता ही न हो। वैदिक ऋषि पूरी तरह भूमि से जुड़े हैं। उन्हें समाज और राष्ट्र के बहुमुखी विकास की चिन्ता निरन्तर बनी हुई है।

---

1. श्री अरविन्द, वन्दे मातरम् शताब्दी संस्करण पृष्ठ 298-99
2. उपरिवत् पृष्ठ 700
3. उपरिवत् पृष्ठ 700-701
4. उपरिवत् पृष्ठ 98-99

5. उपरिवत् पृष्ठ 506-507
6. श्री अरविन्द, Social and political thought शताब्दी संस्करण vol. 15 पृ. 307
7. उपरिवत् पृ. 289
8. उपरिवत् पृ. 285-286
9. Vol. 15 पृ. 380-381
10. राष्ट्रं प्रजा राष्ट्रं पशवो राष्ट्रं यच्छ्रेष्ठो भवति। —तैत्तिरीयसंहिता ३.४.८.२
11. अहं राष्ट्रस्याभिवर्गे निजो भूयासमुत्तमः। —अथर्ववेद ३.५.२
12. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु। —अथर्ववेद १९.४१.१
13. राष्ट्रं वै वैश्वानरो विण्मरुतः। —तैत्तिरीयसंहिता ५.४.७.२
14. ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहित। —ऋग्वेद १०.१२४.५
15. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्। —ऋग्वेद १०.१७३.१
16. अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु। —अथर्ववेद ३.८.१
17. यद्वै यज्ञस्य साम्रा क्रियते राष्ट्रं यज्ञस्याशीर्गच्छति यदृचा विशं यज्ञस्याशीर्गच्छति। —तैत्तिरीयसंहिता १.६.१०.९
18. कारुहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
    नाना धियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव। —ऋग्वेद ९.११२.३
19. न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाया पित्वः।
    अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्। —ऋग्वेद १०.११७.६
20. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रबीमि वध इत् स तस्य।
    नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी। —ऋग्वेद १०.११७.६
21. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
    सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः। —अथर्ववेद ३.३०.७
22. सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवनने सर्वान्।
    देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु। —अथर्ववेद ३.३०.८

23. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति। —ऋग्वेद १०.१९१.४

24. सं जानीमहे मनसा स चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते। —अथर्ववेद ७.५२.२

25. दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। —यजुर्वेद २४.१८

26. पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे नः कल्पताम्। —यजुर्वेद २२.२२

उपसंहार

उपसंहार

श्री अरविन्द ने अपने दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ **द लाइफ डिवाइन** के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में अधिकतर वेद की ही कोई ऋचा उद्धृत की है। जब यह प्रश्न आया कि क्या उनकी अतिमानस की अवधारणा वेद में उपलब्ध है तो उनका उत्तर था कि वैदिक ऋषि ने व्यक्तिगत रूप में अतिमानस की स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न किया था किन्तु वह पूर्णतः सफल नहीं हो सका। अब पूर्ण सफलता पाने का समय आ गया है जिसे वे **'द ऑवर ऑफ गॉड'** कहते हैं। इसके लिए ही उन्होंने सिन्थेटिक योग का प्रतिपादन किया जिसका उद्देश्य केवल मन का ही नहीं अपितु शरीर तथा प्राण का भी रूपान्तरण है। इसलिए उन्होंने अपने योग को पूर्णयोग कहा। यह योग एक प्रकार से भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद दोनों के लक्ष्य की पूर्ति करता है जो कि मनुष्य जाति की चिर अभिलाषा रही है। यह बात वेद के ऋषि को भली-भाँति विदित थी।

वेद, विशेषकर ब्राह्मणग्रन्थ, इस लक्ष्य की पूर्ति का साधन यज्ञ को मानते हैं जबकि श्री अरविन्द इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए योग का प्रतिपादन करते है। उनके योग तथा वैदिक यज्ञ में समानता के क्या बिन्दु हैं—यह रोचक विषय है। संक्षेप में श्री भगवद्गीता में यज्ञ का जो स्वरूप बताया गया है, उसके अनुसार सारे कर्म ही यज्ञ बन जाते हैं और श्री अरविन्द ने योग के संबंध में कहा है—**'ऑल लाइफ इज योग'**। यह यज्ञ और योग के मिलनबिन्दु हैं जो वेद और श्री अरविन्द दर्शन के भी मिलनबिन्दु है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमने श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार विषय अपनी शोध परियोजना के लिए चुना।

श्री अरविन्द का लक्ष्य

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य जाति का वास्तविक लक्ष्य पूर्ण दिव्यता है। इस लक्ष्य को व्यक्तिगत स्तर पर इसलिये उपलब्ध करना है कि उसे समष्टिगत स्तर पर भी उपलब्ध किया जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये श्री अरविन्द ने केवल सृष्टि की प्रक्रिया का ही विवेचन नहीं किया अपितु उसके विकास की प्रक्रिया का भी विश्लेषण अपने मुख्य ग्रन्थ **द लाइफ डिवाइन** में किया।

दिव्य जीवन और वेद

श्री अरविन्द का सारा पुरुषार्थ इसी पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना करना है न कि केवल ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त करना। यह अद्वैतवाद का एक नवीन आयाम है जिसे सर्वप्रथम श्री अरविन्द ने ही उद्घाटित किया। सामान्यतः यह समझा जाता है कि श्री अरविन्द गौडपाद तथा शङ्कराचार्य से सहमत नहीं हैं। हमने यह पाया कि उनकी असहमति का आधार यह तथ्य है कि वे उपनिषद् तथा गीता पर ही विचार नहीं करते अपितु वेद के संहिता भाग पर भी विस्तार से लिखते हैं। संहिता भाग पर इतने विस्तार से और किसी भी वेदान्त के आचार्य तो नहीं ही लिखा, वैदिक दर्शनों में से न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग तथा पूर्व मीमांसा के भी किसी समीक्षक ने संहिता-भाग को इतना महत्त्व नहीं दिया। हमारा मानना है कि श्री अरविन्द ने अपने दर्शन का जो लक्ष्य निर्धारित किया उसका आधार उन्हें संहिता-भाग में ही मिला। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि श्री अरविन्द का दर्शन वस्तुतः वैदिक है। वेदान्त के अन्य आचार्य प्रस्थान-त्रयी में वेद का समावेश करते ही नहीं अपितु उसे अपरा विद्या कह कर परा विद्या माने जाने वाले उपनिषदों से ही अपना विमर्श प्रारम्भ करते हैं। यह एक ऐसा अन्तर है जो श्री अरविन्द के दर्शन को नितान्त मौलिक बना देता है।

विकासवाद

दूसरी मौलिकता श्री अरविन्द का विकासवाद का सिद्धान्त है जिस पर पश्चिम के विकासवाद का प्रभाव है। तथापि डारविन के विकासवाद के केन्द्र में भौतिक

दृष्टि ही मुख्य है जबकि श्री अरविन्द के विकासवाद का केन्द्रबिन्दु अध्यात्म है। यह उनके योग सम्बन्धी विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है।

ईशोपनिषद् और सामञ्जस्य

श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार हमें अत्यन्त स्पष्ट रूप में ईशोपनिषद् में मिलता है जिसमें विद्या और अविद्या दोनों के समन्वय की बात की गयी है। एक प्रकार से यह शाश्वत-कूटस्थ तथा स्थिति-गतिमत्ता अथवा ज्ञान और कर्म के ही समन्वय की बात है। जहाँ तक दिव्यता का प्रश्न है श्रौतयज्ञ के यजमान में दिव्यता का आधान करके शरीर को ही दिव्य बनाने की बात की गयी है। यह स्पष्टतः श्री अरविन्द के दर्शन का वैदिक आधार है।

जहाँ तक वेद के संहिता भाग का प्रश्न है श्री अरविन्द ने वेद में आये शब्दों के प्रतीकार्थ इस प्रकार विवृत किये हैं कि वेद में परा विद्या अथवा उपनिषद् के भी सङ्केत उपलब्ध हो गये हैं। मूल बात यह है कि श्री अरविन्द ने यह सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है कि उनके द्वारा निर्धारित मनुष्य जीवन का लक्ष्य वही है जो वेद में बताया गया है यद्यपि उसका पूरा विस्तार वेद में नहीं हो पाया और न परम्परा उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधनभूत पूर्णयोग ही हमें दे पायी। श्री अरविन्द ने इन्हीं दो अभावों की पूर्त्ति का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में उन्हें वेद से पूरी सहायता मिली, साथ ही तन्त्र ने भी उनकी सहायता की है।

समन्वय का अर्थ ही दो विरोधाभासों को स्वीकार करना है। यह समन्वय मानसिक स्तर पर नहीं हो सका है। अतः श्री अरविन्द ने उसके लिये अतिमानस की अवधारणा का प्रतिपादन किया जो उनकी अपनी मौलिक सूझबूझ का तथा आध्यात्मिक साधना का परिणाम है।

यजुर्वेद ने मन, प्राण तथा वाक् की त्रयी का उल्लेख किया है और श्री अरविन्द के विश्लेषण का अधिकांश भाग इस त्रयी के ही इर्दगिर्द घूमता है। उपनिषद् ने मन के भी पहले विज्ञान तथा आनन्द की चर्चा पञ्च कोशों के अन्तर्गत की है। इनमें अनेक विद्वानों ने विज्ञान की स्थिति को अतिमानस की स्थिति माना है।

पण्डित मधुसूदन ओझा की परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थों पर विशेष बल दिया गया। वहाँ रस-बल, अमृत-मृत्यु, स्थिति-गति, स्नेह-तेज, विद्या-अविद्या, सम्भूति-विनाश तथा ज्ञान-कर्म के द्वन्द्व का उल्लेख हुआ। इन द्वन्द्वों के बीच विरोध का परिहार कर पाना ही श्री अरविन्द की साधना-पद्धति का लक्ष्य है। इस प्रकार उनके दर्शन के सिद्धान्त पक्ष के साथ-साथ व्यवहार पक्ष का भी आधार वैदिक ही है।

जिसे ईशोपनिषद् ने विद्या-अविद्या तथा मुण्डकोपनिषद् ने अपरा-परा विद्या कहा उसे ही गीता ने ज्ञान-विज्ञान नाम दिया। इसी परम्परा में श्री अरविन्द ने अपने योग को 'संश्लिष्ट' नाम दिया। दर्शनयुग में यही अभ्युदय— निःश्रेयस के नाम से महर्षि कणाद ने धर्म का लक्ष्य निर्धारित किया।

तर्क का स्थान

इस समन्वय-परक दृष्टि के कारण श्री अरविन्द ने भौतिकवाद का भी यह महत्त्व स्वीकार किया कि उसने हमें तर्क की कसौटी देकर अन्धविश्वास से पीछा छुड़ाने में सहायता दी है। उन्होंने हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाया कि जैसे जैसे विज्ञान प्रगति कर रहा है वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहा है और अतीन्द्रिय की सत्ता को भी स्वीकृत कर रहा है।

जहाँ तक अतिमानस का सम्बन्ध है, उपनिषदों में मन से परे जाने की चर्चा तो है किन्तु उस स्थिति को निर्गुण तथा कूटस्थ ही मान लिया गया है किन्तु श्री अरविन्द अतिमानस स्थिति को गतिशील भी मानते हैं। यह ईशोपनिषद् की **'तद् एजति, तन्न एजति'** वाली उक्ति में निहित है। गीता में भी श्री कृष्ण ने **'सदसच्चाहम्'** कहकर इस स्थिति की ओर सङ्केत किया है।

जगत् मिथ्या नहीं

उपनिषद् में जब इस ओर सङ्केत किया कि ब्रह्म ने **'एकोऽहं बहुस्याम्'** की इच्छा की तो वह देशिक और कालिक नाम-रूपात्मक सीमा में बँध गया। यह उसकी जगत् के रूप में अभिव्यक्ति हुई किन्तु इस कारण जगत् मिथ्या नहीं हो जाता अपितु श्रुति तो **'नामरूपे सत्यम्'** कहकर नामरूप को सत्य ही बता रही है और

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर किसी को भी ब्रह्म से निष्कासित नहीं कर रही। इसी आधार पर श्री अरविन्द शङ्कराचार्य के जगत् को मिथ्या मानने वाले मायावाद से सहमत नहीं हैं।

माया की शक्ति

एक से अनेक बनाने वाली शक्ति माया कहलाती है। माया द्वारा ही इन्द्र अनेक रूप बन गया है—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**। अतिमानस स्तर पर यह माया ईश्वर की शक्ति है तो उससे नीचे के स्तरों पर यह अविद्या है।

मन, प्राण, वाक् की त्रयी

श्री अरविन्द ने सत्, चित्, आनन्द, मन, प्राण, वाक् तथा अतिमानस—इन सात की वेदोक्त सात रश्मियों से एकता दिखायी है किन्तु इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण हमें अभी तक नहीं मिला।

वेद में एकशिखर से दूसरे शिखर तक जाने की बात कही गयी है जिसके आधार पर श्री अरविन्द यह मानते हैं कि विकास का क्रम अतिमानस के साथ ही समाप्त नहीं हो जायेगा अपितु निरन्तर चलता रहेगा, यद्यपि यह यात्रा अन्धकार से प्रकाश की ओर न होकर प्रकाश से और अधिक प्रकाश की ओर होगी।

श्री अरविन्द का यह कहना है कि मन, प्राण तथा वाक् की त्रयी सर्वव्यापक है। ब्राह्मण-ग्रन्थ भी यही कहते हैं।

तर्क की सीमा

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के साथ ऐन्द्रिक अनुभव तथा तर्क की सीमा को समझना आवश्यक है। श्री अरविन्द का कहना है कि पदार्थों का सत्य इन्द्रिय गोचर नहीं हो सकता। उपनिषद् यह भी कहते हैं कि तर्क भी सत्य तक नहीं पहुँच सकता। इसलिये तर्क कभी-कभी अज्ञेयवाद को भी जन्म दे देता है। बुद्धि विश्लेषण करके खण्ड को ही जान पाती है, अखण्ड को नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्य को अज्ञेय घोषित कर दिया जाये। अन्तर्दृष्टि इस परिप्रेक्ष्य में सहायक सिद्ध

हो सकती है। श्री अरविन्द ने अन्तर्दृष्टि से प्राप्त सत्य को दार्शनिक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। इसी दृष्टि के कारण वे विरोधी प्रतीत होने वाले द्वन्द्वों में एकता स्थापित कर सके जबकि कुछ दर्शनों ने द्वन्द्वों में से एक को चुनकर दूसरे का निराकरण का दिया और वे दर्शन एकाङ्गी-से बन गये। उदाहरणतः साकार तथा निराकार के प्रसिद्ध विवाद को लें।

साकार-निराकार

सृष्टि की प्रक्रिया में निराकार का साकार होना तथा अपरिमित का परिमित होना आवश्यक है। तब अविभक्त रहते हुए भी वह विभक्त जैसा प्रतीत होने लगता है। वस्तुस्थिति यह है कि जैसे कलाकार कला में अपने में स्थित अव्यक्त को ही व्यक्तरूप दे देता है, वैसे ही स्रष्टा अपने में ही स्थित सृष्टि को व्यक्त कर देता है। प्रलय के समय यह सृष्टि पुनः उसी में विलीन हो जाती है।

अतिमन एवं अधिमन

इस प्रक्रिया में स्रष्टा की इच्छा ही मुख्य है— **कामस्तदग्रे समवर्तताधि**। इस इच्छा का अधिकरण मन है— **मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**। इसी सङ्केत को लेकर श्री अरविन्द ने अतिमन का विवरण दिया जो उनके दार्शनिक चिन्तन का मुख्य आधार है। यह अतिमन माया द्वारा सबका यन्त्रारूढ की भाँति संचालन करता है।

अतिमन से पहले अधिमन आता है जिसकी तुलना वेद के हिरण्यगर्भ से की जा सकती है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

बाद में वेदान्त ने इसे सूक्ष्मशरीर की समष्टि माना है।

श्री अरविन्द का शङ्कराचार्य से मुख्य मतभेद जगत् को मिथ्या मानने के सम्बन्ध में है। उपनिषद् के प्रसिद्ध उदाहरण को देते हुए श्री अरविन्द का तर्क है कि

यदि मृत्तिका सत्य है (**मृत्तिकेत्येव सत्यम्**) तो मृत्तिका से बना घट भी सत्य ही हुआ न कि मिथ्या। जगत् के सत्य होने के सम्बन्ध में प्रायः सभी वस्तुवादी इसी प्रकार के तर्क देते हैं किन्तु मुख्य बात यह है कि यदि जगत् सत्य है तो उसकी चिन्ता करना भी युक्तिसङ्गत है। पुरुषार्थ संसार के लिये भी होना ही चाहिए।

श्री अरविन्द के अनुसार जब वेदान्त व्यावहारिक सत्ता को सदसद् बताता है तो इसका यह अर्थ है कि जगत् में पूरा सत् समाहित नहीं है, अतः वह असत् है किन्तु सत् का जितना रूप जगत् में समाहित है, वह तो सत् ही है। श्री अरविन्द अज्ञान को अर्धज्ञान मानकर उसका भी स्वागत ही करते हैं क्योंकि वह क्रमशः ज्ञान की ओर ले जाता है। जब **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अथवा **'वासुदेवः सर्वमिति'** कहा जाता है तो 'सर्व' का अभिप्राय जड-चेतन सबसे होता है। इसका यह अर्थ है कि पदार्थ को भी दिव्य होने का अधिकार है। यह श्री अरविन्द की एक नयी स्थापना है। इससे पहले व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की चर्चा थी किन्तु जगत् के विकास की चर्चा नहीं थी।

ईश्वर व्यवस्थापक

लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में जिस कर्मयोग का प्रतिपादन किया है उसका एक आध्यात्मिक आधार श्री अरविन्द ने उपलब्ध करवाया। उन्होंने यह भी माना कि यदि ईश्वर को न मानें तो विकास में व्यवस्था नहीं आ पायेगी। व्यवस्था करने का कार्य ईश्वर का है—यह ईशोपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है—**याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः**। श्री अरविन्द का मानना है कि प्राण की ऊर्ध्वमुख गति से मन उत्पन्न होता है और अधोमुख गति से जडपदार्थ उत्पन्न होता है।

श्री अरविन्द ने हीगल के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर आत्मगोपन और आत्मोपलब्धि के द्वारा आनन्द के भाव से सृष्टि के विकास की चर्चा की। विकास में निम्न तथा उच्च स्तर की विशेषताएं एक दूसरे में भी न्यूनाधिक रूप में रहती हैं किन्तु उच्च स्तर पर व्यवस्था अधिक होती है।

विकास तथा रूपान्तरण

जडभूत से मन तक का विकास सुषुप्ति की अज्ञान की स्थिति में होता है। इस क्रम में प्रथम प्राण आता है। तदनन्तर इन्द्रिय-मन का विकास होता है। यह प्राण और मन के बीच की अवस्था है। पशु में प्राणिक मन रहता है।

मानव-मन इन्द्रिय-मन के बाद आता है। यह विचार कर सकता है। इसके द्वारा मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विकास कर सकता है। इस प्रयत्न में मनुष्य मन से भी ऊपर उठ सकता है। दूसरे मन के बाद का विकास मुख्यतः चेतना का होता है न कि शरीर का। इसके पहले होने वाला शारीरिक विकास भी आवश्यक है क्योंकि शरीर के विकास के बिना चेतना का विकास नहीं हो सकता। अतः शरीर, मन और प्राण को पवित्र तथा समर्थ बनाना चाहिए। योग इसी का साधन है।

अन्तर्मुखता से अवचेतन मन का रूपान्तरण होता है और ऊर्ध्वमुखता द्वारा आध्यात्मिक रूपान्तरण होता है अतिमानस रूपान्तरण के लिये मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण मुख्य रूप से सहायक होता है। साधना में अन्दर से ही मार्गदर्शन मिलने लगता है और विकृतियों का उदात्तीकरण होने लगता है। आध्यात्मिक रूपान्तरण में प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, बल, आनन्द और पवित्रता अवचेतन तक पहुँच जाते हैं।

अतिमानस रूपान्तरण स्थायी होता है। यह रूपान्तरण क्रमशः उच्चतर मन, आलोकित मन, अधिमन से होते हुए अतिमन तक होता है।

दिव्य जीवन

जहाँ तक दिव्य जीवन का सम्बन्ध है उसके बारे में इदमित्थन्तया कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। पहली बात यह है कि एक एक व्यक्ति का अतिमानसीकरण नहीं हो सकता, यह पूरी प्रजाति का होगा। दिव्य जीवन अज्ञात की खोज न होकर, ज्ञात का प्रकटीकरण ही होगा। तब स्वधर्म ही स्वभाव बन जायेगा।

अभी हम अज्ञान के कारण सत्य के सीमित पक्षों को ही देख पाते हैं जिनमें परस्पर विरोध रहता है। इसके अतिरिक्त मनोवृत्तियों का संघर्ष, आवश्यकताओं

का दबाव, इच्छा-पूर्त्ति की उद्दाम वासना, साम्प्रदायिकता, वाद-विवाद तथा नारेबाजी जीवन को दूभर बनाये रहते हैं। इसका उपचार केवल अध्यात्म है।

दिव्य जीवन एक रूप नहीं होगा क्योंकि दिव्यता में विविधता से ही एकता कृतकृत्य हो पाती है। पहले भी समन्वय के युग आते रहे हैं किन्तु उनका आधार अतिमानस नहीं था, अतः वे चिरजीवी नहीं हो सके। जब जड से प्राण का तथा प्राण से मन का विकास हुआ तब यह विश्वसनीय नहीं लग रहा था। उसी प्रकार आज मन से अतिमन का विकास एक कल्पना लग सकता है किन्तु तार्किक की दृष्टि से भविष्य में यह अवश्यम्भावी है।

पूर्णयोग का स्वरूप

तन्त्र और प्रचलित योग प्रणालियों द्वारा कूटस्थ आत्मा का साक्षात्कार होता है। किन्तु श्री अरविन्द ने जिस पूर्णयोग की खोज की उससे सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य और साधर्म्य मुक्ति की भी प्राप्ति हो सकती है। जैसा पहले कहा गया है इस पूर्णयोग का उद्देश्य केवल व्यक्ति का अतिमानसीकरण ही नहीं है अपितु पूरी पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना है। अतः यह केवल व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप से मनुष्य प्रजाति के दिव्य जीवन की सम्भावना को उद्घाटित करने वाला योग है।

ज्ञान, भक्ति और कर्म योग की साधना के द्वारा आत्मसमर्पण पूर्णयोग का अविभाज्य घटक है। इन तीनों योगों का आचरण आत्मसमर्पण के लिये आवश्यक है। ये तीनों योग समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु साधक को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपने स्वभाव तथा रुचि के अनुकूल इनमें किसी से भी प्रारम्भ करे और शेष दो को बाद में अपनाये।

पूर्णयोग मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक रूपान्तरण पर निर्भर करता है। यह मार्ग निराशा का नहीं है अपितु सूर्य से आलोकित पथ है। लक्ष्य यह है कि साधक जाग्रत स्थिति में भी ब्राह्मी स्थिति को बनाये रह सके। इस योग में जीवित गुरु का बहुत महत्त्व है। इसके लिये आन्तरिक तैयारी होनी चाहिए। इसके नियम निश्चित हैं किन्तु उन नियमों के विवरण में लचीलापन है।

बिना भक्ति केवल ज्ञान भी निर्वैयक्तिक दिव्य की उपलब्धि करा सकता है किन्तु दिव्य की विविधताओं का दर्शन नहीं करा सकता। इसी प्रकार भक्ति भी ज्ञान के बिना अधूरी है। ज्ञान ही भक्ति को स्थिरता प्रदान करता है। तादात्म्य से युक्त कर्म ज्ञान को सशक्त तथा प्रेम को सरस बनाता है। अतः ज्ञान, भक्ति और कर्म परस्पर सहयोगी हैं।

योग के चार सहायक

1. योग का प्रथम सहायक तो स्वयं का अपना आध्यात्मिक अनुभव है। कोई भी शास्त्र साधक के लिये बन्धन नहीं बनना चाहिये। योग साधक की व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार तथा उसकी प्रकृति के अनुसार लचीला होना चाहिए—यह पहले कहा जा चुका है। मन्त्र द्वारा शाश्वत का ज्ञान प्रकट होता है। अतः दीक्षा का महत्त्व है।

2. योग का दूसरा सहायक उत्साह है। उत्साह के अनुरूप ही आध्यात्मिक विकास होता है।

3. योग में तीसरी आवश्यकता गुरु की है। दिव्य आन्तरिक मार्गदर्शक है। सदेह गुरु सर्वोत्तम है। गुरु की चेतना इतनी उच्च स्थिति में पहुँची हुई होनी चाहिये कि वह दूसरों की सहायता कर सके। गुरु की अपनी मानवीय कमजोरियाँ या उसकी स्वयं की कम उपलब्धियाँ साधक की उन्नति में बाधक नहीं बनती हैं।

   गुरु अपने उपदेश, उदाहरण तथा प्रभाव द्वारा शिष्य का परिष्कार करता है। गुरु के प्रति समर्पण शेष सभी समर्पणों से अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि जीवित व्यक्ति के प्रति समर्पण में अहंकार का अभाव रहता है।

4. चतुर्थ आवश्यकता धैर्य की है। साधक दिव्य को तत्काल प्राप्त करने की उत्कण्ठा रखे किन्तु इसके साथ ही अपरमित धैर्य भी रखे।

साधना का स्वरूप

अभीप्सा साधना का प्रथम अङ्ग है। अभीप्सा का अर्थ है कि दिव्य का आह्वान किया जाये। यह आह्वान साधक को अपने पूरे अस्तित्व द्वारा करना चाहिए। यह आह्वान तब सघन, शान्त, आनन्दपूर्ण, सहज, निरन्तर तथा एकाग्रतायुक्त होता है जब अतिमानसी स्थित बन जाये। जैसे-जैसे अभीप्सा सघन होगी, अनुभव भी सघन होता चला जायेगा।

साधना का दूसरा अङ्ग एकाग्रता है। एकाग्रता से अभिप्राय चेतना को किसी स्थान अथवा पदार्थ पर केन्द्रित कर देना है। यह एकाग्रता प्रथम हृदय पर, फिर मस्तिष्क पर, और फिर मस्तिष्क के ऊपरी भाग पर टिकानी चाहिये। इससे क्रमशः आन्तरिक आत्मा, बाह्य कूटस्थ आत्मा तथा अतिमानसिक आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह क्रम भिन्न भी हो सकता किन्तु हृदय से प्रारम्भ करना अधिक उचित है।

आँखें बन्द करके या खुली रख के एकाग्रता दिव्य पर करनी चाहिये न कि किसी स्थान या बिन्दु पर। इसकी अवधि क्रमशः बढ़ा देनी चाहिए। एकाग्रता पहले प्रयत्नपूर्वक होती है, फिर अनायास होती है और फिर साधक की स्थिति स्थायी बन जाती है।

श्री अरविन्द नाम-स्मरण की अनुमति देते हैं, किन्तु यह यान्त्रिक नहीं होना चाहिए। वे श्वास के साथ नाम-स्मरण को ठीक नहीं मानते क्योंकि यह प्राणायाम का रूप ले सकता है और लाभ के स्थान पर हानि भी कर सकता है।

श्री अरविन्द साधना के लिये आसन को महत्त्व देते हैं जो स्थिर होना चाहिए, जैसा कि योग सूत्र में कहा गया है—स्थिरसुखमासनम्।

अपरा प्रकृति की निम्नस्तरीय गतिविधि साधना में बाधक है। उसे दिव्य को अर्पित कर देना चाहिए और (अथवा) उनसे सम्बन्धविच्छेद करते हुए यह

समझना चाहिए कि वे मेरे वास्तविक स्वरूप का भाग नहीं हैं और मैं उनमें उलझूँ नहीं, तटस्थ बना रहूँ।

विपरीत परिस्थिति तथा शक्तियों को यह समझना चाहिये कि वे साधक की शक्ति तथा प्रतिबद्धता की परीक्षा लेने के लिये आयी हैं। इसलिये उसे अपनी एकाग्रता श्रद्धा, अभीप्सा तथा समर्पण के साथ चालू रखनी चाहिए। विपरीत परिस्थिति में साधक को दृढतापूर्वक साधना करनी चाहिये।

पूर्णयोग में समर्पण ही सारभूत है। स्वयं को पूर्णतः दिव्य को समर्पित कर देना चाहिए। समर्पण समग्र, बेशर्त, स्वतन्त्र, आनन्दपूर्ण तथा सक्रिय होना चाहिए। ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के सामूहिक प्रयास से समर्पण परिपूर्ण हो पाता है। पूर्ण समर्पण अतिमानसीकरण पर ही सम्भव है।

यद्यपि मार्जारी-न्याय तथा मर्कट-न्याय दोनों में ही प्रयत्न निहित है तथापि मार्जारी-न्याय से सफलता अधिक शीघ्र होती है। अतिमानसीकरण होने पर दिव्य-तत्त्व साधना का भार स्वयं अपने ऊपर ले लेता है।

सभी पुरुषार्थ का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ जीवन में दिव्यता पर दृढ़ विश्वास रखना है। श्रद्धा का शारीरिक, प्राणिक, मानसिक तथा अतिमानसिक रूप होता है। इनमें अतिमानसिक श्रद्धा सर्वोपरि है।

अनुभवों के साथ श्रद्धा घनीभूत होकर ज्ञान बन जाती है। साधक को दिव्य की कृपा, साधना की अमोघता और अन्ततो गत्वा अपनी विजय में विश्वास रखना चाहिए।

प्रश्न सत्य को खोजने के लिये करना चाहिये न कि सन्देह पैदा करने के लिये। सन्देह मानसिक होता है, श्रद्धा आत्मिक होती है। ये दोनों साथ साथ चल सकते हैं, किन्तु साधना रुकनी नहीं चाहिये।

कृपा ऊपर से भी बरसती है और अन्दर से भी आती है। यह नितान्त स्वतन्त्र है। साधना से व्यक्ति अपने को इसका पात्र बनाता है। कृपा के कार्य करने की

पद्धति रहस्यात्मक है। कृपा सबसे अधिक मूल्यवान् है। इसके प्रति साधक कृतज्ञ बने रहें और इससे विमुख कदापि न हों।

साधक का व्यावहारिक जीवन

साधक के जीवन में शुभ वह है जो उसे दिव्य की ओर ले जाये। तदर्थ साधक को अपनी आवश्यकतायें न्यूनतम रखनी चाहिए। किन्तु यदि कोई आवश्यकता साधना में सहायक हो और साधक कामना तथा आसक्ति से मुक्त हो तो वह सुख-सुविधा के साधन भी रख सकता है।

जहाँ तक पैसे का प्रश्न है दिव्य प्रयोजन के लिये पैसे को आसुरी शक्तियों के हाथों से निकाल लेना चाहिए। साधक न पैसे से दूर भागे, न उसके प्रति आसक्त हो।

कठोर जीवन की अपेक्षा अनासक्ति पर बल होना चाहिए। आहार उचित मात्रा में दिव्य की भेंट के रूप में लेना चाहिए। भोजन की सात्विकता पर कभी-कभी अधिक बल दे दिया जाता है जबकि भोजन वस्तुतः स्वास्थ्यप्रद होना चाहिए। भोजन के अपने घटक इतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते जितना भोजन का वातावरण।

निद्रा को कम करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु निद्रा में जागरूकता के भाव को बढ़ाना चाहिये। जाग्रत अवस्था में जागरूकता बनाये रखने से ऐसा हो सकता है।

रूपान्तरण के लिये सेक्स पर पूरा नियन्त्रण होना चाहिए। सेक्स की क्रिया के उदात्तीकरण का प्रयत्न कभी कभी प्राणिक स्तर पर अनैतिकता को जन्म दे देता है। सबकी एकता आध्यात्मिक अवधारणा है जिसका अर्थ कामुक स्वच्छन्दता बिल्कुल नहीं है।

भाव के स्तर पर कामवासना शारीरिक कामुकता में बदल सकती है क्योंकि इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सेक्स को रूपान्तरित करना चाहिए। कामवासना को निर्बल बनाने के लिये साधना के विधायक पक्ष पर बल देना चाहिए, निद्रा में

सचेत रहना चाहिये और सोने से पहले पवित्रता का सङ्कल्प लेना चाहिए। साधक को व्यक्तिगत सम्बन्धों के केन्द्र में दिव्य को रखना चाहिए। आध्यात्मिक स्तर पर परिवार आदि के लौकिक दायित्व कम हो जाने चाहिए। क्योंकि उच्चतर के लिये निम्नतर को छोड़ना होता है।

साधक और साधिका में साधना के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। सामाजिक सम्पर्क से बचना चाहिये ताकि प्राणिक भावनाएं प्रबल न हो जायें। वचन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अनुभव या तो दृश्य होता है या स्पृश्य। अनुभव से साधक उच्चारोहण तथा अवरोहण की योग्यता प्राप्त करता है। अनुभव परिपक्व होने पर साक्षात्कार बन जाता है। 'काली रात' अर्थात् बाधाओं का आना यह सूचित नहीं करता कि साधक अयोग्य हैं।

शनैःशनैः एक एक कदम चलकर साधक अधीरता तथा जल्दबाजी की अपेक्षा ज्यादा शीघ्र पहुँचता है। तनाव में खींचतान नहीं करनी चाहिए। अपने अनुभव उन्हें नहीं बताने चाहिये जो अध्यात्म-प्रेमी न हों।

अनुभव प्रकाश, वर्ण, प्रतीक, शक्ति तथा दृश्य का हो सकता है।

भाष्य-साहित्य

श्री अरविन्द के दर्शन का आधार वैदिक है—यह बात उनके वेद, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता पर किये गये भाष्यों से स्पष्ट होती है। उनके ग्रन्थों पर लिखे भाष्य का विवरण पढ़ते समय यदि यह बात ध्यान में रखी जाये तो उनके दर्शन का वैदिक आधार स्वतः सिद्ध हो जाये। इतना अवश्य है कि अपने दर्शन का प्रतिपादन करते समय उन्होंने एक भाष्यकार के लिये आवश्यक उक्त, दुरुक्त तथा अनुक्त की चिन्ता की है। यही भाष्यकार का स्वधर्म है। श्री अरविन्द के भाष्य साहित्य का वैशिष्ट्य संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है।

वेद भाष्य

श्री अरविन्द ने वेदों पर अपने भाष्य में यह स्पष्ट किया कि सायणाचार्य का कर्मकाण्डपरक भाष्य तथा पश्चिमी विद्वानों का इतिहासपरक भाष्य वेदों के

वास्तविक मर्म को न छूकर कई ऐसी भ्रान्त धारणाओं को भी जन्म देते हैं कि आर्य भारत के बाहर से आये थे और वेद की ऋचायें उस समय की रचनायें हैं जब मनुष्य बहुत अधिक विकसित नहीं था। श्री अरविन्द ने यूनान तथा रोम के समानान्तर उदाहरणों से यह स्पष्ट किया कि सभी वैदिक देवताओं का रूप प्राकृतिक होने के साथ साथ आध्यात्मिक किं वा मनोवैज्ञानिक भी है। उनका वेदभाष्य इसी स्वरूप को उद्घाटित करता है।

वेदों की रहस्यवादी व्याख्या करते समय श्री अरविन्द ने यह प्रदर्शित किया कि रहस्यवाद के गुप्त अंश को सुरक्षित रखने के लिये ऋषियों ने प्रतीकों का सहारा लिया। वेद के रहस्यात्मक होने के प्रमाण में श्री अरविन्द ने स्वयं वेद के अनेक मन्त्र (ऋग्वेद, ४.३.१६, १.१६४.३९, १.१६४.४५ इत्यादि) उद्धृत किये। इस अर्थ को तपस्या, योग और ध्यान द्वारा ही जाना जा सकता है। साथ ही वेद का एक बाह्य अर्थ भी है और कर्मकाण्ड द्वारा लौकिक समृद्धि की प्राप्ति की मान्यता भी सत्य है।

ऋत, धेनु, घृत, अश्व, अपत्य, जल, गौ आदि अनेक शब्दों का उल्लेख स्वयं वेद में ही इस प्रकार हुआ है कि ये शब्द वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीकार्थ को भी बताते हैं। स्वयं उपनिषद् वेद की अनेक ऋचाओं को उद्धृत करते हुए उनसे प्रेरणा भी लेते हैं। अपने वेदभाष्यों की भूमिका में श्री अरविन्द ने यह भी स्पष्ट किया कि व्याकरण निरुक्त आदि से वेदों का अर्थ समझने में किस प्रकार सहायता मिलती है।

उपनिषद्-भाष्य

उपनिषदों में ईशोपनिषद् श्री अरविन्द को सबसे अधिक प्रिय इसलिये है कि इसमें उनकी सामञ्जस्यपरक दृष्टि स्पष्टतः उल्लिखित है। इसलिये उन्होंने इस उपनिषद् पर दस बार अधूरे-पूरे भाष्य लिखे जिनमें एक प्रश्नोत्तरी के रूप में भी है। स्पष्ट है कि वे ईशोपनिषद् के सन्देश को अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाना चाहते थे।

श्री अरविन्द के अनुसार ईशोपनिषद् के चार भाग हैं।

केनोपनिषद्-भाष्य

ईशोपनिषद् के भाष्य के बाद श्री अरविन्द के केनोपनिषद् का भाष्य आता है। इस भाष्य में मन से परे की शक्ति की चर्चा है। यह शक्ति ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और प्राणशक्ति तथा वाक् का भी नियन्त्रण करती है। इन्द्रियों के आकर्षण से बड़ा आकर्षण असीम आभु का है जिसमें सुख नहीं अपितु आनन्द है। मन, प्राण, इन्द्रियाँ और वाक् बाह्य उपकरण मात्र हैं। अहङ्कार भी हमारा अपना स्वरूप नहीं है। हम केवल परिवर्तनशील को ही जान पाते हैं जो अनित्य है। वाक् सर्जकशक्ति के रूप में ब्रह्म है। मन सत्य को जानना चाहता है किन्तु जान नहीं पाता। अतिमानस ही उसे जान पाता है। मन में भी सहानुभूति, एकत्व, अन्तर्दृष्टि जैसे अतिमानस के तत्त्व उपस्थित हैं किन्तु वे अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर ही प्रकट होते हैं। मन अनेकों से एक तक पहुँचता है किन्तु अतिमानस में अनेकता एकता की ही एक गौण अभिव्यक्ति है—**एकं वा इदं विबभूव सर्वम्**।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्री अरविन्द ने छान्दोग्योपनिषद् के प्रमाण के आधार पर श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता सिद्ध की है। श्रीकृष्ण की वंशी हमारी आत्माओं को गोपी के रूप में बुलाती है।

प्रश्न अर्जुन के सम्मुख क्षात्रधर्म में होने वाली हिंसा का है। अर्जुन ने गीता में अपनी दुर्बलता सूचित की है, न कि वैराग्य। श्री कृष्ण ने इसके लिये सर्वप्रथम अर्जुन के पराक्रम को जाग्रत किया। फिर बताया कि आत्मस्थित रहते हुए कर्म करना श्रेष्ठ है न कि कर्म का त्याग करके आत्मस्थित बनना। यज्ञ और लोक संग्रह कर्म के आधार हैं। कोई एक रूढ मार्ग साधक के लिये नहीं है; स्वधर्म के अनुसार स्वकर्म का निर्णय करना चाहिये। कर्मफल ईश्वर को अर्पित करते हुए योगस्थ रहकर कर्म करना चाहिये।

ज्ञान साङ्ख्य है, कर्म योग है।

योग का उद्देश्य समाधि से आगे जाकर ब्रह्मभाव प्राप्त करना है। किन्तु ध्यान तथा भक्ति भी योग का अङ्ग हैं। आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। अतः

आत्मलाभ परमात्मलाभ में बदलना चाहिये। नैतिकता साम्यभाव पैदा नहीं कर सकती, उसके लिये अध्यात्मबोध आवश्यक है।

परा प्रकृति भगवान् की चिन्मयी शक्ति है। सम्पूर्ण सत्ता भगवत्-सत्ता है। परम तत्त्व ही व्यक्ति-भावापन्न होकर अध्यात्म हो जाता है। भगवत्स्मरण नित्य है, नैमित्तिक नहीं। भगवान् विश्वाधार भी और और विश्वातीत भी है। उसे जाने बिना व्यक्ति क्षुद्र भाव में जीता है। यह निरर्थक जीवन का रूप है।

गीता भगवान् की विभूति, विराट् रूप, सत्त्वादि तीन गुण, गुणातीत, यज्ञ, दान, तप आदि के वर्णन द्वारा जीवन के लिये एक आचार संहिता भी देती है जिसका आधार अध्यात्म है।

शिक्षा

श्री अरविन्द के दर्शन का एक अनुप्रयोग (एप्लीकेशन) शिक्षा के क्षेत्र में हुआ और पांडीचेरी में एक शिक्षा संस्था अभी है जो उसी प्रयोग के आधार पर चल रही है।

अंग्रेज ने जो शिक्षा प्रणाली चलायी उससे अच्छे बाबू तो पैदा होते रहे लेकिन चिन्तक कम ही पैदा हुए। हम नालन्दा या तक्षशिला की शिक्षा प्रणाली को लौटा नहीं सकते किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग अवश्य कर सकते हैं। किसी भाषा को सीखने का अर्थ यह होना चाहिये कि हम उस संस्कृति को सीखें जो उस भाषा से जुड़ी है। पश्चिमी शिक्षा को भारत की प्रकृति के अनुकूल ढालना होगा।

वैश्विक चिन्तन तथा व्यक्तिगत चिन्तन के बीच एक राष्ट्रीय चिन्तन है। इन तीनों प्रकार के चिन्तन के समन्वय के साथ अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन भी होना चाहिये।

अध्यापक को शिक्षण, उदाहरण तथा अपने प्रभाव के द्वारा विद्यार्थी तक ज्ञान पहुँचाना चाहिये। जीवन में परमार्थ के साथ व्यवहार भी सिखाया जाये। ज्ञान द्वारा शुभ-अशुभ में विवेक करके शुभ-अशुभ से ऊपर उठना भी सिखाये।

छात्र एकाग्रता, विचारशीलता तथा मौन की साधना के योग्य बने। उसमें ज्ञान के प्रति प्रेम पैदा हो। वह सत्य के विरुद्ध आचरण न करे। शारीरिक प्रशिक्षण

तथा आध्यात्मिक शिक्षा को समान महत्त्व मिले। छात्र का चिन्तन सम्प्रदाय-मुक्त हो। वह स्वतन्त्र चिन्तन कर सके। अन्धविश्वासों का शिक्षा में कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

मनोविज्ञान

श्री अरविन्द ने एक बृहत्तर मनोविज्ञान का प्रतिपादन किया जिसका आधार कोई दार्शनिक विचार न होकर उनका अपना अनुभव था। योग का अनुभव साधारण अनुभव से भिन्न होता है और उसकी प्राप्ति के उपाय भी भिन्न हैं। किन्तु यह अनुभव प्रयोगसिद्ध अवश्य है। इसमें अन्तर्दृष्टि का भी उपयोग होता है।

आज का मनोविज्ञान व्यवहार के आधार पर ही चेतना का अध्ययन करता है किन्तु चेतना का व्यवहारातिरिक्त एक स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। पुस्तक का मूल्याङ्कन उसकी विषयवस्तु के आधार पर होता है न कि उस कागज के आधार जिस पर वह छपी है। व्यवहार के आधार पर चेतना का मूल्याङ्कन करना ऐसा ही है जैसा पुस्तक का मूल्याङ्कन उस कागज के मूल्य के आधार पर करना जिस पर वह छपी है।।

चेतना सच्चिदानन्द है, वह केवल पदार्थ और ऊर्जा की क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं है। कवि या कलाकार की चेतना यान्त्रिक रूप से कार्य नहीं करती है। चेतना मन या इन्द्रियों के बिना भी रहती है।

आन्तरिक चेतना के जाग जाने पर हम रोग के शरीर में आने से पहले ही उसे जान सकते हैं।

मनोविज्ञान पर माताजी की टिप्पणी

मन पर मीरा (माताजी) ने भी पर्याप्त विचार किया है। उनका कहना है कि पूर्वाग्रह मन के लिये घातक है। मन का शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है। वाद्ययन्त्र बजाने वाले की उंगलियों में भी एक निपुणता पैदा हो जाती है। मन का कार्य व्याख्या करना है किन्तु व्याख्या पिष्टपेषण नहीं है। व्याख्या रूपान्तरण करने का साधन बननी चाहिये।

माताजी ने मन के लिये कुछ सुझाव दिये हैं। हमारे मन का दूसरों पर भी प्रभाव पड़ता है अतः विचार सावधानी से ही करना चाहिये। मन का उपयोग क्रियाशक्ति के वर्धन, व्यवस्थापन, तथा योजनाओं के निर्माण में होना चाहिये।

मन के विकास का यह अर्थ है कि मन भी सोचे। वह शान्त रहकर मूल्याङ्कन करे, उद्विग्नता में नहीं। शरीर क्षीण हो जाने पर भी मन युवा रह सकता है। समर्पण से मन दिव्य हो जाता है। मन के अनेक स्तरों का उल्लेख योग के प्रसङ्ग में किया गया है। वे स्तर मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी उपयोगी हैं, यथा—भौतिक मन, मानसिक मन, आलोकित मन, अधिमन तथा अतिमानस।

मनोविज्ञान के अन्तर्गत आत्मा, अहङ्कार, व्यक्तित्व, निर्वाण, विकास आदि पर भी श्री अरविन्द का मौलिक चिन्तन है जिसकी समीक्षा भी आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने की है।

श्री सत्प्रेम जी का चेतना का साहसिक अभियान

श्री अरविन्द के एक फ्राँसीसी अनुयायी श्री सत्प्रेम ने 'चेतना का साहसिक अभियान' नाम से एक ग्रन्थ श्री अरविन्द के योगात्मक प्रयोग पर लिखा जो मौलिक कृति है। इसके कुछ निष्कर्षों का अपना महत्त्व है। श्री सत्प्रेम ने ऋग्वेद के साथ श्री अरविन्द के दर्शन का तालमेल प्रदर्शित किया।

उनका पहला निष्कर्ष यह है कि अध्यात्म एक संगठित धर्म संस्थान नहीं हो सकता। यूरोप के अत्यधिक बौद्धिकता से तथा भारत के आध्यात्मिकता से अत्यधिक आक्रान्त होने के कारण दोनों ही अपूर्ण हैं। श्री अरविन्द दोनों को समन्वित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यूरोप में कला में रहस्यात्मकता लुप्त हो गयी। उधर भारत में मायावाद के नाम पर आलस्य पुष्ट हुआ। वस्तुतः जगत् सत्य है। बाह्य परिस्थितियाँ हमारे अन्तर का ही स्फुरण हैं। बुद्धि सत्य का अन्तिम निर्णय नहीं ले सकती। विचार की अपेक्षा निर्विचारता अधिक महत्त्वपूर्ण है। नीरवता चेतना को विशाल बनाती है। निश्चलता से कुशलता बढ़ती है। श्री लेले ने श्री अरविन्द को निर्विचारता प्रशिक्षण दिया।

अन्दर विराजित चैत्यपुरुष, विश्वातीत ब्रह्म तथा लीलापुरुष ब्रह्म—इन तीनों रूपों में चेतना का समन्वय करना है। वस्तुतः अतिमानस के अवतरण द्वारा नयी सृष्टि के निर्माण का लक्ष्य लेकर श्री अरविन्द ने पूर्णयोग का प्रतिपादन किया। इस योग में अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं।

जीवन को किसी एक सिद्धान्त में नहीं पकड़ा जा सकता। श्री अरविन्द ने जीवन के मलिनतम पक्ष को निर्मल बनाने की साधना का मार्ग प्रशस्त किया।

समाज

राजनीति के साथ साथ श्री अरविन्द ने समाज की भी चिन्ता की क्योंकि वे जानते थे कि जीवन के सभी पक्षों को साथ लेकर चलना होता है। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज को ही संसार का पथप्रदर्शन करना है।

वे समाज का आधार आध्यात्मिक बनाना चाहते थे। समाज का यह पक्ष स्थायी है जबकि उसका व्यावहारिक पक्ष परिवर्तनशील है। स्थायी पक्ष के लिये अध्यात्म तथा व्यावहारिक पक्ष के लिये विज्ञान का सहारा लेना चाहिये।

एक ही सत्ता व्यक्ति, समाज और विश्व का रूप ले लेती है। इस दृष्टि से समाज का भी एक शरीर है, उसकी एक सामूहिक चेतना है जिससे व्यक्ति अपनी चेतना को जोड़ सकता है। राष्ट्र की अथवा समाज की चेतना अनेक घटकों से बनी होने के कारण जटिल है जिसमें व्यक्तिगत अहङ्कार बाधक बनता है। प्रगति में सामूहिक अहङ्कार भी बाधक है।

हमारा अन्तिम लक्ष्य पूरे मानव समाज को एकता के सूत्र में बाँधना है।

एक ओर व्यक्ति को महत्त्व देने वाला सिद्धान्त है दूसरी ओर समूह को महत्त्व देने वाला सिद्धान्त है। दोनों के बीच का मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है। समाज का विकास चक्राकार होता है। सामूहिक जीवन आदिम काल से ही है। यही विकास का मूल है। समाज की इकाईयों की तुलना शरीर की कोशिकाओं से की जा सकती है।

श्री अरविन्द विकास के लिये व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आवश्यक मानते थे। समाज में परिवर्तन तो निरन्तर होता ही रहता है। यह परिवर्तन श्री अरविन्द के मत में स्पाईरल की तरह होता है।

इसका यह अर्थ है कि विकास वर्तुलाकार होकर भी आगे बढ़ता है। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि विकास वस्तुनिष्ठ है जबकि प्रगति व्यक्तिनिष्ठ है। इनमें चेतना-परक प्रगति अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रगति के तीन चरण हैं—(१) आवश्यकताओं की पूर्त्ति प्रथम चरण है। (२) तर्क सङ्गतता दूसरा चरण है। (३) आध्यात्मिकता तीसरा चरण है।

प्रारम्भ में श्री अरविन्द् Karl Lamprecht नामक जर्मन चिन्तक के प्रभाव से विकास के पाँच सोपान मानते थे— प्रतीकात्मक, टाइपात्मक, रूढ, व्यक्तिगत, तर्क सङ्गत तथा व्यक्तिनिष्ठ। बाद में उन्होंने सारे विकास को तीन भागों में बाँट दिया— तर्क से पूर्व, तार्किक तथा तर्कातीत। इन तीनों स्थितियों का वर्णन उन्होंने विस्तार से किया है। वर्तमान में हम तर्क युग में चल रहे हैं।

अध्यात्म जीवन तक आने से पहले समाज भौतिक, प्राणिक, तथा नैतिक स्थितियों से गुजरता है। वस्तुतः अध्यात्म पर भी विकास रुकना नहीं चाहिये। राष्ट्रीय अहङ्कार भी विकास में बाधक है।

मार्क्सवाद

श्री अरविन्द ने विश्लेषण के आधार पर मार्क्सवाद की इस मान्यता को ठीक नहीं माना कि सम्पन्न वर्ग और विपन्न वर्ग नामक दो वर्गों के सदस्य दो भागों में बँटकर काम करते हैं। मार्क्स का यह विचार भी सत्य सिद्ध नहीं हुआ कि संसार के किसान, मजदूर और छोटे दुकानदार एक हों जायेंगे। फिर भी मार्क्सवाद की अपने समय में एक उपयोगिता रही है। उसने रूस में क्रान्ति को प्रेरणा दी। ट्रेड यूनियनों ने मजदूरों को शक्ति दी। उद्योगीकरण में मजदूरों की दुर्दशा के प्रतिकार के लिये एक कठोर कदम की आवश्यकता को मार्क्सवाद ने पूरा किया। किन्तु इतिहास की गलत व्याख्या के कारण मार्क्सवाद ने अपनी उपयोगिता खो दी।

श्री अरविन्द ने सामाजिक रूपान्तरण की भी बात की। इसके लिये उन्होंने जन-सम्पर्क की अपेक्षा साधना को साधन बनाया। उन्होंने सतही परिवर्तन की जगह सूक्ष्म स्तर पर परिवर्तन चाहा। आध्यात्मिक व्यक्ति असफलता मिलने पर भी निराश नहीं होता।

वस्तुतः श्री अरविन्द का मूल तो अतिमानस का अवतरण ही था। इसका आधार मूलभूत एकता है। किन्तु अतिमानस तक पहुँचने के लिये मन प्रभृति नीचे के स्तरों का भी रूपान्तरण आवश्यक है। अतः श्री अरविन्द की दृष्टि एकाङ्गी न होकर सर्वाङ्गीण है। इसी के प्रतिपादन से वे अपनी 'दी लाइफ डिवाइन' कृति प्रारम्भ करते हैं और यही दृष्टि उनके सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, राष्ट्रीय तथा शैक्षणिक विवेचन में सर्वत्र ओतप्रोत दिखायी देती है जो उनके विशालकाय वाङ्मय में यत्र तत्र सर्वत्र विकीर्ण है।

निष्कर्ष

हमारे विवेचन में कुछ बातें विशेष रूप से उभरकर आती हैं।

श्री अरविन्द का दर्शन उपनिषद् के उस पुरुषार्थ– भरी आशावादिता से प्रेरित है जो कहती है कि मनुष्य जैसी कामना करता है, वैसा ही हो जाता है– **काममयः खल्वयं पुरुषः**। इस आशावादिता के पीछे यह दृष्टि है कि सब कुछ ब्रह्म है[1]–चाहे द्युलोक हो या पृथिवी, देव हो या दानव। अतः किसी के प्रति हेयता का भाव रखना गलत है। श्री अरविन्द केवल जानना ही नहीं चाहते, निर्माण भी करना चाहते हैं। इस अर्थ में वे दूसरे दार्शनिकों से भिन्न हैं और उस वैदिक ऋषि के निकट हैं जो सबके प्रति मैत्री-भाव रखता है–**मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**, और इसलिये केवल अपने ही कल्याण से सन्तुष्ट न होकर सबका कल्याण चाहता है। सबके कल्याण की इस कामना की पूर्त्ति परिवर्तन द्वारा नहीं, प्रत्युत रूपान्तरण द्वारा होगी क्योंकि रूपान्तरण ही स्थायी होता है।

भारतीय दर्शन मोक्ष को पुरुषार्थ मानता है और इधर श्री अरविन्द हमारे सम्मुख एक क्रान्तिकारी स्वतन्त्रता-सेनानी के रूप में आते हैं। मोक्ष स्वतन्त्रता का ही तो दूसरा नाम है। इसलिये उन्होंने किसी संस्था की भी सदस्यता स्वीकार नहीं की और न संस्था को धर्म के लिये आवश्यक माना। श्री अरविन्द का दर्शन गम्भीर है किन्तु उनका स्वभाव विनोदप्रिय था। वे मानते थे कि हास्य के बिना जीवन दुःसह्य हो जाता है।

वे भौतिकवाद और अध्यात्म के बीच समन्वय चाहते थे किन्तु मानते थे कि यह समन्वय मन से ऊपर उठकर अतिमानस स्थिति में ही स्थिर हो सकता है। यूरोप से उन्होंने यह पाठ पढ़ा कि आन्तरिक भावों को बाह्य जीवन में साकार करना चाहिये। अतः उनका अध्यात्म सांसारिक जीवन की स्वीकृति में है, निराकरण में नहीं।

दूसरी ओर उनकी कार्यप्रणाली उस हलचल की नहीं है जिसे प्रचार-प्रसार अथवा आन्दोलन कहा जाता है। वे शान्त-नीरवता में ही सच्चे रूपान्तरण की सम्भावना देखते हैं। ईसामसीह का धीर-गम्भीर रूप तथा श्री कृष्ण का रंगबिरंगा व्यक्तित्व परस्पर विरोधी नहीं हैं। अतः हम दोनों की उपासना कर सकते हैं।

श्री अरविन्द ने पश्चिम की मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण पद्धति को भारत के तपःपूत आत्मज्ञान के सम्मुख बचकाना ही पाया। जब मनुष्य रहस्यों की अपेक्षा केवल प्रत्यक्ष को महत्त्व देता है तो उसके जीवन में एक छिछलापन आ जाता है। विज्ञान यही कर रहा है। दूसरी ओर अध्यात्म आलस्य और कर्महीनता को आदर्श मान रहा है। वह संसार के अतिरिक्त किसी और को ब्रह्म मान रहा है और संसार से विमुख हो रहा है।

सत्त्व, रजस् और तमस् सदा साथ-साथ रहते हैं। स्पष्ट है कि इनमें किसी एक को छोड़कर दूसरे का आश्रय लेना, एकाङ्गिता को जन्म देता है। संसार को छोड़ना नहीं है बल्कि रूपान्तरित करना है। यह रूपान्तरण आन्तरिक है न कि मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित बाह्य परिवर्तन। श्री अरविन्द ने भारत में इस सनातन सत्य को स्वीकार किया कि शत्रु बाहर नहीं है अपितु अन्दर का अहङ्कार तथा स्वार्थभाव है। बुद्धि अथवा तर्क को ही अन्तिम प्रमाण मान लेना भी एक भ्रम है।

श्री अरविन्द एक ओर निर्विचारता को विचार से बड़ा मानते हैं और दूसरी ओर प्रेम को उदासीनता से बड़ा मानते हैं। प्रेम का अर्थ सबकी स्वीकृति है। यह अपनी संङ्कीर्णता से ऊपर उठ जाना है। यह कार्य सहज तथा शान्ति का है, संघर्ष तथा शीघ्रता का नहीं। इसलिये कुछ 'विशेष प्रकार से करना' नहीं होता बल्कि एक 'विशेष प्रकार से होना' होता है।

श्री अरविन्द ने संसार से पलायन का मार्ग नहीं सुझाया और ऊर्ध्वगमन के साथ अधोगमन के द्वारा प्रकृति के भी रूपान्तरण की बात की। योग का उद्देश्य इस आदत से छुटकारा माना है कि हम सांसारिक कार्य करते समय शान्त नहीं रह पाते। इसे ऋग्वेद ने साक्षिभाव कहा है।[2] इस साक्षिभाव में हमारे कुछ न करने पर भी एक उच्चतर शक्ति कार्य को अत्यन्त कुशलता से सम्पन्न कर देती है। यह बात सभी कार्यों पर लागू होती है चाहे वे कार्य कितने ही जटिल क्यों न हों।

वस्तुतः सभी विचार बाहर से आते हैं—**आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः**। अतः उन पर संयम करना सरल है। वे हमारे अविभाज्य अहङ्कार नहीं हैं। यह मान लेना कि हमारे लिये यह कठिन है—सबसे बड़ी भूल है। बाहर-अन्दर का भेद भी असत्य है। हमारा 'अन्तः' ही बाहर प्रस्फुटित होता है। यह जान लेने पर बाह्य बाधक नहीं बनता और हम उसके शासक बन जाते हैं।

विचार मेरे अस्तित्व का प्रमाण नहीं है। मैं बिना विचार के भी रह सकता हूँ। हमारी देखने की शक्ति जिसे नहीं देख सकती अथवा सुनने की शक्ति जिसे नहीं सुन सकती, उसका भी अस्तित्व है। चेतना इन्द्रियों के विषयों से बड़ी चीज है।

हम हर चीज का मानसीकरण कर देते हैं। मन का उपयोग अवचेतन या अतिचेतन में अराजक स्थिति में पड़ी चीज को व्यवस्थित करने में है। किन्तु मन के उपकरण से परे जाकर भी सत्य को देखना आवश्यक है।

हम बाहर के स्पन्दनों को जिस प्रकार ग्रहण करते हैं, वह हमारा व्यक्तित्व बन जाता है। उसे ही हम 'स्वयं' समझने लगते हैं। यह हमारा परिग्रह है न कि हम स्वयम्। ऋग्वेद ने कहा कि यह आदान-प्रदान बिना प्रयत्न के स्वयं होता रहता है।[3] विकास का अर्थ कुछ सञ्चय करना नहीं है अपितु जागरण शक्ति का विकास करना है। ऋग्वेद ने इसे जीवित को बाहर निकालना तथा मृत को जागृत करना कहा है।[4]

वास्तविक शक्ति चेतना ही है जिसे चिदग्नि कहा जाता है। यह एक ही सर्वत्र व्याप्त है। सब शक्ति भी सार्वभौम है, चेतना भी सार्वभौम है। जड भी चेतना का ही एक रूप है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि ब्रह्म ही घनीभूत होकर जड, जीवन, मन और लोक बन गया— तपसा चीयते ब्रह्म।[5]

चेतना शक्ति के अतिरिक्त आनन्द भी है उसी आनन्द से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी में टिके रहते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।[6]

चेतना के इस ज्ञान तथा आनन्द को कामना मलिन कर देती है। हम उसे नैतिक कह देते हैं जो हमारी कामना को पूरा कर दे। यह नैतिकता सतही है। यह वस्तुतः एक विशेष प्रकार का प्रत्युत्तर है अर्थात् किसी की प्रतिक्रिया। यदि हम प्रतिक्रिया न करें तो वस्तु के सत्य स्वरूप को जान सकेंगे। प्रभुता का स्वरूप यह है कि हम किसी भी परिस्थिति की प्रतिक्रिया न करें। इस निश्चलता की स्थिति में हम वस्तुतः स्वामी हो जाते हैं। शान्त हो जाना पवित्र होने का सर्वोत्तम साधन है। यह शान्ति सकारात्मक है जो परिवेश को भी प्रभावित करती है।

हमारे विचार सार्वभौम मनस्तत्त्व से आते हैं जिसे उपनिषद् श्वोवसीयस् मन कहते हैं। हमारे कर्म सार्वभौम प्राण से आते हैं।

एक नदी दलदल में जाये या चट्टान से टकराये या मैदान में बहे, उसका उल्लास बना ही रहता है। यही स्थिति प्रेम से मिलने वाले आनन्द की है। किन्तु हम शुभ-अशुभ की धारणा के बीच इस आनन्द को अवरुद्ध कर देते हैं। इनमें भी अशुभ से मुक्त होना तो हम सब चाहते हैं किन्तु शुभ से चिपके रहना चाहते हैं। नीरवता ही परम पवित्र है अतः शुभ के भ्रम में राग-द्वेष नहीं पालने चाहिये। ऋग्वेद ने अग्नि को पुरोहित कहा है। अर्थात् हमारे अन्दर एक अग्नि है जो हमारे श्वास के समान है, जो हमसे 'तिरोहित' रहता है उसे ही 'पुरोहित' बनाना है।[7]

यही अग्नि विकास का साधन बनती है और ऐश्वर्य को बिखेरती है।[8] इसके प्रभाव से वृद्ध और जर्जर तरुण होता जाता है।[9] जन्म-जन्मान्तर का उद्देश्य चेतना का विकास है। चेतना का यह विकास ही वास्तविक विकास है। श्री अरविन्द चेतना के इस विकास को शरीर तक प्रभावी बनाने का लक्ष्य लेकर चले हैं। जड ही चेतना की विजय का अन्तिम लक्ष्य है जो कि सर्वाधिक दुर्गम है। यही श्री अरविन्द के अतिमानस का क्षेत्र है।

इन्द्रियों से अपना तादात्म्य मान लेना चेतना की शक्ति को नकारना है। आन्तरिक नीरवता होने पर चेतना अभिमत वस्तु के साथ एकाकार हो जाती है।

जिसे हम रोग कहते हैं, वह एक प्रकार की अचेतनता है। यह निद्रा तथा मृत्यु में विशेष रूप से प्रकट होती है। जैसे हमारी मनुष्यकृत भौगोलिक सीमायें प्राकृतिक सीमा के सामने कुछ भी नहीं, उसी प्रकार मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं है। मृत्यु जीवन की एक प्रक्रिया है, जीवन का अभाव नहीं है।

'सब कुछ ब्रह्म' का यह अर्थ नहीं कि 'सब कुछ' ब्रह्म से भिन्न है। ब्रह्म ही सब कुछ बन गया है।[10] इसलिये जड़ में भी ब्रह्म प्रकट हो सकता है। ब्रह्म और आत्मा भी भिन्न नहीं हैं। यह अद्वैत है। ऐसा नहीं है कि 'वह और है और मैं और हूँ।'[11] यह ब्रह्म तत्त्व पत्थर तक में है।[12] सबके ब्रह्म होने का अर्थ है कि ज्ञाता और ज्ञेय में तादात्म्य सम्बन्ध है।

---

1. सर्वं खल्विदं ब्रह्म, मुण्डकोपनिषद् २.२.१२
2. ऋग्वेद १.१६४.२०
3. ऋग्वेद २.२४.५
4. ऋग्वेद १.११३.८
5. मुण्डकोपनिषद् १.१.८
6. तैत्तिरीय उपनिषद. ३.६
7. ऋग्वेद १.२३.१४
8. वही, २.१.१२
9. वही २.४.५
10. तैत्तिरीय उपनिषद् २.६
11. बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१०
12. ऋग्वेद १.७०.२